प्रकाशक
हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
१९६७
मूल्य [illegible]·०० रुपया

मुद्रक
सरयूप्रसाद पाण्डेय
नागरी प्रेस,
दारागंज, इलाहाबाद

ब्रह्मार्पण

प्रकाशकीय

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद से डॉक्टर सुरेन्द्रनाथ मीतल का शोध-ग्रन्थ 'समाज और राज्य : भारतीय विचार' का प्रकाशन हर्ष का विषय है। वर्तमान समय में जब कि समाज, राज्य और राष्ट्र के उद्भव तथा विकास, उनकी अर्थवत्ता तथा अर्थहीनता पर अनेक प्रकार की आधुनिक विचारधाराएँ जन्म ले रही हैं, तिरोहित हो रही हैं और पुनः नये सिरे से विकसित हो रही हैं, तब एक बार उस सुनिश्चित चिन्ता-धारा का आकलन आवश्यक है जो युग-युग से भारतीय जीवन को स्पन्दित करती आ रही है। डॉ० सुरेन्द्रनाथ मीतल ने वर्षो परिश्रम करके यह शोध-ग्रन्थ प्रस्तुत किया है जिस पर उन्हें प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फिल्० की उपाधि मिली है। डॉ० मीतल ने भारतीय समाज-रचना, संगठन, राज्य का स्वरूप, उसके विविध अंग तथा भारतीय जीवन की मूल दृष्टि 'आध्यात्मिकता' को लेकर साक्ष्य रखते हुए, विशद विवेचन किया है। डॉ० मीतल का यह प्रयास स्तुत्य है।

विश्वास है कि यह ग्रन्थ समाज-शास्त्र तथा राजनीति-सिद्धान्त के अध्ययन में बहुत सहायक होगा और विद्वत्समाज में तथा विषय में रुचि रखने वाले पाठकों में समादृत होगा।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी,
इलाहाबाद।
अप्रैल, १९६७।

उमाशंकर शुक्ल
सचिव तथा कोषाध्यक्ष

विषय-सूची

प्रस्तावना

यह ग्रन्थ जिसका शीर्षक है "समाज और राज्य : भारतीय विचार" अपने ढङ्ग का पहला ही ग्रन्थ है जो डी० फ़िल्० डिग्री के लिये स्वीकृत निबन्ध (Thesis) पर आधारित है। इसके लेखक श्री सुरेन्द्रनाथ मीतल ने हिन्दू धर्मशास्त्रों तथा उन पर आधारित अर्थशास्त्रों में अधिकृत विचारों का निरूपण किया है। अभी तक इस विषय पर विद्वानों ने जो विचार प्रकट किये हैं, उनमें व्यापक रूप से भारत की समन्वयात्मक प्रवृत्ति पर पर्याप्त बल नहीं दिया गया है। इस दिशा में लेखक का प्रयास प्रशंसनीय है। भारतीय समाज दर्शन पर आधारित होते हुए भी व्यावहारिक है। धर्मशास्त्रों में आदर्श-स्थिति का वर्णन किया गया है फिर भी व्यावहारिक दृष्टिकोण को भुलाया नहीं गया है। इसीलिये चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की गयी। संन्यासी अथवा ब्राह्मण का आदर्श रखा गया जिसको बहुत से लोग काल्पनिक समझते हैं। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। हमारे शास्त्रकारों ने ऐसी समाज-व्यवस्था का निर्माण किया जिसके द्वारा मनुष्य आदर्श स्थिति तक पहुँच सकता था।

दर्शन में निर्गुण से सगुण की सृष्टि मानी गई और उसे श्रेष्ठ स्वीकार किया गया। सम्पूर्ण उपनिषद् उसी निर्गुण की उपासना कर उसी में विलीन हो जाने को श्रेष्ठ समझते हैं। परन्तु सगुण के महत्त्व को भी स्वीकार किया गया है। मोक्ष-प्राप्ति के चार मार्ग बताये गये—ज्ञान, कर्म, भक्ति तथा योग। ज्ञान को सर्वोच्च स्थान दिया गया। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला और कुछ नहीं है। जितेन्द्रिय, साधना करनेवाला एवं श्रद्धावान् मनुष्य ही ज्ञान को उपलब्ध कर सकता है। ज्ञान को प्राप्त हो कर मनुष्य परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है। मोक्ष, भारतीय दर्शन में सर्वोच्च लक्ष्य माना गया है। परन्तु संसार के जीवन की उपेक्षा नहीं की गई। साधारण मनुष्य के लिये यह जीवन महत्त्वपूर्ण है। इसमें सुखी एवं सन्तुष्ट हुए बिना मोक्ष-प्राप्ति दुस्साध्य है। परन्तु सांसारिक भोगों में लिप्त होने से पारमार्थिक उन्नति होना दुस्तर है। अतः सांसारिक सुखों से तृप्त हो कर

मनुष्य को मोक्ष-रूपी परम लक्ष्य की ओर चलना चाहिये। इसी लक्ष्य को सामने रखकर समाज-जीवन की व्यवस्था की जायगी। वातावरण ऐसा बनाया जायगा जिससे आध्यात्मिक उन्नति की ओर बढ़ने में सुगमता हो। मनुष्य को जीवन के आरम्भ से ही लक्ष्य की ओर चलने का प्रयास करना चाहिये।

इसीलिये वर्ण-व्यवस्था बनाई गई और जिसमें सर्वश्रेष्ठ स्थान पर सतोगुणी, धर्मनिष्ठ, संयमी, सन्तुष्ट, अर्थलिप्सारहित, सच्चरित्र तथा स्वार्थरहित ब्राह्मण को बिठाया गया। उसका कर्त्तव्य अन्य व्यक्तियों को श्रेष्ठ मार्ग पर लाना था। इसी साधन द्वारा सम्पूर्ण समाज भौतिक जीवन को पार कर मोक्ष मार्ग पर अग्रसर होता था। यह हमारे समाज की लेखक के अनुसार दार्शनिक पृष्ठभूमि थी।

उपरोक्त आदर्शों को सामने रख हमें भारतीय संस्कृति की रूपरेखा को समझना चाहिये। भारतीय संस्कृति का समाज एवं जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा है। हमारे प्राचीन राष्ट्र-जीवन का ढाँचा इस संस्कृति के सिद्धान्तों पर ही आश्रित था। इसके मुख्य लक्षण थे—भौतिक जीवन की श्रेष्ठता, धर्मवादिता, आदर्शवाद, व्यावहारिकता, अधिकार-भेद, धर्म पर आधारित एकात्मता, त्याग-वादिता इत्यादि। इसमें समन्वय पर जोर दिया गया है। ऋग्वेद में लिखा है कि 'एक ही सत् है उसका विप्र लोग अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं। —इन्द्र, वरुण, अग्नि, यम आदि।' समन्वय के महत्त्व को समझनेवाले समाज में केवल विभिन्न विचारों में नहीं विभिन्न प्रथाओं, सम्प्रदायों तथा मतों को स्वतन्त्रता दी गई और राजा को आदेश दिया गया था कि वह परम्परागत प्रथाओं का पालन कराये। बहुत-सी बातें शास्त्रकारों ने हीन होते हुए भी मानी हैं जिससे समाज में एकता रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि विभिन्नता में एकता स्थापित हो गई। इसी अधार पर देश में विभिन्न राज्य स्थापित हुए और भिन्न-भिन्न प्रथाओं को मानने और विचारों को प्रकट करने की स्वतन्त्रता मिली। भारतीय संस्कृति की प्रेरणा से अन्दर की एकता रखने का प्रयास बराबर जारी रहा और विचार-स्वतंत्रता को भी किसी प्रकार का आघात नहीं पहुँचा।

समाज-व्यवस्था का वर्णाश्रम-व्यवस्था के साथ गहरा सम्बन्ध है। व्यक्तिगत उन्नति ही इसका उद्देश्य था। आदर्श जीवन की रचना ही इसीलिये की गई। इससे बहुत लाभ हुए। इसके द्वारा समाज में अधिकार-विभाजन तथा शक्ति-संतुलन हुआ और संघर्ष-निवारण भी। कर्त्तव्य, अधिकार, योग्यता, पात्रता पर ध्यान दिया गया और समाज पर कर्म का नियन्त्रण रखा गया। वर्णव्यवस्था से एक लाभ यह भी था कि प्रत्येक व्यक्ति को व्यवसाय मिलने

में कठिनाई नहीं होती थी। वर्ण का आधार गुण तथा कर्म माना गया। कृष्ण भगवान् ने गीता में भी कहा है कि चातुर्वर्ण्य की सृष्टि मैंने गुण और कर्म के आधार पर की है। चारों वर्ण जन्म से ही श्रेष्ठ माने गये। ऐसा करना आवश्यक भी था। यदि ऐसा न किया जाता तो वर्ण-व्यवस्था कालान्तर में नष्ट हो जाती। वर्ण-व्यवस्था कुछ अंशों में कठोर थी। वर्णसंकरता निन्द्य समझी जाती थी। अर्जुन ने भी गीता में कहा है, पाप के अधिक बढ़ जाने से स्त्रियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं और उनके भ्रष्ट होने पर वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं। वर्णसंकर कुल को नरक में ले जाते हैं। इनसे सनातन कुल-धर्म और जाति-धर्म नष्ट हो जाते हैं। लेखक ने भिन्न-भिन्न वर्णों के गुणों तथा कर्मों का वर्णन किया है और उनके पारस्परिक सम्बन्ध पर भी प्रकाश डाला है। शूद्र-धर्म का वर्णन करने में लेखक ने निष्पक्षता दिखलाई है। महाभारत के शान्ति पर्व में शूद्रों का धर्म वर्णित है। स्पृश्यता के प्रश्न पर भी विचार प्रकट किये गये हैं। शूद्रों का स्थान भारतीय समाज में अवश्य निम्न था परन्तु वे समाज के अंग थे और उनके विकास का प्रयत्न किया जाता था। अंत में यह कहना अनुचित न होगा कि स्मृतिकारों ने गुणों के आधार पर विभाजन कर, समाज से विद्वेष, ईर्ष्या और संघर्ष को रोका और उसकी पूर्णता का ध्यान रखा। प्रत्येक व्यक्ति को उसके अनुकूल उपयुक्त अवसर प्राप्त था। प्रत्येक व्यक्ति को जो कार्य दिया गया था उसका पालन करना उसका कर्त्तव्य था। उसी से उसकी आध्यात्मिक उन्नति सम्भव थी। आर्थिक दृष्टि से भी हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि समाज सुखी था। उसमें प्रत्येक व्यक्ति को व्यवसाय मिलने का अधिकार प्राप्त था।

समाज-रचना के साथ जीवन-रचना की भी व्यवस्था की गई। संस्कारों की अनिवार्यता स्वीकार की गई और व्यावहारिक जीवन-यापन के लिये अनेक नियम बनाये गये। आश्रमों के कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया।

लेखक ने शिक्षा-पद्धति तथा अर्थ-व्यवस्था पर भी काफी प्रकाश डाला है। शिक्षा का भारतीय जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध था। शिक्षा के विषय पर हरेक पहलू से विचार किया गया है। पाठ्यक्रम, गुरु के गुण, विद्यार्थी का गुरु के प्रति भाव, विद्यार्थी जीवन में संयम, विद्यार्थियों का भरण-पोषण, अध्यापकों की वृत्ति, आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। गुरुकुल-पद्धति की प्रशंसा की गई है और गुरु से विद्या पढ़ना ही श्रेयस्कर बताया गया है। गुरुकुल में आदर्श जीवन का वातावरण रहता था। इससे व्यक्ति बुरी बातों से बचता था। विद्यार्थी को पूर्णरूप से जीवन के लिये तैयार करना शिक्षा का उद्देश्य था। ऐसा ही मत यूनान देश के प्रसिद्ध दार्शनिक, प्लेटो

तथा अरस्तू का था। आर्थिक जीवन कृषि द्वारा प्रभावित था। धन का संचय होता था। पूँजीवाद की व्यवस्था थी। परन्तु इन सब पर राज्य का नियन्त्रण था इसलिये कि किसी प्रकार की अव्यवस्था न हो।

प्राचीन भारत में जनतन्त्र सर्वमान्य था। कहीं-कहीं पर गणराज्यों का भी उल्लेख है। महाभारत तथा बौद्ध-ग्रन्थों में उनका वर्णन है, परन्तु वे संख्या में अधिक नहीं थे। साम्राज्यवाद की धूम थी। राजा भी अनेक थे। राजतन्त्र में भी प्रजा के हितानुसार शासन होता था। राजा का निर्वाचन नहीं होता था परन्तु प्रजा की इच्छानुसार ही युवराजों का राज्याभिषेक होता था। साथ ही इसमें यह भी है कि जब राम वन को गये तब प्रजा की इच्छा को नहीं स्वीकार किया गया। राजा स्वेच्छाचारी नहीं होने पाते थे। उन पर शिक्षा द्वारा नियन्त्रण रखा जाता था। उन्हें राजधर्म सिखाया जाता था और राजाओं के गुण भी बताये जाते थे। दुर्गुणों से दूर रहने का आग्रह किया जाता था। धर्म-पालन करना उनका कर्त्तव्य था। मन्त्री, पुरोहित, ब्राह्मण, समाज, इन सब का नियन्त्रण राजा पर रहता था। अधर्मशील होने पर राजा पदच्युत कर दिया जाता था। नीति में लिखा है कि राजा के धर्महीन होने पर प्रजा बलवान् शत्रु का आश्रय लेकर उसे नष्ट कर सकती है। राजतन्त्र को श्रेष्ठ माना गया, परन्तु यह भी कहा गया कि राजा सन्मार्ग पर न चले तो उसे हटा देना चाहिये।

राज्य के सप्त अङ्ग बताये गये हैं। लेखक ने इनके आवश्यक गुणों और दोषों का वर्णन किया है और राज्य की शरीर से तुलना की है। शुक्रनीति में राजा की शरीर से उपमा दी गई है। राजा अपने परामर्शदाता मन्त्रियों तथा कर्मचारियों की सहायता से कार्य-सञ्चालन करता है। इनके गुण, योग्यता, वेतन तथा अन्य सुविधाओं का ग्रन्थों में वर्णन किया गया है। अर्थशास्त्र में इन विषयों का विश्लेषण है। शासन के बारे में जो विस्तृत वर्णन है, उससे प्रकट होता है कि हमारे पूर्वजों ने इस पर गम्भीर विचार किया था। स्थानीय प्रबन्ध का भी उल्लेख मिलता है। विधि, न्याय, दण्ड की व्यवस्था भी प्राचीन ग्रन्थों में सुचारु रूप से की गई है। विधि के अनुसार राज्य का सिद्धान्त मान्य था, परन्तु विधि का निर्माण आज की तरह नहीं था। धर्मशास्त्रों के नियमों का पालन आवश्यक था। उनका स्पष्टीकरण राजा की इच्छा पर निर्भर नहीं था। धर्म तथा विधि का स्पष्टीकरण योग्य ब्राह्मण करते थे। विधि के सम्बन्ध में भी बहुत से विचार प्रकट किये गये है। विधि आवश्यक है। विधि का पालन क्यों करना चाहिये, विधि का पालन किस शक्ति के आधार पर कराया जा सकता है, विधि के पीछे कौन सा बल है—इन सब प्रश्नों की व्याख्या हमें अपने ग्रन्थों में मिलती है। इसी प्रकार न्याय के बारे में विचार प्रकट किये गये

हैं। व्यवहारों का निर्णय धर्मशास्त्रों अथवा प्रथाओं के अनुसार होना चाहिये। राजा की आज्ञा इनके प्रतिकूल नहीं हो सकती। न्यायाधीशों की योग्यता का भी वर्णन है।

लेखक का विचार है कि शासन के विभिन्न अंगों के पृथक्करण का सिद्धान्त मान्य था। भारतीय समाज में राज्यसत्ता और अर्थसत्ता को पूर्णरूपेण अलग कर दिया गया था। किसी एक सत्ता का दूसरे पर अधिकार नहीं था। इसी तरह समाज और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का संरक्षण होता था। यह एक संदिग्ध विषय है और इसके बारे में निश्चित मत प्रकट करना सम्भव नहीं है। राजा के पास कार्यपालिका तथा न्यायपालिका दोनों का उत्तरदायित्व था, परन्तु न्याय के कार्य में उसे अन्य स्वतन्त्र व्यक्तियों से परामर्श करना पड़ता था। मांतेस्क्यू के सिद्धान्त को भारतीय शासन में लगाना उचित नहीं जान पड़ता।

न्याय के पक्षपातरहित होने पर जोर दिया जाता था। न्याय में अल्प-व्यय होना चाहिये। अपराध तथा धन-सम्बन्धी विवाद पृथक् होने चाहिये। न्याय के लिये पूरा प्राविधान किया गया है और न्यायालयों में किस प्रकार से कार्य होगा, इसकी भी व्याख्या है। जिस विस्तार के साथ इन नियमों का हिन्दू ग्रन्थों में वर्णन है, आश्चर्यजनक है। इसका ज्ञान हमारे विधिशास्त्रियों को नहीं है। लेखक ने इन विषयों का उल्लेख किया है जिनके लिये हमें कृतज्ञ होना चाहिये। इसी प्रकार दण्डों की भी व्याख्या है। लेखक का कथन सत्य है कि भारतीय दण्डविधान में निरोधात्मक और सुधारात्मक भाव ही प्रधान थे।

श्री डॉक्टर मीतल ने इस ग्रन्थ द्वारा भारतीय समाज एवं राष्ट्र की सेवा की है। भारतीय संस्कृति के प्रेमियों को इस ग्रन्थ पर गर्व होना चाहिये। यह प्राचीन विचारों, सिद्धान्तों तथा परम्पराओं का एक अद्भुत भण्डार है जिसमें हमें अपनी ज्ञानवृद्धि के लिये बहुत-सी सामग्री मिलती है। डॉक्टर मीतल ने अनेक ग्रन्थों का पारायण कर हमारी समस्याओं पर गम्भीर रूप से विचार किया है। इसके लिये भारतीय विशेषकर हिन्दू समाज, उनका कृतज्ञ रहेगा। मुझे आशा है कि यह ग्रन्थ हमारे विश्वविद्यालयों में पढ़ा जायगा और अध्यापक तथा विद्यार्थी दोनों, डॉक्टर मीतल के विचारों को हृदयंगम करेंगे।

—ईश्वरी प्रसाद (डॉ०)

प्राक्कथन

कोई भी ग्रन्थ किसी निश्चित परन्तु सीमित उद्देश्य को ले कर लिखा जाता है। यह ग्रन्थ भी इसी प्रकार से एक सीमित उद्देश्य को लेकर लिखा गया है। वह उद्देश्य है भारतीय समाज और राज्य-व्यवस्था के प्रमुख अङ्गों का सकारण विश्लेषण करना। इसकी आवश्यकता इसलिए उत्पन्न हुई कि वर्तमानकाल में भारतीय समाज और राज्य-व्यवस्था के मूलाधारों को समझ कर उनके आधार पर उस व्यवस्था का विश्लेषण करने की पद्धति बिल्कुल नहीं है। इसके अतिरिक्त भारतीय सामाजिक विचारों की, और भारतीय समाज-व्यवस्था का वर्णन करनेवाले ग्रन्थों की मान्यताओं को भी वर्तमान विद्वज्जगत् द्वारा लगभग कोई महत्त्व नहीं दिया जाता, यद्यपि उन मान्यताओं को अस्वीकार कर समाज-व्यवस्था अथवा राज्य-व्यवस्था का अध्ययन करना, विकृत चित्र ही प्रस्तुत करेगा (देखिये, आगे अध्याय १ का अन्तिम पृष्ठ—श्री रङ्गास्वामी आयङ्गर का उद्धरण)। इस कारण इस ग्रन्थ में भारतीय सामाजिक विचारकों की मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए समाज और राज्य-व्यवस्था के कुछ अङ्गों तथा तत्सम्बन्धी विविध समस्याओं पर विचार किया गया है।

जैसा बताया गया, भारतीय समाज-रचना और राज्य-व्यवस्था के मूलाधारों तथा भारतीय सामाजिक विचारों की मान्यताओं को मान कर सम्पूर्ण भारतीय जीवन-प्रणाली का चित्र वर्तमानकाल में लगभग प्रस्तुत नहीं हुआ है और इसलिए इस ग्रन्थ में स्पष्ट की गयी धारणाओं में मौलिक विचार अवश्य प्रस्तुत करना पड़ा है। इसके अतिरिक्त निम्न विषयों का भी विवेचन लगभग प्रथम बार किया गया है—

क. त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) से वर्णाश्रम व्यवस्था का सम्बन्ध।

ख. चित्त-शुद्धि के साधनों—दान, यज्ञ, तप आदि-का अर्थ और उनका विवेचन।

ग. स्त्रियों के स्थान का सकारण तथा सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था के साथ एकरूप विवेचन।

घ. भारतीय नैतिक धारणाओं की कल्पना।

ङ. भारतीय धर्म-राज्य का अर्थ तथा उसमें और साम्प्रदायिक राज्य में अन्तर।

च. भारतीय व्यवस्था में राज्य को सौंपे गये कार्यों का विस्तुत विश्लेषण।

छ. विधि तथा दण्ड सम्बन्धी भारतीय विचार।

इस ग्रन्थ में जिस बात को दिग्दर्शित करने का प्रयत्न किया गया है वह यह है कि भारतीय विचारों में जीवन की रचना आध्यात्मिक और भौतिक—दोनों ही—आधारों पर और कारणों से की गयी है। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण भारतीय समाज-रचना के पीछे समाजगत और व्यक्तिगत-दोनों कारण हैं। इन बातों का सम्पूर्ण ज्ञान ग्रन्थ के पीछे विषयानुक्रमणिका में 'आध्यात्मिक', 'भौतिक', 'व्यक्ति' और 'समाज' शब्दों के विविध सन्दर्भ देखने से हो जायेगा।

ग्रन्थ का विषय बहुत विस्तृत है। हो सकता है इतने बड़े विषय के साथ इस ग्रन्थ में पूर्ण न्याय न हो सका हो और छोटे-छोटे विषय लेने पर उनके सम्बन्ध में एक ग्रन्थ में पूर्ण और त्रुटिहीन वर्णन किया जा सका हो। परन्तु इस सम्पूर्ण विषय के अध्ययन और उस पर लिखने का एक लाभ यह अवश्य हुआ है कि समग्र भारतीय जीवन-रचना का एकात्मक चित्र आँखों के सामने स्पष्ट हो सका है तथा जीवन के प्रत्येक अंग का विचार एक साँचे के अन्दर यथास्थान एकरूप ढङ्ग से किया जा सका है। इतना ज्ञान होने के पश्चात् ही एक-एक अङ्ग का पृथक् विवेचन सम्भव, उपयुक्त तथा उचित होता। ऐसा न किया जाता तो सम्भव है कि बहुत-से प्रश्नों को समझना और उन्हें उचित स्वरूप में प्रस्तुत करना सम्भव न होता।

विषय बड़ा हो जाने के कारण तथा समय और स्थान के अभाव से इस ग्रन्थ में कुछ सीमाएँ निर्धारित करना भी लगभग अनिवार्य हो गया। अतः यह विचार ही उपयुक्त प्रतीत हुआ कि इस समाज और राज्य-व्यवस्था का एक सकारण भावात्मक (positive) चित्र ही प्रस्तुत कर देना इस समय पर्याप्त होगा। इसलिए इस ग्रन्थ में भारतीय समाज-व्यवस्था और उसके विविध अङ्गों के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विचारों का खण्डन-मण्डन नहीं किया गया है। परन्तु फिर भी भावात्मक चित्र प्रस्तुत करते हुए ही बिना नामों का उल्लेख किये विविध विद्वानों की धारणाओं के सम्बन्ध में विचार व्यक्त हो गये हैं। इस समाज-व्यवस्था पर कब कितना व्यवहार हुआ, इसका भी वर्णन इस ग्रन्थ में नहीं है क्योंकि वैसा करने से विचारों के सूत्रबद्ध विवेचन में व्यवधान पड़ता। साथ ही यह भी उचित लगा कि एक बार विचारों का पूर्ण अध्ययन करके ही तब उसके आगे उसके व्यवहार-पक्ष का विचार किया जाये। व्यवहारों का निरूपण न करने के अतिरिक्त इस ग्रन्थ को सीमित करने के लिए इसमें धर्मशास्त्रों के ही विचारों का निरूपण किया गया है और उसका कारण, कुछ मात्रा में, प्रथम अध्याय में लिखित है। उपर्युक्त कारणों से ही समाज-जीवन सम्बन्धी अन्य विचारों और पद्धतियों से तुलना करना सम्भव नहीं हुआ है।

इस ग्रन्थ में भारतीय समाज-व्यवस्था सम्बन्धी विचारों का ऐतिहासिक विवेचन भी नहीं किया गया है। इसका मुख्य कारण तो ग्रन्थ के अन्दर ही (प्रथम अध्याय में) बताया गया है। परन्तु, इसके अतिरिक्त प्रमुख भारतीय धर्मग्रन्थों का काल-निर्णय करना प्रायः असम्भव है। विभिन्न विद्वानों ने यह सब बहुत-कुछ मनमाने ढङ्ग से किया है और उसका कोई वास्तविक आधार नहीं है। *अतः उसे मान कर भारतीय समाज-व्यवस्था का विश्लेषण करना भारतीय समाजशास्त्रियों के साथ केवल अन्याय ही नहीं होगा, वैसा विश्लेषण भ्रमपूर्ण और मिथ्या भी होगा। इसलिए वैसा सम्भव होने पर भी विभिन्न धर्मशास्त्रों और अर्थशास्त्रों के काल की प्रचलित मान्यताओं का उल्लेख तक नहीं किया गया है और न इस आधार पर विचारों का निरूपण करना उपयुक्त समझा गया है।*

प्रस्तुत ग्रन्थ में और भी कमियाँ रह गयी हैं जिनके सम्बन्ध में क्षमा-प्रार्थना करना ही सम्भव तथा उचित है। प्रथम, कुछ अध्यायों (अध्याय ८ तक) तथा बाद के अध्यायों के विवेचन में भिन्नता है। प्रारम्भिक अध्यायों में उद्धरण अधिक हैं, अतः इन अध्यायों में कुछ विवादास्पद होने के कारण इनके निष्कर्षों को पर्याप्त उद्धरण दे कर सिद्ध करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। दूसरे, कुछ विषयों का कोई उल्लेख ही नहीं हो सका है यद्यपि उनका विवेचन इस विचार-निरूपण में कुछ अंशों में सहायक ही होता, यथा—आर्यों का भारत में आगमन, 'देवता' शब्द का अर्थ, पुराणों की आलङ्कारिक कथाओं का वास्तविक अर्थ, आदि। हो सकता है, ग्रन्थ के निष्कर्षों में कहीं त्रुटि भी हो गई हो; परन्तु वह बाद के सहानुभूतिपूर्ण अन्वेषकों द्वारा ठीक हो जायगी, ऐसा विश्वास है।

ऐसा कहने में कोई सङ्कोच नहीं कि इस ग्रन्थ में भारतीय समाज-रचना का विचार श्रद्धापूर्वक किया गया है। मेरी ऐसी धारणा है कि यदि किसी विचार-प्रणाली के प्रति श्रद्धा न रख कर विचार किया जाये तो उसकी आन्तरिक भावना, तथा उसके वास्तविक कारणों तक नहीं पहुँचा जा सकता। श्रद्धाहीन विचार बौद्धिक विश्लेषण में सहायक हो सकते हैं तथा उनके विषय में व्यक्ति निष्पक्ष होने का तथा खुले हृदय से विचार करने का अहङ्कार भी कर सकता है परन्तु ऐसे विचार न तो विषय के अन्तर तक पहुँच ही सकते हैं और न वास्तव में वह निष्पक्ष ही होते हैं। फिर, प्रत्येक व्यक्ति जब विचार करता है तो उसके मन के रूढ़िबद्ध विचार, उसके चारों ओर का वातावरण तथा उसके मन पर जमे हुए पूर्व संस्कार उसे पूर्ण रीति से प्रभावित करते हैं। इतना ही हो सकता है कि विचार करते समय यदि नये तथ्य सामने आयें तथा पुराने

निष्कर्ष और तथ्य इन नये तथ्यों के समक्ष गलत प्रमाणित हों तो उस गलती को स्वीकार कर लेना चाहिए। इतना निश्चित कहा जा सकता है कि श्रद्धा के अतिरिक्त इस प्रकार का खुला मस्तिष्क भी इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में अध्ययन, विचार अथवा विश्लेषण करते समय रखा गया है। इसलिए जो बातें भी वास्तविक प्रतीत हुई हैं, चाहे वह वर्तमान विचारकों की धारणाओं पर तथा वर्तमानकाल की मान्यताओं पर आघात करें (यथा, बाल-विवाह अथवा सती-प्रथा अथवा जनतन्त्र के दोषों का विवेचन), अथवा चाहे वह रूढ़िवादी व्यक्तियों की धारणाओं पर आघात करें (यथा, प्रत्येक व्यक्ति द्वारा इच्छानुसार संन्यास न लेने का नियम, शूद्रों का मन्दिर-प्रवेश, स्पृश्यता आदि), उनके कहने में कोई सङ्कोच नहीं किया गया है।

यद्यपि सभी प्रस्तुत विचारों के लिए मैं स्वयं उत्तरदायी हूँ, फिर भी ग्रन्थ के तैयार करने में मुझे कई वर्तमानकालीन विद्वानों के ग्रन्थों का लाभ हुआ है। इनमें प्रमुख हैं—श्री पाण्डुरंग वामन काणे का 'हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र' जिसका मैंने विविध स्थानों पर उपयोग किया है। अत: उन सभी विद्वानों के प्रति आभार प्रदर्शन करना आवश्यक है।

पाठकों से यह आग्रह है कि ग्रन्थ के अन्त में जो पाठशुद्धियाँ दी हुई हैं, उनके अनुसार देख कर तब इसे पढ़ें।

अन्त में, इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में मैं प्रथमत: डॉ० ईश्वरीप्रसाद के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने कृपापूर्वक पुस्तक की प्रस्तावना लिखना स्वीकार किया। मूल निबन्ध के मार्गदर्शक श्री अम्बादत्त पन्त प्राध्यापक, राजनीति विभाग, प्रयाग-विश्वविद्यालय) के प्रति भी मैं बहुत आभारी हूँ। पुस्तक के प्रकाशन में हिन्दुस्तानी एकेडेमी के विभिन्न कार्यकर्ता सज्जन तथा विशेषरूप से श्री शिवचन्द्र ओझा, श्री जगदेव पांडेय, वहाँ के सहायक मन्त्री डॉ० सत्यव्रत सिनहा तथा भूतपूर्व मन्त्री श्री विद्याभास्कर ने भी जो सहायता की है, उसके लिए भी पर्याप्त धन्यवाद देना कठिन है।

सुरेन्द्रनाथ मीतल

प्रथम अध्याय

विषय-विवेचन

वर्तमान काल में भारत की आध्यात्मिक विचारधारा की जहाँ सर्वत्र प्रशंसा की गयी है, वहाँ दूसरी ओर भारत की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को बहुत दोषपूर्ण माना गया है। ऐसा समझा जाता है कि भारत की आध्यात्मिक विचारधारा इतने ऊँचे स्तर तक पहुँची है जितने ऊँचे स्तर पर विचारों की गूढता, गहनता और उच्चता अन्यत्र उपलब्ध नहीं हो सकती और जिस किसी विद्वान् ने उसे गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने का प्रयत्न किया है, उसने ही, यदि वह प्रारम्भ से ही पक्षपातपूर्ण दृष्टि ले कर न चला हो, उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। शोपेनहॉर ने उपनिषदों के सम्बन्ध में, जिनमें भारतीय आध्यात्मिक विचारों की स्वाभाविक स्थिति देखने को मिलती है कहा है "सारे पृथ्वीमण्डल में मूल उपनिषद् के समान इतना फलोत्पादक और उच्च भावोद्दीपक ग्रन्थ कहीं भी नहीं है। इसने मुझे जीवन में शान्ति प्रदान की और मरण में भी वह शान्ति देगा।"[1] परन्तु जब भारतीय समाज-रचना की ओर दृष्टिपात किया जाता है और अन्य समाजों के जीवन से तुलना की जाती है तो ऐसा दिखायी देता है कि भारत में मनुष्य-मनुष्य में भेद रखा गया और शूद्रों को ही नहीं स्त्रियों को भी बहुत हीन अवस्था में रखा गया। भारत में मनुष्य रूढ़ियों में बाँध दिया गया और प्रत्येक व्यक्ति का कर्म उसके जन्म से ही निश्चित रहने के कारण व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास का कोई मार्ग शेष नहीं रहा तथा उसको, उसकी स्वाभाविक प्रतिभा विकसित करने का मार्ग नहीं दिया गया। इससे भी आगे बढ़ कर यह आरोप लगाया जाता है कि ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थ के वशीभूत हो कर समाज-व्यवस्था को इस ढङ्ग का बनाया कि वे सम्पूर्ण प्रतिष्ठा, सम्पूर्ण सत्ता अपने ही हाथ में रखें तथा विविध प्रकार के ढङ्ग से उन्होंने समाज को अपने वशीभूत करने का और लूटने का प्रयत्न किया। श्री काशीप्रसाद जायसवाल

का तो यहाँ तक कहना है कि अन्तिम मौर्य राजा को मारनेवाले पुष्यमित्र के राज्य की (ब्राह्मण-राज्य की) नैतिकता सिद्ध करने के लिये ही मनुस्मृति लिखी गयी।[२] राजनैतिक पद्धति में जनतन्त्र का अभाव भारतीय जीवन का एक प्रमुख दोष माना गया है, तथा यह भी आरोप है कि भारतीय राजनीतिक जीवन में नैतिकता (Ethics) को कोई स्थान नहीं है। साथ ही यह भी बताया जाता है कि भारत में सदैव ही छोटे-छोटे राज्य रहे हैं तथा इस कारण भारत में सामाजिक एकता जिसे वर्तमान काल में राष्ट्रीयता के नाम से पुकारा जाता है कभी नहीं रही। यह सब विचार इसी कारण है कि भारतीय सामाजिक जीवन के आधारों को समझने का बहुत अभाव रहा। ऐसे बहुत-से पाश्चात्य और भारतीय विद्वान् हुए हैं जिन्होंने भारतीय जीवन को सहानुभूति के साथ अध्ययन करने का प्रयत्न किया परन्तु भारतीय जीवन के मूल को न ग्रहण करने के कारण उस मूल पर जो ढाँचा खड़ा था उसकी वास्तविक कारण-मीमांसा करने में असमर्थ रहे हैं।[3] प्रस्तुत ग्रन्थ का उद्देश्य यही है कि भारतीय समाज-रचना के आधारभूत सिद्धान्तों का अध्ययन कर यह देखने का प्रयत्न किया जाये कि भारत ने उन सिद्धान्तों के आधार पर अपने सामाजिक और राजनीतिक जीवन की रचना किस प्रकार की।

भारतीय समाज-रचना को समझने में जो त्रुटि है उसका एक बहुत बड़ा कारण पश्चिमी समाज-रचना और भारतीय समाज-रचना की भिन्नता है। पश्चिमी समाज में राजनीति, धर्मनीति (Theology), नैतिकता (Ethics), दर्शन (Metaphysics), समाजनीति (Sociology) अर्थनीति (Economis), कानून, साहित्य आदि जीवन के पृथक्-पृथक् क्षेत्र हैं और फलस्वरूप प्रत्येक के पृथक् सिद्धान्त निर्मित हुए हैं। सम्पूर्ण जीवन को पूर्ण एकात्मता से देखने की दृष्टि नहीं है। यदि हुई भी है तो इतनी ही कि राज्य के सर्वग्रासी पञ्जों के नीचे सम्पूर्ण जीवन को लाने का प्रयत्न है परन्तु उस दशा में भी उनके सिद्धान्त में एकात्मता नहीं दिखायी देती। परन्तु भारतीय समाज के विभिन्न अङ्गों में एकात्मता है। उन्हें एक ही साँचे में ढालने का प्रयत्न किया गया है। जीवन के सभी अङ्ग एक ही आत्मा से प्रभावित हैं। एक ही बीज के आधार पर वृक्ष की विभिन्न शाखाओं, पत्रों, पुष्पों और फलों के समान भारतीय समाज-रचना के जीवन के अङ्गों का विकास हुआ है। इसी कारण ज्योतिष, व्याकरण, छन्द आदि वेदों के उपाङ्ग माने जाते हैं और धनुर्वेद, आयुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा अर्थशास्त्र चारों वेदों के उपवेद हैं। सभी भारतीय शास्त्रों में, प्रकट रूप से इतिहास, पुराण के ग्रन्थों में तथा प्रच्छन्न रूप से वेद, उपनिषदादि में इतने विविध विषयों का समावेश होता है कि आज के सर्वसाधारण व्यक्ति को

वह समझना कठिन है। महाभारतकार ने ग्रन्थ के उपक्रम में लिखा है कि "हे ब्रह्मन्! इसमें वेदों का रहस्य (वेदों में वर्णित सब बातें) तथा अन्य सब विषय मेरे द्वारा वर्णित हैं। वेदों का, उनके अङ्गों और उपनिषदों सहित, सविस्तार वर्णन; इतिहास-पुराणों का मन्थन करके उसकी समस्त सामग्री; भूत, वर्तमान तथा भविष्य में होनेवाली सब बातें; वृद्धावस्था, मृत्यु, भय, रोग, समृद्धि और अभाव का वर्णन (अथवा वृद्धावस्था, मृत्यु, भय, रोग का और इनके अभाव का वर्णन); विविध (विशेष) धर्मों के तथा आश्रमों के लक्षणों (अर्थात् तत्सम्बन्धी नियमों) का, चातुर्वर्ण्य के विधान का, पुराणों के सम्पूर्ण मूल तत्त्व का; तपस्या, ब्रह्मचर्य का (वर्णन); पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारों का युगों सहित प्रमाण (अर्थात् उनका सम्पूर्ण वर्णन); ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अध्यात्म, न्याय, शिक्षा, चिकित्सा, दान तथा पाशुपत (पशुपालन-सम्बन्धी नियम अथवा शैवधर्म) का (वर्णन); देवता, मनुष्य आदि योनियों के जन्म का कारण; पुण्य तीर्थों, देशों, नदियों, पर्वतों, वनों तथा सागरों का, पुरातन तथा दिव्य कल्पों (इतिहास) का, युद्धकौशल का, विशेष भाषाओं और जातियों का, तथा लोकव्यवहार की समस्त बातों का तथा अन्य जितनी भी बातें हैं (अथवा उनमें व्यक्त परमात्मा का) मेरे द्वारा प्रतिपादन किया गया है।"[४] उपनिषदों में भी, जैसा कि आगे विस्तार से बताया जायेगा, शिक्षा, राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति, आदि सभी के सिद्धान्तों का उल्लेख है।[५] अर्थ और काम के ग्रन्थों के प्रणेता तथा अन्य शास्त्र भी अपने सिद्धान्तों को समाज-जीवन के मूल आदर्शों अर्थात् धर्म से निष्पन्न करते हैं।[६] भारत के सम्पूर्ण जीवन की इस एकात्मता को यदि न समझा गया और भारतीय जीवन के पृथक्-पृथक् अङ्गों का पृथक्-पृथक् अध्ययन, विश्लेषण और परीक्षण करने का प्रयत्न किया जायेगा तो मूलभूत सिद्धान्त को समझने के अभाव में, स्वाभाविक रीति से जीवन के किसी भी अङ्ग का अध्ययन त्रुटिपूर्ण होगा और उस आधार पर दिया गया मत भ्रमपूर्ण होगा।

भारतीय समाज-व्यवस्था के वास्तविक स्वरूप को न समझ सकने का एक और भी कारण है। भारत के मनीषियों ने मनुष्य के सम्पूर्ण ऐहिक और पारलौकिक जीवन का अध्ययन करके समाज और व्यक्ति दोनों की सर्वाङ्गीण उन्नति, अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस की दृष्टि से विचारपूर्वक यह समाज-रचना निर्माण की। इस व्यवस्था के अङ्ग-रूप उन्होंने वर्ण, आश्रम, संस्कार, साधारणधर्म, राजधर्म, स्त्रीधर्म और मोक्षधर्म की निर्मित कर एक परिपूर्ण ढाँचा तैयार किया। अन्य समाज-जीवनों से भारत के समाज-जीवन की यह भिन्नता भी एक बड़ा कारण है जिससे भारतीय समाज-व्यवस्था को समझने में लोगों को कठिनाई होती है। अब, यदि एक व्यवस्था निर्माण होती है तो उसमें नियम

होते हैं, उसमें किसी को स्वेच्छापूर्वक कार्य करने का अधिकार नहीं होता अपितु उस व्यवस्था के अन्तर्गत चलना पड़ता है और ऐसी कोई भी बात जो अव्यवस्था उत्पन्न करनेवाली हो वर्जित होती है तथा उसके कारण बहुत-से प्रतिबन्ध व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन पर लगते हैं। सभी राज्य-व्यवस्थाओं में ऐसा है परन्तु अन्य देशों में समाज की सुयोजित व्यवस्था न होने के कारण सामाजिक जीवन में इस प्रकार के लगभग कोई प्रतिबन्ध नहीं हैं। इसीलिये जो भी, भारतीय व्यवस्था को, उसके मूल तत्त्व को समझे बिना देखता है, उसे उसको समझना कठिन होता है, तथा, जहाँ दूसरे समाजों में दिखायी देता है कि व्यक्ति बहुत स्वतन्त्र है, केवल कुछ नैतिक नियमों को छोड़ कर अन्य कोई बन्धन उसके जीवन में नहीं है, वहाँ भारतीय समाज में यह देख कर कि यहाँ व्यक्तियों को विभिन्न श्रेणियों में विभाजित कर दिया गया है, सम्पूर्ण जीवन की गतिविधि निश्चित कर दी गयी है और जीवन की छोटी-छोटी बातों में भी नियम बना दिये गये हैं, समाज-रचना दोषपूर्ण दिखायी देने लगती है। इसी कारण सहानुभूतिपूर्वक विचार करनेवाले भी भारतीय जीवन को समझने में असमर्थ रहते हैं।

भारतीय समाज-व्यवस्था की वर्तमान दशा के आधार पर भी भारतीय राजनैतिक और समाजिक-व्यवस्था का मूल्याङ्कन करना भूल है। आज समाज में व्यवस्था नहीं दिखायी देती अपितु अव्यवस्था-सी ही है। इतना तो मानना ही पड़ेगा कि भारतीय जीवन में एक सहस्र वर्ष से प्रारम्भ हुई राजनैतिक और सांस्कृतिक दासता के परिणामस्वरूप भारतीय सामाजिक और व्यक्ति-जीवन का अत्यधिक ह्रास हुआ है। पतन के गर्त में गिरे हुए समाज की इस दशा के आधार पर सामाजिक व्यवस्था का मूल्याङ्कन करना उस सामाजिक व्यवस्था के साथ अन्याय करना है। इसके अतिरिक्त भारतीय समाज-व्यवस्था को ठीक से लागू करने का अर्थात् धर्म-स्थापन का और सबको अपनी मर्यादाओं पर स्थापित रखने का कार्य, इस देश में राज्य का था।[७] ऐसा कोई राज्य पिछले एक सहस्र वर्ष से भी अधिक से न रहने के कारण जो भारतीय आदर्शों के अनुरूप समाज-व्यवस्था लागू करता आज की भारतीय समाज की दशा और व्यवस्था छिन्न-विच्छिन्न है। अतः एक तो दासता के कारण उत्पन्न होनेवाले स्वाभाविक पतन के कारण और दूसरे, समाज-व्यवस्था लागू करने का कोई साधन भी न होने के कारण आज की व्यवस्था अपनी स्वाभाविक दशा में नहीं है। हिन्दू धर्मशास्त्रों ने भी इस पतन की अवस्था की कल्पना की है और उसका 'कलियुग' के नाम से वर्णन करके उसे धर्मविहीन बताया है अर्थात् यह कहा है कि यह ऐसी अवस्था होगी जबकि समाज-व्यवस्था अपने ठीक स्वरूप में न रहेगी और उसका पतन हो जायेगा। संक्षेप में उस अवस्था का पराशर ने वर्णन किया है कि "कलियुग में

सर्वदा धर्म को अधर्म, सत्य को असत्य, राजाओं को चोर, पुरुषों को स्त्रियाँ जीत लेती हैं। अग्निहोत्र समाप्त हो जाते हैं, गुरुपूजा नष्ट होती है तथा कुमारियों के सन्तान होती है।"[८] इस कारण इस अवस्था के आधार पर समाज-व्यवस्था की श्रेष्ठता और निकृष्टता पर निर्णय देना न तो इस व्यवस्था के निर्माताओं को ही अभीष्ट है और न वैसा करना उचित ही है।

यह ग्रन्थ समाज और राज्य-व्यवस्था की विविध समस्याओं पर 'भारतीय' विचार प्रकट करने के निमित्त है। 'भारतीय' शब्द का यहाँ क्या अर्थ है यह प्रथम स्पष्ट करना आवश्यक है। किसी भी तत्त्वज्ञान को 'भारतीय' कहने के लिये यह तो आवश्यक है ही कि वह भारत में उत्पन्न हुआ हो परन्तु साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि वह उन भारतीय आदर्शों से अनुप्राणित हो जिन्हें परम्परागत रूप में भारतीय जीवन में स्वीकार और ग्रहण किया है। इस प्रकार विदेशों से आये तत्त्वज्ञान 'भारतीय' नहीं है जब तक कि वह भारतीय आदर्शों के अनुरूप काँट-छाँट कर भारतीय जीवन से एकात्म न हो जायें। विदेशों से आये तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त भी भारत में मूल जीवन-दर्शन से पृथक् विचार और आचार दिखायी देते हैं। षड्दर्शन संग्रह में चार्वाक-दर्शन का, जिसे 'लोकायत' नाम से भी पुकारा जाता है, वर्णन मिलता है। महाभारत में स्त्री-राज्य का भी वर्णन आता है[९] तथा भारत में ऐसे भी प्रदेश हैं, जहाँ मातृप्रधान समाज-व्यवस्था है। यह विचार और आचार इस दृष्टि से तो भारतीय हैं कि यह भारत में ही उत्पन्न हुए हैं अथवा इनका प्रयोग भारत में रहनेवाली कुछ जातियाँ करती हैं, पर ऐसा इसलिये है कि भारत में विचारों की स्वतन्त्रता के साथ-साथ विविध प्रयोगों की भी पूरी स्वतन्त्रता थी।[१०] यद्यपि समाज-जीवन की श्रेष्ठ रचना (भारतीय मतानुसार) सबके सामने रखी गयी और सर्वसाधारण रीति से उसको सम्पूर्ण देश में मान्यता भी प्राप्त हुई परन्तु फिर भी स्थानीय प्रथाएँ जीवित रहीं। इस ग्रन्थ में उपरोक्त कारण से उन स्थानीय प्रथाओं का वर्णन नहीं किया जा सकेगा।

दूसरी सीमा इस ग्रन्थ की यह है कि इसमें भारतीय समाज-जीवन की जो विचार-परम्परा है, उस पर ही विचार होगा, उसके व्यवहार पर नहीं। विद्वान् अनुसन्धानकर्ताओं ने पुरातत्त्व विभाग की विविध खोजों के आधार पर प्राचीन ग्रन्थों का अवलोकन कर तथा इतिहास की अन्य सामग्री खोज कर भारतवर्ष के अन्दर विविध कालों की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक दशा चित्रित करने का प्रयत्न किया है। उन खोजों के निष्कर्ष ठीक हों अथवा गलत परन्तु उस व्यवहार पर, उसकी सत्यता-असत्यता पर इस ग्रन्थ में विचार करना सम्भव नहीं। वह एक बहुत बड़ा क्षेत्र है और उस पर वास्तविक अनुसन्धान करने के लिये, एक जीवन भी सम्भवतः पूरा नहीं पड़ेगा। यह तो ठीक है कि

भारतीय समाज-रचना के आदर्शों के अनुकूल इस देश में जीवन विताने का एक बहुत बड़ा और सफल प्रयास किया गया परन्तु ऐसे भी बहुत लम्बे काल व्यतीत हुए जवकि उस व्यवस्था का इस देश में ठीक प्रकार से पालन नहीं होता था। ऐतिहासिक उदाहरण ही लें तो आज का काल है, तथा भगवान् बुद्ध के बाद का काल भी ऐसा था जिस समय भारतीय धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित व्यवस्था का उसकी भावना के अनुरूप पालन नहीं होता था। पौराणिक कथाओं में भी बार-बार असुरों की देवों पर विजय का वर्णन आता है और ऐसी विजयों में हिरण्याक्ष उसके भाई हिरण्यकशिपु, हिरण्यकशिपु के पौत्र विरोचन तथा प्रपौत्र वलि का ऐसा एक काल है। इसके अतिरिक्त भी ऐसे काल अवश्य रहे होंगे जबकि भारत में प्रतिपादित व्यवस्था का अपने पूर्ण रूप में पालन न हो पाता हो। वनपर्व में सर्परूपी नहुष के प्रश्नों का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने बताया, "मेरे विचार से तो मनुष्यों में जाति की परीक्षा करना बहुत कठिन है, क्योंकि इस समय सभी वर्णों का आपस में सङ्कर हो रहा है। सभी मनुष्य सब जाति की स्त्रियों से सन्तान उत्पन्न कर रहे हैं।"[११] अतः यह निश्चित ही है कि युधिष्ठिर के काल में वर्ण-व्यवस्था अच्छी अवस्था में न रही होगी। इसके अतिरिक्त जब इस व्यवस्था का चरम रूप रहा होगा तब भी अपवाद के रूप में ऐसे कुछ व्यक्ति रहे ही होंगे जो इस व्यवस्था का उचित पालन न करते हों। अन्यथा मिश्रित जातियों की व्यवस्था करने का क्या कारण? इसी प्रकार आठ प्रकार के विवाहों को मान्यता, जिनमें राक्षस, आसुर तथा पैशाच विवाह भी हैं जिनमें कन्या के हरण का, कन्या के विक्रय का, तथा वेहोश, सुप्त अथवा मदमाती कन्या के साथ बलात्कार का उल्लेख है, तथा बारह प्रकार के पुत्रों का वर्णन, जिनमें अविवाहित कन्या से उत्पन्न सन्तान तथा पत्नी में गुप्त रीति से उत्पन्न सन्तान का भी उल्लेख है—यह सब भी यही सिद्ध करता है कि नियमों के अपवाद अवश्य रहे होंगे। अतः विभिन्न कालों की वास्तविक सामाजिक स्थिति का वर्णन इस ग्रन्थ का विषय नहीं। इस ग्रन्थ में सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्था के सम्बन्ध में भारतीय मनीषियों के क्या विचार थे और उनका प्रत्येक समस्या पर क्या दृष्टिकोण था इसी का उल्लेख किया जायेगा। यहाँ इस विषय में एक और बात ध्यान देने योग्य है। वह यह कि इस निवन्ध में विचारों का ही निरूपण किया जायेगा इस उक्ति से यह न समझना चाहिये कि इन सिद्धान्तों का व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं है। भारतीय विचार में, जीवन के विभिन्न क्षेत्रों—सामाजिक, नैतिक, राजनैतिक, आर्थिक, आध्यात्मिक आदि के केवल सिद्धान्तों का ही निरूपण नहीं किया गया है अपितु इसमें प्रमुखतया जीवन के व्यवहार का ही वर्णन है। अतः भारतीय विचार के निरूपण में प्रमुख रीति से जीवन के व्यवहार के नियमों

का उल्लेख होगा, यद्यपि उसके अन्तर्गत और उसके साथ-साथ उन नियमों के मूलभूत सिद्धान्तों का वर्णन भी अवश्य हो जायेगा।

सम्पूर्ण सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था पर, जिसको सुगठित 'धर्म' नाम दिया गया अधिकृत भारतीय विचार कहाँ से मिल सकते हैं। भारत में वहुत-सी विचार-प्रणालियाँ रहीं, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, परन्तु भारतवर्ष ने अपने विचारों का अधिकृत रूप उन्हीं ग्रन्थों में स्वीकार किया जिन्हें धर्मशास्त्र के नाम से पुकारा जाता है। इन धर्मशास्त्रों के अतिरिक्त अन्य दर्शन भी भारत में उत्पन्न हुए, जिनमें प्रमुख हैं वौद्ध, जैन और लोकायत। जहाँ तक लोकायत विचारधारा का प्रश्न है, जिसका प्रतिनिधि चार्वाक प्रदर्शित किया गया है, वह अपने आधार में भारतीय नहीं है। उसके जो भी थोड़े-से श्लोक षड्दर्शन संग्रह में हैं यह वेद को तो अमान्य करते ही हैं, साथ-ही-साथ परमात्मा, परलोक आदि पर अविश्वास प्रकट करते हुए तथा ऐहिक सुखोपभोग को महत्ता देते हुए कर्तव्यपालन की भावना पर आघात करनेवाले हैं। इसके अतिरिक्त लोकायत का कोई मूल ग्रन्थ भी उपलव्ध नहीं है तथा समाज के सर्वसाधारण व्यक्तियों द्वारा उसकी मान्यता थी ऐसा भी दिखायी नहीं देता। दूसरा वौद्ध दर्शन है। उसके सवसे श्रेष्ठ और प्रमुख प्रतिनिधि स्वाभाविक रूप से वुद्ध ही माने जाने चाहिये। उनके अनुयायी चाहे कितने भी श्रेष्ठ हों, भगवान् वुद्ध की विकृति हो सकते हैं, परन्तु उन्हें वौद्ध मत का भगवान् वुद्ध से श्रेष्ठ प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता। वुद्ध का निर्वाण, अर्हत और शील भारतीय धर्मशास्त्रों के मोक्ष, संन्यासी और साधारणधर्म के ही रूपान्तर के समान हैं। वौद्ध धर्म का शून्यवाद एक ओर तो निर्गुण परव्रह्म की ओर सङ्केत करता है तथा दूसरी ओर वह मायावाद का भी सिद्धान्त प्रकाशित करता है कि यह संसार मिथ्या है और इसमें सत्य अथवा वास्तविकता नहीं है। वुद्ध पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त में विश्वास करते ही थे। इस प्रकार शून्य, निर्वाण, भिक्षु-जीवन (संन्यास), शील, पुनर्जन्म और कर्मफल में वुद्ध का विश्वास था। केवल दो ही विषयों में मतभेद कहा जाता है। एक तो यह कि वुद्ध परमात्मा अथवा आत्मा में विश्वास नहीं करते थे तथा, दूसरे, यह कि उस काल की समाज-व्यवस्था के, जिसे पश्चिमी विद्वानों ने व्राह्मण समाज-व्यवस्था कहा है, वह विरोध में थे और उन्होंने उसे परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। प्रथम विषय में तो वुद्ध ने मौन रखा। पोठ्ठपाद सुत्ता में पोट्ठपाद पूछता "क्या संसार अनन्त है? क्या केवल यही सत्य है और अन्य विचार क्या केवल मूर्खता?" वुद्ध उत्तर देते हैं "पोट्ठपाद यह एक ऐसा विषय है जिस पर मैंने अपना कोई मत नहीं वताया।"[१२] संयुक्त निकाय में[१३] एक कथा दी गयी है" "एक ओर वैठ परिव्राजक वत्सगोत्र भगवान् से वोला "हे गौतम!

क्या अस्तिता है ?" यह पूछने पर भगवान् चुप रहे। "हे गौतम ! क्या नास्तिता है ?" यह भी पूछने पर भगवान् चुप रहे। तब परिव्राजक वत्सगोत्र आसन से उठ कर चला गया। तब परिव्राजक वत्सगोत्र के चले जाने के बाद ही आयुष्मान् आनन्द भगवान् से बोले "भन्ते ! परिव्राजक वत्सगोत्र के पूछने पर भगवान् ने उत्तर क्यों नहीं दिया ?" "आनन्द ! यदि मैं वत्सगोत्र परिव्राजक से 'अस्तिता है' कह देता तो यह शाश्वतवाद का सिद्धान्त हो जाता और यदि मैं वत्सगोत्र से 'नास्तिता है' कह देता तो वह उच्छेदवाद का सिद्धान्त हो जाता"। इसी प्रकार से मज्झिम निकाय में भी[१४] वत्सगोत्र के प्रश्नों के "क्या लोक शाश्वत है", अथवा अशाश्वत है", "क्या जीव और शरीर एक है अथवा क्या जीव दूसरा है और शरीर दूसरा" बुद्ध उत्तर नहीं देते। इस पर वत्सगोत्र पूछता है "क्या बुराई देख कर गौतम ! आप इन सब दृष्टियों (सिद्धान्तों) को ग्रहण नहीं करते।" बुद्ध उत्तर में कहते हैं कि "यह दृष्टि (सिद्धान्त) दृष्टि के लिए गहन (समझने में कठिन), दृष्टि-कान्तार (जङ्गल जिसमें मनुष्य भटक सकता है), दृष्टि के लिए कण्टक (बाधास्वरूप), दृष्टि की चञ्चलता (इधर-उधर गलत मार्गों में भ्रमित होना) तथा दृष्टि का बन्धन (अर्थात् अपने मतवाद पर दुराग्रह में फँस जाने के कारण अपने लक्ष्य निर्वाण तक न पहुँच सकना) है। यह दुःखमय, विघातमय (पीड़ामय), परिदाहमय है। यह न निर्वेद के लिये, न वैराग्य के लिये, न निरोध के लिये, न उपशम (शान्ति) के लिये, न अभिज्ञा (ज्ञान) के लिये, न सम्बोध (परमज्ञान) के लिये, न निर्वाण के लिये है।" महाली सुत्त में[१५] इस प्रश्न के उत्तर में कि 'क्या आत्मा और शरीर एक वस्तु है अथवा आत्मा एक वस्तु है और शरीर पृथक् ?" बुद्ध कहते हैं "महानुभाव ! मैं इस सबको जानता हूँ और देखता हूँ पर फिर भी मैं न यह कहता हूँ, न वह।" राधाकृष्णन कहते हैं[१६] "परमात्मा पर उनका मौन यह सूचित करता है कि उनके विचार से दृश्य जगत् को समझने के लिये अनन्त तत्व का उपयोग नहीं किया जा सकता। हमारा ज्ञान केवल अनुभव तक ही सीमित है और जो निर्गुण है वह अनुभव के परे है। जो हमारी पकड़ के बाहर रहता है उसको समझने के निरर्थक प्रयत्न में समय नष्ट करने की आवश्यकता नहीं।" इतने पर भी बुद्ध परमात्मा और आत्मा के अस्तित्व को एकदम अस्वीकार नहीं कर सके। दीघनिकाय के महानिदान सुत्त में एक संवाद है। बुद्ध के पूछने पर कि "यदि चेतनता माता के गर्भ में अवतरित न होती तो क्या वहाँ शरीर और मन का निर्माण हो सकता था", अन्य संवादकर्ता कहता है "नहीं, भगवन् !" "यदि किसी लड़के अथवा लड़की की चेतनता उसकी अल्प आयु में ही नष्ट हो जाये तो क्या शरीर

और मस्तिष्क में विकास, प्रगति और वृद्धि हो सकेगी ?" "नहीं, भगवन् !" इस प्रसङ्ग में बुद्ध शरीर के अन्दर आत्मा के अस्तित्व की ओर इङ्गित करते हैं। उदान[१७] में वह कहते हैं, एक अजन्मा, अनुत्पन्न, अनिर्मित, असंघटित तत्त्व हैं। भिक्षुओ ! यदि वह न होता तो जन्मप्राप्त, उत्पन्न, निर्मित और संघटित (वस्तुओं) के संसार से निकलना सम्भव ही नहीं हो सकता।" पुनर्जन्म को स्वीकार कर लेने के बाद आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना स्वाभाविक तथा अनिवार्य है अन्यथा पुनर्जन्म किसका ? "पुनर्जन्म को महत्त्व देने के लिये आत्मा की धारणा में पर्याप्त अर्थ है। कठिनाई यह है कि यदि कोई स्थायी आत्मा नहीं है तो फिर दण्ड का कोई अर्थ नहीं। दण्ड के समय तो फिर वह व्यक्ति रह ही नहीं जाता जिसने अपराध किया है। परन्तु दण्ड का औचित्य सिद्ध करने के लिये (बौद्ध मत में) पर्याप्त एकात्मता है।"[१८] इसके अतिरिक्त बुद्ध ने जहाँ-जहाँ (और ऐसे बहुत से स्थल हैं) अहं की धारणा का विरोध किया है, वहाँ-वहाँ यह स्पष्ट दिखायी देता है कि वे आत्मा के अस्तित्व का विरोध नहीं कर रहे अपितु मनुष्य के अन्दर के 'अहङ्कार' के भाव का विरोध कर रहे हैं जिसके कारण मनुष्य को इस संसार से निर्वाण प्राप्त करना कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिए मज्झिमनिकाय के चूल राहुल सुत्त में वह पूछते हैं, "तो क्या मानता है, राहुल ! चक्षु नित्य है या अनित्य ?" "अनित्य है, भन्ते !" वह फिर पूछते हैं, "जो अनित्य है वह दुःख है या सुख ?" "दुःख, भन्ते !" "जो अनित्य, दुःख, विपरिणामधर्मा है, क्या उसे 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा है, 'यह मेरी आत्मा है', ऐसा समझना युक्त है ?" "नहीं भन्ते !" अन्य भी स्थलों पर ऐसा ही प्रयोग दिखायी देता है। बुद्ध ने आत्मा का अस्तित्व माना है यह बात बुद्ध के अनात्मवादी अनुयाइयों ने भी स्वीकार की है, यद्यपि उन्होंने उसको अपना अर्थ देने का प्रयत्न किया है। नागार्जुन प्रज्ञानपरिमित सूत्र पर अपनी टीका में कहते हैं "तथागत ने कई बार बताया कि आत्मा है और दूसरी बार यह बताया कि आत्मा नहीं है। जब उन्होंने यह सिखाया कि आत्मा है और अपने कर्मफल के रूप में, वह आगे के जीवनों में दुःख और सुख प्राप्त करता है तब उनका उद्देश्य था कि मनुष्य को वह उच्छेदवाद की भ्रमपूर्ण धारणा में गिरने से बचा लें। जब उन्होंने यह सिखाया कि पाँच स्कन्धों के समूह के प्रयोगात्मक नाम के अतिरिक्त द्रष्टा अथवा निर्माता अथवा पूर्ण स्वतन्त्रकर्ता के रूप में कोई आत्मा नाम की वस्तु नहीं है तो उनका उद्देश्य था कि वह मनुष्य को शाश्वतवाद की उलटी भ्रमपूर्ण धारणा में गिरने से बचा लें।"[१९] इस प्रकार मूलभूत सिद्धान्तों की दृष्टि से बौद्ध मत में और हिन्दू धर्मशास्त्रों में कोई मतभेद ही नहीं लगभग एकात्मता

है। इस वात को विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। राधाकृष्णन के मत के अतिरिक्त, जिसका कुछ उल्लेख ऊपर किया गया है और जिन्होंने अति संक्षेप में कहा है कि "बौद्धमत, कम-से-कम अपनी उत्पत्ति में हिन्दू धर्म की एक शाखा है" तथा यह भी वताया है कि "बुद्ध स्वयं स्वीकार करते हैं कि आत्म-संस्कारों के प्रयत्न से उन्होंने जो धर्म खोज निकाला है, वह प्राचीन मार्ग है, जो आर्य-पथ तथा सनातन धर्म है"[२०] र्‌हीज़ डेविड्ज़ का कहना है कि[२१] कि "उनका (बुद्ध का) प्रचलित धर्म से कोई सङ्घर्ष नहीं था। उनका उद्देश्य उसकी वृद्धि करना तथा उसे शक्तिशाली वनाना था, उसे नष्ट करना नहीं।...इसके अतिरिक्त उनमें जो मौलिकता थी वह इस वात में थी कि दूसरों ने इसके पूर्व जो कहा था उसे उन्होंने ग्रहण किया, विकसित किया, उदार रूप प्रदान किया तथा एक व्यवस्थित रूप दिया।" श्री जी० एफ० एलेन का भी कथन है कि "बौद्धधर्म सम्बन्धी लेखक जिसे वौद्ध मत कहते हैं उसमें से वहुत-सा हिन्दूधर्म है तथा वह अन्य भारतीय दर्शनों में भी पाया जाता है।"[२२] ओल्डेनवर्ग ने कहा है[२३] यह निश्चित है कि बौद्धमत ने ब्राह्मणधर्म से उत्तराधिकार के रूप में महत्त्वपूर्ण धार्मिक सिद्धान्तों की एक परम्परा ही नहीं प्राप्त की है, अपितु एक ऐतिहासिक के लिये जो कम महत्त्व की वात नहीं है, धार्मिक विचार और भावना की वह शिक्षा भी प्राप्त की है जिसे समझना अधिक सुविधापूर्ण है और व्यक्त करना कठिन है।"

यदि मूलभूत दार्शनिक सिद्धान्तों और नैतिक नियमों को छोड़ दें, तो सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से भी बुद्ध ने हिन्दू समाज-व्यवस्था का विरोध नहीं किया। उन्होंने केवल आत्माविहीन रूढिवाद को नष्ट करने का प्रयत्न किया और कहा कि केवल पद्धतियों और प्रथाओं का अनुसरण मनुष्य को मुक्ति देने में असमर्थ है। निर्वाण उनका लक्ष्य था और उन्हें स्पष्ट दिखा कि जीवनशून्य, आत्माविहीन प्राचीन पद्धतियों के पालन में इस लक्ष्य की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती केवल अहङ्कार का ही निर्माण हो सकता है। प्रत्येक विषय के विचार में उन्होंने यह वात स्पष्ट की। बुद्ध का हिन्दू समाज-व्यवस्था में सवसे प्रवल विरोध उसकी वर्ण-व्यवस्था के प्रति वताया जाता है। परन्तु इस सम्वन्ध में उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संवाद 'ब्राह्मणधीम्मक सुत्त' है।[२४] इस सुत्त में वे पूर्व काल के ब्राह्मणों के जीवन का, तत्पश्चात उनके पतन का और तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था के स्वरूप का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि "प्राचीन ऋषि आत्मसंयमी और तपस्वी थे तथा वे पाँचों इन्द्रियों के विपयों का त्याग कर अपने कल्याण (मोक्ष) का विचार करते थे। ब्राह्मणों के पास न पशु थे, न हिरण्य, न धान्य, परन्तु ध्यान का धन-धान्य ही उनके पास था और वे अपनी (इस) सर्वोत्तम निधि की

रक्षा करते थे। जो उनके लिये पकाया जाता था उसे वे द्वार पर उपस्थित कर देते थे (अतिथि-सत्कार अथवा पञ्चमहायज्ञ) और ऐसा विचार करते थे कि जो श्रद्धा से पकाया हुआ (भोजन) चाहते हैं यह उनको दान करने के लिये है। सम्पूर्ण देश तथा जनपदों के समृद्ध लोग, जिनके पास उत्तम वस्त्र, शयन तथा निवास थे, उनको नमस्कार करते थे। ये ब्राह्मण पतित नहीं होते थे, अजेय थे तथा धर्म द्वारा रक्षित (अर्थात् धर्म का पालन करनेवाले) थे। उन्हें कोई कभी अपने घर के द्वार से निवारण नहीं करते थे (हटाते नहीं थे)। वह ४८ वर्ष तक कौमार्य ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। पूर्व में ये विज्ञान और आदर्श व्यवहार के विचार में ही रत रहते थे। ब्राह्मण दूसरे वर्ण की स्त्री से विवाह नही करते थे, न भार्या खरीदते थे। परन्तु एक साथ आ कर (विवाह के पश्चात्) परस्पर प्रेम से रहते थे। ऋतुकाल छोड़ कर ब्राह्मण मैथुन नहीं करते थे। वे ब्रह्मचर्य, शील, आर्जव, तप, कोमल स्वभाव, अविहिंसा (दया) तथा शान्ति का पालन करते थे। तण्डुल, शयन, वस्त्र, घी तथा तेल माँग कर तथा श्रमपूर्वक एकत्रित कर उससे यज्ञ करते थे तथा यज्ञ उपस्थित होने पर वे गायों (अथवा पशुओं) का वध नहीं करते थे, (क्योंकि) वे यह वास्तविकता जानते थे कि गौएँ हमारी पिता, माता, वन्धु तथा अन्य सम्वन्वियों के समान हैं तथा हमारी परम मित्र हैं जिनसे औषधियाँ उत्पन्न होती हैं (तथा क्योंकि) वे अन्न, वल, (शुभ) वर्ण, तथा सुख देने वाली हैं। इस कारण वे गायों की हिंसा नहीं करते थे। वे सुन्दर, महाकाय, शुभवर्णवाले, यशस्वी, स्वभाव से ब्राह्मण तथा धर्म में उत्साही थे तथा जव तक वे इस लोक में थे तव तक प्रजा सुख प्राप्त करती थी।" यहाँ तक इस सुत्त में बुद्ध के वर्णन का इस कारण विस्तारपूर्वक उद्धरण दिया गया कि वर्ण-व्यवस्था के उपयुक्त स्वरूप की वुद्ध की धारणा स्पष्ट हो सके। यह वर्णन करके वुद्ध फिर आगे वताते हैं कि इसके पश्चात् राजा की समृद्धि तथा समलंकृत स्त्रियों को देख कर उनके मन में भी वह सव प्राप्त करने की इच्छा हुई। अतः वह राजा के पास गये तथा राजा को हिंसात्मक यज्ञ करने के लिए प्रेरित किया। इसके वदले में उन्होंने राजा से विविध ऐश्वर्य की वस्तुएँ प्राप्त की। उनकी फिर इन ऐश्वर्य की वस्तुओं के संग्रह की इच्छा हुई तथा उन्होंने राजा से और अधिक यज्ञ करने का आग्रह किया जिसमें शतसहस्र गायों का वध हुआ यद्यपि इन्द्र, देव, पितर, असुर, राक्षस आदि सवने कहा कि यह अधर्म है। इस अधर्म के प्रारम्भ होने के पूर्व केवल तीन रोग थे, इच्छा, अनशन, जरा परन्तु गायों का वध होने से अट्ठानवे रोग उत्पन्न हुए। धर्म नष्ट होने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में मतभेद होने लगा, भार्याएँ पतियों की अवमानना करने लगीं तथा क्षत्रिय, ब्राह्मण और अन्य गोत्ररक्षित व्यक्ति जाति के व्यवहार

(स्वधर्म) से हट कर कामोपासना में लग गये। उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि बुद्ध वर्ण-व्यवस्था के मूल रूप के विरोधी नहीं थे। वह उस काल की वर्ण-व्यवस्था को उचित मानते थे जब ब्राह्मणादि सब वर्ण स्वधर्मों का उचित पालन करते थे तथा योग्य गुणों से युक्त थे। इस संवाद में बुद्ध द्वारा इस बात की प्रशंसा भी, कि उस समय ब्राह्मण अपने वर्ण की स्त्रियों से ही विवाह करते थे, इस बात की ओर सङ्केत करती है कि बुद्ध वर्ण-व्यवस्था की कड़ाई के तथा जन्मना वर्ण-व्यवस्था के (जो अपने वर्ण में विवाह के आग्रह का स्वाभाविक परिणाम है) भी पक्षपाती थे, यदि वह व्यवस्था अपने उचित रूप में चले। इस वर्णन से यह भी ज्ञात होता है कि बुद्ध स्मृतियों में तथा अन्य धर्मग्रन्थों में वर्णित व्यवस्था को—वर्णधर्म के अतिरिक्त ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, स्त्रीधर्म आदि के नियमों को भी—स्वीकार करते थे। इससे यह भी स्पष्ट है कि बुद्ध ने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का जो विरोध किया वह उनकी स्वार्थ-लालसा, कामेच्छा तथा ऐश्वर्योपभोग की वृत्ति के कारण किया, अन्य कारणों से नहीं। बुद्ध का यह कहना, कि जब ब्राह्मण धर्म का पालन करते थे, सद्गुणी थे तथा श्रेष्ठ आचार और विचार में रत थे तब तक सम्पूर्ण समाज में उनका बहुत सम्मान था (जिसे बुद्ध उचित मानते हैं) परन्तु जब से वह निकृष्ट जीवन व्यतीत करने लगे तब से समाज के इस आदर्श वर्ग का पतन होने के कारण सम्पूर्ण समाज की अवस्था भी हीन हो गयी, भी इसी ओर सङ्केत करता है। सबसे अन्त में बुद्ध ने श्रेष्ठता की तथा पतन की अवस्था का जो चित्रण किया है, वह इतिहास-पुराण ग्रन्थों के युग-वर्णन के समान है। इस संवाद के अतिरिक्त भी बुद्ध ने किसी भी स्थल पर वर्ण-व्यवस्था का स्पष्ट विरोध नहीं किया। उन्होंने बार-बार यही कहा है कि जन्म से ही वर्ण नहीं माने जाने चाहिये, श्रेष्ठता के लिये गुण भी आवश्यक है। उन्होंने ब्राह्मणों के लिये बार-बार कहा है कि किसी व्यक्ति को केवल जाति का ब्राह्मण होने से श्रेष्ठ स्थान अथवा महत्त्व अथवा कोई विशेष अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता, गुणोपासना करने पर ही यह सब प्राप्त हो सकता है। ब्राह्मण किसे कहना चाहिये इसका बार-बार उत्तर देते हुए वह उनके गुणों का वर्णन करते हैं। यह सब हिन्दु धर्मशास्त्रों के अनुकूल है। "जिसके हृदय में निर्मल, निर्गुण ब्रह्म का भाव उदय हो वही ब्राह्मण है "अथवा" जो सदाचारी, सत्यव्रती गुरुप्रिय और सत्यपरायण रह कर ब्राह्मणों के भोजन करने से बचा हुआ अन्न खाता है और जो दान, अद्रोह, कोमलता, दया, क्षमा और तपस्या में लगा रहता है वही ब्राह्मण है" हिन्दू धर्मशास्त्रों के इन वर्णनों से[२५] बुद्ध के ब्राह्मणों के गुणों के वर्णन बिलकुल भिन्न नहीं है।

यदि अन्य विषयों का विचार किया जाये तो अम्बट्ठ सुत्त में बुद्ध तप,

दान, यज्ञ, का भी महत्त्व स्वीकार करते हैं यद्यपि श्रेष्ठ अवस्था की प्राप्ति (निर्वाण) का भी आग्रह करते हैं। इस कथा के प्रथम भाग में तो यह बताते हुए कि उस काल में व्यवहार में क्षत्रियों को ब्राह्मणों से ऊँच समझा जाता था अन्त में वह एक श्लोक कहते हैं "समाज के अन्तर्गत जो वंश में विश्वास रखते हैं उनमें क्षत्रिय (आजकल) सर्वश्रेष्ठ हैं परन्तु जो कि ज्ञान और नैतिकता में पूर्ण है (ब्राह्मण) वही मनुष्यों में और देवताओं में सर्वश्रेष्ठ है।" इस श्लोक के द्वारा वह यह इङ्गित करते हैं कि सच्चे ब्राह्मणों को क्षत्रियों से ऊँचा समझा जाना चाहिये। इस कथा के दूसरे भाग में बुद्ध कहते हैं कि यदि कोई भिक्षु अथवा ब्राह्मण ज्ञान अथवा व्यवहार में परिपूर्णता प्राप्त किये विना जङ्गल में जाकर फलों पर जीवित रहना प्रारम्भ करता है अथवा अग्निदेव की उपासना प्रारम्भ करता है अथवा ब्राह्मणों और भिक्षुकों के लिए सदाव्रत खोलता है तो वह उस व्यक्ति का केवल दास होने योग्य है जिसने ज्ञान और व्यवहार में परिपूर्णता प्राप्त कर ली है। इस प्रवचन से ऐसा समझा जा सकता है कि बुद्ध इन सब रूढ़िवादी पद्धतियों के विरोध में हैं। परन्तु बुद्ध, इससे आगे बढ़ कर, अम्बट्ठ से पूछते हैं "कि तुमने ज्ञान और व्यवहार में परिपूर्णता तो प्राप्त नहीं की है परन्तु क्या तुम्हें फलों पर जीवित रहने की, अग्निदेव की उपासना करने की और ब्राह्मणों की सेवा करने की शिक्षा मिली है ?" अम्बट्ठ के नकारात्मक उत्तर देने पर बुद्ध फिर उससे पूछते हैं कि "त्रयी का अध्ययन तो किया पर न तो उससे ज्ञान और व्यवहार में ही पूर्णता प्राप्त हुई और न तप, दान, यज्ञ ही सीखा अपितु उल्टे ही सजधज से रहने का, इन्द्रियभोग में लिप्त रहने का, रुचिपूर्ण भोजन करने का, बहुत-सी स्त्रियों से सेवा कराने का और सुरक्षित दुर्गों में कालयापन करने का अभ्यास डाला है जैसा कि प्राचीन ऋषि नहीं किया करते थे।"[२६] इस प्रकार बुद्ध का प्राचीन पद्धतियों पर आक्षेप नहीं है, उनकी आत्मा को समझने पर बल है। इसी प्रकार कूटदन्त सुत्त में[२७] कूटदन्त नाम के एक ब्राह्मण को, जो यज्ञ करना चाहता है, भगवान बुद्ध एक कथा सुनाते हैं कि महाविजित नाम के एक महाऐश्वर्यशाली तथा सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतने वाले राजा ने यज्ञ करने का निश्चय किया। जब राजा ने अपना निश्चय पुरोहित से प्रकट किया तब पुरोहित ब्राह्मण ने राजा से कहा कि वह राज्य में होनेवाली चोरी और डाकों को सर्वप्रथम रोके और फिर यज्ञ का विचार करे। जब ऐसा हो गया तब पुरोहित ने कहा कि वह अब यज्ञ के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों को निमन्त्रण दे। तत्पश्चात् जो यज्ञ हुआ उसका वर्णन बुद्ध भगवान् देते हैं कि उसमें पशुहिंसा नहीं हुई परन्तु उस राजा ने, जो स्वयं आठों गुणों से परिपूर्ण था तथा जिसका पुरोहित चारों गुणों से परिपूर्ण था,

घी, तेल, मक्खन, दूध, शहद तथा शक्कर से ही वह यज्ञ पूर्ण किया। राजा के गुण थे कि उसका मातृ तथा पितृ कुल श्रेष्ठ था, सात पीढ़ियों से उसका वंश शुद्ध था तथा उसके कुल पर कोई आरोप नहीं थे, वह सुन्दर था, वह शक्तिशाली और ऐश्वर्यशाली था, उसके पास अच्छी सेना थी तथा वह अपनी शक्ति से शत्रुओं के हृदय में दाह उत्पन्न करता था, धर्मविश्वासी, उदार, दाता और महान् कार्यों को करनेवाला था, सभी विद्याओं का ज्ञाता था, अर्थज्ञ था, बुद्धिमान और विचारशील था। उसका पुरोहित भी राजा के समान ही शुद्ध वंश और रक्त का था, वेद-वेदाङ्ग और इतिहास का ज्ञाता था, सच्चरित्र था तथा बुद्धिमान था। बुद्ध ने यह भी बताया कि वह स्वयं उस जन्म में पुरोहित थे। अन्त में बुद्ध कहते हैं कि दान, बुद्ध के ऊपर (ज्ञानी के ऊपर) विश्वास, सत्य, अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह का पालन तथा अर्हत अवस्था की प्राप्ति यह उस (उपरोक्त) यज्ञ से भी श्रेष्ठ यज्ञ है। इस सम्पूर्ण कथा में प्रच्छन्न रूप से राजधर्म और वर्णधर्म का जो वर्णन है वह हिन्दू धर्मशास्त्रों के वर्णन से पूरा मिलता है तथा बुद्ध द्वारा दी गयी यज्ञ की कल्पना के ही समान हिन्दू धर्मशास्त्रों की यज्ञ की कल्पना है।[२८]

इस प्रकार के अन्य भी बहुत उदाहरण दिये जा सकते हैं जिसमें बुद्ध ने हिन्दू समाज-पद्धति का विरोध नहीं किया अपितु प्रच्छन्न रूप से उसे स्वीकार भी किया है। उनका केवल इतना ही आग्रह रहा कि इन प्रथाओं को निर्जीव रीति से पालन करने पर मनुष्य अपने लक्ष्य निर्वाण के निकट नहीं पहुँच सकता और यदि इन प्रथाओं के विना पालन किये भी मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर ले तो वह इन निर्जीव प्रथाओं के पालन से श्रेष्ठ है।[२९] बुद्ध का भावात्मक (Positive) दृष्टिकोण था, नकारात्मक नहीं। उनकी वृत्ति आक्रामक नहीं थी, सुधारात्मक थी। भगवान् बुद्ध की भारतीय समाज-व्यवस्था की प्रच्छन्न स्वीकृति बौद्ध विचारधारा के प्रसिद्ध विद्वान र्‌हीज डेविड्ज़ ने भी स्वीकार की है यद्यपि उसने उसे भिन्न ढङ्ग से समझाने का प्रयत्न किया है। कस्सप सीहनाद सुत्त की भूमिका में वह बुद्ध भगवान् की संवादपद्धति का वर्णन करते हैं[३०] "वह (बुद्ध) अपने मत-प्रतिपादन के प्रारम्भ में विरोधी के द्वारा मान्य कृति अथवा स्थिति की आवश्यकता को स्वीकार कर लेते हैं—परमात्मा से एकता को (तेविज्ज सुत्त में), अथवा यज्ञ को (कूटदन्त में), अथवा सामाजिक उच्चता को (अम्बट्ठ में), अथवा अप्राकृतिक दृश्यों को (महाली में) अथवा आत्मा के सिद्धान्तों को (पोट्ठपाद में)। वह प्रश्नकर्ता की ही शब्द-प्रणाली को स्वीकार करते हैं, और, तब, अंशतः उन शब्दों में एक नया और ऊँचा अर्थ भर कर (बौद्धधर्म के अनुसार) तथा अंशतः उन नैतिक धारणाओं का उल्लेख कर जो उनमें और दूसरे में समान है, वह (प्रतिद्वन्दी को) अपने निष्कर्ष तक ले जाते हैं।" इसका अर्थ इतना ही

है कि बुद्ध तत्कालीन समाज-व्यवस्था की सारी बातों को स्वीकार करते हुए इतना ही कहते थे कि उनमें प्राण नहीं है और वह प्राण के बिना निरर्थक हैं। हिन्दू धर्मशास्त्रों ने सिद्धान्तों के साथ-साथ आचार पर भी बल दिया, ज्ञानकाण्ड के साथ कर्मकाण्ड भी रखा, आत्मा के साथ एक व्यवस्था, पद्धति भी निर्माण की परन्तु बुद्ध आत्मा पर, भावना पर, सिद्धान्तों पर, आदर्शों पर और वास्तविक लक्ष्यप्राप्ति पर ही पूर्ण बल देते रहे। इसके अतिरिक्त, भगवान् बुद्ध ने हिन्दू समाज-व्यवस्था से दूसरी अन्य कोई आचार-पद्धति भी समाज के लिये नहीं निर्माण की। श्री सुकुमार दत्त का अपनी पुस्तक (Problem of Indian Nationality)[31] में कहना है कि "बौद्ध मत मूलतया, जैसा कि प्रोफेसर वारेन उसका नामकरण करेंगे, एक सिद्धान्तवादी अथवा विचारवादी पद्धति थी। वह एक सुगठित और ऐतिहासिक पद्धति नहीं थी जैसा कि ब्राह्मण-धर्म था, जिसने समाज के प्रत्येक अङ्ग में प्रवेश किया। अपने गठन में वह संन्यास की एक पद्धति थी न कि एक सामाजिक धार्मिक व्यवस्था। ब्राह्मण-धर्म में गृह्यसूत्रों का महत्त्व देख कर, जिनके अन्दर से बाद की स्मृतियों का सम्पूर्ण आचार उत्पन्न हुआ है, तथा बौद्ध धर्म में गहपति वग्गों (गृहपति वर्ग) का अमहत्त्वपूर्ण स्थान देख कर, यह बात स्पष्ट हो जाती है। बौद्धिक धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत, बौद्ध संन्यासियों के व्यवहार और नियन्त्रण के विनयपिटक में विस्तृत नियम हैं तथा सुत्तपिटक और अभिधम्मपिटक में प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के सिद्धान्त और तत्व-दर्शन हैं, परन्तु सामाजिक व्यवस्था के नियम के रूप में थोड़े से गहपति वग्ग हैं, जिनका कोई स्पष्ट स्वरूप नहीं है।.........जब कि एक सामाजिक धार्मिक व्यवस्था की सर्वग्राही पद्धति थी, दूसरी एकत्रित संन्यासीवर्ग की सीमित पद्धति थी।" प्रसिद्ध विचारक तथा विद्वान् श्री आनन्द कुमारस्वामी?[32] ने यह प्रतिपादित करते हुए कि बौद्ध-धर्म और हिन्दू-धर्म (जिसे पश्चिमी विचारकों के तर्कों का उत्तर देने के लिये उन्होंने ब्राह्मण-धर्म कहा है) की सैद्धान्तिक एकता थी, उन्होंने दोनों की उपरोक्त भिन्नता की ओर भी बहुत स्पष्ट शब्दों में इङ्गित किया है। "बौद्ध-धर्म (अर्थात् गौतम की शिक्षाओं) और ब्राह्मण-धर्म की तुलना करते हुए हमें जिन समस्याओं को वे (दोनों धर्म) सुलझाना चाहते थे उन समस्याओं की भिन्नता को भी ध्यान में रखना चाहिये। गौतम का सम्बन्ध मुक्ति और केवल मुक्ति से ही है। ब्राह्मण भी सम्पूर्ण सृष्टि के अन्तिम महत्त्वपूर्ण तथ्य के रूप में उसी लक्ष्य को मानते हैं, परन्तु वह तुलनात्मक महत्त्व की बातों का भी विचार करते हैं। उनका धर्म अनन्तत्व का भी है और तत्कालीन (जीवन का) भी जब कि गौतम केवल अनन्तत्व पर ही दृष्टि रखते हैं। गौतम तथा ब्राह्मण-धर्म की तुलना करना दोनों के लिए उचित नहीं है क्योंकि दोनों एक क्षेत्र का ही विचार

नहीं करते।.........परन्तु यदि बौद्ध-धर्म के विश्लेषक गौतम ने जो कहा उन्हीं को बौद्ध धर्म के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त मानें तो हम भी तत्काल यह कह सकते हैं कि वह एक सीमित आदर्श का प्रतिपादन करते हैं और ब्राह्मण धर्म से उसकी इस प्रकार तुलना की जा सकती है जैसे एक अङ्ग की सम्पूर्ण के साथ (तुलना)। बौद्ध धर्म को विज्ञानभिक्षु 'सातवें दर्शन' का स्थान दे सकता था।"

परन्तु फिर भी र्‌हीज़ डेविड्ज़ के समान यह कहा जा सकता है कि बुद्ध ने तत्कालीन समाज-व्यवस्था की शब्दावली का प्रयोग करते हुए उसमें भिन्न अर्थ निकाल कर उस समाज-व्यवस्था को बदलने का प्रयत्न किया था तथा बुद्ध वर्ण-व्यवस्था के, स्त्रीधर्म के, अधिकारभेद के, यज्ञों के विरोध में थे। यह सत्य भी है कि बौद्ध-मत का जैसा संघठन हुआ, उसमें सभी वर्णों के व्यक्तियों को बिना भेदभाव के स्वीकार किया गया था। इस विषय पर मतभेद हो सकता है कि बुद्ध की इस सबके पीछे क्या भावना थी, क्योंकि उपर्लिखित विवेचन से तो यही सिद्ध होता है कि बुद्ध केवल तत्कालीन समाज-व्यवस्था के दोषों को, उसके आत्मा-विहीन रूढ़िवाद को ही नष्ट करना चाहते थे, व्यवस्था के सम्बन्ध में उनका कुछ कहना नहीं था। परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि अन्ततः बौद्ध-मत का जो स्वरूप हुआ वह परम्परागत रूप से मान्य भारतीय व्यवस्था के विरोध में था जिसमें वर्णाश्रम-व्यवस्था, आचार, कर्मकाण्ड सबका ही विरोध हुआ था। परम्परागत भारतीय व्यवस्था श्रेष्ठ थी अथवा बौद्ध-मत का संघटन इस पर यहाँ विचार करने का स्थान नहीं। परन्तु चाहे उसका कोई कारण रहा हो, भारत ने बौद्ध-मत ग्रहण और स्वीकार नहीं किया। इसलिए बौद्ध संघ द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था भारतीय समाज-व्यवस्था का प्रतिनिधि रूप नहीं है। बुद्ध को धर्मशास्त्रों द्वारा अवतार के रूप में माना गया क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित विचार सभी भारतीय विचारों से मिलते थे और क्योंकि उन्होंने धार्मिक जीवन के दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया था। परन्तु उनको शास्त्रों ने 'मोहावतार' कहा है। अग्निपुराण में बुद्धावतार के वर्णन में कहा है[३३] "वह शुद्धोधन का पुत्र माया और मोह का स्वरूप हो गया। उसने वैदिक धर्म का त्याग करनेवाले दैत्यों को मोहा।" इस प्रकार बुद्ध को अवतार मानने के पश्चात् भी बुद्ध के अनुयाइयों द्वारा बाद में प्रतिपादित व्यवस्था को अस्वीकार किया गया। एक देश में जन्म लेनेवाले मत के उस देश से समूल उच्छेदन का इससे बड़ा उदाहरण संसार के इतिहास में कहीं नहीं है, और यह बहुत अंशों में सत्य है कि वेदविहित व्यवस्था का विरोध करने के कारण ही बौद्धों का उच्छेदन हुआ।

यदि जैन मत और हिन्दू धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित व्यवस्था की एकता का विचार करें तो जैन मत में भी जीव (पुरुष) और अजीव (प्रकृति) का भेद

तथा जीव की मुक्ति (मोक्ष) का विचार है। उसमें भी यह बताया गया है कि कर्म में लिप्त (माया में फँसे) रहने के कारण मनुष्य को मोक्ष में तथा ज्ञान-प्राप्ति में बाधा होती है। जैनों का पुनर्जन्म और कर्मफल पर भी विश्वास है और पाप और पुण्य तथा महाव्रतों और अणुव्रतों के रूप में साधारणधर्म की तथा कषायों के रूप में षड्रिपुओं की कल्पना है। पापों से शुद्धि के लिये वे भी प्रायश्चित्त का प्रतिपादन करते हैं। इससे भी बढ़ कर जैन हिन्दू धर्मशास्त्रों के समान तप को मनुष्य की उन्नति तथा मोक्ष-प्राप्ति की ओर बढ़ने का सर्वश्रेष्ठ साधन मानते हैं तथा तप को सीमित और विस्तृत दोनों अर्थों में स्वीकार करते हैं।[३४] इस दृष्टि से उनकी तप की धारणा योग की पद्धतियों के समान है। इतना ही नहीं उनके सिद्धान्त हिन्दू धर्मशास्त्रों की समाज-व्यवस्था की ओर भी इङ्गित करते हैं। कर्मफल के सिद्धान्त को जैन मत में हिन्दू धर्मशास्त्रों के समान चरम रूप तक ले जाया गया है और वह यह मानते हैं कि कर्म-शरीर के आधार पर ही जीव (आत्मा) की व्यक्तिगत स्थिति (जाति) तथा उसका भाग्य निर्धारित होता है[३५] और आत्मा की अवस्था इसके गुण और कर्म से निर्धारित होती है। दूसरे शब्दों में जैन अपने सिद्धान्तों में ही वर्ण-व्यवस्था के मूल आधार को स्वीकार करते हैं तथा कर्म-समुच्चय (अर्थात् गुण) के आधार पर आत्मा द्वारा विभिन्न वर्णों का ग्रहण भी उनके द्वारा स्वीकार किया जाता है।[३६] वह संन्यास को तो मानते ही हैं और स्मृतियों के समान उन्होंने भी संन्यास के नियम निर्धारित किये हैं परन्तु धर्मशास्त्रों के समान उन्होंने गृहस्थों की उन्नति की व्यवस्था भी की है और गृहस्थ-जीवन के नियम भी बनाये हैं। जैकोबी का कहना है[३७] "ऐतिहासिक दृष्टि से उनके बहुत-से नैतिक सिद्धान्त, उनकी संन्यास-संस्था तथा संन्यास-नियम भारतीय समाज के पुराने धर्मों से प्राप्त की गयी हैं।" व्यवहार में तो वे अपने को हिन्दू धर्म का एक अङ्ग ही मानते हैं। जैनमत के व्यावहारिक स्वरूप का निकटता से अध्ययन करनेवाली श्रीमती सिंक्लेयर स्टीवेन्सन का कहना है "यह सदा स्मरण रखने योग्य है कि जैन धर्म ब्राह्मण धर्म की सन्तति है, विद्रोही सन्तति ही क्यों न हो और उसके (ब्राह्मणधर्म के) सिद्धान्त बहुत-से प्रमुख जैन अभी भी मान्य करते हैं।......यदि जैन धर्म को समझना है तो दोनों धर्मों का अध्ययन करना होगा। यह भी सुझाव देना युक्तिसङ्गत होगा कि सीमाविहीन हिन्दू धर्म के अध्ययन का सबसे सरल मार्ग उसकी सुनिश्चित तथा कम अस्पष्ट सन्तति जैन धर्म का अध्ययन करना होगा।" आगे वह कहती हैं "बौद्ध मत के समान उसने (जैन मत ने) कभी भी अपने को उस मत से पृथक् नहीं किया, जो उसके चारों ओर था क्योंकि उसने सदैव गृह-पुरोहितों के रूप में ब्राह्मणों का प्रयोग किया, जो कि (जैनों के) जन्म-संस्कारों को कराते थे और बहुधा

२

मृत्यु और विवाह के संस्कारों में तथा मन्दिरों की पूजा में कार्य किया करते थे। अपने प्रमुख महापुरुषों में उसने हिन्दू देवताओं में से प्रमुख राम, कृष्ण आदि, को स्थान दिया।......अतः जब इस भूमि के ऊपर अत्याचार का बवण्डर फैला तब जैन मत ने हिन्दू धर्म में शरण ग्रहण की और हिन्दू धर्म ने अपनी विशाल गोद उसको ग्रहण करने के लिए खोल दी तथा विजेताओं को लगा कि यह उसी महान् धर्म का अविच्छिन्न अङ्ग है।"[३८]

अब जो शेष मत बचता है वह हिन्दू-धर्म है जिसके सम्बन्ध में ऐसी मान्यता है कि वह 'सनातन' है और परमात्मा की वाणी के रूप में कही गयी श्रुतियों द्वारा अनुमोदित होने के कारण वह कभी नष्ट नहीं हो सकता चाहे उसमें युगानुसार ह्रास दिखायी दे। यह भी मान्यता है कि श्रुतियों का धर्म ही स्मृतियों में और इतिहास-पुराणों में वर्णित है अर्थात् हिन्दू-विचार इन सब ग्रन्थों की एकात्मता को स्वीकार करते हैं। अतः इस धर्म के आधार के रूप में श्रुति, स्मृति और इतिहास-पुराण हैं, जो धर्मग्रन्थों के अन्तर्गत माने जाते हैं। क्योंकि इस ग्रन्थ में राज्य-पद्धति से सम्बन्धित विषयों का भी वर्णन करना है अतः इस दृष्टि से अर्थशास्त्र के ग्रन्थों को भी अधिकृत होने की मान्यता प्राप्त है। वैसे भी अर्थशास्त्र को अथर्ववेद माना जाता है।

धर्म का लक्षण 'पूर्वमीमांसा' में बताया गया है "चोदनालक्षणार्थो धर्मः" अर्थात् जो आदेशात्मक नियम हैं वे धर्म हैं। यह आदेश श्रुति और स्मृतियों का है। क्योंकि पुराण और इतिहास भी श्रुति के अर्थ को प्रकट करने वाले हैं अतः यह भी धर्म के आधार के रूप में स्वीकार किये गये हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं "जिस प्रकार, जिसका ईंधन गीला है ऐसे आधान किये हुए अग्नि से पृथक्-पृथक् धुँआ निकलता है, हे मैत्रेयि! इसी प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास-पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक-सूत्र (स्मृति), मन्त्र, विवरण और अर्थवाद सब परमात्मा के ही निःश्वास हैं।"[३९] गौतम ने लिखा है कि धर्म का मूल वेद है और उसको (वेद को) जाननेवालों की स्मृतियाँ भी (धर्म का मूल) हैं तथा मनु भी लगभग गौतम के ही शब्दों को दुहराते हैं।[४०] इसके अतिरिक्त वसिष्ठ, मनु और याज्ञवल्क्य ने शिष्टाचार को भी धर्म का आधार कहा है।[४१] अनुशासनपर्व, वनपर्व तथा शान्तिपर्व भी इन्हीं तीन का उल्लेख धर्म के स्रोत के रूप में करते हैं और वनपर्व तथा अनुशासनपर्व इन तीनों प्रकार के धर्म को सनातन धर्म कहते हैं।[४२] श्रुति और स्मृति का अर्थ तो स्पष्ट ही है। शिष्टाचार का अर्थ उन पुरुषों का आचरण है जिन्होंने श्रेष्ठ अथवा चरम अवस्था प्राप्त कर ली है। उस शिष्टाचार का ज्ञान देने के लिये इतिहास और पुराण हैं। इतिहास और

पुराणों ने प्राचीन काल की ऐतिहासिक कथाओं अथवा अलङ्कारिक कथाओं को धर्म और अधर्म बताने के लिये, साधन-रूप में अपनाया है। उदाहरण के रूप में रावण द्वारा परस्त्री पर कुदृष्टि डालने का परिणाम दिखा कर और युधिष्ठिर के द्यूत खेलने का अथवा झूठ बोलने का परिणाम दिखा कर धर्म और अधर्म को स्पष्ट किया है।

इसके अतिरिक्त धर्म और अधर्म का उल्लेख अन्य विविध ग्रन्थों में भी आया है तथा धर्म जानने के अन्य भी कुछ साधन वर्णित हैं। ग्रन्थों के रूप में वेद, स्मृति आदि के टीकाकार हैं तथा लौकिक-साहित्य के भी बहुत ग्रन्थ हैं। परन्तु इन सब ग्रन्थों को भारतीय धर्म-व्यवस्था में मान्यता प्रदान नहीं की गयी। हो सकता है कि इनमें भी स्थान-स्थान पर भारतीय आदर्शों के अनुरूप धर्म का वर्णन हो और विविध धर्म-ग्रन्थों की टीकाएँ तो धर्म के विवेचन में बहुत प्रामाणिक मानी जाती है परन्तु उनको धर्म-ग्रन्थों के रूप में अधिकृतता प्राप्त न होने के कारण इस ग्रन्थ में उनका सन्दर्भ उचित नहीं है। धर्म के अन्य साधन के रूप में मनु ने आत्मतुष्टि का उल्लेख किया है और याज्ञवल्क्य ने भी, जो कि स्वयं को प्रिय लगनेवाला हो उसे (आत्मतुष्टि का ही दूसरा नाम) और सम्यक अर्थात् योग्य सङ्कल्प को भी, धर्म का आधार माना है। यह धर्म के आधार होने पर भी इनकी कोई निश्चित व्यवस्था न होने के कारण यहाँ पर उनकी विवेचना करना निरर्थक है।

धर्म के जो तीन प्रमुख साधन (वेद, स्मृति और इतिहास-पुराण) धर्मग्रन्थों में कहे गये हैं, भारतीय विचारों के अनुसार उनमें वर्णित धर्म एक ही है। यह तो ठीक है कि श्रुति, स्मृति और पुराणों के अपने-अपने विषय हैं जैसे श्रुतियों के कर्मकाण्ड भाग में यज्ञों का वर्णन प्रमुख रीति से है और ज्ञानकाण्ड भाग में अर्थात् उपनिषदों में अध्यात्म का। स्मृतियों में समाज-व्यवस्था और व्यक्तिगत आचारों का ही उल्लेख प्रमुख रीति से किया गया है। पुराणों में सर्ग (मानस सृष्टि की उत्पत्ति), प्रतिसर्ग (भौतिक सृष्टि की उत्पति), वंश, वंशचरित और मन्वन्तरों का वर्णन करते हुए उसके अन्तर्गत तीर्थ, व्रत और विभिन्न देवताओं की पूजा का विशेष रूप से उल्लेख है। विषयों की भिन्नता के आधार पर, इन ग्रन्थों में वर्णित विषयों को क्रमशः श्रौत, स्मार्त और पौराणिक धर्म कहा जाता है परन्तु फिर भी भारतीय विचार इनकी मत-विभिन्नता स्वीकार नहीं करता और उसका कारण यह है कि इन ग्रन्थों में अपने-अपने विषयों का विस्तार से उल्लेख होने पर भी इन्होंने धर्म के अन्य सब विषयों का भी वर्णन किया है और इन सभी वर्णनों में लगभग एकात्मकता है। उदाहरण के लिए वेद में यज्ञपरक मन्त्र प्रमुख रीति से हैं और इनमें देवताओं की स्तुति

है परन्तु देवताओं की स्तुति के नाम पर श्रेष्ठ आदर्शों और समाज-रचना का वेदों में उल्लेख आता है। पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जो वेदों के ऊपर अन्वेषण कर रहे हैं अपनी वैदिक व्याख्यानमाला में कहते हैं "मनुष्य की इस उन्नति में सहायता करने के लिये वैदिक धर्म सिद्ध है। वैदिक सूत्रों में अनेक देवताओं का वर्णन है। ये मनुष्य के सामने आदर्श रखे गये हैं। इन देवताओं के आदर्श सामने रख कर मनुष्य देवता सदृश वर्तन करता हुआ आगे बढ़ता है। उपासक मनुष्य देवता के सदृश बनने का यत्न करे, देवता के गुण अपने जीवन में ढाले और देवता के सदृश गुणोंवाला बने।"[४३] वेदमन्त्रों के सम्बन्ध में वे कहते हैं[४४] वेद के मन्त्रों का एक प्रकट अर्थ होता है और दूसरा गुप्त या गुह्य अर्थ होता है। वही अर्थ मुख्य और साधक को सरल उन्नति का मार्ग बतानेवाला होता है।" पण्डित सातवलेकर ने इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर अपनी इस व्याख्यानमाला में तथा अन्य ग्रन्थों में विविध विषय ले कर यह निष्पन्न किया है कि वेदमन्त्रों से व्यक्तिगत जीवन सम्बन्धी राजनैतिक, आर्थिक शैक्षणिक, पारिवारिक, शारीरिक तथा सामाजिक सिद्धान्त किस प्रकार निष्पन्न होते हैं। वेदों के सम्बन्ध में धर्मशास्त्र का आग्रह है कि वेद पढ़ने के लिये ऋषि, देवता और छन्द का जानना आवश्यक है।[४५] इस पर आग्रह करने का इतना ही अर्थ स्पष्ट है कि वेदमन्त्रों का अर्थ पूर्ण रीति से स्पष्ट हो इसके लिये पहले यह समझ लेना आवश्यक होगा कि ऋषि, देवता और छन्द किन-किन बातों के बोधक हैं। वेदमन्त्रों के प्रच्छन्न अर्थों को छोड़ दिया जाये तो भी वेद और ब्राह्मण के मन्त्रों में धर्म के सिद्धान्तों का बहुत स्थानों पर प्रकट उल्लेख है। ऋग्वेद में विवाह सम्बन्धी एक सूक्त है।[४६] इस सूक्त के मन्त्रों का प्रयोग अभी तक विवाह में किया जाता है और इस सूक्त से ब्राह्म विवाह की पद्धति स्पष्ट होती है। तैत्तिरीय संहिता में त्रिऋण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है तथा इसमें ही एक वाक्य है, अतः "शूद्र यज्ञ (करने) के योग्य नहीं है।"[४७] शतपथ ब्राह्मण में कहा है[४८] कि राजा और विद्वान् ब्राह्मण धर्म के संरक्षक हैं। तैत्तरीय आरण्यक में[४९] पञ्चमहायज्ञ का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त वेद, ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में समाज-जीवन सम्बन्धी अन्य बहुत नियम हैं जिन सबका यहाँ उल्लेख न सम्भव है, न उपयोगी। केवल वेदों और ब्राह्मणों में ही नहीं, जो कि कर्मकाण्ड का वर्णन करते हैं परन्तु उपनिषदों में भी, जो कि पूर्णतया अध्यात्मवादी माने जाते हैं तथा जिनके सम्बन्ध में यह धारणा स्वाभाविक है कि उनमें समाज-धर्म के उल्लेख होने का कोई कारण नहीं, समाज-व्यवस्था से लगभग सभी अङ्गों पर विचार किया गया है। भौतिक जीवन की निरर्थकता अर्थात आध्यात्मिक उन्नति के लिये प्रयत्न करने की आवश्यकता सम्पूर्ण कठोपनिषद् में

वर्णित है, आध्यात्मिक और भौतिकता का समन्वय ईशोपनिषद् में बताया गया है तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त कठोपनिषद् में तथा बृहदारण्यकोपनिषद् में विस्तार से है।[५०] नैतिक सिद्धान्तों में से सत्य का,[५१] अहिंसा का,[५२] इन्द्रियनिग्रह का, राग-द्वेष से बचने का, माँस भक्षण न करने का[५३] तथा कुछ मात्रा में विविध यम-नियमों का[५४] उल्लेख विभिन्न उपनिषदों में है। संस्कारों का विस्तार से वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद् में किया गया है तथा आचार-पालन का महत्त्व कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् और कठोपनिषद् में बताया गया है।[५५] वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत छान्दोग्योपनिषद् में यह बताया है कि वर्ण गुण पर तथा पूर्व जन्म के कर्मों पर आधारित है, वर्ण-व्यवस्था का वर्णन प्रश्नोपनिषद् के शान्तिपाठ में तथा बृहदारण्यकोपनिषद् में[५६] किया गया है। निष्काम श्रोत्रिय ब्राह्मण का महत्त्व तैत्तिरीयोपनिषद् में, ब्राह्मण-वध का निषेध बृहदारण्यकोपनिषद् में, ब्राह्मण के लिये विद्या-प्राप्ति की अनिवार्यता तथा ब्राह्मण की निन्दा न करने का उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् में, ब्राह्मण का धर्म-निर्णय का तथा समाज के सम्मुख आदर्श उपस्थित करने का कार्य तैत्तिरीयोपनिषद् में (शिक्षावली) तथा ब्राह्मण-क्षत्रिय सम्बन्ध का वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद् में है।[५७] बृहदारण्यकोपनिषद् [५८] में ही शूद्रों का स्वरूप तथा उनकी मर्यादा भी वर्णित है। आश्रम-व्यवस्था का वर्णन छान्दोग्योपनिषद् में किया है तथा उसका महत्त्व कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में वर्णित है।[५९] गृहस्थाश्रम-सम्बन्धी विविध-नियम अर्थात् गृहस्थाश्रम का महत्त्व,[६०] उसकी आवश्यकता,[६१] पुत्र-प्राप्ति का महत्त्व,[६२] तीन ईषणाओं अर्थात पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा का उल्लेख,[६३] पञ्चमहायज्ञ का वर्णन[६४] अतिथि-सत्कार का महत्त्व,[६५] दान देने का आदेश,[६६] श्रद्धापूर्वक और अश्रद्धापूर्वक दान देने का अन्तर[६७] तथा बुरा दान देने की निन्दा[६८] भी उपनिषदों में की गयी है। गृहस्थ द्वारा पञ्चमहायज्ञ करने का, माता-पिता की सेवा का तथा सन्तान-परम्परा चालू रखने का उल्लेख तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली में भी है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मचारी को भिक्षा देने की अनिवार्यता का उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् में तथा संन्यासाश्रम का उल्लेख बृहदारण्यकोपनिषद् में है।[६९] शिक्षा के सम्बन्ध में स्वर, वर्ण आदि का, शिक्षा के विविध विषयों का तथा शिक्षा के भौतिक और आध्यात्मिक उद्देश्यों का वर्णन तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली में है ही परन्तु इसके साथ-साथ योग्य व्यक्ति को ही अर्थात अधिकारी को ही ज्ञान देने का आग्रह,[७०] गुरु की आवश्यकता अर्थात् गुरु से ही विद्या प्राप्त करने का आग्रह,[७१] गुरु के प्रतिकृतज्ञता का भाव रखने की आवश्यकता[७२] तथा बिना ज्ञान दिये शिष्य से धन न लेने का नियम[७३] भी उपनिषदों में बताया गया है। शिक्षा का उद्देश्य ब्रह्म-प्राप्ति है यह बृहदारण्यकोपनिषद् में निर्दिष्ट है, भौतिक ज्ञान की निरर्थकता मुण्डकोपनिषद्

में बतायी गयी है तथा परा-अपरा विद्या का भेद भी इसी उपनिषद् में वर्णित है।[७४] उपनिषदों में अर्थ-व्यवस्था सम्बन्धी नियम यथा धन की आवश्यकता,[७५] अर्थ-लालसा की निन्दा, त्यागपूर्वक भोग करने का उल्लेख,[७६] तथा दान और भोग का अन्तर,[७७] और राज्य-व्यवस्था सम्बन्धी नियम तथा राजा का कर्तव्य,[७८] राज्य द्वारा धर्म-स्थापना का कार्य,[७९] राजा के ऊपर धर्म का नियन्त्रण,[८०] तथा श्रेष्ठ राज्य कैसा होना चाहिये[८१] दिये हुए हैं। ऊपर बारह उपनिषदों के समाज-व्यवस्था सम्बन्धी कुछ प्रमुख उदाहरण दिये गये हैं। यही उपनिषद् प्रमुख हैं और इन्हीं को मान्यता प्रदान की जाती है। इतने उदाहरण यह दिखाने के लिए दिये गये हैं कि जब ज्ञानकाण्ड में समाज-व्यवस्था के विभिन्न अङ्गों का इतना अधिक वर्णन है तब कर्मकाण्ड भाग में इससे अधिक होना स्वाभाविक ही है। इन उदाहरणों में वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था, राजधर्म, साधारण धर्म, शिक्षा, अर्थ-व्यवस्था आदि का जो वर्णन आया है यह वर्णन, जैसा कि विभिन्न अध्यायों के विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा, स्मार्त व्यवस्था से बिल्कुल भिन्न नहीं, तदनुसार ही है। यदि व्यवस्थित रीति से देखा जाये तो ज्ञात हो जायेगा कि समाज और राज्य-व्यवस्था के सभी अङ्गों के प्रमुख नियम श्रुति ग्रन्थों में है। इस प्रकार भारतीय परम्परा का यह विश्वास कि स्मृतियाँ श्रुति पर आधारित हैं, निर्मूल नहीं हैं। 'श्रुति' के अन्तर्गत ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् सब का समावेश होता है और धर्मशास्त्रों ने जहाँ 'वेदो धर्ममूलम्' कहा है वहाँ 'वेद' के अन्तर्गत भी यह सब आते हैं। हो सकता है कि स्मृति में व्यवस्था के जो छोटे-छोटे नियम हैं (जैसे लघुशंका के वह श्रुतियों में न मिलें, पर समाज-व्यवस्था का एक परिपूर्ण ढाँचा, श्रुतियों में (जैसे वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् के उपरोक्त उद्धरणों से सिद्ध होता है) अवश्य मिलता है। महामहोपाध्याय श्री पाण्डुरङ्ग वामन काणे ने कहा है[८२] "वेदों में एक सुसम्बद्ध रूप में धर्म के निश्चित आदेश नहीं मिलते, परन्तु बाद के काल में जिसे धर्मशास्त्र कहा गया, उसके क्षेत्र में, आनेवाले विभिन्न विषयों के प्रासङ्गिक उल्लेख हैं। वैदिक साहित्य मे जो भी इस प्रकार की सूचना प्राप्त की जा सकती है वह इतनी कम नहीं है, जैसा कि सोचा जाता है।" आगे वह सातवें पृष्ठ पर कहते हैं "धर्मसूत्रों में और धर्मशास्त्रों में कहे गये नियमों का मूल प्राचीन वैदिक परम्परा में था और धर्मशास्त्रों के प्रणेता वेद को धर्म का स्रोत मानने में पूर्णतया ठीक थे। परन्तु जैसा ऊपर कहा गया, वेद धर्म के योजनात्मक ग्रन्थ नहीं है, उनमें धर्म के विभिन्न विषयों पर असम्बद्ध वाक्य हैं, धर्मशास्त्रों के विषयों की निश्चित और व्यवस्थित विवेचना की दृष्टि से हमें स्मृतियों की ओर देखना पड़ेगा।"

यह सत्य भी है। अतः स्मृतियों में ही, वास्तव में, धर्म अर्थात् समाज-

व्यवस्था का व्यवस्थित, पूर्ण और योजनाबद्ध वर्णन मिलेगा। परन्तु जिस प्रकार लगभग सौ के लगभग उपनिषद् मिलते हैं, उसी प्रकार स्मृतियाँ भी बहुत मिलती हैं जिनकी संख्या सौ से अधिक है और उनमें भी बहुत-सी ऐसी हैं जो प्रमुख व्यक्तियों के नाम में लघु, बृहत्, और वृद्ध लगा कर लिखी गयी हैं, जैसे वृद्ध मनु, बृहत्पाराशर, लघु हारीत आदि। परन्तु लगभग २० स्मृतिकार प्रधान और अधिकृत माने जाते हैं। इन सबके नाम का उल्लेख याज्ञवल्क्यस्मृति में है[८३] "मनु, विष्णु, यम, अङ्गिरा, वसिष्ठ, दक्ष, संवर्त, शातातप, पराशर, आपस्तम्ब, उशना, व्यास, कात्यायन, बृहस्पति, गौतम, शङ्ख, लिखित, हारीत, अत्रि, तथा मैं धर्मशास्त्र के प्रवक्ता हैं।" इनके अतिरिक्त पराशरस्मृति, अग्निपुराण, पद्मपुराण, लिङ्ग-पुराण, में तथा अन्यत्र भी सूचियाँ हैं[८४] परन्तु इन सब सूचियों के नामों का मिलान करने पर याज्ञवल्क्य की ही सूची के नाम सबसे अधिक मान्य रूप में प्रकट होते हैं क्योंकि यद्यपि कुछ नाम एक-दो सूचियों में और मिलते हैं परन्तु सभी सूचियों में प्रायः वे ही नाम हैं जो याज्ञवल्क्य की सूची में दिये गये हैं। अतः याज्ञवल्क्य-स्मृति में कहे गये नामों को अधिकृत मान कर चलना ठीक होगा और इस ग्रन्थ में इन्हीं लेखकों के उद्धरण समाज-व्यवस्था का मत प्रतिपादित करने के लिये दिये जायेंगे। विभिन्न स्मृतिकारों के श्लोकों अथवा सूत्रों का उद्धरण स्मृतियों, निबन्धों (Digests) और टीकाओं में मिलता है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इन सब लेखकों ने अपनी स्मृति से श्लोकों का उद्धरण दिया है। कई ऐसे उद्धरण भी हैं, जो कि एक स्मृतिकार के नाम से हैं परन्तु उक्त स्मृति में नहीं मिलते। हो सकता है भूल से एक का उद्धरण दूसरे के नाम से दे दिया गया हो। उदाहरण के लिए वसिष्ठधर्मसूत्र में[८५] दो श्लोक मनु के नाम से उद्धृत हैं परन्तु वे मनुस्मृति में नहीं हैं, मिताक्षरा ने याज्ञवल्क्य की टीका करते हुए[८६] विष्णु के नाम से कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं जो विष्णुधर्मसूत्र अथवा विष्णुस्मृति में नहीं पाये जाते, अपरार्क द्वारा याज्ञवल्क्य की टीका में हारीत के नाम से उद्धृत श्लोक[८७] विष्णु का है।[८८] इस कारण इस प्रकार के उद्धृत श्लोकों को अथवा सूत्रों को चाहे वह किसी प्रमुख ग्रन्थ के नाम से दिये गये हों, प्रामाणिक मान कर चलना ठीक नहीं है। यह कहने का अर्थ यह नहीं है कि इस प्रकार के उद्धरण अप्रामाणिक ही हैं परन्तु केवल इतना ही कथन है कि जब तक वह उद्धरण मूल ग्रन्थ में न मिल जावें, तब तक उनकी प्रामाणिकता स्वीकार नहीं की जा सकती और उन्हें समाज-व्यवस्था की विवेचना में प्रमाण रूप से उद्धृत करना भूल होगी। बृहस्पति के और कात्यायन के इस प्रकार के सब उद्धरणों के संग्रह पूना ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट (Poona Oriental Research Institute) ने प्रकाशित किये हैं परन्तु ऊपर बताये कारणों के अनुसार यहाँ पर विवेचन में उन्हें प्रमाणभूत नहीं माना गया है।

श्रुति और स्मृति के पश्चात इतिहास-पुराण हैं। इतिहास के आज दो ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं रामायण और महाभारत। पुराणों की संख्या अधिक है तथा १८ महापुराण, १८ पुराण और १८ उपपुराण कहे जाते हैं परन्तु उनमें भी १८ महापुराणों का ही प्रमुख रीति से उल्लेख आता है और महाभारत ने इन्हीं के नाम गिनाये हैं। इसलिये इस निबन्ध में महापुराणों का ही प्रयोग किया गया है। भारतीय परम्परा में इन १८ महापुराणों की मान्यता भी बहुत है और इन पुराणों के सम्बन्ध में इतनी निश्चित व्यवस्था है कि इनका क्रम भी निश्चित है। सप्तम पुराण कहने से मार्कण्डेयपुराण का ही बोध होता है और त्रयोदश पुराण स्कन्दपुराण का ही बोधक है गरुड़पुराण सतरहवाँ पुराण ही कहलायेगा। इतिहास और पुराणों में इनके अपने विषय का वर्णन अवश्य है परन्तु साथ में समाज-व्यवस्था रूपी धर्म का अर्थात् स्मृतिधर्म का भी पूरा उल्लेख है। प्रायः प्रत्येक इतिहास-पुराण ग्रन्थ में मोक्षधर्म, कर्मविपाक, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, साधारण धर्म, स्त्रीधर्म, राजधर्म आदि का स्मृतियों के अनुसार ही पूरा वर्णन है। इनके अन्दर वर्णित धर्म अधिकृत भी माने जाते हैं। पुराणों को और स्मृतियों की एकरूपता दिखाने के लिये स्मृतियों के कौन-कौन से विषय इतिहास और पुराण ग्रन्थों में कहाँ-कहाँ आये हैं इसकी विस्तृत सूची श्री पाण्डुरङ्ग वामन काणे ने अपने ग्रन्थ (History of Dharmashastra Vol. I) में तथा विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट द्वारा प्रकाशित पुराण अनुक्रमणिका में दी गयी है। इसके अतिरिक्त विभिन्न कथाओं के माध्यम से भी इतिहास-पुराण ग्रन्थों में धर्म और अधर्म का वर्णन किया गया है। जो अधर्म है उसके प्रति ग्रन्थकार कथा के द्वारा अरुचि निर्माण करता है तथा धर्म के प्रति श्रद्धा जागृत करता है।

यहाँ पर भारतीय इतिहास का दृष्टिकोण स्पष्ट करने की आवश्यकता है। भारत में इतिहास का उद्देश्य घटनाओं का क्रमानुसार वर्णन नहीं है, अपितु इतिहास के माध्यम से, विशेष रूप से धर्म तथा साधारणतया अन्य विषयों का भी समावेश करने की पद्धति है। इसी कारण भारतीय इतिहास ग्रन्थों में कालानुसार घटनाक्रम का वर्णन नहीं मिलता। पुराणों में जितना भी इतिहास है, उसमें तो क्रमानुसार राजाओं के राज्य का तथा उन राज्यों में यदि कोई विशेष घटना घटित हुई हो तो उसका उल्लेख करने की प्रथा अवश्य है। उदाहरण के लिए चन्द्रवंश के राजाओं का वर्णन करते समय पुरुरवा और उर्वशी की कथा का तथा ययाति की कथा का जिसमें उसका देवयानी और शर्मिष्ठा से विवाह, पुत्रों से यौवन-प्राप्ति तथा अन्त में प्रजा से पूछ कर सबसे छोटे पुत्र पुरु का राज्याभिषेक का वर्णन है। इसी प्रकार से सूर्यवंश में मान्धाता, सगर, भगीरथ, हरिश्चन्द्र तथा रामचन्द्र की कथाओं का वर्णन आता है। इन विशेष घटनाओं के अतिरिक्त

वंशावलियों में जितने भी राजा हैं, चाहे उनके राज्य में कोई विशेष घटना न हुई हो, उनका भी क्रमानुसार वर्णन है। उदाहरण के लिये विष्णुपुराण के चतुर्थ अंश में सूर्यवंश का निम्न विवरण है।[८९]

"मनु पुत्र इक्ष्वाकु के सौ पुत्र हुए। उन सौ पुत्रों में से विकुक्षि, निमि और दण्ड तीन पुत्र प्रधान हुए। पिता के मरने के अनन्तर विकुक्षि (शशाद) ने इस पृथ्वी का धर्मानुसार शासन किया। उस शशाद के पुरञ्जय नामक पुत्र हुआ। पूर्वकाल में त्रेतायुग में एक बार अति भीषण देवासुर संग्राम हुआ। उसमें महाबलवान दैत्यगण से पराजित देवताओं ने भगवान् विष्णु की आराधना की।......श्री नारायण ने देवताओं से प्रसन्न हो कर कहा आप लोगों को जो कुछ अभीष्ट है वह मैंने जान लिया है। उसके विषय में यह बात सुनिये। राजर्षि शशाद का जो पुरञ्जय नामक पुत्र है उस क्षत्रिय-श्रेष्ठ के शरीर में मैं अंशमात्र से स्वयं स्थित हो कर उन सम्पूर्ण दैत्यों का नाश करूँगा। अतः तुम लोग पुरञ्जय को दैत्यों के वध के लिए तैयार करो।'......फिर वृषभरूपधारी इन्द्र की पीठ पर चढ़ कर, चराचर गुरु भगवान् अच्युत के तेज से परिपूर्ण हो कर राजा पुरञ्जय ने सभी दैत्यों को मार डाला। उस राजा ने बैल के ककुद (कन्धे) पर बैठ कर दैत्य सेना का वध किया था अतः उसका नाम ककुत्स्थ पड़ा। ककुत्स्थ के अनेना नामक पुत्र हुआ। अनेना के पृथु, पृथु के विष्टराश्व, उनके चान्द्रयुवनाश्व तथा उस चान्द्रयुवनाश्व के शावस्त नामक पुत्र हुआ जिसने शावस्ती नगरी बसायी थी। शावस्त के बृहदश्व तथा बृहदश्व कुवलयाश्व का जन्म हुआ, जिसने वैष्णव तेज से पूर्णता प्राप्त कर अपने इक्कीस सहस्र पुत्रों के साथ मिल कर महर्षि उदक के अपकारी धुन्धु नामक दैत्य को मारा था। अतः उनका नाम धुन्धुमार हुआ। उनके सभी पुत्र धुन्धु के मुख से निकली हुई निःश्वासाग्नि से जल कर मर गये थे। उनमें से केवल दृढाश्व, चन्द्राश्व, और कपिलाश्व ये तीन ही बचे थे। दृढाश्व से हर्यश्व, हर्यश्व से निकुम्भ, निकुम्भ से अमिताश्व, अमिताश्व से कुशाश्व, कुशाश्व से प्रसेनाजित, प्रसेनाजित से युवनाश्व का जन्म हुआ।"

उदाहरण के रूप में इक्ष्वाकु-वंश का यह थोड़ा-सा वर्णन दिया है परन्तु इसी प्रकार की वंशावलियाँ लगभग सभी पुराणों में हैं। इन वंशावलियों का क्रम परम्परा से प्राप्त होने के कारण तथा स्मृति से लिखा हुआ होने के कारण यह सम्भव है कि इन वंशावलियों के नामों में यत्र-तत्र भेद हो परन्तु इन वंशावलियों के क्रम में तथा प्रमुख-प्रमुख राजाओं के राज्यों की घटनाओं के सम्बन्ध में बहुत अधिक समानता और एकता है। पार्गिटर (Pargiter) का कहना है[९०] कि पुराणों की वंशावलियों में एकता है, केवल इतना ही अन्तर है कि कुछ पुराणों में संक्षिप्त विवरण है अर्थात् एक-के-बाद-एक राजाओं के नामों का ही केवल

उल्लेख है और कुछ पुराणों में राजाओं के राज्यों की घटनाओं का भी विशद् वर्णन है। पहले प्रकार के पुराणों में पार्गिटर विष्णु, भागवत और गरुड़ पुराणों का नाम लेता है तथा दूसरे प्रकार के पुराणों में मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्ड पुराण का। इस प्रकार पुराणों ने भारतीय इतिहास को अपने उचित स्वरूप में रखने का प्रयत्न किया है। इतिहास-ग्रन्थों में राष्ट्रीय महत्त्व की दो घटनाओं का विशद वर्णन किया है राम-रावण युद्ध का तथा महाभारत नामक युद्ध का। परन्तु इनमें भी इतिहास की अन्य घटनाओं का कहीं-कहीं वर्णन मिल जाता है। जैसे रामायण में वसिष्ठ और विश्वामित्र के संघर्ष का तथा महाभारत में राजा नल की जीवनी का। इतिहास का इन ग्रन्थों में (इतिहास-पुराण ग्रन्थों में) वर्णन होने पर भी, जैसा ऊपर कहा गया, घटना-क्रम को उसके सही रूप में प्रदर्शित करने का महत्त्व कम था और धर्म-अधर्म के वर्णन का महत्त्व अधिक। इसी कारण वंशावलियों के क्रम में कहीं-कहीं अन्तर मिल सकता है।

इतना ही नहीं, इतिहास के माध्यम से सभी विषयों का वर्णन भी किया गया है। पाण्डवों को वनवास हो जाने के पश्चात जब वह वन में पहुँचे तब नारदजी ने उन्हें तीर्थयात्रा करने को प्रेरित किया।[२१] यहाँ से फिर वे विभिन्न तीर्थों में जाते हैं प्रत्येक तीर्थ में उनके पहुँचने पर वहाँ की प्राचीन ऐतिहासिक कथा का वर्णन है, जैसे गया के पास अगस्त्याश्रम में पहुँचने पर अगस्त्य ऋषि का पुराना इतिहास उन्हें सुनाया जाता है। इसी प्रकार वृत्रासुर-वध की कथा, सगर तथा उनके पुत्रों की कथा, ऋष्यश्रृङ्ग की कथा, परशुरामजी का जीवन, महर्षि च्यवन की कथा और अन्य बहुत-सी कथाएँ वर्णित हैं। इस प्रकार तीर्थयात्रा के बहाने देश के पुराने इतिहास को दुहराया गया है। अथवा महाभारत में भीष्म पितामह हत हो कर शर-शैया पर लेट गये। युद्ध समाप्त होने के पश्चात श्रीकृष्णजी युधिष्ठिर को साथ ले कर उनके पास जाते हैं। वहाँ युधिष्ठिर के प्रश्नों के उत्तर में भीष्म सम्पूर्ण राजधर्म का ही नहीं अपितु धर्मशास्त्रों में कहे हुए सम्पूर्ण धर्म का विवेचन करते हैं। अथवा युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ करने का विचार किया और अपने भाइयों को चारों दिशाओं को जीतने के लिये भेजा। इसके पश्चात उन सभी राज्यों का वर्णन किया गया है जिनको इन भाइयों ने जीता। इस निमित्त देश के सम्पूर्ण राज्यों के नामों का अर्थात् भूगोल का उल्लेख है। इतिहास-पुराणों से इस प्रकार के बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते हैं। इसी कारण हमें दिखायी देता है कि इतिहास-पुराण एक प्रकार के विश्वकोष है। ऊपर महाभारत का इस विषय का उद्धरण दिया गया है। ग्रन्थ के अन्त में महाभारतकार कहते हैं[२२] "जो इसमें है वही सर्वत्र है, जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं है।" इसी प्रकार अग्निपुराण की प्रस्तावना में श्री मन्मथनाथ दत्त कहते हैं[२३] कि "इसका विषय परा और अपरा विद्या है।

परा विद्या में चार वेद, छः वेदाङ्ग (अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, अभिधान (कोष), मीमांसा, धर्मशास्त्र, पुराण, न्याय, आयुर्वेद गान्धर्ववेद, धनुर्वेद, अर्थशास्त्र हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ विविध उपयोगी विषयों को प्रकट करनेवाले विश्वकोष के समान है।"

स्पष्ट रीति से तो बहुत-सा वर्णन इन ग्रन्थों में है ही परन्तु अलंकारिक कथाओं के रूप में भी बहुत विषयों का उल्लेख है। इन अलंकारिक कथाओं को पढ़ने पर यह धारणा सहज ही उत्पन्न हो जाती है कि पुराण, महाभारत आदि ग्रन्थों में कपोल-कल्पित वर्णन हैं। परन्तु एक बार सतह के नीचे जाने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह धारणा भ्रमपूर्ण है। वामनपुराण में[१४] विष्णु के सुदर्शन चक्र का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। कहा है "सभी आयुधों को नष्ट करने वाला यह श्रेष्ठ आयुध है। बारह आरे हैं तथा छः आभा हैं। मास तथा राशियाँ, इसके आरे हैं तथा शिष्टों के रक्षण के लिए छः ऋतुएँ हैं" अर्थात् 'काल' को ही सुदर्शन चक्र के रूप में बताया गया है, जिस काल के द्वारा अन्त में देवों की जय और दानवों की पराजय होती है। इसी प्रकार भागवतपुराण में वाराह अवतार का अलंकारिक वर्णन दिया गया है[१५] जिसके द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि वाराह अवतार "सम्पूर्ण यज्ञ और क्रतु" रूप है। इसका अर्थ इतना ही है कि जब पृथ्वी रसातल में गयी अर्थात् दैत्यों के कारण पाप में डूब गयी तब यज्ञ आरम्भ किये गये और उनके आधार पर पृथ्वी का उद्धार हुआ। इसी प्रकार से ऐसे अलंकारिक वर्णन बहुत मिल जायेंगे जिनका अर्थ स्पष्ट है। श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में पच्चीसवें से अट्ठाइसवें अध्याय तक राजा पुरञ्जन की कथा है और उनतीसवें अध्याय में उस कथा का अलंकारिक अर्थ स्पष्ट किया गया है। कथा पढ़ने से ऐसा नहीं लगता कि उसमें कोई प्रच्छन्न अर्थ छिपा होगा अपितु एक साधारण राजा की कथा मालूम होती है। इस सीधी-सी दिखनेवाली कथा का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि राजा पुरञ्जन जीव है, उसकी स्त्री माया है, यह शरीर उस राजा की नगरी है। काल ही गन्धर्व है तथा मृत्यु ही यवनराज है और भगवद्भक्ति ही वह आत्मज्ञानी ब्राह्मण है। ऊपर दिये गये अलंकारिक वर्णन तो स्पष्ट हैं परन्तु इनके अतिरिक्त ऐसे भी वर्णन जो अलंकारिक हैं परन्तु जिनको स्पष्ट नहीं किया गया है। धर्म-विवेचन की दृष्टि से पुराण-इतिहासों की इन कथाओं का भी स्पष्ट रीति से अर्थ समझना होगा।

इस प्रकार पुराण और इतिहास में सभी विषयों का वर्णन है परन्तु विशेष रूप से धर्म का विवेचन है। जैसा पीछे बताया गया है, इतिहास-पुराण ग्रन्थों में स्पष्ट रीति से तो धर्म का अर्थात् समाज की व्यवस्था का वर्णन है ही (स्मार्त धर्म के रूप में) परन्तु प्रत्येक कथा भी धर्म-नियमों का प्रतिपादन करने के लिये

लिखी गयी है। हो सकता है कि धर्म का प्रतिपादन करने के लिए कथाओं में कहीं हेर-फेर करना पड़ा हो, परन्तु भारतीय इतिहासकारों के सम्मुख इतिहास का प्रमुख रीति से यही उद्देश्य है कि उसके द्वारा व्यक्ति को शिक्षा मिले और अपने जीवन में व्यवहार करने के लिये दिशा मिले। इसीलिये विविध राजाओं का वर्णन करते समय उन्हीं राजाओं के राज्य की एक-दो घटनाओं का विस्तार से उल्लेख किया गया है, जिन घटनाओं के द्वारा धर्म अर्थात् समाज-जीवन और व्यक्ति-जीवन के नियमों का प्रतिपादन किया जा सके; वंशावलियों के शेष राजाओं का केवल उल्लेख-मात्र ही किया गया है। उदाहरण के लिये ययाति की यौवन-प्राप्ति की घटना का विस्तार से इसलिये उल्लेख है कि इसके द्वारा भोग की निरर्थकता सिद्ध की गयी है, अथवा राजा कार्तवीर्य अर्जुन द्वारा एक ऋषि के आश्रम के दाह की और परिणामस्वरूप उस राजा का राज्य नष्ट होने की घटना का उल्लेख है क्योंकि उसके द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि राजा को प्रजा पर अत्याचार नहीं करना चाहिये। इसका यह अर्थ है कि भारतीय इतिहासकारों के समक्ष इतिहास का उपयोगितावादी दृष्टिकोण था अर्थात् इतिहास से व्यक्ति-जीवन, समाज-जीवन, अथवा राष्ट्र-जीवन के लिये आवश्यक जो निष्कर्ष निकल सकते हों उनसे उन्हें प्राप्त कर लेना चाहिये। इसीलिये जैसा बताया गया, हो सकता है, कि कहीं-कहीं धर्म-वर्णन करने के लिये इतिहास की वास्तविक घटनाओं में थोड़ा-बहुत परिवर्तन भी हो गया हो। राम के पास वन में जिस समय भरत पहुँचते हैं उस समय हो सकता है उन्हें राम द्वारा राजनीति का उपदेश न किया गया हो, परन्तु इतिहासकार को राज्य-व्यवस्था के सिद्धान्तों के वर्णन की आवश्यकता दिखायी दी और इसलिए उन्होंने उचित प्रसङ्ग देख कर उसका वर्णन किया है। युद्ध के पूर्व श्रीकृष्ण ने अर्जुन को वैसा गहन तत्त्वज्ञान समझाया ही होगा यह निश्चित नहीं कहा जा सकता है। उन्होंने उस समय संक्षेप में ही (दो-चार वाक्यों में) अर्जुन को समझा दिया हो, परन्तु उस गहन तत्त्वज्ञान के वर्णन का अनुकूल अवसर देख कर महाभारतकार को वैसा करना उचित प्रतीत हुआ। संक्षेप में, भारतीय इतिहास का प्रमुख दृष्टिकोण शिष्टों के आचार के माध्यम से धर्म के वर्णन करने का है, घटनाओं के वर्णन का नहीं है। इसीलिए स्मृतियों में तथा अन्य स्थानों पर भी पुराण-इतिहास की कथाओं का प्रयोग धर्म-विवेचन के लिये किया गया है। मनु ने लिखा है[१६] "वेन राजा अविनयी होने के कारण नष्ट हो गया तथा इसी प्रकार नहुष, सुदास, पैजवन, सुमुख और निमि भी। विनय से पृथु ने राज्य पाया तथा मनु ने भी। विनय से ही कुबेर धनेश्वर हुए तथा विश्वामित्र ने ब्राह्मणत्व पाया।" इसी प्रकार की अन्य बहुत-सी पौराणिक कथाओं का विविध ग्रन्थकारों ने धर्म-विवेचन

के लिये प्रयोग किया है।[९७] "इन ग्रन्थों ने तो इन कथाओं का धर्म और अधर्म को स्पष्ट करने के लिये प्रयोग किया ही है पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो सकता है कि पुराण और इतिहास की प्रत्येक कथा कौन-सा धर्म बताती है। "रामायण की कथा का एक प्रमुख पाठ बहुविवाह के दोष हैं। दशरथ का प्रासाद षड्यन्त्रों का केन्द्र था तथा कथा के नायक राम एकपत्नी व्रत के आदर्श पर डटे रहते हैं।"[९८] महाभारत में भी दुर्योधन का उदाहरण द्वेष करने की हानि बताता है। धर्मशास्त्रों ने गान्धर्व विवाह को श्रेष्ठ विवाहों में स्थान नहीं दिया है। सम्पूर्ण इतिहास-पुराण में गान्धर्व विवाह का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण शकुन्तला और दुष्यन्त की कथा है।[९९] उसके द्वारा भी धर्मशास्त्रों का ही आदर्श सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। "कवि यह दिखाने का प्रयत्न करता है कि इस प्रकार का विवाह भावना के आवेश में किया हुआ होने के कारण उसके स्थायी होने की सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि प्रथम दृष्टि से उत्पन्न होनेवाले प्रेम पर आधारित गुप्त सम्बन्ध पर्याप्त नहीं है। अतः वधू के ऊपर एक श्राप आ पड़ता है और वह अपना दण्ड पूरा कर लेता है। राजा के अपमान से वह अपमानित और अस्वीकृत होती हैं (क्योंकि उसने बिना कन्यादान के विवाह किया है)। जब वह अनुशासन से पवित्र होती है तथा कामना के बन्धन के स्थान पर कर्तव्य की निवृत्तिपरक वृत्ति उत्पन्न होती है तब शकुन्तला पत्नी और माता के रूप में ग्रहण की जाती है।"[१००]

भारतीय इतिहास का जो दृष्टिकोण ऊपर स्पष्ट किया गया है उसका एक परिणाम यह भी है कि भारतीय इतिहास में तिथियों के उल्लेख को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। एक तो भारतीय विचार के अनुसार काल अनन्त है (जैसा युग-वर्णन के द्वारा बताया गया है कि ब्रह्मा के एक दिन में बाहर सहस्र देव-वर्षों के, ७३ चतुर्युगों के १४ मन्वन्तर होते हैं, ब्रह्मा की सौ वर्ष की आयु होती है, तथा अभी तक कई ब्रह्मा हो चुके हैं और होनेवाले हैं; काल को भगवान का भी स्वरूप कहा गया है।) अतः उनके अनुसार बीते हुए सम्पूर्ण काल की घटनाओं का वर्णन सम्भव ही नहीं है। परन्तु, इसके अतिरिक्त भी, भारतीय इतिहासकारों की यह धारणा थी कि जब इतिहास की घटनाओं का निष्कर्ष ही प्रमुख है तब उससे वह निष्कर्ष ले लेना चाहिये, यदि घटना की तिथि का उल्लेख न भी हुआ तो भी उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसलिये उन्होंने इतिहास की घटनाओं का सर्वत्र वर्णन कर दिया है इनकी तिथियों का कहीं उल्लेख नहीं किया है। भारतीय इतिहासकारों का यह दृष्टिकोण गलत कहा जा सकता है परन्तु उन्होंने इसी दृष्टिकोण को ले कर इतिहास का वर्णन किया है। साथ-ही-साथ उन्होंने इतना अवश्य किया है कि सम्पूर्ण इतिहास का अवलोकन कर उसके निष्कर्ष

के रूप में उसका एक दर्शन प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार उनकी धारणा यह है कि प्रारम्भ में समाज की उन्नत और श्रेष्ठ अवस्था रहती है और उस समय धर्म का पूर्ण प्रभुत्व रहता है, लोग स्वयमेव संयमित और नियमित जीवन व्यतीत करते हैं, अन्न भी स्वयं ही उत्पन्न होता है अर्थात उनके इस संयमित जीवन और विद्वेषहीनता तथा सङ्घर्षहीनता के कारण प्राकृतिक रूप से अन्न की जो उत्पत्ति होती है वही पर्याप्त होती है तथा उस काल में न तो समाज की ही और न राज्य-व्यवस्था की ही आवश्यकता उत्पन्न होती है। यह काल सबसे श्रेष्ठ होने के कारण भारतीय इतिहासकारों ने इसे 'सतयुग' नाम दिया है और कहा है कि उस समय धर्म चारों पादों पर स्थिर रहता है। परन्तु फिर, कुछ काल के पश्चात विभिन्न प्रकार के राग, मोह, लोभ आदि दुर्गुण उत्पन्न हो जाते है, समाज का पतन होता है और उसके कारण समाज की व्यवस्था की तथा फिर राज्य-व्यवस्था की आवश्यकता होती है। जिस समय इस समाज और राज्य-व्यवस्था के आधार पर समाज का जीवन ठीक चलता है, अर्थात लोग समाज-व्यवस्था के (धर्म के) नियमों का ठीक से पालन करते हैं वह काल 'त्रेतायुग' कहा गया है और उस समय धर्म तीन पादों पर रहता है। इससे भी आगे के पतन की जो अवस्था होती है उसे 'द्वापर' कहा गया है परन्तु उसके पश्चात जब धर्म लगभग निःशेष हो जाता है, जब धर्म-नियमों का प्रायः पालन नहीं होता अर्थात जब यह समाज-व्यवस्था हीनतम अवस्था में पहुँच जाती है तो वह काल भारतीय इतिहासकारों के अनुसार 'कलियुग' है। परन्तु, जब समाज इतनी पतित अवस्था में पहुँच जाता है उस समय फिर प्रतिक्रिया होती है और प्रयत्नों के परिणामस्वरूप फिर उसी श्रेष्ठ अवस्था की स्थापना होती है, इस कारण उस श्रेष्ठ अवस्था को 'कृत' युग कहा गया है।[१०१]

धर्म के ऊपर बताये गये तीनों स्रोतों ने परस्पर एक दूसरे की प्रामाणिकता स्वीकार की है। वेदों में पुराणों की प्रामाणिकता मानी गयी है। छान्दोग्य उपनिषद् में इतिहास-पुराण को पाँचवें वेद के नाम से पुकारा गया है। अथर्ववेद में है कि वेद और पुराण साथ-साथ ही उत्पन्न हुए।[१०२] इसी प्रकार इतिहास-पुराणों ने भी वेदों की उत्कृष्टता स्वीकार करते हुए कहा है कि वेदों का अर्थ ही पुराणों में स्पष्ट किया गया है। गरुडपुराण के प्रेतकल्प में संसार-वृक्ष का वर्णन करते हुए बताया है कि[१०३] "धर्म ही इस वृक्ष की दृढ़ जमी हुई जड़ है, इसका तना वेद है तथा शाखाएँ पुराण हैं।" नारदपुराण में लिखा है "सम्पूर्ण वेदार्थ का सार (ही) पुराणों में है।"[१०४] महाभारत के उपक्रम में कहा गया है "इस (भारत) पुराणरूपी पूर्ण चन्द्र ने श्रुति की ज्योत्स्ना को प्रकाशित कर दिया (फैला दिया) है।"[१०५]

इस प्रकार वेद और पुराणों की एकरूपता शास्त्रों ने मान्य की। वर्तमान विद्वानों में भी वेबर का कहना है कि पुराणों के विविध विषयों का आदि वेदों की कथाओं में है, जिन्हें (पुराणों ने) विकसित किया।[१०६] दीक्षितार का कथन है "पुराणों के केवल सर्ग और प्रतिसर्ग अंश ही वैदिक साहित्य के ऋणी नहीं है, परन्तु बहुत-सी प्राचीन कथाएँ भी, जो ब्राह्मणों में इधर-उधर छिटकी पड़ी हैं।"[१०७] स्मृतियों ने भी पुराणों को मान्यता दी है। आपस्तम्ब ने पुराण के दो श्लोक उद्धृत किये हैं[१०८] जिनके विषय में श्री रामप्रताप त्रिपाठी का कहना है[१०९] कि तत्समान श्लोक कई पुराणों में मिलते हैं। विष्णुधर्मसूत्र में भी वेद, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण का उल्लेख है, याज्ञवल्क्य भी धर्म के स्रोतों के रूप में पुराण को स्वीकार करते हैं।[११०] पुराणों ने भी धर्मशास्त्रों को मान्यता प्रदान की है। ऊपर बताया ही गया है कि विभिन्न पुराणों में (अग्नि-पुराण, पद्मपुराण, लिङ्गपुराण) स्मृतिकारों के नामों का वर्णन है। यह यही प्रदर्शित करता है कि पुराणकार स्मृतिकारों को प्रमाणिक मानते हैं। नारदपुराण में कहा है।[१११] "श्रुति और स्मृति में कहे हुए धर्म से जो अपने को पवित्र नहीं करता वह आत्मघाती ही है और पापियों में सबसे बढ़ कर है।" मत्स्यपुराण तथा वायुपुराण में श्रौत और स्मार्त धर्म का उल्लेख है।[११२] इसके अतिरिक्त ऊपर यह बताया ही गया है कि पुराणों में स्मार्त धर्म का वर्णन है। इस प्रकार सब धर्म-ग्रन्थों ने एक-दूसरे को प्रमाणिक माना है।

इस पर भी विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि इन ग्रन्थों में पृथक् धर्मों का वर्णन किया गया है अर्थात् इनमें धर्म-अधर्म के निर्णय में मत-भेद है।[११४] पाश्चात्य विद्वानों ने और तत्पश्चात भारतीय विद्वानों ने भी संस्कृत साहित्य का इतिहास खोजने की दृष्टि से एकात्मता की ओर कम ध्यान दे कर मतभेदों की ओर इसलिए ध्यान अधिक दिया है कि वे इन विभिन्न ग्रन्थों का काल-निर्णय अपनी मान्यताओं के आधार पर कर सकें। काल-निर्णय का यह प्रयत्न स्तुत्य हो सकता है, परन्तु इसके कारण धर्म-ग्रन्थों की मूलभूत एकता की ओर से दृष्टि विमुख नहीं होनी चाहिये। वर्णनों में कहीं-कहीं भिन्नता हो सकती है परन्तु केवल उसी के कारण यह मान लेना गलत है कि भावनाएँ भिन्न थीं। उदाहरण के लिये औशनस स्मृति का जो अंश उपलब्ध है उसमें केवल मिश्रित जातियों अर्थात् वर्णसंकर जातियों का ही वर्णन मिलता है। इसी आधार पर क्या यह सिद्धान्त प्रतिपादित करना ठीक है कि औशनस के काल में वर्णसंकर बहुत बढ़ गया था और इसीलिए औशनस की धर्म-व्यवस्था में और अन्य लोगों की प्रतिपादित धर्म-व्यवस्था में अन्तर है? अथवा अङ्गिरा और यम की उपलब्ध स्मृतियों में प्रायश्चित्त का ही वर्णन है। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाल

लेना कि अङ्गिरा और यम केवल कर्मकाण्ड को महत्त्व देते हैं ठीक नहीं है। सम्भव है कि किसी लेखक ने लिखते समय किसी विशेष विषय का प्रतिपादन अधिक किया है और किसी दूसरे लेखक ने कम। यह भी ठीक है कि सभी ग्रन्थ एक काल में न लिखे जाकर विविध कालों में लिखे गये थे अतः काल के अनुसार किसी बात पर कम अथवा किसी पर अधिक महत्त्व दिया गया हो। परन्तु सभी धर्मशास्त्रकारों की मान्यताएँ एक थीं और उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म भी एक ही था। यह भिन्नताएँ केवल ऊपरी हैं। उदाहरण के लिए आपस्तम्ब ने आठ प्रकार के विवाहों में से दो का उल्लेख नहीं किया है और न वसिष्ठ ने ही पर केवल इसका यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि उनकी विवाह सम्बन्धी धारणाओं में ही अन्य लोगों से मूलभूत भेद हैं। उन दो शेष विवाहों में एक पैशाच विवाह है जिसका उल्लेख करने के बाद भी मनु ने जिसके सम्बन्ध में कहा है कि इस दुर्विवाह से "क्रूर, झूँटे और ब्रह्मधर्म से द्वेष करनेवाले पुत्र उत्पन्न होते हैं।"[११४] दूसरा प्राजापत्य विवाह है जो कि ब्राह्म विवाह का ही एक रूपान्तर है।[११५] इस प्रकार दो विवाहों का उल्लेख न करना भावना में अन्तर नहीं प्रदर्शित करता। नियोग की आपस्तम्ब ने निन्दा की है, वसिष्ठ ने उसका वर्णन किया है तथा मनु ने नियोग का वर्णन करके तत्पश्चात् उसकी निन्दा की है।[११६] विचार करने पर ऊपरी दिखनेवाले भेदों का कारण स्पष्ट है। हिन्दू धर्मशास्त्रों ने मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को स्वीकार करके उनमें एक ऊँची भावना भरने का तथा धीरे-धीरे मनुष्य को उन प्रवृत्तियों से ऊपर उठाने का प्रयत्न किया है। स्त्री-पुरुष की पारस्परिक संसर्ग की भावना स्वाभाविक है परन्तु स्त्री का स्वभाव तपोमय होने के कारण धर्मशास्त्रों ने पति की मृत्यु के पश्चात् उसे तपपूर्ण जीवन व्यतीत करने का आदेश दिया है।[११७] फिर भी हो सकता है कि विधवा स्त्री में पुरुष-संसर्ग की तथा सन्तानोत्पत्ति की स्वाभाविक इच्छा उत्पन्न हो जाये। ऐसी स्थिति में नियोग को बुरा बताते हुए भी, स्वाभाविक प्रवृत्ति की शमन की दृष्टि से, उसकी अनुमति दी गयी है। परन्तु उसके पश्चात् भी सबसे श्रेष्ठ यही माना गया है कि स्त्री संयमित जीवन व्यतीत कर पर-पुरुष संसर्ग न करे।[११८] इसलिये इसका विवेचन कर और इसकी (आवश्यकतानुसार के अनुसार) अनुमति दे कर भी व्यक्तियों को इससे वर्जित करने के लिये इसकी निन्दा की गयी है। यह इसी प्रकार है जिस प्रकार झूँट बोलने की निन्दा करते हुए शास्त्र ने पाँच स्थितियों में झूँट बोलने की अनुमति दी है अर्थात् पाँच स्थितियों में उसकी भर्त्सना नहीं की। "परिहास के अवसर पर बोला हुआ मिथ्यावचन (वक्ता को) हानि नहीं पहुँचाता। इसी प्रकार स्त्रियों से, विवाह के अवसर पर, प्राणसङ्कट उपस्थित होने पर तथा सब सम्पत्ति नष्ट हो जाने के अवसर पर इन उपर्युक्त पाँच अवसरों पर कहे गये

मिथ्या वचन पापरहित माने गये हैं।"[११९] इस प्रकार के उदाहरण शास्त्रों में अन्य भी हैं जिनमें हीन प्रवृत्तियों को सहन करते हुए मनुष्य को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया गया है और उनका वर्णन आगे प्रसङ्गानुसार किया जायेगा। ठीक से देखा जाये तो ऊपरी दिखायी देनेवाले मतभेदों के अन्दर वास्तव में कोई मतभेद नहीं दिखायी देगा।

फिर, भारत की प्रवृत्ति भी समन्वयात्मक है। मतभेद यदि कहीं हो भी तो उनमें एकता ढूंढने का प्रयत्न भारतीय भावना का मुख्य अङ्ग है। कुमारिल भट्ट ने तन्त्रवार्तिक में श्रुति और स्मृति के परस्पर-विरोधी दिखनेवाले कुछ वचनों में एकवाक्यता सिद्ध करने का तथा महापुरुषों द्वारा किये गये कुछ धर्मविरोधी कार्यों को धर्मानुरूप सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[१२०] उस सबका विशद वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु उसका उल्लेख करने का इतना ही अर्थ है कि भारतीय विचार के अनुसार भिन्न-भिन्न मतों में एकरूपता देखने का प्रयत्न करना ही उपयुक्त है, परस्पर विरोध को महत्त्व देना अनुपयुक्त भावना का द्योतक है। धर्मशास्त्रों के परस्परविरोधी वचनों को (यदि कोई हों तो) समन्वय करने के नियम भी दिये गये हैं। यह तो बताया ही गया है कि श्रुति और स्मृति के विरोध में श्रुति बलवान है। गौतम तथा मनु[१२१] कहते हैं कि वेद ही धर्म का मूल है तथा उस वेद को जाननेवालों की स्मृतियाँ भी अर्थात् यदि वे स्मृतियाँ वेद के अनुसार नहीं हैं तो वे धर्म नहीं हैं। नारदपुराण का कहना है[१२२] "श्रुति द्वारा प्रतिपादन किया हुआ धर्म है, उसका विपरीत अधर्म है।" जैमिनि का भी कथन है[१२३] कि धर्म शब्दमूल (वेदमूल) होने के कारण जो उसके विपरीत है वह धर्म नहीं है। इसलिये यदि स्मृति का कोई वचन श्रुति-विरोधी होगा तो वह अमान्य होगा। परन्तु ऐसी स्थिति छोड़ कर जहाँ विरोध हो, शेष दशा में स्मृतियों को मान्यता है।[१२४] अतः जब तक यह सिद्ध न हो जाये कि स्मृति का कोई कथन श्रुति के विरोध में है तब तक उसे मान्यता रहेगी। परन्तु इस प्रकार की तुलना करने के लिये वेद के वास्तविक अर्थ का ज्ञान आवश्यक है। जहाँ स्मृतियों के वचनों में परस्पर विरोध दृष्टिगोचर होता है, वहाँ कई नियम हैं। सबसे प्रथम मनुस्मृति उनमें सबसे अधिक प्रामाण्य है। सभी पुराणों में वर्णन है कि प्रलय के काल में सब वेदों को एक नौका पर रख कर मत्स्यरूपी भगवान् के आधार पर मनु समुद्र में घूमते रहे थे। इस प्रकार मनु को धर्म का प्रलयकाल में संरक्षक बताया गया है। छान्दोग्योपनिषद् के अन्त में यह परम्परा वर्णित है[१२५] कि "आत्मज्ञान का वर्णन ब्रह्मा ने प्रजापति से, प्रजापति ने मनु से किया तथा मनु ने इसे प्रजावर्ग को सुनाया।" शान्तिपर्व (३३५ अध्याय) में कहा है कि ब्रह्मा ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों का वर्णन करनेवाला एक ग्रन्थ रचा तथा उसमें से धर्म का

प्रकरण मनु ने पृथक् किया। वामनपुराण का कहना है कि स्मृतियों में मनुस्मृति तथा पुराणों में मत्स्यपुराण श्रेष्ठ है।[१२६] मनुस्मृति को छोड़ कर यदि अन्य स्मृतियों में मतभेद हों तो उस स्थिति में, समन्वयात्मक भावना के अनुकूल मिताक्षर ने परम्परागत पद्धति का वर्णन किया है कि ऐसा अनुमान करना चाहिये कि एक स्मृति में साधारण अवस्था का वर्णन है और दूसरी में विशेष अवस्था का, अथवा उन दोनों स्मृतियों में भिन्न-भिन्न परिस्थिति के नियम दिये हुए हैं। यदि यह भी निर्धारित करना सम्भव नही हो तो दोनों नियम मान्य हैं और दोनों में से किसी के अनुसार व्यवहार किया जा सकता है अथवा उन दोनों नियमों में से उस नियम का पालन किया जाये जिसका साधारणतया शिष्ट लोग पालन करते हैं। अपनी स्मृति के व्यवहार-अंश में याज्ञवल्क्य का कथन है कि "व्यवहार की दृष्टि से (कानून के नियमों में) स्मृतियों के परस्पर-विरोध में न्याय (तर्क) बलवान है।"[१२७] स्मृतियों और पुराणों के परस्पर-विरोध में स्मृतियों को अधिक मान्यता है।[१२८]

ऊपर कहे हुए विचारों को संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारतीय समाजशास्त्र के सिद्धान्तों को दृष्टि में रख कर यदि उचित रीति से विचार किया जाये तो धर्मशास्त्रों में परस्पर कोई भेद न दिखायी देगा, परन्तु यदि भेद हो ही तो उसका समन्वय करना ही भारतीय दृष्टि के अनुकूल है। इसके अतिरिक्त भी नियमो के आधार पर यह निश्चित किया जा सकता है कि कौन-सा मत श्रेष्ठ और प्रामाणिक है तथा कौन-सा कथन अमान्य है। इस प्रकार देखने पर सम्पूर्ण धर्मशास्त्रों में एक ही धर्म निष्पन्न होगा।

सभी धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित व्यवस्था एक ही होने का एक और भी कारण है। भारत में धर्म की रचना समयानुकूल परिस्थिति को देख कर नहीं की गयी। अंग्रेजी शब्द का यदि प्रयोग किया जाये तो यहाँ का धर्म (Subjective) नहीं है। मनुष्य के सर्वकालिक लक्ष्य को दृष्टि में रख कर यह व्यवस्था निर्माण की गयी। भारतीय विचार के अनुसार मनुष्य परमात्मा का एक अंश है परन्तु संसार में आने पर वह अपना वास्तविक स्वरूप भूल जाता है। शेष संसार, जो इन्द्रियगम्य है (जिसके अन्तर्गत मनुष्य का शरीर, इन्द्रियाँ आदि भी सम्मिलित हैं), नाशवान् है, अतः असत्य है। परन्तु मनुष्य इसी को सत्य समझ कर और इसी में अपने-पराये का अनुभव कर एक-दूसरे से सङ्घर्ष करता हुआ सुख और दुःख का अनुभव करता है। यदि वह इस माया के आवरण से मुक्त हो कर अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान ले तो वह सुख-दुःखों के तथा पुनर्जन्म के चक्कर से छूट जाये और अत्यन्त आनन्द का अनुभव करने लगे। भारत की समाज-रचना में मनुष्य को इस ओर उत्तरोत्तर विकास कराने का प्रयत्न है (आश्रमधर्म) और क्योंकि मनुष्य

एक जन्म में ही सत्य नहीं प्राप्त कर सकता है, उसे क्रमशः एक-एक सीढ़ी बढ़ना पड़ेगा अतः यह व्यवस्थानुसार बढ़ सके, इसके लिये वर्ण-व्यवस्था निर्माण की गयी है, जिसमें मनुष्य पहले काम का पूरा उपभोग कर (शूद्र), फिर अर्थ का (वैश्य और क्षत्रिय) और फिर धर्मानुकूल आचरण करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर सके। इसी दृष्टि से संस्कार निर्माण किये गये हैं जिनसे मनुष्य की वृत्ति धीरे-धीरे व्यक्तिगत जीवन से बहिर्मुख हो। राज्य का भी निर्माण इसीलिये हुआ कि वह मनुष्य को श्रेष्ठतम स्थिति में पहुँचानेवाली इस समाज-व्यवस्था को लागू तथा चालू रखे।[129] इसी कारण अधिकार-भेद है अर्थात् प्रत्येक का धर्म उसके उन्नतिक्रम के अनुसार निर्धारित कर दिया गया है और स्वधर्म के आग्रह पर बहुत बल दिया गया है। यदि स्वधर्म का पालन न हुआ तो बहुत हानि हो जायेगी क्योंकि प्रत्येक अपने उपयुक्त स्थान से भ्रष्ट हो जायेगा। भौतिक दृष्टि से भी समाज में सुख, शान्ति और सम्पन्नता निर्माण करने की दृष्टि समाज-निर्माताओं ने अपने सामने रखी और इस कारण जो व्यक्ति जितना ऊपर उठा हुआ था (नैतिक रूप में) तथा जो व्यक्ति समाज के लिये जितना त्याग करता था उसे समाज में उतना ही श्रेष्ठ स्थान दिया गया जिससे समाज के अन्दर विशृङ्खलता उत्पन्न करनेवालों का प्राधान्य न हो अपितु समाज की सत्ता उनके हाथ में रहे जो धर्ममार्गी हैं। इस प्रकार ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के जीवन में अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस् में श्रेष्ठता प्राप्त करना तथा एक आदर्श (ideal) स्थिति निर्माण करना समाज-व्यवस्था का लक्ष्य था। इसी कारण वैशेषिक सूत्र में समाज-व्यवस्था का लक्ष्य बताते हुए कहा है "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"। राधाकृष्णन् कहते हैं[130] "हम अपने काम के लिए धर्म की यह परिभाषा करें—जीवन के चार पुरुषार्थों को दृष्टि में रखते हुए चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के सदस्यों का सम्पूर्ण कर्तव्य। जब कि सामाजिक व्यवस्था का महत्तम लक्ष्य यह है कि मनुष्यों को आध्यात्मिक पूर्णता तथा पवित्रता की स्थिति के लिये शिक्षित करे, उसके (समाज-व्यवस्था के) भौतिक आदर्शों को ध्यान में रखते हुए उसका मुख्य उद्देश्य है सामाजिक दशा का ऐसा विकास, जिसमें सब लोगों के हित और शान्ति के अनुकूल, क्योंकि इनसे ही प्रत्येक व्यक्ति को जीवन और स्वतन्त्रता के सुख का उत्तरोत्तर अनुभव होता है, सर्वसाधारण लोग नैतिक, भौतिक और बौद्धिक विकास कर सकें।" भारतीय समाज-व्यवस्था के कारणों का इतना उल्लेख करना यहाँ यह सिद्ध करने के लिये आवश्यक हो गया कि यहाँ की व्यवस्था विशेष-कालीन (Subjective) नहीं (Objective) अर्थात् सर्वकालीन थी। भारतीय विचारकों की यह धारणा थी कि क्योंकि, मनुष्य के जीवन का लक्ष्य सदैव ही मोक्ष रहना चाहिये, अतः उस लक्ष्य तक पहुँचानेवाली व्यवस्था भी

सदा के लिये आवश्यक है—सनातन है। उनको यह भ्रम नहीं था कि व्यवहार में इस व्यवस्था में परिवर्तन नहीं हो सकते क्योंकि व्यवहार का अन्तर तो उन्होंने स्वीकार किया ही था[१३१] परन्तु उनकी यह धारणा थी कि यह व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इसी के आधार पर मनुष्य सीढ़ी-सीढ़ी चढ़ता हुआ मोक्ष के निकट सबसे शीघ्र पहुँच सकता है। यह व्यवस्था रेखागणित के सिद्धान्तों के समान उन्होंने एक सिद्धान्त के आधार पर दूसरा और दूसरे के आधार पर तीसरा, इस प्रकार विभिन्न सिद्धान्त निष्पन्न करते हुए निर्माण की थी (जैसा कि आगे के सम्पूर्ण वर्णन से सिद्ध होगा) और इसलिये चाहे कोई भी धर्मग्रन्थ हो, सबको ही यह व्यवस्था मान्य थी तथा इस व्यवस्था से पृथक् जाने का कोई कारण नहीं था। क्योंकि यह व्यवस्था एक निश्चित मोक्ष-प्राप्ति के लक्ष्य को दृष्टि में रख कर निर्माण की गयी है, अतः यह व्यवस्था ईश्वरीय मानी गयी है।[१३२] इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण धर्मों को - वर्णधर्म, राजधर्म आदि को—भगवान् द्वारा उद्भूत मान कर धर्मशास्त्रों ने सम्पूर्ण धर्म की नित्यता स्वीकार की है। इस कारण भारतीय धर्मशास्त्रों की इस मान्यता के आधार पर सम्पूर्ण धर्म को समन्वयात्मक रीति से देख कर चलना ही भारतीय भावना के अनुकूल धर्म का विश्लेषण करना है। अन्य रीति से समाज-व्यवस्था का अध्ययन करने का प्रयत्न समाज-व्यवस्था का एक विकृत स्वरूप ही दिग्दर्शित करेगा, उसके पीछे की वास्तविकता नहीं। श्री रङ्गस्वामी आयङ्गर ने मद्रास विश्वविद्यालय में दी गयी एक भाषणमाला में इस तथ्य का समर्थन किया है।[१३३] "वैदिक और बाद के पौराणिक तथा स्मार्त विचारों में, ऐसे विषयों पर, जैसे कि विश्व की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, वर्तमान आलोचना (पद्धति) में चाहे मतभेद माना जाये, परन्तु रूढ़िवादी विचारों में इसे स्वीकार नहीं किया जायेगा। मतभेदों को स्पष्टीकरण के द्वारा सुलझाया जा सकता है।......विभिन्न कालों के आधार पर साहित्य का विभिन्न भागों में विभाजन तथा प्रारम्भिक काल की तुलना में, बाद के कालों के विचारों में प्रगति अथवा विकास की मान्यता, परम्परागत दृष्टिकोण के लिये बाह्य है। ऐसी बातों में परम्परा को मानना, आलोचना और ऐतिहासिक वृत्ति के विपरीत प्रतीत हो सकता है, परन्तु जब तक यह नहीं किया जायेगा, तब तक उन हिन्दुओं के, जिन्होंने धर्मशास्त्रों का निर्माण किया अथवा जिन्होंने उन्हें (धर्मशास्त्रों से) अपने जीवन के मार्गदर्शक के रूप में स्वीकार किया है, मस्तिष्क के विश्वासों और सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि को नहीं समझा जा सकता। यदि उसके आधारों को मान लिया गया तो रुढ़िवादी स्थिति तर्कहीन नहीं है। व्यवहार के निर्धारित नियमों के सम्बन्ध में एक जाति की प्रतिक्रिया समझने के लिये हमें उनके मस्तिष्क को समझना चाहिये तथा उनके विश्वासों के स्वरूप को जानना चाहिये। हम

उनका निर्णय अपने विश्वासों और मानदण्डों के आधार पर नहीं कर सकते क्योंकि ऐसा करना ही ऐतिहासिक भावना का उल्लङ्घन करना होगा।"

अन्तिम विचार यह शेष है कि सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था की किन 'समस्याओं' का प्रस्तुत पुस्तक में विचार किया जायेगा। सबसे प्रथम समस्या यही है कि समाज की व्यवस्था किस प्रकार की हो तथा उस व्यवस्था का क्या आधार है। भारतीय समाज-व्यवस्था की कुछ वर्तमानकालीन समस्याएँ भी इसी के अन्तर्गत आ जाती हैं जैसे वर्ण-व्यवस्था, छूत-अछूत का प्रश्न आदि। दूसरी समस्या शिक्षा-पद्धति की है जिसके अन्तर्गत शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षा में राज्य का हस्तक्षेप, अध्यापक और विद्यार्थी का सम्बन्ध आदि आ जाते हैं। इसके पश्चात् आर्थिक रचना पर विचार करना होगा जिसमें धन के वितरण और उपभोग पर तथा सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण पर विचार होगा। स्त्रियों का समाज में स्थान तथा महत्त्व और विवाह की पद्धति भी, जिसमें बालविवाह, बहु-विवाह, तथा विधवा-विवाह विशेष प्रश्न हैं, विचारणीय समस्याएँ हैं। समाज-व्यवस्था की सबसे अन्तिम विचारणीय समस्या है समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध अर्थात् समाज-व्यवस्था का लक्ष्य व्यक्ति हो अथवा समाज तथा दोनों का तुलनात्मक महत्त्व और प्रभुत्व कितना हो। राजनैतिक समस्याओं में सबसे प्रथम समस्या है राजनीति का समाज-व्यवस्था में स्थान। तत्पश्चात् प्रश्न आता है कि राज्य के स्वरूप का तथा राज्य में धर्म का कितना स्थान हो, राज्य असाम्प्रदायिक हो अथवा साम्प्रदायिक, राज्य का लक्ष्य क्या हो, राज्य के कार्यों का कितना क्षेत्र हो तथा राज्य और व्यक्ति तथा समुदायों का क्या सम्बन्ध हो। भारतीय समाज-शास्त्रियों ने राजतन्त्र अथवा गणतन्त्र में किसे श्रेष्ठ माना है तथा राजतन्त्र में राजा की सार्वभौम सत्ता के ऊपर क्या-क्या प्रतिबन्ध लगाये गये हैं, यह भी एक प्रश्न है। इसके बाद विचार करना होगा राज्य के आन्तरिक सङ्गठन पर—कार्यपालिका, विधि-व्यवस्था तथा न्यायपालिका का क्या सम्बन्ध हो, विधि बनाने की कौनसी पद्धति ठीक है, न्याय की कैसी पद्धति हो, दण्ड के क्या सिद्धान्त हों, शान्ति-स्थापन की व्यवस्था कैसी हो तथा कर के क्या सिद्धान्त हों। इन समस्याओं के अतिरिक्त देश के विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर भी विचार करना होगा।

दूसरा अध्याय

भारतीय दर्शन और समाज-व्यवस्था

भारत के वर्तमान सामाजिक जीवन की तथा उसके गुण-दोषों की विवेचना बहुत व्यक्तियों द्वारा हुई है तथा होती रहती है, परन्तु भारतीय समाज-व्यवस्था का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन इतने कम विद्वानों ने किया है कि आश्चर्य होता है।[1] इस कारण आगे दिये विचारों का समर्थन अधिकांशतः शास्त्रों के ही उद्धरणों के आधार पर है तथा केवल प्रास्ताविक विवेचना में ही जहाँ आवश्यक और सम्भव प्रतीत हुआ है वहीं कुछ विद्वानों के उद्धरण दिये गये हैं।

भारतीय समाज-रचना दर्शन पर आधारित है। इसीलिये धर्म के जितने भी ग्रन्थ हैं, सबमें इहलौकिक व्यवस्था के साथ-साथ पारलौकिक उन्नति का, ब्रह्म का तथा ब्रह्म-जीव एकता का वर्णन है। वेदों में अथर्ववेद को तो ब्रह्मवेद कहा ही गया है परन्तु अध्यात्म का वर्णन अन्य वेदों में भी उपलब्ध है।[2] वेदों के अतिरिक्त प्रत्येक पुराण में भी सभी धर्मों के वर्णन के साथ मोक्षधर्म का भी पूरा वर्णन किया गया है। स्मृतियों में मनुस्मृति का प्रारम्भ सृष्टि-उत्पत्ति से होता है और मध्य में सम्पूर्ण धर्मों का वर्णन करते हुए सबके अन्त में मोक्षधर्म का विवेचन किया गया है। हारीतस्मृति के भी विवरण की यही योजना है। याज्ञवल्क्यस्मृति में सभी वर्णों और आश्रमों के धर्मों का वर्णन करने के पश्चात् अन्त में अध्यात्म-तत्त्व का वर्णन किया है। ऐसा ही दक्षस्मृति में भी है। इस तथ्य को डॉ० राधाकमल मुकर्जी ने स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि "जीवन की भारतीय योजना में सभी व्यक्तियों और उत्तरदायित्वों का निर्धारण अन्ततः दर्शन से ही होता है, जिसमें आत्मा-प्रकृति और परमात्मा के सम्बन्धों का विवेचन है।"[3] राधाकृष्णन ने लिखा है "हिन्दुओं के व्यवहार-नियमों में कामनाओं के क्षेत्र को अनन्तत्व की सम्भावना के साथ जोड़ दिया है। उसने इहलौकिक और पारलौकिक तत्त्वों को साथ-साथ जोड़ दिया है।"[4]

श्री रङ्गस्वामी आयङ्गर का कहना है "एक अमानवीय स्रोत से समाज-व्यवस्था का सनातन आधार प्राप्त होने के कारण समाज-व्यवस्था दार्शनिक के क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाती है और दर्शनशास्त्र सामाजिक विचारक के क्षेत्र के अन्तर्गत। ...दर्शनशास्त्र के लेखक स्मृतियों को अधिकृत मान कर उनके उद्धरण देते हैं जब कि धर्मशास्त्र के लेखक मानव-सम्बन्धों और कर्तव्यों के आध्यात्मिक आधार का उल्लेख करते हैं। एक परमात्मवादी पद्धति में नैतिकता और दर्शन को पृथक् नहीं किया जा सकता।"[५]

भारतीय समाज-व्यवस्था दर्शन पर आधारित है, इसका अर्थ यह नहीं कि वह केवल एक आदर्श की ही वस्तु रही है तथा उसका व्यावहारिक उपयोग नहीं रहा। धर्मशास्त्रों ने अपनी प्रत्येक व्यवस्था के व्यवहार पर पूरा जोर दिया है और उसे पालन करने की आवश्यकता बतायी है।[६] धर्मशास्त्रों ने श्रेष्ठ आदर्श स्थिति का वर्णन किया है, फिर भी व्यवहार की दृष्टि से जो उस आदर्श तक नहीं पहुँच सकते उनके लिये व्यवस्था की गयी है। इसी कारण चार वर्ण बनाये गये हैं, क्योंकि प्रत्येक वर्ण ब्राह्मण निर्धारित श्रेष्ठ जीवन का पालन नहीं कर सकता। ब्राह्मणों के लिये भी परिग्रह की अर्थात् दान लेने की निन्दा की गयी है फिर भी ब्राह्मणों की जीविका चलती रहे, इसके लिये उनकी वृत्ति के तीन साधनों में दान भी एक साधन है।[७] इस प्रकार आदर्श का ध्यान रखते हुए भी व्यावहारिकता को नष्ट नहीं किया गया है। धर्मशास्त्रों में यह व्यवस्था रखी गयी है कि प्रत्येक अपनी सवर्ण भार्या से ही विवाह करे[८] और प्रतिलोम विवाह की तो बहुत निन्दा की गयी है[९] परन्तु फिर भी प्रतिलोम सम्बन्धों से उत्पन्न जातियों का वर्णन किया गया है और उन्हें समाज में (चाहे छोटा ही क्यों न हो) स्थान दिया गया है।[१०] पिछले अध्याय में यह बताया गया है कि स्त्रियों के पुनर्विवाह का निषेध करने पर भी व्यावहारिक दुर्बलता को ध्यान में रख कर नियोग की अनुमति दी गयी है।[११] राधाकृष्णन् भारतीय दर्शन पर विचार करते हुए लिखते हैं[१२] "पश्चिम में दर्शन एक ऐसी वस्तु है जो कि दार्शनिकों के मस्तिष्क तक ही सीमित हैं। उसकी व्यावहारिक जीवन में कोई उपयोगिता नहीं है। भारत में दर्शन को व्यवहार में लाया गया है।" दर्शन और व्यवहार का इतना श्रेष्ठ समन्वय है कि एक ओर जहाँ आदर्शवाद अपने चरम रूप में दिखायी देता है, दूसरी ओर व्यावहारिकता भी उतनी ही उत्कट है। जब व्यक्ति के सामने निर्गुण ब्रह्म से एकता प्राप्त करने का लक्ष्य रखा जाता है, उस निर्गुण ब्रह्म से जो कि इन्द्रियों को अग्राह्य है और दृष्ट अनुभव से परे है, अथवा उस सम्पूर्ण विश्व के अन्दर के सभी जड़ और चेतन तत्त्वों की मूलभूत एकता को सामने रख कर उसके आधार पर जीवन में व्यवहार करने की बात की जाती है तो यह एक ऐसा आदर्शवाद

है जो केवल कल्पना की ही बात प्रतीत होती है। जव कि संन्यासी का और ब्राह्मण का ऐसा त्यागमय आदर्श सामने रखा जाता है जिसकी समता आज मिलना वहुत-ही दुर्लभ है, तव वह एक कोरा आदर्शवाद (Utopia) ही समझा जा सकता है। जव प्रत्येक गृहस्थ के दैनिक जीवन के लिये वहुत कड़ा अनुशासन निर्धारित किया गया है और उसके सम्पूर्ण दिन की वड़ी कड़ी दिनचर्या वतायी गयी है तव यह विचार उठता है कि इस पर कभी व्यवहार भी किया जा सकता है अथवा नहीं ? परन्तु दूसरी ओर व्यावहारिकता भी इतनी अधिक है कि मनु का यह कथन कि "न मांस खाने में दोष है, न मदिरा पीने में, न मैथुन में, क्योंकि यह प्राणियों की (स्वाभाविक) प्रवृत्ति है," साधारण नैतिकता में विश्वास रखने-वाले व्यक्ति को अखर जाता है। राजधर्म में जव शत्रु के साथ व्यवहार करने के, अथवा राजपुत्रों को वश में रखने के, अथवा विभिन्न साधनों से धन प्राप्त करने के नियम बताये गये हैं[१३], तव उन नियमों की अनैतिकता देख कर यह स्वाभाविक है कि साधारण व्यक्ति उन नियमों के प्रति हृदय में तुच्छ भावों को धारण करे। जव वेश्याओं के विषय में स्मृतिकारों ने नियम दिये हैं[१४] तव उन स्मृतिकारों की समाज-व्यवस्था के प्रति निरादर का भाव उत्पन्न हो जाना वहुत-ही स्वाभाविक है। यह सत्य है कि भारत ने ऐसी समाज-व्यवस्था बनायी जिसके द्वारा धीरे-धीरे एक आदर्श स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न किया, परन्तु यह भी सत्य है कि व्यावहारिक जीवन की सभी कमियाँ और आवश्यकताएँ भी स्वीकार की गयीं और व्यावहारिक जीवन में परिपूर्णता निर्माण करते हुए मनुष्य के दार्शनिक लक्ष्य को भी व्यावहारिक स्वरूप देने का प्रयत्न किया गया।[१५]

जहाँ तक भारतीय दर्शन का प्रश्न है, भारत में छः दर्शन विख्यात हैं। परन्तु वह छः दर्शन भी परस्पर-विरोधी नहीं हैं। भारत का 'दर्शन' शब्द 'दृश्' धातु से वना है जिसका अर्थ है 'देखना' अतः दर्शन वह पद्धति है जिससे 'सत्य' का अथवा 'ब्रह्म' का साक्षात्कार किया जाये। इस दृष्टि से वह अंग्रेजी के Philosophy शब्द का पर्यायवाची नहीं हो सकता। मैक्समूलर[१६] जैमिनि की पूर्वमीमांसा को पश्चिमी दृष्टि से Philosophy नाम देने में हिचकता है क्योंकि उसमें वेद के कर्मकाण्ड-सम्वन्धी मन्त्रों का एकीकरण करने का प्रयत्न है फिर भी भारतीय दृष्टि से वह दर्शन ही है, क्योंकि उसमें कर्मकाण्ड के मार्ग से मनुष्य को ब्रह्म तक पहुँचने का मार्ग दिखाया गया है। मैक्समूलर ने यह स्वीकार किया है कि हमारी Philosophy की धारणा भारतीय दर्शन की धारणा से भिन्न है। इस भेद के कारण जहाँ पश्चिम में दर्शन की विभिन्न पद्धतियाँ परस्पर-विरोधी हो सकती हैं, कम-से-कम सब स्वतन्त्र विचारधाराएँ हैं जो लक्ष्य और उसके साधनों के सम्वन्ध में पृथक्-पृथक् धारणाएँ रखती हैं वहाँ भारत में ऐसा नहीं है। भारत

में सभी एक सत्य को देखने के विभिन्न प्रकार-मात्र हैं जिनमें मूलतः कोई भेद स्वीकार नहीं किया जाता है।[१७] विभिन्न दर्शनों के विषयों का विवेचन करने पर यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी। न्यायसूत्रों में तर्क के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति (मोक्ष-प्राप्ति) का साधन बताया गया है। इन सूत्रों का प्रारम्भ यहीं से किया गया है कि निःश्रेयस् की प्राप्ति प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन आदि सोलह तत्त्वों के ज्ञान से होती है। इसमें आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करते हुए तथा आत्मा अनित्य है यह बताते हुए कर्मफल की प्राप्ति का कारण ईश्वर को बता कर ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। वैशेषिक में आधिभौतिक तत्त्वों का विवेचन है और इस सबके मूल में ब्रह्म है तथा इनकी विवेचना से मोक्ष ही मनुष्य के जीवन का लक्ष्य होना चाहिये यह दिग्दर्शित किया है। वैशेषिक सूत्रों में कणाद का कहना है[१८] कि "द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, नामक पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य का तत्त्वज्ञान धर्म-विशेष (वैशेषिक) से उत्पन्न होने के कारण निःश्रेयसकारी है" और उसमें प्रारम्भ में धर्म को अभ्युदय तथा निःश्रेयसकारी बता कर इस सब धर्म के प्रमाण के रूप में वेद बताये गये हैं क्योंकि वे परमात्मा (ब्रह्म) के शब्द हैं। इतना ही नहीं इन सूत्रों में आत्मा की स्वीकृति है तथा यह कह कर कि इन्द्रियों के अनुभव सर्वगम्य न होने के कारण इन्द्रियों तथा उनकी अनुभूत वस्तुओं से परे भी कुछ है, ब्रह्म को स्वीकार किया गया है। न्याय में बुद्धि के द्वारा तथा वैशेषिक में प्रत्यक्ष संसार के विवेचन से—अर्थात् दोनों पद्धतियों में भौतिक साधनों से—इस संसार से मुक्ति की विवेचना की गयी है। सांख्य में पुरुष और प्रकृति तथा प्रकृति पर आधारित महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्राएँ, पञ्चमहाभूत, दस इन्द्रियाँ और मन, इन पच्चीस तत्त्वों का वर्णन है और यह बता कर कि पुरुष (ब्रह्म) प्रकृति के चक्र में फँस कर अपना सत्य स्वरूप भूल जाता है और विविध दुःखों का अनुभव करता है। यह कहा है कि त्रिविध दुःखों से निवृत्ति अर्थात् संसार से मुक्ति ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है।[१९] योग में योग-साधनों के द्वारा पुरुष और प्रकृति का भेद समझने का मार्ग दिखाया गया है। योगसूत्र के प्रारम्भ में योग की परिभाषा करते हुए कि यह चित्त की वृत्तियों का निरोध है बताया है कि इससे व्यक्ति अपने मूल स्वरूप (ब्रह्म-प्राप्ति) में अवस्थित हो जाता है, तथा, फिर योगसाधनों का वर्णन करके सबसे अन्तिम अध्याय में यह बताया है कि उससे मोक्ष कैसे प्राप्त होता है। पूर्वमीमांसा में श्रुति के कर्मकाण्डपरक मन्त्रों का विवेचन है और उनकी एकता सिद्ध की गयी है तथा स्पष्ट किया गया है कि कर्मकाण्ड से किस प्रकार ब्रह्म-प्राप्ति होती है। उसमें धर्म की जिज्ञासा प्रारम्भ करते हुए बताया है कि यह धर्म वह है जिसका, उचित होने के कारण, श्रुतियों द्वारा आदेश किया गया है और फिर कहा है,

इन्द्रियों के वस्तुओं के संयोग से बुद्धि का जन्म होता है और यह बुद्धि धर्म (मोक्ष) को जानने का साधन नहीं है क्योंकि इससे केवल विद्यमान वस्तुओं का ही ज्ञान होता है। इसका अर्थ यह कि श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित विधियों के आचरण से (जिसमें कर्मकाण्ड भी है) धर्म का—जिसका अर्थ यहाँ ब्रह्म है—ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यह भी वताया है कि श्रुति, स्मृति तथा शिष्टाचार सव उस एक ही धर्म का विवेचन करते हैं।[२०] सवसे अन्त में और सवका सिरमौर वेदान्त है जो उत्तरमीमांसा अथवा शारीरक मीमांसा के नाम से विख्यात है और जिसके द्वारा सांख्य के सिद्धान्तों को और एक कदम आगे वढ़ा कर ब्रह्म-पुरुष की एकता को तथा माया के भ्रम को सिद्ध किया गया है। इस प्रकार विभिन्न पद्धतियों से ब्रह्म की एकरूपता प्राप्त करने का मार्ग-प्रदर्शित किया गया है और यह सव दर्शन ब्रह्म-अनुभूति के एक-एक कदम ऊपर वढ़ते हुए मार्ग हैं—वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा, जिनमें वेदान्त सर्वश्रेष्ठ है। विज्ञानभिक्षु ने सांख्यसूत्रों की भूमिका में विभिन्न दर्शनों की एकता ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। वह प्रारम्भ करता है कि वेद से तीन वातें ज्ञात होती हैं (१) मनुष्य का लक्ष्य, (२) उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये आवश्यक ज्ञान और (३) आत्मा का स्वरूप। सांख्य का उद्देश्य भी श्रुति के आधारों पर समर्थित पुरुष और प्रकृति का भेद सिद्ध करना है। फिर वह कहता है कि न्याय और वैशेषिक का सांख्य से कोई मतभेद नहीं है यद्यपि न्याय और वैशेषिक पुरुष को सगुण प्रतिबिम्बित करते हैं और सांख्य पुरुष को निर्गुण वताता है। सगुण और निर्गुण का भेद केवल इसीलिये दिखायी देता है कि न्याय और वैशेषिक, भौतिक ज्ञान को आधार मान कर चलते हैं और सांख्य कुछ ऊँचा तत्वज्ञान प्रदर्शित करता है। सांख्य के अनुसार क्योंकि न्याय और वैशेषिक (भौतिक होने के कारण) पूर्ण तत्त्व पर नहीं पहुँच सकते और मनुष्य को सुख और दुःख अनुभव करनेवाला वताते हैं अतः वह ज्ञान के प्रथम पग के समान हैं और वह केवल यही सिद्ध करके शान्त हो जाते हैं कि आत्मा और शरीर एक नहीं पृथक्-पृथक् हैं तथा इससे आगे नहीं वढ़ते। यहाँ पर विज्ञानभिक्षु गीता का उद्धरण देता है कि "प्रकृति के गुणों से विभ्रमित पुरुष गुणों और कर्मो में ही लगे रहते हैं। ज्ञानी पुरुष इन अज्ञानी और मन्दबुद्धियों को अपने मार्ग से विचलित न करे"[२१] और फिर कहता है कि न्याय और वैशेषिक असत्य नहीं है अपितु अपूर्ण सत्य का ही प्रदर्शन करते हैं जव कि सांख्य उनकी तुलना में अधिक पूर्णसत्य का दिग्दर्शक है। परन्तु उनका (न्याय और वैशेषिक का) भी ज्ञान धीरे-धीरे मनुष्य को ऊँचा उठाता है। वह यह भी कहता है कि न्याय और वैशेषिक के सिद्धान्तों को सांख्य समाप्त नहीं करता अपितु वह (ज्ञान और वैशेषिक) भिन्न

ज्ञान देते हैं और सांख्य का विषय भिन्न है। इसी प्रकार आगे विज्ञानभिक्षु सांख्य का योग और वेदान्त से समन्वय करता है। यहाँ पर उसके अनुसार सांख्य अनीश्वरवादी नहीं है, वह तो केवल पुरुष और प्रकृति का भेद सिद्ध करने तक ही अपने को सीमित रखता है। इस कारण सांख्य का अपना पृथक् क्षेत्र है। सांख्य के अनीश्वरवादी होने का विज्ञानभिक्षु यह भी कारण बताता है कि इसके द्वारा सांख्य, ईश्वर का जो सर्वसाधारण द्वारा समझा जानेवाला रूप है (जगत-निर्माणकर्ता का और जिससे परमात्मा प्रकृति का ही एक अङ्ग सरीखा बन जाता है), उसको गलत सिद्ध करना चाहता है। सांख्य द्वारा पुरुषों की जो असीम संख्या बतायी गयी है, उसके विषय में विज्ञानभिक्षु का कहना है कि वेदान्त में तो इन पुरुषों और ब्रह्म की एकता अवश्य सिद्ध की गयी है परन्तु पुरुषों की असीम संख्या की अस्वीकृति कहीं नहीं है। इसीलिये वेदान्त यद्यपि सर्वोच्च सत्य सिखाता है परन्तु वह सांख्य के सिद्धान्तों को समाप्त नहीं करता और सांख्य के सिद्धान्त पृथक् हैं जिनका वेदान्त से कोई मतभेद नहीं है। इस प्रकार विज्ञानभिक्षु सिद्ध करना चाहता है कि इन छः दर्शनों में कोई मतभेद नहीं है अपितु एकता है और वह विभिन्न प्रकार के ज्ञान द्वारा ब्रह्म तक पहुँचने के मार्ग हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि उनके विषय पृथक्-पृथक् हैं और कोई ऊँचा ज्ञान देनेवाला है तथा कोई नीचे स्तर तक का ही ज्ञान देता है। परन्तु हैं सब सत्य और सबकी मिल कर पूर्ण एकता है। मैक्समूलर का इस सम्बन्ध में अपनी भारतीय दर्शन की पुस्तक के अन्त में निष्कर्ष है कि "मैं यह अस्वीकार नहीं कर सकता कि विभिन्न दर्शनों की विभिन्नता के पीछे एक प्रकार की एकता खोजने का जो प्रयत्न किया गया है वह ठीक है क्योंकि प्रत्येक (दर्शन) सर्वोच्च और अन्तिम सत्य के मार्ग में एक कदम है। इसको जान लेने के बाद यह समझना सरल है कि इन विभिन्न दर्शनों के अनुयायियों ने, जो हमें महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर एक-दूसरे के प्रत्यक्ष विरोधी दिखायी पड़ते हैं, वेद के साथ जिसका धार्मिक, दार्शनिक और नैतिक प्रश्नों पर सर्वोच्च अधिकार माना जाता है—किस प्रकार अपनी एकता बनाये रखी है।" पृष्ठ २८७ पर वह कहता है "ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में दार्शनिक एक साथ ही सांख्य का भी अनुयायी हो सकता था और वेदान्त का भी, यदि वह केवल यही समझ लेता कि यद्यपि दोनों भिन्न मार्गों से जाते हैं परन्तु उन्होंने प्रारम्भ एक ही स्थान से किया है और वह एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं। यदि इसे ऐतिहासिक भावना से स्वीकार कर लिया जाये तो इससे कोई हानि नहीं हो सकती..............।"[२२]

भारतीय विचार का प्रारम्भ सृष्टि की उत्पत्ति से होता है और यह बताया गया है कि इस दृश्य सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व, अर्थात् जिसे प्रलयकाल कहते हैं

उसमें, केवल एक निर्गुण ब्रह्म था।[२३] इस प्रकार यह बता कर कि सभी जीवों की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई, मनुष्य के सामने लक्ष्य भी यही रखा गया है कि वह ब्रह्म में विलीन हो जाये।[२४] "हे प्रिय! वह सत्य यह है कि जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि में से उसी के जैसे रूपवाली सहस्रों चिनगारियाँ प्रकट होती हैं उसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म से नाना प्रकार के भाव (भावधारी जीव) उत्पन्न होते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं।" इस निर्गुण ब्रह्म ने सगुण रूप धारण किया और फिर सृष्टि की उत्पत्ति प्रारम्भ हुई। इस सगुण स्वरूप को प्रजापति अथवा ब्रह्मा की संज्ञा दी गयी है। मनुस्मृति में[२५] सृष्टि का प्रारम्भिक वर्णन इस प्रकार है "जो यह (परमात्मा), इन्द्रियों से ग्रहण करने के परे, सूक्ष्म, अव्यक्त, अचिन्त्य, सर्वभूतमय और सनातन है, वह अपने आप प्रकट हुआ। उसने विविध प्रकार की प्रजा अपने शरीर से उत्पन्न करने की इच्छा से ध्यान करके पहले जल को उत्पन्न किया और उसमें बीज डाला। वह सूर्य के समान कान्तिवाला सुवर्णमय अण्डा हो गया और उसमें समस्त संसार का पितामह ब्रह्मा स्वयं उत्पन्न हुआ।" भारतीय विचारकों ने, सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई इसका तो वर्णन किया है परन्तु उस ब्रह्म ने एक से अनेक होने की क्यों इच्छा की अर्थात् सृष्टि का प्रारम्भ क्यों किया, इसका कोई उत्तर नहीं दिया। केवल इतना ही कहा है कि यह परमात्मा की अतर्क्य लीला है।[२६] "हम इस संसार का क्यों न जानते हैं और न जान सकते हैं। हमारे सीमित मस्तिष्क काल, स्थान और कारण की सीमा के आगे नहीं जा सकते और न हम इसका कोई कारण बता सकते हैं।......दर्शन की इस असफलता पर, न तो रोने का कोई कारण है, न हँसने का, न प्रशंसा करने का और न दोष देने का, अपितु इसे समझने की आवश्यकता है।"[२७] परमात्मा के इस सगुण और निर्गुण रूपों में निर्गुण श्रेष्ठ है और सगुण उसका प्रतिबिम्ब-मात्र है। प्रजापति, इन्द्र आदि उस परमात्मा के अंशरूप हैं।[२८] निर्गुण में अनन्तत्व है और सगुण उसका प्रकृतिजन्य स्वरूप है, अतः सीमित है। उदाहरण के लिये परमात्मा के श्रेष्ठ सगुण स्वरूपों में से इन्द्र के विषय में बताया जाता है कि प्रत्येक मन्वन्तर में वह भी बदल जाता है तथा ब्रह्मा की आयु भी बहुत बड़ी होने पर सीमित ही है।[२९] इसीलिये निर्गुण की प्राप्ति श्रेष्ठ अवस्था मानी जाती है और सम्पूर्ण उपनिषद् उसी निर्गुण के स्वरूप का वर्णन कर उसी में विलीन हो जाने को श्रेष्ठ अवस्था बताते हैं। परन्तु, क्योंकि जो उस अवस्था तक नहीं पहुँचे उनके लिये सगुण उपासना का, विभिन्न देवताओं के रूप में, वर्णन है। पुराणों में, जो विशेष रूप से उन लोगों के लिये हैं जो अध्यात्म की उच्च अवस्था तक नहीं पहुँच सकते, निर्गुण उपासना का अर्थात् अध्यात्म का वर्णन अवश्य है परन्तु मूलतया

परमात्मा के ब्रह्मा, विष्णु, शिव और शक्ति के रूपों में सगुण तथा साकार उपासना को ही प्रमुखता दी गयी है और उन्हीं के साथ-साथ अवतारवाद का इस कारण विशेष उल्लेख है कि साकार रूपों में परमात्मा का अभिव्यक्तीकरण समाज के समक्ष रख कर उसके द्वारा व्यक्ति को धीरे-धीरे परब्रह्म की ओर उन्मुख किया जाये।

सृष्टि की रचना करने के लिये प्रजापति ने अर्थात् ब्रह्मा ने अपने को दो भागों में विभक्त किया। ब्रह्मपुराण में वर्णन है "इस प्रकार प्रजा की सृष्टि करने पर भी जब प्रजा में वृद्धि नहीं हुई तब (प्रजापति) अपने शरीर के दो भाग करके आधे से पुरुष और आधे से स्त्री हो गये और फिर विविध प्रकार की प्रजा उत्पन्न की।"[30] बृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा है[31] "उसने अपनी इस देह को ही दो भागों में विभक्त कर डाला। उससे पति और पत्नी हुए।" यह जो स्त्री-पुरुष दो तत्त्व हैं जिनसे कि समस्त सृष्टि की उत्पत्ति हुई, उन्हें वेदान्त में ब्रह्म और माया तथा सांख्य में पुरुष और प्रकृति कहा है। ब्रह्म निर्गुण और अकर्ता है, अतः बिना माया के वह इस संसार के समस्त जाल को नहीं फैला सकता तथा प्रकृति भी बिना पुरुष के सम्पूर्ण सृष्टि को उत्पन्न नहीं कर सकती क्योंकि प्रकृति कर्ता होने पर भी जड़ है और पुरुष अकर्ता होने पर भी परमात्मा का अंश होने के कारण चेतन है। पुरुष और प्रकृति के संयोग से संसार की सृष्टि किस प्रकार हुई, इसका वर्णन सांख्य में किया गया है। सांख्य द्वारा सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन, ऐतरेयोपनिषद में, सभी पुराणों में, महाभारत तथा मनुस्मृति में है।[32] सांख्य द्वारा वर्णित क्रम का संक्षिप्त परन्तु श्रेष्ठ वर्णन लोकमान्य तिलक ने 'गीतारहस्य' में किया है[33] जिसको यहाँ अविकल उद्धृत करना ही विषय को स्पष्ट करने के लिए अच्छा रहेगा। "सांख्यशास्त्र के अनुसार सृष्टि के सब पदार्थों के तीन वर्ग होते हैं। पहला अव्यक्त (मूल प्रकृति), दूसरा व्यक्त (प्रकृति के विकार) और तीसरा पुरुष अर्थात् 'ज्ञ'। परन्तु इनमें से प्रलयकाल के समय व्यक्त पदार्थों का स्वरूप नष्ट हो जाता है, इसलिये अब मूल में केवल प्रकृति और पुरुष दो ही तत्त्व रह जाते हैं। दोनों मूल तत्त्व, सांख्यवादियों के मतानुसार अनादि और स्वयंभू हैं, इसलिये सांख्यों को द्वैतवादी (दो मूल तत्त्व माननेवाला) कहते हैं।...... इस प्रकार जब उन लोगों ने ये दो ही मूल तत्त्व निश्चित कर लिये तब उन्होंने अपने मत के अनुसार इस बात को भी सिद्ध कर दिया कि इन दोनों मूल तत्त्वों से सृष्टि कैसे उत्पन्न हुयी। वे कहते हैं कि यद्यपि निर्गुण पुरुष कुछ भी नहीं कर सकता, तथापि जब प्रकृति के साथ उसका संयोग होता है तब जिस प्रकार गाय अपने बछड़े के लिये दूध देती है अथवा लोह चुम्बक के पास जाने से लोह में आकर्षण शक्ति आ जाती है, उसी प्रकार मूल अव्यक्त प्रकृति अपने गुणों

(सूक्ष्म और स्थूल) का व्यक्त जाल पुरुष के सामने फैलाने लगती है। यद्यपि पुरुष सचेतन और ज्ञाता है तथापि 'केवल' या निर्गुण होने के कारण स्वयं कर्म करने के कोई साधन उसके पास नहीं है और प्रकृति यद्यपि काम करनेवाली है तथापि जड़ या अचेतन होने के कारण वह नहीं जानती कि उसे क्या करना चाहिये। इस प्रकार लँगड़े और अन्धे की वह जोड़ी है, जैसे अन्धे के कन्धे पर लँगड़ा बैठे और वे दोनों एक-दूसरे की सहायता से मार्ग चलने लगें, वैसे ही अचेतन प्रकृति और सचेतन पुरुष का संयोग होने पर सृष्टि के सब कार्य आरम्भ हो जाते हैं। जिस प्रकार नाटक की रङ्गभूमि पर प्रेक्षकों के मनोरञ्जनार्थ एक ही नटी, कभी एक तो कभी दूसरा ही स्वांग बना कर नाचती है, उसी प्रकार पुरुष के लाभ के लिये (पुरुषार्थ के लिये) यद्यपि वह कुछ भी पारितोपिक नहीं देता तो भी यह प्रकृति सत्त्व, रज, तम गुणों की न्यूनाधिकता से अनेक रूप धारण करके उसके सामने लगातार नाचती रहती है। प्रकृति के इस नाच को देख कर मोह से भूल जाने के कारण या वृथाभिमान के कारण, जब तक पुरुष इस प्रकृति के कर्तृत्व को स्वयं अपना ही कर्तृत्व मानता रहता है और जब तक वह सुख-दुःख के जाल में अपने को फँसा रखता है तब तक उसे मोक्ष या मुक्ति की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। परन्तु जिस समय पुरुष को यह ज्ञान हो जाये कि त्रिगुणात्मक प्रकृति भिन्न है और मैं भिन्न हूँ, उस समय वह मुक्त ही है, क्योंकि यथार्थ में, पुरुष न तो कर्ता है और न बँधा ही है वह तो स्वतन्त्र और निसर्गतः केवल या अकर्ता है। जो कुछ हो जाता है वह सब प्रकृति का ही खेल है। यहाँ तक कि मन और बुद्धि को जो ज्ञान होता है वह भी प्रकृति के ही विकार हैं, इसलिये बुद्धि को जो ज्ञान होता है वह भी प्रकृति के कार्यों का ही फल है। यह ज्ञान तीन प्रकार का होता है—सात्त्विक, राजस और तामस। जब बुद्धि को सात्त्विक ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब पुरुष को यह मालूम होने लगने लगता है कि मैं प्रकृति से भिन्न हूँ। सत्त्व-रज-तमोगुण प्रकृति के ही धर्म हैं, पुरुष के नहीं। पुरुष निर्गुण है और त्रिगुणात्मक प्रकृति उसका दर्पण है। जब यह दर्पण स्वच्छ या निर्मल हो जाता है, अर्थात् जब अपनी यह बुद्धि, जो प्रकृति का विकार है, सात्त्विक हो जाती है, तब इस निर्मल दर्पण में पुरुष को अपना वास्तविक स्वरूप दिखने लगता है और उसे यह बोध हो जाता है कि मैं प्रकृति से भिन्न हूँ। उस समय यह प्रकृति लज्जित होकर उस पुरुष के सामने नाचना, खेलना या जाल फैलाना बन्द कर देती है। जब यह अवस्था प्राप्त हो जाती है, तब पुरुष सब पाशों या जालों से मुक्त हो कर अपने स्वाभाविक कैवल्य पद को पहुँच जाता है। 'कैवल्य' शब्द का अर्थ है 'केवलता' अकेलापन या प्रकृति के साथ संयोग न होना। पुरुष की इस नैसर्गिक या स्वाभाविक स्थिति को ही सांख्यशास्त्र में मोक्ष कहते हैं।

"जो पुरुष प्रकृति के तीन गुणों से छूट कर यह ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेता, वह जन्म-मरण से छुट्टी नहीं पा सकता। चाहे वह सत्त्वगुण के उत्कर्ष के कारण देवयोनि में जन्म ले, या रजोगुण के उत्कर्ष के कारण मानवयोनि में जन्म ले, या तमोगुण की प्रबलता के कारण पशु-कोटि में जन्म ले। जन्म-मरणरूपी चक्र के फल, प्रत्येक मनुष्य को उसके चारों ओर की प्रकृति अर्थात् उसकी पशुबुद्धि के सत्व-रज-तम गुणों के उत्कर्ष-अपकर्ष के कारण हुआ करते हैं। गीता में भी कहा है कि 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः'—सात्त्विक प्रकृति के पुरुष स्वर्ग को जाते हैं और तामस पुरुषों को अधोगति प्राप्त होती है—(१४।१८) परन्तु स्वर्गादि फल अनित्य हैं। जिसे जन्म-मरण से छुट्टी पाना है, या सांख्यों की परिभाषा के अनुसार जिसे प्रकृति से अपनी भिन्नता अर्थात् कैवल्य चिरस्थायी रखना है, उसे त्रिगुणातीत हो कर विरक्त (सन्यस्त) होने के सिवा दूसरा मार्ग नहीं है। कपिलाचार्य को यह वैराग्य और ज्ञान जन्म लेते ही प्राप्त हुआ था। परन्तु वह स्थिति सब लोगों को जन्म से ही प्राप्त नहीं हो सकती, इसीलिये तत्त्व-विवेकरूप साधन से प्रकृति और पुरुष की भिन्नता को पहचान कर प्रत्येक पुरुष को अपनी बुद्धि शुद्ध कर लेने का यत्न करना चाहिये। ऐसे प्रयत्नों से जब बुद्धि सात्त्विक हो जाती है तो फिर उसमें ज्ञान, वैराग्य आदि गुण उत्पन्न होते हैं और मनुष्य को अन्त में कैवल्य-पद प्राप्त हो जाता है। जिस वस्तु को पाने की इच्छा करता है उसके प्राप्त कर लेने के योग-सामर्थ्य को ही यहाँ 'ऐश्वर्य' कहा है। सांख्य-मत के अनुसार धर्म की गणना सात्त्विक गुण में ही की जाती है परन्तु कपिलाचार्य ने अन्त में यह भेद किया है कि केवल धर्म से स्वर्ग की प्राप्ति होती है और ज्ञान तथा वैराग्य (संन्यास) से मोक्ष या कैवल्य पद प्राप्त होता है। ऐसे प्रयत्नों से जब बुद्धि सात्त्विक हो जाती है तो फिर उसमें ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि गुण उत्पन्न होते हैं और मनुष्य को अन्त में कैवल्य पद प्राप्त हो जाता है। जिस वस्तु को पाने की मनुष्य इच्छा करता है, उसे प्राप्त कर लेने के योग-सामर्थ्य को ही यहाँ 'ऐश्वर्य' कहा है। सांख्य-मत के अनुसार धर्म की गणना सात्त्विक गुण में ही की जाती है परन्तु कपिलाचार्य ने अन्त में यह भेद किया है कि केवल धर्म से स्वर्ग की प्राप्ति होती है और ज्ञान तथा वैराग्य (संन्यास) से मोक्ष या कैवल्य-पद प्राप्त होता है। और जब धीरे-धीरे उन्नति होते-होते अन्त में पुरुष को यह ज्ञान हो जाता है कि मैं त्रिगुणात्मक प्रकृति से भिन्न हूँ, तब उसे सांख्यवादी 'त्रिगुणातीत' अर्थात् सत्त्व-रज-तम गुणों से परे पहुँचा हुआ कहते हैं। इस त्रिगुणातीत अवस्था में सत्त्व, रज, तम में से कोई भी गुण शेष नहीं रहता।"

प्रकृति के द्वारा अपना फैलाव फैलाने के बाद जो स्थिति है, उसमें यद्यपि विनाशशील अंश बहुत है अर्थात् जो प्राकृतिक वस्तुएँ हैं वह नित्य विनाशवान् हैं

और परिवर्तनशील हैं परन्तु फिर भी उनके अन्दर ब्रह्म का अंश व्याप्त है। ब्रह्म के इस व्यक्त स्वरूप को ही विराट पुरुष की संज्ञा दी गयी है। मनु ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है "वह अपने देह के दो खण्ड करके आधे से पुरुष और आधे से स्त्री हो गया और उसने स्त्री में विराट् को उत्पन्न किया", अर्थात् ब्रह्म ने प्रकृति के संयोग से जो यह सम्पूर्ण जगत् रचा वह उस ब्रह्म का विराट् रूप है। इसी विराट् का पूर्ण वर्णन ऋग्वेद में[३४] पुरुषसूक्त में 'पुरुष' के नाम से किया गया है। ब्रह्म से साक्षात्कार का अर्थ है इस विराट पुरुष अथवा जगत् से अपनी एकात्मता अनुभव करना और यह सामाजिकता की भावना की चरम सीमा है।

ऊपर के कुछ विवेचनों से प्रकृति और पुरुष का अन्तर तथा सम्बन्ध समझ में आ जाता है। प्रकृति कर्ता है और पुरुष अकर्ता है अर्थात् केवल द्रष्टा है तथा उदासीन है। परन्तु प्रकृति कर्ता होने पर भी जड़ है और पुरुष चेतन है, अतः उसके संयोग के बिना उसमें अपना व्यापार फैलाने की क्षमता नहीं है। इसका अर्थ यह है कि पुरुष निर्लिप्त है और स्वतन्त्र है परन्तु प्रकृति मोहमयी है और अपनी माया को पुरुष के सामने इस प्रकार फैलाती है कि पुरुष उसमें आकृष्ट हो कर अपने वास्तविक निर्गुण और निर्लिप्त स्वरूप को भूल जाता है और भूल कर अहङ्कार से प्रभावित हो कर (जो कि प्रकृति का एक तत्त्व है) अपने को ही कर्ता मान बैठता है तथा अपने और पराये का भेद करता है। इन्द्रियसुख तथा मन की कामनाओं के कारण संसार की विभिन्न वस्तुओं के प्रति मोह करता हुआ, वह, जिन्हें दूसरा समझता है, उनसे सङ्घर्ष करता है तथा सुख और दुःख का अनुभव करता है। वास्तव में तो पुरुष स्वतन्त्र है क्योंकि वह ब्रह्म का स्वरूप है, इस कारण यह सम्पूर्ण प्रकृति उसी पर आश्रित एक माया-मात्र है परन्तु अमरत्व और अनन्तत्व धारण करनेवाला यह पुरुष प्रकृति की इस परिवर्तनशील माया को सत्य समझ कर उसमें जन्म और मृत्यु को भी प्राप्त करता हुआ प्रतीत होता है। पुरुष और प्रकृति के अन्तर्गत जो भी भेद और समानताएँ दिखायी देती हैं, उन्हीं के आधार पर भारत में स्त्री और पुरुष के धर्म पृथक्-पृथक् निर्माण किये गये हैं।

ऊपर कहा हुआ तत्त्वज्ञान अध्यात्म के नाम से पुकारा जाता है और इसमें बताये गये मोक्ष के लक्ष्य पर अपने-अपने मार्ग द्वारा और अपने-अपने विषय के स्पष्टीकरण द्वारा मनुष्य को पहुँचाना सभी दर्शनों का उद्देश्य है। इसका वर्णन सभी धर्मग्रन्थों में है परन्तु गीता और उपनिषद् तो इसी तत्त्व से ओतप्रोत हैं।[३५] याज्ञवल्क्यस्मृति के अन्त में विस्तारपूर्वक मोक्षधर्म तथा अध्यात्म का वर्णन किया गया है और साथ-साथ अन्य भी विषयों पर विचार किया गया है। अध्यात्म-विषय में याज्ञवल्क्य कहते हैं "जिस प्रकार तपाये हुए लोहे से जो

छोटे-छोटे कण उड़ते हैं उन्हें स्फुलिंग कहते हैं, इसी प्रकार, यह बात कही जाती है कि परमात्मा से जीवात्मा उत्पन्न होते हैं। फिर वहाँ धर्म-अधर्मरूपी काम कुछ तो आत्मा अपने आप करता है तथा कुछ स्वभाव से और अभ्यास से करता है। यद्यपि आत्मा सब वस्तुओं का निमित्त, विनाशरहित, कर्ता, ज्ञान-रूप, ब्रह्म, गुणी, वशी और अज (अजन्मा) है, परन्तु शरीर ग्रहण करने से लोग उसको कहते हैं कि वह पैदा हुआ है। जिस प्रकार सृष्टि के आदि में, वह (आत्मा) आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी को, जो क्रम से एक-एक गुण अधिक रखते हैं, बनाता है, उसी प्रकार उत्पन्न करके उनको धारण भी करता है।" फिर आत्मा का किस प्रकार से जन्म होता है और वह कैसा शरीर धारण करता है, इसका विस्तार से वर्णन करने के पश्चात् तथा यह बता कर कि आत्मा की इस संसार में क्यों उत्पत्ति होती है, वह ईश्वर होने पर भी पाप में किस प्रकार लिप्त होता है और यह सिद्ध कर कि वास्तव में आत्मा है तथा यह कोई भ्रम नहीं है, याज्ञवल्क्य कहते हैं—"वह आत्मा अहङ्कार आदि से दूषित हो कर बुद्धि में यह सन्देह करता है कि सब कर्मों के फल मिलते हैं अथवा नहीं (अर्थात् उसे विस्मरण हो जाता है कि उसके कर्मों का फल उसे मिलता है)। उसकी यह भावना होती है कि ये मेरे स्त्री, पुत्र और भृत्य हैं और मैं इनका हूँ तथा हितकारक और हितविरोधी कार्यों में सदा विपरीत धारणा लेकर चलता है।.....इस प्रकार अविनीतात्मा होकर झूठे सङ्कल्प करता हुआ कर्म, राग, द्वेष, मोह और इच्छा से बँध जाता है।... रजोगुण और तमोगुण का परित्याग, विषयों की अभिलाषा न करना और शम (संयम) रखना—इन सब उपायों से शुद्ध हो कर केवल सतोगुणयुक्त हो कर ब्रह्म की उपासना करे, तो (वह) मुक्त होता है।"[३९] अध्यात्म-तत्त्व के इसी प्रकार के वर्णन सभी धर्मशास्त्रों में प्राप्त होते हैं।

एक बात का यहाँ और प्रसङ्गवश उल्लेख कर देना उचित होगा। मोक्ष-प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति पूर्णतया निर्लिप्त हो जाये। धर्ममय कृत्य करते रहना ही केवल मोक्ष-प्राप्ति के लिये पर्याप्त नहीं है। धर्मकृत्य करते रहने से तो केवल व्यक्ति सतोगुणी होता है और जैसा ऊपर लोकमान्य तिलक के 'गीतारहस्य' के उद्धरण में बताया गया है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिये, केवल सतोगुणी होने से काम नहीं चलता उसके लिये तो व्यक्ति को गुणातीत अवस्था प्राप्त होनी चाहिये अर्थात् यदि सकाम कर्म किये तो स्वर्ग ही प्राप्त होगा परन्तु निष्काम कर्म करने से मोक्ष मिलता है। मनु का कहना है[३०] "वैदिक कर्म दो प्रकार के हैं—प्रवृत्तिपरक और निवृत्तिपरक। प्रवृत्ति-कर्म से आभ्युदयिक सुख (सांसारिक सुख अथवा स्वर्ग) प्राप्त होता है और निवृत्ति-कर्म निःश्रेयस (मोक्ष)

प्रदान करनेवाले हैं। इहलोक तथा परलोक में किसी कामना से जो कर्म किया जाता है उसे प्रवृत्त कर्म कहते हैं, परन्तु जो ज्ञानपूर्वक निष्काम कर्म किया जाता है उसे निवृत्त कर्म कहते हैं। प्रवृत्त कर्म करने से मनुष्य को देवताओं की समानता प्राप्त हो सकती है (स्वर्ग प्राप्त हो सकता है) और निवृत्त कर्म करने से मनुष्य पञ्चभूतों का अवलङ्घन करता है अर्थात् मोक्ष पाता है।" छान्दोग्योपनिषद् में देवयान और पितृयान दो मार्गों का वर्णन है जिनमें से एक मार्ग से जानेवाले अर्थात् वे जो वन में श्रद्धा और तप—इनकी उपासना करते हैं, संसार में कभी नहीं लौटते और ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं तथा दूसरे मार्ग से जानेवाले अर्थात् जो ये गृहस्थ लोग इष्ट, पूर्त और दत्त—ऐसी उपासना करते हैं वे वहाँ कर्मों के क्षय होने तक रह कर फिर उसी मार्ग से जिस प्रकार गये थे उसी प्रकार लौटते हैं।[३८] जो यज्ञ अर्थात् कर्म है वह स्वर्ग देनेवाला है[३९] और योग अर्थात् तप मोक्षदायक है। इसलिये यज्ञ से तप श्रेष्ठ बताया गया है[४०] और इसी कारण संन्यासी का स्थान और महत्त्व सबसे ऊँचा है।

अध्यात्म के जिस ज्ञान का ऊपर वर्णन किया गया है, उसका नाम उपनिषदों द्वारा 'विद्या' दिया गया है। केनोपनिषद् में[४१] वाक्य है कि "विद्या से अमृतत्व प्राप्त करता है" तथा मुण्डकोपनिषद्, श्वेताश्वतरोउपनिषद्, ईशोपनिषद्[४२] तथा अन्य स्थानों पर भी 'विद्या' शब्द का यही अर्थ है। इसी विद्या की अन्तरतम अनुभूति को भगवद्गीता में 'ज्ञान' कहा है। श्रीकृष्ण कहते हैं[४३] "तुझ दोषदृष्टि से रहित भक्त को यह परम गोपनीय विज्ञान सहित ज्ञान ठीक प्रकार से समझाऊँगा जिसको जान कर तू दुःखरूपी संसार से मुक्त हो जायेगा।" फिर गीता के अन्त में वह कहते हैं, "कुन्तीपुत्र! अन्तःकरण की शुद्धि-रूप सिद्धि को प्राप्त करनेवाला मनुष्य जिस प्रकार से सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त करता है, जो ज्ञानयोग की पराकाष्ठा है—उसको तू मुझसे ही संक्षेप में जान।" ज्ञान-मार्ग में भी 'ज्ञान' शब्द आध्यात्म ज्ञान का ही द्योतक है और जब उपनिषदों को श्रुति का 'ज्ञानकाण्ड' भाग कहा जाता है तब उपनिषदों में प्रमुख-रीति से ब्रह्मज्ञान का वर्णन होने के कारण वहाँ भी 'ज्ञान' शब्द का यही अर्थ अभिप्रेत है।

जो इस प्रकार ज्ञानी व्यक्ति है उसका वर्णन गीता में कई स्थानों पर आया है।[४४] परन्तु बारहवें अध्याय में जो भक्त का वर्णन है हमारे विषय की दृष्टि से सबसे अधिक उपयुक्त होने के कारण वही यहाँ दिया जाता है। "जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो सबके साथ मित्रता का बर्ताव करता है, जो कृपालु है, जो ममत्व बुद्धि और अहङ्कार से रहित है, जो दुःख और सुख में समान एवं

क्षमाशील है, जो सदा सन्तुष्ट, संयमी तथा दृढ़निश्चयी है, जिसने अपने मन और बुद्धि को मुझमें अर्पण कर दिया है वह मेरा योगी भक्त मुझको प्यारा है। जिससे न तो लोगों को कष्ट होता है और न जिसे लोगों से कष्ट होता है, जो हर्ष, क्रोध, भय और विषाद से अलिप्त है, वही मुझको प्रिय है। मेरा वही भक्त मुझे प्यारा है जो निरपेक्ष, पवित्र और दक्ष है (अर्थात् किसी भी काम को आलस्य छोड़ कर करता है), जो उदासीन है, जिसे कोई भी विकार डिगा नहीं सकता और जिसने सब काम्य-कर्म छोड़ दिये हैं। जो न आनन्द मानता है, न द्वेष करता है, जो न शोक करता है और न इच्छा रखता है, जिसने शुभ और अशुभ फल छोड़ दिये हैं वह भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है। जिसे शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सर्दी और गर्मी, सुख और दुःख, समान हैं और जिसे आसक्ति नहीं है, जो कुछ मिल जाये उसी में सन्तुष्ट है एवं जिसका चित स्थिर है, जो अनिकेत है (अर्थात् जो किसी स्थान-विशेष से बँधा अथवा उसमें आसक्त नहीं है), वह भक्तिमान् पुरुष मुझको प्यारा है।" इसी प्रकार के श्रेष्ठ अवस्था पर पहुँचे हुए व्यक्ति को भारत में समाज-जीवन का उत्तरदायित्व सँभालने का अधिकारी माना गया है[४५] और इसी प्रकार के व्यक्ति को धर्म-अधर्म के विवेचन का भी अधिकार दिया गया है।[४६]

मोक्ष-प्राप्ति के चार प्रमुख मार्ग बताये गये हैं—ज्ञान, कर्म, भक्ति और योग। सभी ग्रन्थों ने थोड़े-बहुत रूप में इन चारों मार्गों का वर्णन किया है। जैसा ऊपर बताया गया, 'ज्ञान' शब्द का अर्थ है अध्यात्म अर्थात् व्यक्ति को जीवन में धीरे-धीरे इस बात की अनुभूति कि यह संसार मिथ्या है और उसका इस दृश्य-जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं अतः निर्लिप्त भाव से जीवन व्यतीत करने की वृत्ति और परब्रह्म में अर्थात् सम्पूर्ण विश्व से एकता की अनुभूति 'ज्ञान' है। अध्यात्म का अर्थात् ज्ञानमार्ग का वर्णन ऊपर किया ही गया है, अतः उसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं। 'कर्म' शब्द को 'यज्ञ' के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है और यज्ञ की निरुक्त में परिभाषा है—'देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान' अर्थात् ऐसे सब धर्ममय कर्म जो लोकसंग्राहक हों। इस अर्थ में सम्पूर्ण धर्मकृत्य जो कर्तव्य, त्याग, समर्पण (दान), समाज के सभी अङ्गों के समन्वय और सङ्गठन (सङ्गतिकरण) तथा परब्रह्म की उपासना (पूजा) पर आधारित हैं, 'कर्म' के अन्तर्गत आते हैं। आगे का सम्पूर्ण निबन्ध ही इसी 'कर्ममार्ग' का एक विस्तृत विवेचन है और यज्ञों के विषय में विस्तार से इसी अध्याय में आगे विचार किया जायेगा।[४७] 'भक्ति' शब्द श्रद्धा के समानार्थक है। नारदपुराण में[४८] दोनों शब्दों को पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त करते हुए कहा है कि "सभी धर्म श्रद्धापूर्वक करने पर मनोरथ और फल देनेवाले होते हैं। श्रद्धा से सभी कुछ सिद्ध होता

है तथा श्रद्धा से हरि सन्तुष्ट होते हैं। भक्ति भी भक्तिपूर्वक (श्रद्धापूर्वक) करनी चाहिये तथा कर्म भी भक्तिपूर्वक करने चाहिये। हे द्विजोत्तम! श्रद्धाविहीन कर्म सिद्ध नहीं होते।" इस प्रकार भक्तिमार्ग का अर्थ श्रद्धापूर्वक भगवान् को सब कुछ समर्पित करने की भावना है। भक्ति का यह भाव कई प्रकार से प्रकट होता है जैसे (नवधा भक्ति) माधुर्यभाव, दास्यभाव, सख्यभाव तथा वात्सल्यभाव आदि। यशोदा की भक्ति वात्सल्यभाव से परिपूर्ण थी, अर्जुन की भक्ति सखाभाव प्रधान थी, राधा की भक्ति में माधुर्य भाव तथा हनुमानजी की भक्ति दास्यभाव प्रधान थी। इस प्रकार पारिवारिक और सामाजिक जीवन के सभी सम्बन्धों को भगवद्भक्ति के रूप में भारत में ग्रहण किया गया है और इस प्रकार के सभी सम्बन्ध श्रेष्ठ हैं जिनमें निष्काम भाव से दूसरे के सामीप्य और सेवा की भावना हो तथा ऐसे सब सम्बन्ध भगवान् की ओर ही ले जानेवाले हैं। भक्तिमार्ग के व्यक्तीकरण तथा विकास का साधन है, देवपूजा और तीर्थयात्रा तथा इनका भी वर्णन इसी अध्याय में आगे किया जायेगा।[४९] सबसे अन्तिम मार्ग 'योग' का है। योग का अर्थ इन्द्रियसंयम है।[५०] योगसूत्र में भी कहा है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' योग का वर्णन हारीत और दक्षस्मृति के सातवें अध्याय में, गीता के छठवें अध्याय में तथा अन्य इतिहास-पुराण ग्रन्थों में भी किया गया है। इसके आठ अङ्ग हैं[५१]—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। मोक्ष के लिये उपयोगी होने के कारण इसका अभ्यास वानप्रस्थ और संन्यासी के लिये आवश्यक बताया गया है।

यह सभी मार्ग मोक्ष की ओर समान रूप से ले जानेवाले हैं। इन चारों मार्गों का समन्वयात्मक विश्लेषण गीता में किया गया है। पहले कर्म और ज्ञान का समन्वय है।[५२] अर्जुन प्रश्न पूछते हैं कि "हे कृष्ण! आप (कभी) कर्मों के संन्यास की और फिर (कभी) कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं। इसलिए इन दोनों मेंसे कौन सा एक निश्चित रूप से कल्याणकारी है, यह मुझे बताइए।" श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं "कर्म-सन्यास (ज्ञान) और कर्मयोग (कर्म)—ये दोनों ही निःश्रेयसकारी हैं परन्तु इन दोनों में भी कर्म-सन्यास से कर्मयोग (साधन में सुगम होने से) श्रेष्ठ है। हे महाबाहु! जो पुरुष न द्वेष करता है और न आकांक्षा करता है वह (कर्मयोगी) सदा संन्यासी ही समझने योग्य है क्योंकि निर्द्वन्द्व (राग-द्वेष आदि से रहित) पुरुष सुखपूर्वक (संसार के) बन्धन से मुक्त हो जाता है। उपर्युक्त सांख्य (संन्यास) और (कर्म) योग को मूर्ख लोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाला कहते हैं, न कि पण्डितजन क्योंकि (दोनों में से) एक में भी सम्यक् प्रकार से स्थित व्यक्ति दोनों का फल प्राप्त करता है। सांख्यों (ज्ञानयोगियों) द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है (कर्म) योग द्वारा भी वहीं पहुंचा जाता है। इसलिये

जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोग को एक-रूप में देखता है, वही (यथार्थ) देखता है।" अगले अध्याय में जहाँ ध्यानयोग का वर्णन किया गया है वहाँ ज्ञान और कर्म की योग से एकता प्रदर्शित की गयी है—"मुनि के लिये योग की प्राप्ति में (निष्काम) कर्म ही हेतु कहा जाता है और उस योगारूढ़ पुरुष के लिये शम (शान्ति अथवा ज्ञान) ही (उसके योगारूढ़ होने का) कारण बताया जाता है।"[५३] इसके भी आगे इन तीनों का भक्ति के साथ समन्वय किया गया है।[५४] "उस परमात्मा को कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुयी सूक्ष्म बुद्धि से ध्यान के द्वारा हृदय में देखते हैं (योग), अन्य कितने ही सांख्ययोग (ज्ञान) के द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोग के द्वारा देखते हैं। परन्तु इनसे दूसरे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए दूसरों से सुन कर ही उपासना करते हैं (भक्ति) और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्यु का अवलङ्घन कर जाते हैं।" नारदपुराण में तथा हारीतस्मृति में भी इन चारों मार्गों की एकता वर्णित है।[५५] नारदपुराण में कहा है "तत्त्वज्ञान का विचार करनेवालों का कहना है कि ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। यह जो ज्ञान है उसका मूल भक्ति है तथा भक्ति 'कर्म' करनेवालों को होती है। जिसने सहस्रों जन्मों में विविध यज्ञ, दान, तीर्थयात्रा आदि (कर्म) किये हैं, उसकी हरि में भक्ति उत्पन्न होती है। भक्ति के लेशमात्र से अक्षय धर्म उत्पन्न (प्राप्त) होता है तथा इस परा श्रद्धा (भक्ति) से सब पाप नष्ट हो जाता है तथा इन पापों के नष्ट होने से बुद्धि निर्मल होती है और इस बुद्धि को ज्ञानी लोग 'ज्ञान' शब्द से जानते हैं। ज्ञान को मोक्ष देनेवाला कहा गया है तथा वह ज्ञान योगियों को होता है। योग भी कर्म और ज्ञान के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। कर्मयोग के बिना मनुष्यों का ज्ञानयोग सिद्ध नहीं होता इसलिये कर्मयोग में लगा हुआ व्यक्ति श्रद्धा से हरि की पूजा करे।" हरीतस्मृति में भी ज्ञान, योग (तप) और कर्म की एकता बतायी गयी है—"जैसे घोड़े के बिना रथ तथा सारथि के बिना घोड़े निरर्थक हैं, इसी प्रकार तप (योग) और विद्या (ज्ञान) दोनों सम्मिलित हो कर (संसार-रोग की) औषधि हैं। जैसे मीठे से युक्त अन्न तथा अन्नयुक्त मीठा तथा जैसे दोनों पङ्खों से पक्षियों की गति होती है इसी प्रकार ज्ञान और कर्म से शाश्वत ब्रह्म की प्राप्ति होती है।" ऐसा कहना ठीक होगा कि यह चार मार्ग, चार आश्रमों के प्रतीक जैसे ही हैं। 'संन्यास' तो ज्ञान का प्रतीक है ही, 'वानप्रस्थ' भी तप और योग का प्रतीक है, 'गृहस्थ' कर्ममार्ग का आश्रय-स्थान है तथा ब्रह्म के प्रति श्रद्धा और भक्ति का उदय ब्रह्मचर्याश्रम के द्वारा होता है। जिस प्रकार संन्यास उन चारों आश्रमों का अन्तिम साध्य है, उसी प्रकार अन्य तीन मार्गों के द्वारा भी अन्त में ज्ञान की ही उपलब्धि होती है और ज्ञान की अनुभूति होने के पश्चात् व्यक्ति का पुनर्जन्म नहीं होता। मनु का कहना है[५६]

"इन सब (मोक्षसाधन कर्मों) में आत्मज्ञान ही श्रेष्ठ कहा है, वह सब विद्याओं में प्रधान है और उससे ही मोक्ष मिलता है।" गीता ने सर्वसाधारण व्यक्ति के लिए सुगम होने के कारण कर्मयोग की श्रेष्ठता बतायी है परन्तु ज्ञान को उसमें भी श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। "हे परन्तप ! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पार्थ ! सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में समाप्त (विलीन) हो जाते हैं। उस ज्ञान को तू समझ। आदरपूर्वक दण्डवत् करने, प्रश्न करने और सेवा करने पर ज्ञानी तत्त्वदर्शी तुझे उस तत्त्वज्ञान का उपदेश देंगे जिसको जान कर फिर इस प्रकार तुझे मोह नहीं होगा तथा पाण्डव ! जिस ज्ञान के द्वारा तू निःशेप भाव से सम्पूर्ण भूतों को पहले अपने में और पीछे मुझमें (परमात्मा में) देखेगा। यदि तू सब पापियों से भी अधिक पाप करनेवाला है तो भी तू ज्ञान-रूप नौका द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पापों को भली भाँति लाँघ जायेगा। क्योंकि अर्जुन ! जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्मीभूत कर देता है। इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को कितने ही काल से योगसिद्ध मनुष्य अपनी आत्मा में पा लेता है। जितेन्द्रिय, तत्पर और श्रद्धावान् मनुष्य को ज्ञान प्राप्त होता है तथा ज्ञान को प्राप्त कर वह तत्काल ही परम शान्ति प्राप्त कर लेता है।"[५०]

इस प्रकार मनुष्य का लक्ष्य भारतीय विचारधारा, में 'मोक्ष' रखा गया है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि यदि मनुष्य उस लक्ष्य की ओर बढ़ता है अर्थात् धीरे-धीरे कामनाओं और स्वार्थ को कम करते हुए निर्लिप्तता की ओर बढ़ता है तो यह उसकी 'उन्नति' है, और यदि वह इससे विपरीत दिशा में जाता है तो वह उसकी 'अवनति' है। इसी प्रकार उस 'मोक्ष' की ओर जितना अधिक बढ़ता जाता है उसी मात्रा में व्यक्ति अपने अन्दर अधिक श्रेष्ठ कार्य करने की तथा अधिक उन्नत, महत्त्वपूर्ण और उत्तरदायी स्थान प्राप्त करने की योग्यता तथा अधिकार प्राप्त करता जाता है। अतः भारतीय धारणा में व्यक्ति अथवा समाज की 'उन्नति' अथवा व्यक्ति की अथवा किसी वर्ग की किसी काम को करने की 'योग्यता' अथवा 'अधिकार' आध्यात्मिक अर्थ का बोधक है, भौतिक अर्थ का अर्थात् धन, पद और प्रतिष्ठा में श्रेष्ठता का नहीं। इस प्रकार जब यह कहा जाता है कि ब्राह्मण को शिक्षा देने का अथवा क्षत्रिय को राज्य करने का अधिकार है अर्थात् वह यह कार्य करने की 'योग्यता' और 'पात्रता' रखते हैं तो उसका अर्थ यह है कि उनकी इतनी आध्यात्मिक उन्नति हो चुकी है अथवा उनमें इतने गुण हैं कि वह इन कामों को सुचारु रीति से कर सकें जिससे वह समाज का कल्याण, विकास और उन्नति करने में समर्थ हों।

भारतीय विचारधारा में यह उन्नति त्रिगुण के सिद्धान्त के रूप में वर्णित

है अर्थात् तमोगुण से रजोगुण, रजोगुण से सतोगुण और सतोगुण से गुणातीत अर्थात् निर्गुण अवस्था की प्राप्ति व्यक्ति की उन्नति है और इसके विपरीत परिवर्तन उसकी अवनति है। इस प्रकार जो व्यक्ति तमोगुणी है उसमें भिन्न प्रकार का कार्य करने की 'योग्यता' है, जो रजोगुणी है वह कुछ अन्य कार्य ठीक प्रकार से कर सकते हैं और जो सतोगुणी हैं उनके लिए अन्य कोई कार्य ही सफलतापूर्वक करना सम्भव होता है। भारतीय विचार में विभिन्न व्यक्तियों का विभिन्न कार्य करने का 'अधिकार' इसी सिद्धान्त पर आधारित है। मनुस्मृति में[५८] इन तीनों गुणों का पूर्ण वर्णन है। "सत्त्व, रज और तम, इन तीनों को मनुष्यों के गुण समझना चाहिये। महान् ब्रह्म इन तीनों गुणों से सब पदार्थों में व्याप्त हो कर स्थित है। इन गुणों में से जीव के शरीर में जो गुण पूर्ण रीति से होता है वही उस शरीरधारी जीव को अपने लक्षणों से युक्त करता है। सतोगुण से ज्ञान, तमोगुण से अज्ञान और रजोगुण से राग-द्वेप होता है। सब भूतों के आश्रित देह में ये गुण व्याप्त रहते हैं। आत्मा में जो कुछ प्रीतियुक्त अर्थात् क्लेशरहित सुखादि दिखायी दें उस प्रशान्त और निर्मल को सतोगुण समझना चाहिये और जो कुछ आत्मा को अप्रसन्नताकारक और दुख से संयुक्त दिखायी दे तथा देहधारियों में सदा विषयों की अभिलाषा उत्पन्न करे उस सतोगुण के नष्ट करनेवाले को रजोगुण समझना चाहिये। जो मोह से युक्त हो (अर्थात् जिसमें सत् और असत् का विवेक न हो), जो विषयों (भोगों को न तो स्पष्ट रूप से प्रकट कर सके, न उनके विषय में तर्क कर सके और न उन्हें ठीक से समझ सके, उसे तमोगुण समझना चाहिये। तीनों गुणों के द्वारा जो उत्तम, मध्यम और अधम फल होते हैं उन्हें पूर्ण रीति से कहता हूँ। वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, शौच, इन्द्रिय-संयम, धर्मानुष्ठान और आत्मा का ध्यान ये सब सतोगुण के लक्षण हैं। फल के लिये कर्म में रुचि, धैर्यरहित होना, निषिद्ध कर्म करना और निरन्तर विषय-भोग में लिप्त रहना—ये रजोगुण के लक्षण हैं। लोभ, निद्रा, अधीरता, क्रूरता, नास्तिकता, आचार का लोप, याचना का स्वभाव और प्रमाद, ये तमोगुण के लक्षण हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल में विद्यमान इन सत्त्व आदि गुणों के ये क्रमपूर्वक संक्षिप्त लक्षण हैं, ऐसा समझना चाहिये। जिस कार्य के कर लेने पर, करते समय अथवा करने के पूर्व व्यक्ति लज्जित हो, वह तमोगुण का लक्षण है। मनुष्य जिस कार्य से इस लोक में अधिक ख्याति की इच्छा करता है और जिसके सिद्ध न होने पर दुःखी नहीं होता वह राजस कर्म है। जिस सम्पूर्ण कार्य से मनुष्य ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखता है, जिसके करने पर लज्जित नहीं होता और जिससे आत्मा सन्तुष्ट होती है, यह सतोगुण का लक्षण है। तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का अर्थ और सतोगुण का लक्षण धर्म होता

है, इनमें काम से अर्थ और अर्थ से धर्म श्रेष्ठ है।" गीता में भी तीनों गुणों का ऐसा ही वर्णन है।[५९] भारतीय विचार में जहाँ कहीं 'गुण' शब्द का प्रयोग आता है, वहाँ इसी अर्थ में साधारणतया आता है।

व्यक्ति की यह उन्नति चित्तशुद्धि पर अवलम्बित है। जिस-जिस मात्रा में व्यक्ति की बुद्धि शुद्ध होती जायेगी अर्थात् सांसारिक जीवन का प्रभाव कम होता जायेगा उसी-उसी मात्रा में व्यक्ति की बुद्धि स्वार्थरहित और निष्कलुष होती जायेगी तथा व्यक्ति अपने ब्रह्म-प्राप्ति की लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ गुणोत्कर्ष करता जायेगा। चित्त शुद्धि के साधन हैं[६०]—जप, सन्ध्या, सत्सङ्ग, स्वाध्याय, देवपूजा, तीर्थयात्रा, दान, व्रत अथवा उपवास, तप और यज्ञ। जप और सन्ध्या दो साधन हैं जिनसे व्यक्ति की बुद्धि सांसारिक अर्थात् स्वार्थपूर्ण जीवन से हट कर धीरे-धीरे परमार्थ में लगती है और सांसारिक स्वार्थ की कमी होने के कारण लोककल्याण की भावना उत्पन्न होती है। मनु, वसिष्ठ, विष्णुधर्मसूत्र, शङ्ख, संवर्त, याज्ञवल्क्य ने ऐसे बहुत-से मन्त्रों का जप बताया है जो विविध प्रकार के पापों को दूर करनेवाले हैं[६१] अर्थात्, उनका यदि उचित अर्थ स्पष्ट हो, तो वह मन्त्र पापों से मनुष्य को वर्जित करते हैं तथा पुण्य की ओर मनुष्य के चित्त को आकर्षित करते हैं। परन्तु सभी मन्त्रों में गायत्री का जप सबसे श्रेष्ठ माना गया है।[६२] गायत्री-जप की श्रेष्ठता का कारण बृहदारण्यकोपनिषद् में बताया है। वहाँ गायत्री का अर्थ निरुक्त से स्पष्ट भी किया गया है कि 'गय' अर्थात् प्राणों का त्राण (रक्षा) करनेवाली गायत्री है अर्थात् यह मनुष्य को ब्रह्म-प्राप्ति की ओर लगाती है।[६३] स्मृतियों ने सन्ध्या को दो बार अर्थात् प्रातः और सायङ्काल तथा कहीं-कहीं तीन बार भी आवश्यक बताया है। सन्ध्योपासना का कारण याज्ञवल्क्यस्मृति में वर्णित है[६४]—"रात व दिन में जो पाप अनजाने होता है वह तीनों काल की सन्ध्या करने से दूर हो जाता है।"

शुभ विचारों के सहवास के माध्यम से व्यक्ति के विचारों और जीवन में परिवर्तन करना तथा उसके अन्दर के दुर्गुण हटाते हुए उसके अन्तर में शुद्धता और पवित्रता निर्माण करने के साधन है—स्वाध्याय और सत्सङ्गति। एक में सद्ग्रन्थों का सहवास बताया गया है तथा दूसरे में सत्पुरुषों का, अर्थात् ऐसे व्यक्तियों का जो स्वयं निर्मल बुद्धि तथा निर्मल चरित्रवाले हों और जिनमें कलुष की थोड़ी-भी मात्रा न हो। सत्शास्त्रों के पढ़ने पर बहुत जोर दिया गया है[६५] और असत्शास्त्रों का पठन एक उपपातक है।[६६] आपस्तम्बधर्मसूत्र में[६७] तैत्तिरीय आरण्यक (२।१४।३) का उद्धरण दिया गया है—"स्वाध्याय ही तप है।" दक्षस्मृति में दिन के आठ भाग में से तीन भाग स्वाध्याय के लिये बताये गये हैं।[६८] मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, तथा अत्रिस्मृति में भी गृहस्थधर्म में स्वाध्याय

पर बहुत बल दिया गया है।[69] स्वाध्याय के अन्तर्गत धर्मशास्त्रों का अध्ययन बताया गया है और यह इसलिये है कि धर्मशास्त्रों के नित्य अध्ययन से धर्म के प्रति श्रद्धा और अधर्म के प्रति अश्रद्धा स्वाभाविक रूप से जागृत हो सकती है।[70] जिस प्रकार स्वाध्याय में सद्ग्रन्थों का संसर्ग रहता है, उसी प्रकार सत्सङ्ग में सत्पुरुषों का साथ होता है जिनकी सङ्गति से बुद्धि निर्मल हो जाती है। गरुड़पुराण में कहा है[71] "महापुरुषों के साथ सङ्ग करना चाहिये क्योंकि सन्त विषयासक्ति की औषधि हैं। सत्सङ्ग और विवेक, ये दो निर्मल नयन हैं। जिस मनुष्य के ये नहीं हैं, वह अन्धा है और वह कुमार्गगामी कैसे नहीं होगा।" नारदपुराण में है[72]—"भक्ति भगवद्भक्त के साथ रहने से उत्पन्न होती है और वह सङ्ग पूर्व-सञ्चित सुकर्मों के द्वारा मनुष्य को प्राप्त होता है। रवि किरणों के जाल से दिन में बाहर के अन्धकार को नष्ट कर देता है तथा सन्त शुभउक्तिरूपी किरणों से अन्तर के अन्धकार को सर्वदा नष्ट करते हैं।"

भक्ति उत्पन्न करने के साधन हैं देवपूजा तथा तीर्थयात्रा। और भक्ति उत्पन्न करने के कारण यह भी मनुष्य की बुद्धि को शुद्ध करनेवाले हैं। देवपूजा से देवता का सान्निध्य प्राप्त करने की इच्छा होती है तथा देवताओं के गुणों को जीवन में लाने की वृत्ति उत्पन्न होती है। नारदपुराण के तीसवें अध्याय में गुलक नाम के एक बहेलिये की कथा है जो मन्दिर में चोरी करने के निमित्त गया और जिसने वहाँ के पुजारी को बाधा-स्वरूप समझ कर उसे मारने का प्रयत्न किया। उस समय "हरि के सान्निध्य-मात्र से सत्सङ्ग के प्रभाव के कारण उस बहेलिये के सब पाप नष्ट हो गये और उसे अनुताप हुआ"। देवपूजा का एक वृहत् स्वरूप तीर्थयात्रा है। तीर्थयात्रा में व्यक्ति सभी स्थानों के देवताओं की, पूजा करता है जिसके कारण सम्पूर्ण समाज की एकात्मकता का ज्ञान होता है और अनुभव होता है कि सभी देवताओं में तथा सभी व्यक्तियों में वही परमात्मा विद्यमान है। इस प्रकार से व्यक्ति एक देवता की साकार उपासना से सभी देवताओं में निवास करनेवाले परब्रह्म के ज्ञान की ओर बढ़ता है तथा वृहद् जीवन का परिचय करता हुआ स्वार्थ से परमार्थ की ओर अधिक सरलता से प्रगति कर सकता है। साधु-सन्तों के समागम के कारण भी तीर्थयात्रा व्यक्ति की उन्नति का एक साधन है। प्राकृतिक सौन्दर्य के मध्य में स्थित होने के कारण व्यक्ति का वहाँ जाना उसके मन पर पवित्रता का तथा उच्चता का प्रभाव निर्माण करता है।[73] "पवित्र स्थानों से सम्बन्धित परम्परा के कारण, यात्रियों के संयमित जीवन के कारण, महात्माओं और दार्शनिकों के सहवास के कारण तथा तीर्थों के सम्पूर्ण वातावरण के कारण यात्रियों के लिये यह सरल हो जाता था कि वह एक ऊँचा आध्यात्मिक स्तर प्राप्त कर ले। इन सब बातों के कारण उनमें (यात्रियों में,

एक श्रद्धा का भाव जागृत होता था जो कि उनके तीर्थयात्रा से लौट आने के बहुत समय पश्चात् तक जीवित रहता था। तीर्थयात्रा के द्वारा सर्वसाधारण व्यक्तियों को स्वार्थपूर्ण जीवन से दूर हटने का तथा उच्चतर और अधिक स्थायी नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के विषय में सोचने का उत्साह पैदा होता था।"[७४] तीर्थो में प्रत्येक तीर्थ का वर्णन करते समय उसी तीर्थ को सर्वश्रेष्ठ और सब तीर्थों से ऊपर बताया है। भारतीय पद्धति की यह विशेषता है कि जिस देवता का, अथवा जिस व्रत का, अथवा जिस मार्ग का, अथवा जिस तीर्थ का जिस समय वर्णन किया जाता है, उस समय उसी को सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है।[७५] यह अतिशयोक्ति इसीलिये है कि व्यक्ति को चाहे किसी देवता में भक्ति हो, चाहे वह किसी तीर्थ का सेवन करे अथवा किसी व्रत का साधन करे, परन्तु क्योंकि सभी एक ही मार्ग पर ले जानेवाले हैं इसलिये सभी को श्रेष्ठ समझ कर यदि व्यक्ति आग्रहपूर्वक अपने-अपने मार्ग में श्रद्धापूर्वक लगा रहता है और उसके द्वारा उन्नति करता है तो वही श्रेयस्कर है। उदाहरण के लिये महाभारत के वनपर्व में ही विभिन्न तीर्थो—कुरुक्षेत्र, पृथूदक, पुष्कर आदि की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा है।[७६] मत्स्य, कूर्म, स्कन्द और पद्म पुराणों में प्रयाग की भी महिमा गायी गयी है तथा काशी और अन्य बहुत से तीर्थो की भी। तीर्थो का ऐसा गुण भी वर्णित किया गया है कि मानो उन तीर्थो के स्मरण, दर्शन अथवा स्नान-मात्र से घोरतम पापी भी पापों से मुक्त हो मोक्ष प्राप्त कर लेगा। मत्स्यपुराण में प्रयाग का माहात्म्य बताते हुए कहा है कि "उस तीर्थ के दर्शन से, नाम-सङ्कीर्तन से तथा मिट्टी के स्पर्श से नर पापों से छूट जाता है।"[७७] लिङ्गपुराण का कहना है कि[७८] "चाहे चित्त विषय में आसक्त हो और चाहे व्यक्ति का धर्म के प्रति प्रेम नष्ट हो गया हो परन्तु इस क्षेत्र (काशी) में मरने पर संसार में पुनर्जन्म नहीं होगा।" ऐसा करने का कारण यह है कि कैसा भी व्यक्ति क्यों न हो वहाँ के धार्मिक वातावरण तथा वहाँ के सत्सङ्ग के कारण उसके मन पर कुछ-न-कुछ शुद्धिकारक परिणाम अवश्य होगा। परन्तु जहाँ तीर्थयात्रा पर बहुत जोर दिया गया है वहाँ भारतीय संस्कृति के सिद्धान्तों के अनुरूप समाज-व्यवस्थापकों ने यह भी ध्यान रखा है कि कहीं व्यक्ति को यह भ्रम न हो जाये कि केवल तीर्थयात्रा आदि कर लेने पर उसके कर्तव्यों की इति-श्री हो जाती है। इस कारण तीर्थों की अतिशयोक्तिपूर्ण महिमा के साथ इस बात को भी बलपूर्वक कहा गया है कि चाहे कितनी ही तीर्थयात्रा की जाये परन्तु जब तक व्यक्ति गुणहीन रहेगा तब तक वह तीर्थयात्रा निष्फल ही होगी। स्कन्दपुराण तथा पद्मपुराण का कहना है कि "जो लोभी,

चुगलखोर, क्रूर, दम्भी और विषयलोलुप है वह सम्पूर्ण तीर्थों में स्नान करके भी पापी और मलिन ही बना रहता है। केवल शरीर का मैल छुड़ाने से मनुष्य निर्मल नहीं होता, मन का मैल धुलने पर ही वह अत्यन्त निर्मल होता है। जलचर जीव जल में ही जन्म लेते और उसी में मर जाते हैं, किन्तु इससे वे स्वर्ग में नहीं जाते क्योंकि उनके मन का मैल नहीं धुला रहता। विषयों में जो अत्यन्त आसक्ति होती है, उसी को मानसिक मल कहते हैं। विषयों की ओर से वैराग्य हो जाना ही मन की निर्मलता है। दान, यज्ञ, तपस्या, बाहर-भीतर की शुद्धि और शास्त्रज्ञान भी तीर्थ ही हैं। यदि अन्तःकरण का भाव निर्मल हो तो वे सब-के-सब तीर्थ हैं। जिसने इन्द्रिय-समुदाय को वश में कर लिया है वह मनुष्य जहाँ-जहाँ निवास करता है वहीं-वहीं उसके लिये कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य, पुष्कर आदि तीर्थ प्रस्तुत हैं।"[७९] वामनपुराण[८०] ने रूपक के रूप में कहा है कि "आत्मा नदी है, (तथा वहाँ) संयम का पुण्य तीर्थ है, सत्य-रूपी जल है, जो शील और शम (काम-क्रोधादि के शमन) से युक्त है। उसमें स्नान करने पर पुण्यकर्म पवित्र करते हैं। जल से अन्तरात्मा नहीं शुद्ध होती।" शङ्खस्मृति में है[८१] कि "जिसके पैर, हाथ, मन, विद्या, तप और कीर्ति संयमपूर्ण हैं वही तीर्थ का फल प्राप्त करता है।"

दान भी चित्तशुद्धि का एक साधन है। दान का भारतीय समाज-जीवन में एक वृहद् अर्थ है और अंग्रेजी का (gilt) अथवा (Charities) शब्द उसका पर्यायवाची नहीं हो सकता। दान का अर्थ है वह वृत्ति जिसके द्वारा व्यक्ति केवल स्वयं ही उपभोग नहीं करता अपितु सब कुछ इस विराट्-रूप परमेश्वर का समझ कर त्याग भाव से ही जीवन व्यतीत करता है। सम्पूर्ण धार्मिक साहित्य में 'दान' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया जाता है और इसी अर्थ में दान मनुष्य की वृत्ति में परिवर्तन के साधन के रूप में माना गया है। इसी अर्थ में वृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि "इस आत्मा को ब्राह्मण, वेदों के स्वाध्याय, दान, यज्ञ और निष्काम तप के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं।"[८२] इसी अर्थ में गृहस्थ-जीवन में दान पर विशेष बल दिया गया है कि गृहस्थ लोग भोग में ही लिप्त न हो कर, निःस्वार्थ भाव से ही समाज की हित-चिन्ता करते हुए जीवन व्यतीत करें।[८३] दान की सर्वत्र प्रशंसा की गयी है। तैत्तिरीय संहिता ने इसे 'तप' कहा है; अत्रिस्मृति में इसे सबसे बड़ा मित्र बताया गया है; नारदपुराण का कहना है कि जो धन दान नहीं दिया जाता उस धन को चोरी द्वारा रक्षित धन समझना चाहिये। व्यासस्मृति में कहा है "ग्रास अथवा आधा ग्रास माँगनेवाले को क्यों न दे? इच्छानुसार धन भला किसके पास होगा?"[८४] दान चित्तशुद्धिकारी तभी हो सकता है जब कि उसके पीछे की भावना ठीक हो।

मनु ने कहा है[८५] "मनुष्य जिस-जिस भाव से जो-जो दान करता है उसी-उसी भाव से उसे ही वह बदले में पाता है।" वायुपुराण में है कि "लोकख्याति प्राप्त करने के उद्देश्य से जो ब्राह्मणों को दान देता है ......या राग-मोहवश पहले पाप करके अन्त में पवित्र होने के उद्देश्य से दान करता है उसके सब दानादि सत्कर्म निष्फल होते हैं।"[८६] इसलिये दान की श्रेणियाँ बतायी गयी हैं। गीता में दान को सात्त्विक, राजस और तामस भेदों में बाँटा गया है तथा नारदपुराण और पराशरस्मृति में भी,[८७] दान का इष्ट और पूर्त में भी विभाजन किया गया है। इष्ट का अर्थ है श्रौत कर्म अर्थात् यज्ञादि और पूर्त का अर्थ है समाज-सेवा की भावना से किये हुए कृत्य, यथा तालाब, कुएँ बावड़ी आदि बनवाना, अन्नक्षेत्र खोलना, पौशाला लगवाना, मन्दिर बनवाना आदि। इसमें इष्ट धर्म अर्थात् यज्ञादि को, जिनका विस्तार से विचार नीचे करेंगे, केवल स्वर्गदायक बताया गया है तथा पूर्तधर्म मोक्षदायक कहा गया है, क्योंकि वह मनुष्य को स्वार्थ-भावना से मुक्त कर लोक-कल्याण की वृत्ति से काम करने के लिए अर्थात् सम्पूर्ण प्राणिमात्र से एकात्मता की ओर बढ़ने के लिये प्रेरित करता है।

शुद्ध बुद्धि निर्माण करने के दूसरे साधन यज्ञ के भी अर्थ को स्पष्ट करने की आवश्यकता है। जैसा 'दान' के अंग्रेजी अनुवाद के विषय में ऊपर कहा गया है वह बात 'यज्ञ' के सम्बन्ध में और अधिक लागू होती है। 'यज्ञ' का पर्यायवाची (sacrifice) नहीं हो सकता और (sacrifice) शब्द के प्रयोग के कारण ही यज्ञ-सम्बन्धी बहुत-सा भ्रम निर्माण हुआ है। 'यज्ञ' को साधारण भाषा में 'कर्म' कहा गया है, उदाहरणार्थ ब्राह्मण-ग्रन्थों को श्रुति का कर्मकाण्ड भाग कहा गया है और ब्राह्मण-ग्रन्थ यज्ञ का ही प्रमुख रीति से विचार करते हैं। 'कर्म' के अन्तर्गत उन्हीं कृत्यों का विचार किया जाता है जो लोकसंग्राहक हैं अर्थात् ऐसे कर्म जो स्वार्थ-भावना से नहीं किये जाते अपितु जो धर्म की अर्थात् समाज-व्यवस्था की दृष्टि से किये जाते हैं और जो इस कारण समाज की व्यवस्था, उसके सङ्गठन तथा पारस्परिक सत्सम्बन्ध और सहयोगपूर्वक जीवन-निर्माण करने में सहायक होते हैं। जैसा कि पीछे बताया गया है, कर्ममार्ग में 'कर्म' शब्द का प्रयोग ऐसे ही कृत्यों के लिये किया जाता है तथा सम्पूर्ण गीता इस प्रकार के निष्काम (निःस्वार्थ) कर्मयोग का प्रतिपादन करती है। स्वयं 'यज्ञ' शब्द का अर्थ भी लोकसंग्राहक कर्मों का सूचक है। जैसा पीछे बताया गया, 'यज्ञ' शब्द 'यज्' धातु से बना है जिसका निरुक्त में अर्थ दिया है देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान। पं० सातवलेकर लिखते हैं, [८८] "यज्ञ' वह सत्कर्म है जिसमें पूजनीयों का सत्कार होता है (देवपूजा), आपस की संघटना की जाती है (सङ्गतिकरण), और निर्बलों को (अर्थात् जिनके पास अभाव है) सहायता दी जाती है (दान)।" दूसरे

शब्दों में यज्ञ द्वारा अपने से श्रेष्ठ, अपने समान और ऐसे व्यक्ति जिनकी हम सहायता करें, सबका संघटन होता है। यह अर्थ और भी कई प्रकार से स्पष्ट हो जायेगा। गृहस्थ को प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करने की आवश्यकता पड़ती है।[८९] यह पञ्चमहायज्ञ हैं—भूतयज्ञ, अथवा बलिवैश्वदेव, मनुष्ययज्ञ अथवा नृयज्ञ अथवा अतिथियज्ञ, पितृयज्ञ अर्थात् श्राद्ध, देवयज्ञ अर्थात् होम और ब्रह्मयज्ञ अर्थात् स्वाध्याय। यहाँ भूतयज्ञ का अर्थ है प्राणियों को भोजन देना, नृयज्ञ का अर्थ है अतिथि को भोजन कराना, पितृयज्ञ का अर्थ है पितरों को जल आदि से सन्तुष्ट करना, देवयज्ञ का अर्थ है देवताओं को बलि देना और ब्रह्मयज्ञ का अर्थ है वेदादि के स्वाध्याय से ऋषियों को तृप्त करना। यह सब समाज-संघटन की ही दृष्टि से आवश्यक है। इनमें किसी पशु अथवा प्राणी को अग्नि में जलाने का भाव नहीं है। अश्वमेध यज्ञ और राजसूय का वर्णन इतिहास में समुद्रगुप्त तथा पुलकेशी के काल तक आया है और वह भी यही सूचित करता है कि यज्ञ लोकसंग्राहक थे अर्थात् समाज को एक सूत्र में बाँधनेवाले थे। 'यज्ञ' शब्द का जो प्रयोग बहुत स्थान पर किया गया है, उससे भी 'यज्ञ' का ऐसा ही अर्थ प्रतीत होता है। गरुड़पुराण[९०] में योगमार्ग को अन्तर्यज्ञ कहा गया है और कहा है कि अन्तर्यज्ञ करके तत्पश्चात् बहिर्यज्ञ करना चाहिये। इसके भी आगे कहा गया है कि यज्ञादिक भी सद्धर्म हैं जो चित्त को शुद्ध करनेवाले हैं। अत्रिस्मृति में राजाओं के पाँच यज्ञ कहे गये हैं।[९१] वे हैं—दुष्ट को दण्ड, सज्जनों की पूजा, न्यायपूर्ण रीति से कोश की वृद्धि, न्याय माँगनेवालों के प्रति अपक्षपात तथा राष्ट्र-रक्षा। हारीतस्मृति में कहा है कि ब्रह्मा ने यज्ञ की सिद्धि के लिये पापरहित ब्राह्मणों को मुख से, क्षत्रियों को भुजाओं से और वैश्यों को जङ्घाओं से और शूद्रों को चरणों से निर्माण किया।[९२] इन सभी स्थानों पर 'यज्ञ' का अर्थ है लोकसंग्राहक कर्म।[९३] यज्ञ लोकसंग्राहक कर्म हैं, इसी कारण यज्ञों को स्वर्ग-प्राप्ति का साधन बताया है, मोक्ष-प्राप्ति का नहीं। मुण्डकोपनिषद् का कथन है कि[९४] निश्चय ही ये यज्ञ-रूप अठारह नौकाएँ अदृढ़ हैं जिनमें निम्न श्रेणी का (सकाम) कर्म बताया गया है। जो मूर्ख यही कल्याण का मार्ग समझ कर प्रशंसा करते हैं उन्हें बार-बार वृद्धावस्था और मृत्यु भोगनी पड़ती है। मनुस्मृति का कहना है[९५] "सम्पूर्ण वेद की हवन, यज्ञ आदि क्रिया नाशमान् है, अविनाशी तो केवल अक्षर और प्रजापति ब्रह्म को जानना चाहिये।" इसका अर्थ यह है कि सांसारिक कर्म चाहे वह लोककल्याणकारी ही क्यों न हो साधारणतया सकाम भावना से किये जाते हैं, चाहे मोक्ष-प्राप्ति की कामना से, चाहे इस कामना से कि बाद में उनका अच्छा फल मिलेगा, चाहे आत्मतुष्टि की कामना से अथवा अन्य किसी स्वार्थ से और इसलिये कर्मफल के सिद्धान्त के अनुसार उनके

परिणामस्वरूप व्यक्ति को बाद में सुख तो प्राप्त होगा (स्वर्ग) परन्तु निष्काम भावना नहीं होने के कारण मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।[९६] क्योंकि यज्ञ लोकसंग्राहक हैं तथा साधारणतया ब्रह्मप्राप्ति करानेवाले नहीं हैं, अतः अनधिकारी के द्वारा यज्ञ वर्जित किया गया है।[९७] पुराणों में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि यज्ञ करने के अधिकारी देवता होते हैं दैत्य नहीं। इसके लिये बलि राजा की कथा तो लगभग सभी पुराणों में दी गयी है जिसमें वामन भगवान् ने आकर बलि को यज्ञ करने से रोका था। वामनपुराण में धुन्धु नामक एक दैत्य की भी कथा है जिसने सौ यज्ञ करने का निश्चय किया था तथा जिसके यज्ञ में भाग ग्रहण करनेवाले राहु और केतु आदि राक्षस भी थे। उसके यज्ञ करने के निश्चय पर देवताओं ने विष्णु भगवान् से उस यज्ञ को रोकने की प्रार्थना की और उन्होंने उस दैत्य को यज्ञ करने से रोक दिया। इन सबका अर्थ इतना ही है कि यदि ऐसे कर्म जिनके द्वारा समाज पर अधिकार अथवा समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, ऐसे व्यक्तियों द्वारा किये जायेंगे जो कि ज्ञान, बुद्धि अथवा चरित्र में उसके योग्य नहीं है तो समाज का अकल्याण होगा। शूद्रों और स्त्रियों को यज्ञ करना इसी सिद्धान्त के अनुसार वर्जित है परन्तु उसका विचार यहाँ न कर आवश्यक प्रसङ्ग पर किया जायेगा।[९८] यज्ञ स्वर्गदायक तो हैं ही परन्तु यज्ञ को ब्रह्म तक पहुँचने का मार्ग भी बताया गया है[९९] क्योंकि यज्ञ अर्थात् लोकसंग्राहक कर्म व्यक्ति को धीरे-धीरे स्वार्थ-भावना से हटा कर परोपकार तथा परमार्थ की ओर लगाते हैं और इस प्रकार व्यक्ति को ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग में आगे बढ़ाते हैं। इस प्रकार 'यज्ञ' स्वार्थरहित लोकसंग्राहक कर्म होने के कारण तथा ब्रह्म-प्राप्ति के साधन होने के कारण चित्तशुद्धिकारी हैं। यज्ञ के ही अन्तर्गत होम का समावेश हो जाता है। होम भी चित्तशुद्धिकारी है। मनु का कहना है[१००] "वेद की आहुति का हवन और अनध्याय में किया हुआ वषट्कार भी पुण्यरूप है।" इसलिये मुण्डकोपनिषद् का कहना है[१०१] कि यदि एक व्यक्ति दैनिक वैश्वदेव आदि नहीं करता तो उसके सातों पुण्यलोकों का नाश हो जाता है। वसिष्ठधर्मसूत्र का कहना है कि जो अनाग्नि है वह शूद्र के समान है[१०२] और वैदिक अग्नियों का प्रज्ज्वलित न करना विष्णुधर्मसूत्र तथा याज्ञवल्क्यस्मृति में उपपातकों के अन्तर्गत गिना गया है।[१०३]

परन्तु चित्तशुद्धि का सबसे श्रेष्ठ साधन तप है और इसी कारण ब्रह्मत्व-प्राप्ति का मार्ग तप बताया गया है।[१०४] दान से यज्ञ और यज्ञ से तप श्रेष्ठ कहा है क्योंकि[१०५] "दान द्वारा मनुष्य विविध प्रकार के भोगों की प्राप्ति करता है, सत्य द्वारा स्वर्गलोक जाता है तथा परमगोपनीय ढङ्ग से की गयी तपस्या द्वारा समस्त लोक का अतिक्रमण कर स्थित होता है।" तप की महत्ता ऋग्वेद

में वर्णित है[१०६] तथा मनुस्मृति में तो तप का महत्त्व बहुत ही विशद रूप से वर्णन किया गया है—"देवता और मनुष्यों के सब सुखों का तप ही कारण है और तप ही उसका मध्य और अन्त है, यह वेद के ज्ञाता विद्वानों ने कहा है। ब्राह्मण का तप ज्ञान है, क्षत्रिय का तप प्रजा की रक्षा है, वैश्य का तप वार्ता (कृषि, व्यापार और गोरक्षा) तथा शूद्र का तप सेवा है। फल, मूल और वायु का आहार करनेवाले जितेन्द्रिय ऋषि तप के द्वारा ही चराचर त्रैलोक्य को देखते हैं। औषधि, आरोग्य, विद्या तथा देवताओं की विविध प्रकार की स्थिति तप से ही सिद्ध होती है, क्योंकि इनका साधन तप ही है। जो दुष्कर है, जो दुष्प्राप्य है, जहाँ कठिनाई से जाया जा सकता है तथा जो दुस्तर है, वे सब बातें तप से साध्य हो सकती हैं क्योंकि तप का कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता। महापातकी तथा पाप कर्म करनेवाले अच्छी प्रकार से किये हुए तप से ही उस पाप से मुक्त हो जाते हैं। कीट, सर्प, पतङ्ग, पशु, पक्षी, तथा स्थावर (वृक्षादि) जीव तप के ही बल से स्वर्ग जाते हैं। मनुष्य मन, वाणी और देह से जो पाप करते हैं उस पाप को तपस्वी तप से शीघ्र नष्ट कर देते हैं।"[१०७] 'तप' शब्द का प्रयोग विशाल अर्थ में भी होता है और सीमित अर्थ में भी। विशाल अर्थ में 'तप' का अर्थ है जीवन में संयम निर्माण करना। मनु का जो उद्धरण ऊपर दिया गया है, उसमें 'तप' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। उपनिषदों में भी 'तप' का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। राधाकृष्णन् कहते हैं "यत्र-तत्र उपनिषद् तप को आत्मज्ञान का मार्ग बताते हैं परन्तु तप का अर्थ है केवल आत्मशक्ति का विकास, शरीर की दासता से आत्मा की मुक्ति, मन के द्वारा गहन चिन्तन और शक्ति का प्रकटीकरण—उस मन के द्वारा जिसका विचार ही तप है।"[१०८] गीता में भी तप के विभिन्न प्रकार बताये गये हैं और वहाँ भी तप का इसी अर्थ में प्रयोग किया गया है। गीता का कहना है कि "देवता ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीर सम्बन्धी तप कहा जाता है। जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं सत्य भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रों के पठन एवं परमेश्वर के नाम-जप का अभ्यास है वही वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है। मन की प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करने का स्वभाव, मन का निग्रह और अन्तःकरण की पवित्रता—यह मन सम्बन्धी तप कहा गया है।"[१०९] इसी अर्थ में 'तप' इष्टधर्म के अन्तर्गत आता है।[११०] इसी अर्थ में गौतम भी[१११] ब्रह्मचर्य, सत्य वचन, तीन बार स्नान आदि को तप के अन्तर्गत गिनते हैं। इसी अर्थ में योग और तप को समानार्थक कहा जाता है।[११२] इसी अर्थ में प्रयोग होने के कारण 'तप' को ब्राह्मणत्व-प्राप्ति का एक मार्ग बताया है।[११३] तप का सीमित अर्थ है शरीर को

मुझानेवाले साधन। इसी अर्थ के अनुसार दस 'नियमों' में तप का समावेश किया जाता है।[११४] नारदपुराण में इसकी परिभाषा करते हुए कहा है "चान्द्रायण आदि (व्रतों) के द्वारा जहाँ शरीर का शोषण होगा उसे सन्त लोग 'तप' कहते हैं तथा यह योग का उत्तम साधन है।[११५] अंग्रेजी का शब्द (austerities) भी 'तप' के इसी सीमित अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। गीता में 'तप' का भी सात्त्विक, राजस और तामस भेद किया गया है। 'फल को न चाहनेवाले योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किये हुए उस (पूर्वोक्त) तीन प्रकार के तप को सात्त्विक कहते हैं। जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिये अथवा केवल दम्भ से ही किया जाता है वह अनिश्चित एवं क्षणिक फलवाला तप यहाँ राजस कहा गया है। जो तप मूढ़तापूर्वक, हठ से, मन, वाणी और शरीर की पीड़ा सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिये किया जाता है वह तप तामस कहा गया है।"[११६]

इस प्रकार मनुष्य उपरोक्त साधनों के प्रयोग के द्वारा धीरे-धीरे अपनी बुद्धि निर्मल करता हुआ अपने लक्ष्य मोक्ष की ओर बढ़ता है। जब तक मनुष्य को मोक्ष प्राप्त नहीं होता अर्थात् जब तक आत्मा पर माया का आवरण चढ़ा रहता है तब तक वह इसी माया के अन्दर घूमता रहता है। मृत्यु वास्तव में उसकी मृत्यु नहीं है—यह तो केवल शरीर का नाश-मात्र है—व्यक्ति का जीवन तो अविच्छिन्न रूप से चलता रहता है।[११७] "अतएव अब यह कहना चाहिये कि जो पुरुष बिना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है, वह यद्यपि पञ्चमहाभूतात्मक स्थूल शरीर से अर्थात् अन्तिम पाँच तत्त्वों से छूट जाता है, तथापि इस प्रकार की मृत्यु से अन्य १८ तत्त्वों के साथ उसका सम्बन्ध कभी छूट नहीं सकता। वे १८ तत्त्व ये हैं—महान (बुद्धि), अहङ्कार, मन, दस इन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्राएँ। ये सब तत्त्व सूक्ष्म हैं। अतएव इन तत्त्वों के साथ पुरुष का संयोग स्थिर होकर जो शरीर बनता है उसे स्थूल शरीर के उलटा सूक्ष्म अथवा लिङ्ग शरीर कहते हैं।"[११८] "जब कोई मनुष्य बिना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है, तब मृत्यु के समय उसकी आत्मा के साथ ही प्रकृति के उक्त १८ तत्त्वों से बना हुआ यह लिङ्ग शरीर भी स्थूल देह से बाहर हो जाता है और जब तक उस पुरुष को ज्ञान की प्राप्ति हो नहीं जाती तब तक उस लिङ्ग शरीर के ही कारण उसको नये-नये जन्म लेने पड़ते हैं।"[११९] इसका अर्थ यही है कि जैसा जिस व्यक्ति का मन होगा, जैसी उसकी बुद्धि होगी, जैसी उसकी इन्द्रियों के प्रति आसक्ति होगी वह सब पूर्वजन्म के अनुसार उसे अगले जन्म में भी प्राप्त होगी। इसी को "गुणानुसार जन्म" कहा जाता है और मनुस्मृति में इसकी विस्तार से विवेचना की है।[१२०] "सतोगुणी लोग देवयोनि

रजोगुणी मनुष्ययोनि और तमोगुणी तिर्यकयोनि प्राप्त करते हैं। सदा (केवल) यही तीन प्रकार की गति है। यह कर्म तथा विद्या आदि की विशेषता से फिर तीन गौण प्रकार की अधम, मध्यम और उत्तम होती है। स्थावर (वृक्ष), कृमि कीट, मछली, सर्प, कछुआ, पशु तथा मृग, यह तमोगुण से उत्पन्न हुयी निकृष्ट योनि हैं। हाथी, घोड़े, शूद्र, निन्दित म्लेच्छ, सिंह, व्याघ्र और वाराह, ये तमोगुण से उत्पन्न हुई मध्यम योनि हैं। चारण, पक्षी, दाम्भिक पुरुष, राक्षस, पिशाच ये तमोगुण से पैदा हुयी उत्तम योनि हैं। झल्ल, मल्ल, नट, शस्त्रोपजीवी पुरुष और जुए और मद्य में आसक्त ये रजोगुण से पैदा हुयी निकृष्ट योनि हैं। राजा, क्षत्रिय, राजपुरोहित और जिन्हें शास्त्रार्थ का कलह प्यारा हो, ये रजोगुण से पैदा हुयी मध्यम गति हैं। गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, बुद्धिमानों के अनुयायी तथा अप्सरा, ये सब राजसी गतियों में उत्तम राजसी गति हैं। वानप्रस्थी, यति, ब्राह्मण, विमानचारी, नक्षत्र और दैत्य, यह सतोगुण से उत्पन्न हुयी अधम गति हैं। यज्ञकर्ता, ऋषि, देवता, वेद, तारागण, वत्सर, पितृगण और साध्य लोग ये सतोगुण की मध्यम गति हैं। विश्व उत्पन्न करनेवाला ब्रह्मा, धर्म, महान और अव्यक्त, ये सतोगुण की उत्तम गति हैं, ऐसा पण्डित लोग कहते हैं।" मनुस्मृति के इस उद्धरण से यही बात स्पष्ट होती है कि व्यक्ति के सतोगुण, रजोगुण अथवा तमोगुण के अनुसार उसका विभिन्न योनियों में जन्म होता है। यही बात उपनिषदों में भी कही गयी है। "उसको देववर्ग दृष्टि के रूप में परिणत करके इस लोक में ही पुनः बरसा देता है। वह कीट अथवा पतङ्ग या पक्षी अथवा व्याघ्र या सिंह अथवा मछली, या साँप-बिच्छू अथवा मनुष्य या दूसरा कोई जीव हो कर इनके अनुकूल शरीरों में अपने कर्म और विद्या-उपासना के अनुसार जहाँ-कहीं उत्पन्न होता है।"[१२१] छान्दोग्योपनिषद् में कहा है "उनमें जो अच्छे आचारवाले होते हैं उनको शीघ्र ही उत्तम योनि प्राप्त होती हैं, वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनि प्राप्त करते हैं तथा जो अशुभ आचरणवाले होते हैं वे तत्काल अशुभ योनि प्राप्त करते हैं। वे कुत्ते की योनि, सूकरयोनि अथवा चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं।"[१२२] वृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा है[१२३] "उस समय उसके (आत्मा के) साथ-साथ विद्या, कर्म, और पूर्वफल भी जाते हैं।··· यह आत्मा इस शरीर को नष्ट कर, अज्ञानावस्था (अचेतनावस्था) को प्राप्त कर दूसरे पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति ब्रह्मा अथवा अन्य भूतों के विविध नवीन और सुन्दर रूप की रचना करता है।······वह जैसा करनेवाला और जैसा आचरणवाला होता है वैसा ही हो जाता है। शुभ कर्म करनेवाला शुभ होता है और पापकर्मी पापी होता है। पुरुष पुण्य कर्म से पुण्यात्मा होता है और पाप कर्म से पापी होता है।" इन सब बातों का यही अर्थ है कि मनुष्य के पूर्वजन्म

में जैसे गुण होते हैं अर्थात् जैसे संस्कार उसके पूर्वजन्म के उसके मन पर रहते हैं तदनुसार ही व्यक्ति यह जन्म प्राप्त करता है।

अतः पुनर्जन्म के उपरोक्त सिद्धान्त के साथ ही गुँथा हुआ कर्मफल का अथवा कर्मविपाक का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति जिस प्रकार का कार्य करता है उसे उसका तद्नुसार फल अवश्य प्राप्त होता है। व्यक्ति की मृत्यु उसके जीवन की एक सीढ़ी-मात्र है—उसके जीवन की समाप्ति नहीं है इसलिये यह कर्मफल व्यक्ति को आगे के जीवन में भी प्राप्त हो सकते हैं और होते हैं। शान्तिपर्व में कहा है [१२४] "पाप-पुण्य मनुष्य का सङ्ग कभी नहीं छोड़ते। इस प्रकार ये छाया के समान उसका अनुसरण करते रहते हैं। पहले जिस-जिसने जैसे-जैसे कर्म किये होते हैं, वह उनका उस-उस प्रकार से अवश्य फल भोगता है। मनुष्य अपने शुभाशुभ कर्मों के द्वारा ही अपने सुख-दुःख का विधान करता है। वह जब से गर्भ में आता है तभी से अपने पूर्वजन्म के कर्मों का फल भोगने लगता है। जिस प्रकार बछड़ा हजारों गौओं में से भी अपनी माता को पहचान लेता है, उसी प्रकार पूर्वजन्म में किया हुआ कर्म अपने कर्ता के पास पहुँच जाता है।" मनु ने पापकर्मों का कायिक, वाचिक और मानसिक श्रेणियों में विभाजन कर बताया है कि इनके परिणामस्वरूप कायिक, वाचिक और मानसिक कष्ट प्राप्त होते हैं। [१२५] "जीव मानसिक शुभाशुभ कर्मों का फल मन से, वाचिक का वाणी से और शारीरिक का शरीर से भोगता है।" कर्मफल कई प्रकार से मिलने का वर्णन शास्त्रों में दिया गया है। [१२६] सबसे पहला तो यह फल नरक और स्वर्ग के रूप में प्राप्त होता है। [१२७] वास्तव में नरक अथवा स्वर्ग है कि नहीं यह तो कहना कठिन है परन्तु नरकों का अतिशियोक्तिपूर्ण वर्णन यह सिद्ध करने के लिये है कि पापपूर्ण अर्थात् समाज-व्यवस्था के अथवा समाज-जीवन के विरोधी तथा चरित्रहीन कृत्य करने पर उसका परिणाम भयङ्कर होता है तथा सद्वृत्ति रख कर शुभ काम करने पर सुख होता है। कर्मविपाक के सिद्धान्त के अनुसार अगले जन्मों में भी पापों का फल भोगना पड़ता है। योगसूत्र में कहा है कि कर्मों का विपाक जाति, आयु, भोग के रूप में प्राप्त होता है। [१२८] 'जाति' का अर्थ है कि अगला जन्म किस योनि में अथवा किस श्रेणी में (जाति में) होता है। मनुस्मृति में कहा है "शरीर के कर्मों के दोष से मनुष्य स्थावर होता है वाचिक कर्मों के दोष से पक्षी तथा पशु होता है तथा मानसिक कर्मों के दोष से अन्त्यज होता है [१२९] कर्मविपाक का तीसरा स्वरूप है अङ्गदोष। गरुड़पुराण में वर्णन दिया है [१३०] "ब्रह्महत्यारा क्षयरोगी होता है तथा गौघाती कुबड़ा और जड़ होता है। कन्या को मारनेवाला कोढ़ी होता है और ये तीनों चाण्डालयोनि में जन्म लेते हैं। स्त्री की हत्या करनेवाला तथा गर्भपात करनेवाला पुलिन्द जाति में रोगी होता है।

ऐसी स्त्री से संसर्ग करनेवाला, जिसका संसर्ग निषिद्ध है, नपुंसक होता है तथा गुरुस्त्रीगमन से चर्मरोगी होता है। मांस भक्षण करनेवाला गहरे लाल रङ्ग का होता है तथा मद्य पीनेवाला काले दाँत धारण करता है। लालच से अभक्ष्य भक्षण करनेवाला बड़े पेटवाला होता है और जो स्वयं ही मिष्ठान्न खा लेता है उसको गलगण्ड (गले में गोला) हो जाता है" आदि। कर्मफल के रूप में उत्पन्न होनेवाले रोगों के वर्णन मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, वसिष्ठधर्मसूत्र तथा विष्णु-धर्मसूत्र [131] में भी हैं। पुनर्जन्म और कर्मविपाक के सिद्धान्त भारतीय दर्शन की अपनी विशेषता है और इनके द्वारा जीवन की बहुत-सी गुत्थियों का सुलझना सम्भव हो गया है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त के कारण मनुष्य को इसी जीवन की निराश अवस्था से दुःखी होने का अथवा इसी जन्म की सुखी अवस्था से प्रसन्न होने का कोई कारण नहीं है अपितु यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि आगे भी अवसर है और उन अवसरों में प्रयत्न करना चाहिये। प्रयत्न करने पर आज की दुःखी अवस्था को कल बदला जा सकता है तथा प्रयत्न न करने पर आज की सुखी अवस्था भी समाप्त हो सकती है। मोक्ष को लक्ष्य मानने के पश्चात् पुनर्जन्म को मानना आवश्यक हो जाता है क्योंकि यदि पुनर्जन्म न माना तो साधारणतया किसी भी प्राणी को एक जन्म में मोक्ष प्राप्त करना सम्भव नहीं। पुनर्जन्म को मानने के कारण यह मानना सम्भव हो जाता है कि व्यक्ति एक-एक सीढ़ी बढ़ता हुआ मोक्ष प्राप्त कर सकता है और एक जीवन का प्रयत्न निष्फल नहीं है अपितु आगे के जन्म में काम देता है। अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से पूछते हैं "हे कृष्ण! यदि श्रद्धा हो, परन्तु पूरा प्रयत्न अथवा संयम न होने के कारण जिसका मन योग से विचलित हो जाये, उसकी योगसिद्धि न होने पर उसे क्या गति मिलती है? हे महाबाहु श्रीकृष्ण! वह पुरुष मोहग्रस्त हो ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग में स्थिर न होने के कारण दोनों ओर से भ्रष्ट हो जाने पर छिन्न-भिन्न बादल के समान नष्ट तो नहीं हो जाता।" श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं "हे पार्थ! क्या इस लोक में और क्या परलोक में ऐसे पुरुष का कभी विनाश नहीं होता। हे तात! कल्याणकारक कर्म करनेवाले किसी भी पुरुष की दुर्गति नहीं होती। पुण्यकर्ता पुरुषों को मिलनेवाले लोकों को पा कर और बहुत वर्षों तक वहाँ निवास करके फिर वह योगभ्रष्ट पुरुष पवित्र श्रीमान् लोगों के घर में जन्म लेता है अथवा बुद्धिमान योगियों के कुल में जन्म पाता है। इस प्रकार का जन्म लोक में बड़ा दुर्लभ है। उसमें (अर्थात् इस प्रकार से प्राप्त हुए जन्म में) वह पूर्वजन्म के बुद्धि-संस्कार को पाता है और हे कुरुनन्दन! वह उससे फिर सिद्धि पाने का प्रयत्न करता है।"'प्रयत्नपूर्वक उद्योग करके पापों से शुद्ध हुआ योगी अनेक जन्मों में सिद्धि प्राप्त कर फिर उत्तम गति (मोक्ष) पा

लेता है।"[१३२] इस प्रकार पुनर्जन्म के कारण क्रमशः उन्नति करता हुआ व्यक्ति अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है। 'कर्म' सिद्धान्त की भी बहुत उपयोगिता है। इसके द्वारा मनुष्य सदैव शुभ कर्म करते रहने की प्रेरणा पाता है क्योंकि जैसा आज कर्म करेगा वैसा ही फल प्राप्त करेगा। 'कर्म' का सिद्धान्त पूर्व के किये हुए कर्मों की दृष्टि से तो भाग्यवादी है क्योंकि जो कर्म किये हैं उनका फल प्राप्त होगा ही और इस कारण वर्तमान की पतित अवस्था के लिये न तो किसी को कोसने की आवश्यकता है और न वर्तमान की श्रेष्ठ स्थिति के लिये अभिमान करने की आवश्यकता। जहाँ वर्तमान में प्राप्त होनेवाले फल की दृष्टि से यह भाग्यवाद है और वर्तमान की अवस्था में यह सन्तोष की वृत्ति पैदा करता है वहाँ भविष्य की दृष्टि से यह मनुष्य को आगे बढ़ने का आह्वान देता है। इस सिद्धान्त के कारण यह भी निश्चित हो जाता है कि संसार-जीवन की गति संसार के किसी कोने में बैठे हुए परमात्मा की किन्हीं चित्र-विचित्र इच्छाओं पर निर्भर नहीं है अपितु वह प्रकृति के निश्चित नियमों पर अवलम्बित है। जैसे सूर्य का उगना, पानी का नीचे की ओर बहना, ऋतुओं का निश्चित रूप से, एक के पश्चात् एक आना निश्चित है उसी प्रकार जीवन में प्रत्येक को, जैसा जो करेगा, वैसा उसे फल प्राप्त करना निश्चित है। अतः आगे की प्रगति की दृष्टि से भी उसे किसी दूसरे पर निर्भर अथवा अवलम्बित रहना ठीक नहीं, वह प्रगति करना उसका अपना व्यक्तिगत उत्तरदायित्व है। मनुष्य किसी के हाथ का खिलौना नहीं है वह अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है।

यहाँ तक मोक्षधर्म का अर्थात् निःश्रेयस का और सम्बन्धित विषयों का वर्णन आगे के विवेचन की आवश्यकता के अनुसार किया है। भारतीय विचारधारा का आग्रहपूर्वक प्रतिपादन है कि मनुष्य का लक्ष्य मोक्ष है और प्रत्येक व्यक्ति को संसार से मुक्त हो कर अपने निर्लिप्त, निर्गुण स्वरूप को पहचान लेना चाहिये परन्तु यह प्रतिपादन करने पर भी सांसारिक जीवन की उपेक्षा भारतीय विचारधारा में नहीं है। यह सत्य है कि मनुष्य को संसार से अर्थात् माया से मुक्ति पानी है परन्तु जब तक व्यक्ति मुक्त नहीं होता, जब तक ब्राह्मण, चाण्डाल, हाथी और कुत्ते सबमें व्यक्ति को एक ही भगवान के दर्शन नहीं होते अर्थात् समदृष्टि प्राप्त नहीं होती तब तक तो यह संसार अपनी सम्पूर्ण वास्तविकता और विविधता में सत्य ही है और व्यक्ति को यहाँ रखते हुए श्रेष्ठता के साथ स्वयं का जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न करना भी आवश्यक है तथा समाज-जीवन को भी श्रेष्ठ बनाना आवश्यक है। इस संसार को मिथ्या कह कर और संसार से भागने की वृत्ति भारतीय विचार में नहीं स्वीकार की गयी है। संसार से निर्लिप्त होने की अवस्था तथा साँसारिक जीवन के उत्तरदायित्व से भागने की

वृत्ति वह दोनों पृथक-पृथक बातें हैं और पहली स्थिति जहाँ भावात्मक स्थिति है (positive), व्यक्ति की उन्नत अवस्था की द्योतक है वहाँ दूसरी स्थिति व्यक्ति के निकृष्ट जीवन की ओर सङ्केत करनेवाली है। पहली अवस्था गुणातीत अवस्था है और दूसरी अवस्था आलस्य की तमोगुणी अवस्था है। इस कारण ईशोपनिषद् तथा बृहदारण्यकोपनिषद् में[133] कहा है "जो अविद्या (भौतिक जीवन) की उपासना करते हैं वे गाढ़ अन्धकार में जाते हैं और जो केवल विद्या (आध्यात्मिकता) में ही रत हैं वे उससे भी अधिक गाढ़ अन्धकार में जाते हैं।" जगत की वास्तविकता सिद्ध करने के लिये जगत और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन उपनिषदों में सर्वत्र है। उदाहरण के लिये माण्डूक्योपनिषद् के पहले मंत्र में है "सम्पूर्ण जगत उसका ही उपव्याख्यान है।"[134] पुराणों में भी जहाँ-जहाँ भगवान् की स्तुति की गयी है वहाँ-वहाँ इस सम्पूर्ण जगत को भगवान् का स्वरूप बताया गया है। सृष्टि उत्पन्न के वर्णन में पहले बताया ही गया है कि भारतीय धर्मशास्त्रों के अनुसार प्रारम्भ में एक निर्गुण ब्रह्म ही था और उसने अपने में से ही इस सम्पूर्ण जगत को उत्पन्न किया था। पीछे यह भी बताया गया है कि ब्रह्म ने ही दो होने की इच्छा की और अपने को दो भागों में विभक्त कर दिया तथा यह दो भाग ही पुरुष और प्रकृति तथा ब्रह्म और माया हैं। इस प्रकार इस संसार की परमात्मा से एकता बता कर और इसे परमात्मा की इच्छा पर आधारित बता कर भारतीय धर्मशास्त्रों ने इस संसार की भी वास्तविकता को स्वीकार किया है। भारतीय धर्मशास्त्र यह तो कहते हैं कि यह जगत मिथ्या है और ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है परन्तु ऐसा कहने का अर्थ है कि जगत परिवर्तन-शील होने के कारण इसके अन्दर सत्यता नहीं है, सत्य तो वही हो सकता है जो निरन्तर रहता है। विनाशशील वस्तुएँ तो असत्य ही हैं और इसलिये सभी वस्तुओं के अन्तर्गत निवास करनेवाला अमृत-रूपी, अनन्त तथा अविनाशी ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है अन्य कुछ नहीं। परन्तु संसार मिथ्या है यह कहने का अर्थ यह कदापि नहीं है कि संसार है ही नहीं। केवल उसके अन्दर यही सिद्ध करने का प्रयास है कि परिवर्तनशील संसार को ही सत्य समझ कर इसके अन्दर के वास्तविक तथ्य को भूलने से मनुष्य भ्रमित हो कर संसार की ही आशा-निराशा, सुख-दुःख, तृष्णा-लालसा में भटका रह कर अपने वास्तविक लक्ष्य को भूल जाता है। परन्तु संसार के व्यावहारिक और वास्तविक अस्तित्व को तो सदैव स्वीकार किया ही गया है। इसलिये एक दृष्टि से संसार मिथ्या है और दूसरे दृष्टि से सत्य भी। सत्य इस दृष्टि से है कि उसका अस्तित्व है और असत्य इस दृष्टि से कि वह नष्ट हो जायेगा और उसमें स्थिरता नहीं है। भारतीय आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान के अन्दर संसार का अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया गया है यह बात विचारशील

विद्वानों ने भी कही है। सर रामकृष्ण भण्डारकर का कहना है "कुछ प्रतिष्ठित विद्वानों द्वारा ।व्यक्त किया गया मत, कि उपनिषदों की मूल शिक्षा है संसार की असत्यता तथा एक आत्मा की ही सत्यता, स्पष्ट रूप से गलत है और मैं यह भी कहूँगा कि यह अनालोचक दृष्टि का द्योतक है।" हॉपकिन्स का भी यही कथन है[१३५]। जो बात उपनिषदों के सम्बन्ध में सत्य है वही अन्य धर्मशास्त्रों के विषय में भी। धर्मशास्त्रों में सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन के नियमों का वर्णन भी यही सिद्ध करता है कि वह इस सांसारिक जीवन को असत्य नहीं मानते थे परन्तु इसके अन्दर तथा इसके द्वारा वे चरम सत्य की ओर मनुष्य को ले जाना चाहते थे। भारतीय विचार में भौतिकता को कितना महत्त्व है यह आगे बताया जायेगा परन्तु यहाँ इतना ही दिखाने का प्रयास किया गया है कि संसार के मिथ्यात्व में विश्वास करते हुए भी भारतीय विचार संसार का अस्तित्व स्वीकार करता है।

अतः परलोक की दृष्टि से जहाँ मनुष्य के सामने पुरुषार्थ के रूप में मोक्ष रखा गया है वहाँ सांसारिक जीवन की दृष्टि से अर्थ और काम ये दो पुरुषार्थ भी बताये गये हैं। 'काम' के अन्तर्गत् स्त्री-पुरुष का ही सम्बन्ध नहीं है (यद्यपि कामशास्त्रों ने इसी विषय का विवेचन किया है और मनुष्य की सबसे प्रबल वासना भी यही होती है) परन्तु मनुष्य की सभी इच्छाएँ 'काम' शब्द के अन्तर्गत आती हैं। इसी प्रकार 'अर्थ' के अन्तर्गत् केवल धन का ही समावेश नहीं है परन्तु ऐसे सभी साधन, जो मनुष्य की कामनापूर्ति में सहायक होते हैं तथा जिनके प्राप्त करने से समाज पर ऐहिक सत्ता प्रस्थापित होती है, अर्थ के अन्तर्गत आते हैं। अतः एक ओर 'मोक्ष' नाम का पुरुषार्थ है जो पारलौकिक उन्नति की ओर मनुष्य को ले जाता है तथा दूसरी ओर 'अर्थ' और 'काम' है जिनसे मनुष्य इसी जीवन में सुख और आनन्द का उपभोग करता है तथा इन दोनों का समन्वय करनेवाला चौथा पुरुषार्थ 'धर्म' है। 'मोक्ष' तो पारलौकिक साधन है और शेष तीन पुरुषार्थ ऐसे हैं जिनका इसी जीवन से सम्बन्ध है इसलिये इन्हें त्रिवर्ग के नाम से पुकारा जाता है। इन तीनों पुरुषार्थों का पालन और इनका समन्वय आवश्यक है। मनु का कहना है, "कुछ लोग धर्म और अर्थ को कल्याणकारी कहते हैं कितने ही काम और अर्थ को तथा कितने ही केवल धर्म को अथवा केवल अर्थ को कल्याणकारी बताते हैं, परन्तु वास्तव में यह त्रिवर्ग ही श्रेयस्कर है।"[१३६] वामनपुराण में कहा हे [१३७] "हे राक्षस ! उस सदाचार के स्वरूप का मैं वर्णन करता हूँ तथा यदि तुम कल्याण चाहते हो तो ध्यान लगाकर सुनो। इसकी जड़ धर्म है, इसकी शाखा अर्थ है, काम इसका पुष्प है और इसका फल मोक्ष है। सुकेशी ! यह सदाचार-रूपी वृक्ष है तथा पुण्य भोगियों के द्वारा इसका सेवन किया जाता है।" मत्स्यपुराण के चौबीसवें अध्याय में राजा पुरुरवा की एक कथा है।

"वह सर्वदा धर्म, अर्थ तथा काम का समान रूप से पालन करता था। एक बार कुतूहलवश धर्म, अर्थ तथा काम उसके चरित्र को जानने की इच्छा से यह देखने के लिये कि 'देखें कि किस प्रकार यह हम लोगों को समान दृष्टि से देखता है' उसके यहाँ प्रत्यक्ष रूप धारण करके आये। राजा ने भक्तिपूर्वक उन तीनों को अर्घ्य, पाद्य आदि से सम्मानित किया। दिव्य तीन कनकमय आसनों को बिछा कर उन पर उन्हें बैठाया और पहले सबकी सामान्यतया एक भाव से पूजा की किन्तु धर्म की फिर उसने विशेष रूप से पूजा की।" इन तीनों पुरुषार्थों में काम को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। 'काम' के उपभोग का आश्रम गृहस्थाश्रम है और उसकी सभी आश्रमों में प्रमुखता है।[१३८] 'काम' का ही महत्त्व बताने के लिये भारत में अति विचित्र लगनेवाली 'लिङ्ग' और 'योनि' को शिव तथा शक्ति का प्रतीक मान कर उनकी पूजा होती है तथा लिङ्ग-पूजा की कथा भी वामनपुराण के छठवें अध्याय में है। भगवद्गीता में[१३९] कृष्ण भगवान् ने अपने को काम-स्वरूप बताया है। अथर्ववेद में है[१४०] "काम सबसे पहले उत्पन्न हुआ, इसे न देवों ने जीत पाया, न पितरों ने, न मनुष्यों ने। इसलिये हे काम ! तू सब प्रकार से बहुत बड़ा है अतः मैं तुझको नमस्कार करता हूँ।" फिर भी अत्यधिक कामोपभोग की निन्दा की गयी है। दक्षस्मृति में है[१४१] "कोई मनुष्य विषय और इन्द्रियों के संयोग को योग कहते हैं। उन निर्बुद्धियों ने अधर्म को धर्म के रूप में ग्रहण किया है।" व्यासस्मृति में उसका अन्न खाना मना किया गया है जिनको काम ने जीत लिया है।[१४२] काम के वशीभूत हो कर विश्वामित्र आदि ऋषियों को किस प्रकार कष्ट हुआ इसकी कथाएँ इतिहास-पुराण ग्रन्थों में बहुत हैं। अर्थ का भी बहुत महत्त्व बताया है। शान्तिपर्व में कहा है "जिस प्रकार सभी पानी के स्रोतों का उद्गम पर्वतों मे होता है उसी प्रकार मनुष्य के सभी कार्य भी अर्थ से उत्पन्न होते हैं।"[१४३] धर्मशास्त्रों में 'अर्थ' के दोनों अङ्गों की अर्थात् 'राजधर्म' और 'धन' की बहुत प्रशंसा की है और उनका यथास्थान वर्णन किया जायेगा। परन्तु जिस प्रकार मे अत्यधिक काम की निन्दा की गयी है उसी प्रकार से अर्थ को अत्यधिक तृष्णा की भी निन्दा की गयी है।[१४४] परन्तु इन तीनों पुरुषार्थों में धर्म, अर्थ और काम में काम सबसे निकृष्ट है, अर्थ उससे श्रेष्ठ और धर्म सबसे श्रेष्ठ है। मनुस्मृति में कहा है[१४५] तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का अर्थ और सतोगुण का लक्षण धर्म होता है। शान्तिपर्व[१४६] में भी धर्म को प्रधान, अर्थ को मध्यम और काम को निम्नतम पुरुषार्थ कहा है। वात्स्यायन के कामसूत्र में भी धर्म, अर्थ तथा काम की व्याख्या करके कहा गया है कि इनमें काम से अर्थ और अर्थ से धर्म श्रेष्ठ है।[१४७]

अर्थ और काम को व्यक्ति-जीवन के लिये ही नहीं समाज-जीवन के लिये

भी आवश्यकता वर्णित है। काम के कारण तो संसार का जीवन चलता है। "जिसके भीतर कामना नहीं है उसे न धन कमाने की इच्छा होती है न धर्म करने की। कामना के विना तो व्यक्ति कोई भी काम नहीं चाहता। कोई-न-कोई कामना रख कर ही ऋषि लोग कठोर तपस्या में संलग्न होते हैं; फल, मूल और पत्ते चवा कर, वायु पी कर सावधानी के साथ संयम करते हैं। कामना से ही लोग वेदों का स्वाध्याय करते, श्राद्ध-यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होते तथा दान देते और प्रतिग्रह स्वीकार करते हैं। यदि काम नष्ट हो जाये तो फिर संसार का ह्रास हो जाये।"[१४८] इसी प्रकार 'अर्थ' के कारण व्यक्ति और समाज का जीवन सुख-पूर्वक व्यतीत होता है और व्यक्ति विभिन्न कार्य करने में समर्थ होता है। "अर्थ ही समस्त कर्मों की मर्यादा है। अर्थ के विना धर्म और काम भी सिद्ध नहीं होते।" इसके अतिरिक्त इनकी आवश्यकता का एक और भी कारण है। संसार-जीवन में लगा हुआ व्यक्ति जब तक जीवन का पूर्ण उपभोग कर, उससे सन्तुष्ट नहीं होता तब तक वह निर्लिप्त जीवन की अर्थात् मोक्ष की ओर बढ़ ही नहीं सकता। संसार-जीवन की लालसा में लगे हुए व्यक्ति को संसार-जीवन त्यागने का उपदेश निरर्थक है। इसीलिये सब प्रकार के ऐश्वर्य को पूर्ण रीति से भोगने और इस सांसारिक जीवन में भी श्रेष्ठता प्राप्त करने का धर्मशास्त्रों ने नियम बनाया है। इसीलिये गृहस्थाश्रम को अनिवार्य किया गया है तथा उसके पश्चात ही संन्यास का विधान किया गया है।[१४९] इसीलिए शूद्रत्व (काम) वैश्यत्व तथा क्षत्रियत्व (अर्थ) से आगे बढ़ कर ही ब्राह्मणत्व प्राप्त होता है क्योंकि जब व्यक्ति सब प्रकार के जीवन का अनुभव कर (पूर्व जन्मों में) उनकी निस्सारता समझ कर सब प्रकार की लालसा का त्याग कर देता है तभी उसके लिये श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त करना सम्भव है। महाभारत में और मत्स्यपुराण में चन्द्रवंशी राजा ययाति की कथा विस्तार से दी गयी है जिन्हें बुढ़ापा आने पर भी भोगों की लालसा बनी रही और जिन्होंने अपने पुत्र पुरु से उसका यौवन माँग कर एक सहस्र वर्ष तक फिर से भोगपूर्ण जीवन व्यतीत किया और तत्पश्चात ही उन्हें भोगों की निस्सारता अनुभव हुयी। परन्तु ऐश्वर्य को पूर्ण रीति से भोगने का अर्थ यह नहीं है कि पापमय रीति से ऐश्वर्य को भोगा जाये। यदि कामोप-भोग अथवा अर्थार्जन पापमय ढङ्ग से किया गया तो समाज में अनवस्था और अव्यवस्था बढ़ेगी। इसीलिये परद्रव्य[१५०] तथा परस्त्री उपभोग की[१५१] निन्दा की गयी है। साथ-ही-साथ अर्थ और काम का अमर्यादित और असीमित उपभोग भी मनुष्य की तृष्णाओं को बढ़ाता है, शान्त नहीं करता और मनुष्य को अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने से अथवा उसका प्रयत्न करने से रोकता है। इस कारण जहाँ अर्थ और काम का उपभोग भी आवश्यक बताया है वहाँ उसे धर्म से

मर्यादित करने पर भी महत्त्व दिया है। महाभारत के अन्त में व्यास कहते हैं[१५२] कि "धर्म से ही अर्थ और काम (प्राप्त होते हैं) फिर उसका (धर्म का) सेवन क्यों नहीं करते।" गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने स्वयं को कामस्वरूप बताया है परन्तु ऐसा काम जो धर्म के अनुकूल है। आपस्तम्ब का कहना है[१५३] कि "धर्म के अविरोधी भोगों को भोगना चाहिये। इसमें दोनों लोकों की प्राप्ति होती है।" मनु का कथन है[१५४] ऐसे अर्थ और काम को छोड़ देना चाहिये जो धर्मविहीन हो। अर्थशास्त्र के और कामशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ भी धर्मशास्त्रों के सिद्धान्तों को आधार मान कर तब अपने सिद्धान्तों का विकास करते हैं।

इस प्रकार धर्म वह साधन है जो मनुष्य द्वारा अर्थ और काम के उपभोग को मर्यादित करता हुआ उसे मोक्ष की ओर ले जाता है। इसीलिये धर्म की वैशेषिक सूत्र में व्याख्या की गयी है "जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो वह धर्म है।"[१५५] इससे श्रेष्ठ और पूर्ण धर्म की व्याख्या हो ही नहीं सकती। वायु-पुराण में भी धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है "स्मृतियों ने कुशल करनेवाले कर्म को धर्म तथा अकुशल करनेवाले कर्म को अधर्म बताया है। धर्म का धारणा और धृति अर्थ होने के कारण जो धारण करता है जिससे व्यवस्था बनी रहती है उसे धर्म कहा जाता है। जिससे धारणा नहीं होती और जिससे महत्व (सुयश अथवा सम्मान) प्राप्त नहीं होता उसे अधर्म कहते हैं। इस प्रसङ्ग में आचार्य लोग उसे धर्म कहते हैं जिसके आचरण से इष्ट की प्राप्ति हो।"[१५६] इस व्याख्या में भी इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की कुशलता अथवा दोनों प्रकार की सिद्धि की ओर सङ्केत किया गया है। क्योंकि धर्म शब्द 'धारणा' का अर्थ व्यक्त करनेवाली 'धृ' धातु से बना है इसलिये धर्म का यह भी भाव है कि उससे समाज की धारणा होती है। अर्थात् धर्म के आधार पर व्यक्ति तो अर्थ और काम का मर्यादित उपभोग करते हुए मोक्ष की ओर बढ़ता ही है परन्तु क्योंकि धर्म के द्वारा अर्थ और काम के उपभोग की मर्यादाएँ निश्चित रहती हैं इसलिए उसके द्वारा समाज के अन्दर व्यवस्था भी स्थापित होती है और अर्थ और काम के अनियंत्रित उपभोग से समाज में अधिकाधिक प्राप्ति की लालसा के कारण उत्पन्न पारस्परिक प्रतियोगिता और सङ्घर्ष रुक कर समाज के सुखी और समन्वयात्मक जीवन की व्यवस्था होती है। इस प्रकार धर्म व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार के जीवन की व्यवस्था का साधन है। धर्मशास्त्रों में जिस धर्म का अर्थात् जिस समाज-व्यवस्था का वर्णन किया गया है वह ऐसा ही धर्म है जो अर्थ और काम के नियन्त्रित उपभोग की अनुमति देते हुए मनुष्य की वृत्ति मोक्ष की ओर मोड़ देता है और समाज-जीवन में व्यवस्था उत्पन्न करता है।

अब एक और भी प्रश्न शेष है। क्या केवल इतना कह देना मात्र पर्याप्त

होगा कि व्यक्ति को ऐहिक सुखोपभोगों का मर्यादित सेवन करते हुए सांसारिक जीवन से ऊपर उठ अपने लक्ष्य मोक्ष की ओर बढ़ना चाहिये ? भारतीय विचार में यह माना गया था कि केवल यह कहना ही पर्याप्त नहीं होगा। सम्पूर्ण समाज-जीवन की योजना भी इस ढङ्ग से करनी आवश्यक होगी जिसमें व्यक्ति के ऊपर मर्यादा रहे वह पूर्णतया उच्छृङ्खल न रह कर अनुशासित जीवन व्यतीत करे, समाज में चारों ओर ऐसा वातावरण हो जिसमें व्यक्ति गुणोत्कर्ष और आध्यात्मिक उन्नति की ओर बढ़ने का प्रयत्न करे तथा उस ओर बढ़ने में समर्थ हो और जिस वातावरण के रहने के कारण भौतिक उन्नति की तुलना में आध्यात्मिक उन्नति श्रेष्ठ समझी जाये। अतः इस प्रकार के समाज-जीवन की व्यवस्था के लिये आश्रम-व्यवस्था निर्माण की गयी थी जिसमें व्यक्ति अपने प्रारम्भिक काल (ब्रह्मचर्य) में ही अनुशासित होना सीखे और आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करे। इस प्रकार लक्ष्य था कि वह जीवन के प्रारम्भिक काल में ही अपने लक्ष्य-प्राप्ति की तैयारी कर आगे अर्थ और काम का मर्यादित उपभोग कर (गृहस्थ) अपने जीवन में विभिन्न प्रकार से इन्द्रियसंयम करते हुए (वानप्रस्थ) परिपूर्ण इच्छारहित जीवन तथा परमात्मा से एकता की ओर बढ़ सके (संन्यास)। दूसरी ओर वर्ण-व्यवस्था का निर्माण किया गया था जिससे आदर्श के रूप में तथा सर्वश्रेष्ठ स्थान पर सतोगुणी ब्राह्मण प्रस्थापित किया गया था जो अपने सन्तोषपूर्ण, संयमित, अनुशासित, निःस्वार्थी और चरित्रसम्पन्न जीवन से लोगों के सामने आदर्श उपस्थित कर उस आदर्श की ओर प्रेरणा दे और जो अपने लिए, अपने आदर्श-जीवन के कारण, समाज की इतनी श्रद्धा निर्माण करे जिससे वह समाज के अन्य लोगों को उनके अपने-अपने धर्म पर मर्यादित करने में समर्थ हो और इस प्रकार सम्पूर्ण समाज को भौतिक जीवन की लालसा की तुलना में आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग पर प्रवृत करने में समर्थ हो। इसलिये भारतीय विचार में व्यक्ति के लिये मोक्ष का आदर्श तो रखा ही था, परन्तु उस आदर्श को व्यवहार में परिणत करने के लिये व्यवस्था भी स्थापित की गयी थी। समाज-व्यवस्था का उद्देश्य केवल यही नहीं था। उसका उद्देश्य समाज का सुव्यवस्थित, सुसंघटित, सुखी तथा समन्वयात्मक जीवन भी निर्माण करना था और जीवन को चार भागों में बाँट कर उनकी योजना तथा समाज को विभिन्न कार्यों के अनुसार कई वर्गों में विभाजित कर उनकी व्यवस्था तथा राज्य का निर्माण और संघटन इस दृष्टि से भी था। समाज-व्यवस्था के उपरोक्त स्वरूप का तथा आध्यात्मिक लक्ष्य से उसके समन्वय का वर्णन तो आगे किया जायेगा परन्तु इसके पूर्व भारतीय संस्कृति के सिद्धान्तों का भी—जिन पर सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था आधारित थी—विश्लेषण आवश्यक होगा।

तीसरा अध्याय

भारतीय संस्कृति के सिद्धान्त

पिछले अध्याय में जो विवेचन किया गया है उसके आधार पर भारतीय संस्कृति के स्वरूप तथा सिद्धान्त स्पष्ट रीति से समझे जा सकते हैं। भारतीय संस्कृति के इन सिद्धान्तों को इसलिये समझना आवश्यक है कि इन्हीं सिद्धान्तों के ही आधार पर सम्पूर्ण समाज और राज्य-व्यवस्था का ढाँचा खड़ा हुआ है।

सबसे प्रथम तो भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक है अर्थात् मनुष्य के सामने भौतिक जीवन की श्रेष्ठता का लक्ष्य नहीं रखा गया है। अपितु मनुष्य को इस भौतिक जीवन से ऊपर उठाने का प्रयास किया है और इस बात का प्रयत्न किया गया है कि मनुष्य भौतिक सुखोपभोग की तुलना में आध्यात्मिक उन्नति को अधिक महत्त्व देते हुए उसकी ओर बढ़ने का निश्चित प्रयत्न करे।[1] इस अध्यात्म का महत्त्व स्वीकार करने के कारण अध्यात्म को ही ज्ञान का चरम रूप माना जाता है और इसे इसी कारण 'वेदान्त' कहा गया है। श्रुति ग्रन्थों में भी उपनिषद् वह ग्रन्थ हैं जिनके विषय में समझा जाता है कि उनमें सम्पूर्ण श्रुतियों का सार है और इस कारण यह ज्ञान का चरम स्वरूप माने गये हैं। यह उपनिषद् आध्यात्मिक ज्ञान का ही प्रमुख रीति से वर्णन करते हैं। आध्यात्मिक जीवन का महत्त्व बताने के लिये ही संन्यास-धर्म को, जिसमें मनुष्य ब्रह्म-प्राप्ति की ओर जाता है, व्यक्ति-जीवन की सबसे अन्तिम सीढ़ी के रूप में रखा गया है। अग्निपुराण में तो शरीर की तुलना भगवान् के मन्दिर से की गयी है जिसमें जीव ही भगवान् की प्रतिमा है। मनुष्य का शरीर अर्थात् आकृति प्रकृति है, मुख उस देव-मन्दिर का द्वार है, शिर ऊपर का भाग है, जिसकी मूर्धना अर्थात् जहाँ शिखा होती है वह मन्दिर का कलश है, मनुष्य का कण्ठ मन्दिर का कण्ठ है तथा मनुष्य का कन्धा इस मन्दिर की

वेदी है।[२] क्योंकि अध्यात्म का पीछे वर्णन दे दिया गया है अतः यहाँ इसका इससे अधिक विशद विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है।

मोक्ष के लक्ष्य को प्रधानता देने के कारण भारतीय संस्कृति **त्यागवादी** है। धीरे-धीरे संसार का त्याग कर देना यह भारतीय जीवन का लक्ष्य है। वैसे भी साधारण जीवन में त्यागपूर्ण ढङ्ग से रहना यही आदर्श रखा गया है। ईशोपनिषद् में कहा है[३] "जो कुछ इस सृष्टि में भौतिक पदार्थ हैं वे सब परमात्मा के हैं इसलिए त्यागपूर्ण ढङ्ग से भोग करो।" इसी को गीता में यज्ञशेष के उपभोग के नाम से पुकारा गया है। तीसरे अध्याय में कहा है[४] "यज्ञ के लिये देवताओं द्वारा दिये हुए इष्ट भोगों को जो पुरुष उनको बिना दिये स्वयं भोग करता है, वह चोर ही है। यज्ञशेष अन्न को खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाते हैं और जो पापी लोग अपने शरीर का पोषण करने के लिये ही अन्न पकाते हैं वे तो पाप को ही खाते हैं।" पीछे बताया ही गया है कि 'यज्ञ' का अर्थ है लोकसंग्राहक कर्म तथा, जैसा अभी वर्णन किया जायेगा, देवता सामाजिक और व्यक्तिगत शक्तियों के प्रतीक हैं। इसीलिये देवताओं का भाग दे कर यज्ञशेष का उपभोग करने का अर्थ है कि सामाजिक कल्याण के लिये दान दे कर तत्पश्चात जो शेष रहे उसे अपने व्यक्तिगत जीवन के लिये उपयोग करना चाहिये। यज्ञशेष के उपभोग के सिद्धान्त को समाज-व्यवस्था के अन्दर व्यवहार में लाया गया है। उपभोगपूर्ण गृहस्थ जीवन में भी पञ्चमहायज्ञ करने के पश्चात् ही गृहस्थ के भोजन करने का नियम है।[५] इसके अतिरिक्त गृहस्थ के लिये ब्रह्मचारी तथा संन्यासी को भी भिक्षा देना आवश्यक है। समाज के अन्दर जो श्रेष्ठ आदर्शरूप ब्राह्मण और संन्यासी हैं उनको तो जीवन के अन्दर त्यागपूर्ण ढङ्ग से ही रहना है। संन्यासी को तो निरेच्छ (इच्छारहित) रहने का आदेश है और ब्राह्मण को भी अल्पसन्तोषी होना चाहिये। वह दान देगा परन्तु दान लेने की कामना न करेगा। वह विद्या दान करेगा पर विद्या विक्रय नहीं करेगा।[६] यह सब इसलिये है जिससे व्यक्ति सांसारिक कामनाओं और स्वार्थों से ऊपर उठ कर धीरे-धीरे सब कुछ ब्रह्मार्पण करने की ओर बढ़े।

क्योंकि भारतीय संस्कृति आध्यात्मवादी है इस कारण मनुष्य के आध्यात्मिक विकास को ही सबसे अधिक महत्त्व है। केवल मानसिक अथवा बौद्धिक ज्ञान की वृद्धि का भारतीय संस्कृति में मनुष्य के आन्तरिक विकास से, जिससे स्वाभाविक रीति से मानसिक तथा बौद्धिक विकास भी हो जाता है, कम महत्त्व है। भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक है इसलिये ब्रह्मचर्याश्रम में विद्यार्थी क्या और कितना पढ़ता है इसका महत्त्व होते हुए भी उसके जीवन के विकास और संयम पर अधिक महत्त्व दिया गया है। अतः जैसा बताया गया है स्वाध्याय का अर्थ यह

नहीं कि विभिन्न ग्रन्थों को पढ़ कर मस्तिष्क को एक ज्ञानकोष के रूप में परिवर्तित कर दिया जाये परन्तु स्वाध्याय का अर्थ है धर्मशास्त्रों का अध्ययन[७] जिससे धर्म अर्थात् आत्मिक उन्नति के प्रति बुद्धि जागृत हो। स्वाध्याय को ब्रह्मयज्ञ भी कहा गया है अर्थात् वह ब्रह्म की ओर ले जानेवाला है।[८] क्योंकि **आन्तरिक उन्नति पर अधिक** बल दिया गया है इस कारण व्यक्ति की भौतिक उन्नति अथवा ऊपरी व्यवहार की श्रेष्ठता आध्यात्मिक उन्नति की तुलना में एक छोटी बात है। इसलिये राजशक्तिधारी क्षत्रिय तथा धन-सम्पत्ति के स्वामी वैश्य से ब्राह्मण का महत्त्व अधिक है। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति तथा विष्णुधर्मसूत्र[९] में धन, बन्धु, आयु, कर्म (धार्मिक कृत्य) तथा विद्या (आध्यात्म ज्ञान) को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ बताया है। इस आन्तरिक उन्नति को समाज-व्यवस्था के अन्दर भी महत्त्व दिया गया है। दस यम तथा दस नियम बताये गये हैं। यम हैं मनुष्य के आन्तरिक गुण, अक्रूरता, क्षमा, सत्य, अहिंसा, दान (गुण) नम्रता, प्रीति, प्रसन्नता, मधुर, वाणी और कोमल स्वभाव, तथा नियम है यज्ञ, तप, दान (कर्म) स्वाध्याय, इन्द्रियनिग्रह, व्रत, मौन, उपवास, स्नान और शौच।[१०] इनमें से नियमों की तुलना में यमों का पालन अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। धर्मपालन में भी वाह्य आचार का पालन कम महत्त्वपूर्ण है उसकी आन्तरिक भावना पर अधिक बल है। वायुपुराण का कहना है "स्वयं ब्रह्मा ने कहा है कि सब आश्रम कल्याण के लिये हैं (किन्तु) सत्य, सरलता क्षमा, तप, योग, दान, वेद, वेदाङ्ग, यजन, व्रत, नियम आदि दुष्टों के करने पर भावदोष होंने के कारण फलप्रद नहीं होते। जिसका आन्तरिक भाव दोषपूर्ण है उसके द्वारा पराक्रम होने पर भी उसके वाह्य कर्म कभी ही सिद्ध होते हैं (प्रायः कभी सिद्ध नहीं होते)। कलुषित हृदय से सर्वस्व दान करके भी कोई धर्मभाजन नहीं हो सकता क्योंकि उसकी भावना शुद्ध नहीं। (धर्मलाभ के विषय में) आन्तरिक भावना ही कारण हैं।"[११]

यह संस्कृति आध्यात्मिक है इसका केवल इतना ही अर्थ नहीं माना गया है कि सम्पूर्ण सृष्टि इस ब्रह्म का उपाव्याख्यान है अर्थात् परमात्मा द्वारा उत्पन्न की गयी है परन्तु यह भी माना गया है कि संसार में जितनी भी कल्याणकारी अथवा सुगठित जीवन निर्माण करनेवाली **व्यवस्थाएं अथवा तत्व हैं वह भी परमात्मा द्वारा** निर्मित हुए हैं। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त[१२] से यह स्पष्ट होता ही है। कि यज्ञ की, जो मूल रीति से लोकसंग्राहक है तथा वर्णों की उत्पत्ति परमात्मा द्वारा हुई है[१३] अर्थात् समाज- व्यवस्था अथवा कर्मकाण्ड को जन्म देनेवाले स्वयं परमात्मा हैं। अन्य भी वहुत सी वातों के विषय में मुण्डकोपनिषद् में कहा है[१४] "उन (परमेश्वर) से ही ऋक्, साम, यजु, (कर्मों की) दीक्षा, यज्ञ और क्रतु (उनमें

दी जानेवाली) दक्षिणाएँ, संवत्सर (काल), यजमान, (समस्त) लोक, जहाँ सूर्य और चन्द्र प्रकाश फैलाते हैं, उत्पन्न हुए हैं। उसी से बहुत-से देवता, साध्यगण, मनुष्य, पशु-पक्षी, प्राण-अपान (वायु), धान-जौ (आदि अन्न) और तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य तथा (विविध कर्मों—यज्ञ, संस्कार आदि के करने की) विधि, ये सब उत्पन्न हुए है।" इतना ही नहीं सम्पूर्ण ज्ञान भी परमात्मा अथवा परमात्मा के सगुण रूप सृष्टि के उत्पत्तिकर्ता ब्रह्मा द्वारा प्रकट किया गया है। कहा गया है कि ब्रह्मविद्या का उपदेश सबसे पहले ब्रह्माजी ने दिया था।[१५] वेद तो ब्रह्माजी के मुख से उत्पन्न हुए ही हैं। इसके अतिरिक्त यह भी बताया गया है "ब्रह्माजी ने अपनी बुद्धि से एक लाख अध्यायों (के ग्रन्थ) की रचना की जिसमें धर्म, अर्थ, काम का वर्णन है, तथा उस ग्रन्थ में त्रयी, आन्वीक्षिकी, वार्ता तथा बहुत-सी विद्याएँ निर्दशित है।"[१६] उपरोक्त सम्पूर्ण व्यवस्था तथा ज्ञान का समुचित रूप बनाये रखनेवाला राजा[१७] तथा जिस शक्ति के द्वारा वह समस्त संसार को ठीक मार्ग पर चलाता है वह दण्ड[१८] इनका निर्माण भी ईश्वर ने अथवा ब्रह्मा (और विष्णु) ने किया है। ऊपर के सब वर्णन से यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि उपरोक्त वर्णन ऐतिहासिक हैं परन्तु यह सब इसी बात का सङ्केत करते हैं कि जो कुछ भी मनुष्य ने श्रेष्ठ तत्त्व निर्माण किया है उसके विषय में उसे यह अहङ्कार नहीं करना चाहिये कि यह उसी के द्वारा निर्मित है। अपितु यह धारणा रखनी योग्य है कि यह विचार अथवा यह ज्ञान उसके हृदय में परमात्मा की प्रेरणा से जागृत हुआ है। इस कारण किसी अविकृत भारतीय ग्रन्थ में किसी बात की अन्वेषणा की अहङ्कारपूर्ण उक्ति नहीं दिखायी देती। यह सब परमात्मा द्वारा उत्पन्न है यह कहने का यह अर्थ भी नहीं है कि यह अतिमानवी (Superhuman) है और इसलिये यह अचिन्तनीय अथवा समझ के परे हैं। यह कथन कि यह सब परमात्मा द्वारा निर्मित है यह समझाने के लिये है कि यह ज्ञान अथवा यह व्यवस्था संसार के लिये हितकारक है और इसे तदनुसार ग्रहण करना चाहिये।

भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक होने के साथ-साथ आधिदैविक भी है। इसमें केवल एक परमात्मा का ही वर्णन नहीं है उसके प्रतीक-रूप विभिन्न स्थानों पर विद्यमान और विभिन्न कार्यों का सञ्चालन करनेवाले देवताओं का भी वर्णन है। आगे बताया गया है[१९] कि ये विभिन्न वर्णित देवता किस प्रकार से उसी एक ब्रह्म के रूप हैं। ये देवता कोई अतिमानवी शक्ति के रूप में किसी लोक में निवास करते है अथवा नहीं करते यह तो कहना कठिन है परन्तु इतना तो निश्चित ही कहा जा सकता है कि ये देवता विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। वेदों में विभिन्न देवताओं की जो स्तुति है और उन देवताओं की जो विविध

प्रकार की प्रार्थनाएँ की गयी है वह भी इसी ओर इङ्गित करती हैं कि ये देवता शक्तियों के रूप में माने गये हैं। प्रश्न यह उठता है कि ये देवता कौन-कौन सी शक्तियों के प्रतीक समझे गये हैं। प्रथमतः तो इन्हें सामाजिक शक्तियों का प्रतिरूप माना गया है। वृहदारण्यकोपनिषद् में[२०] कहा है "आरम्भ में यह ब्रह्म एक ही था। अकेले होने के कारण यह विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। उसने अतिशयता से क्षात्र इस प्रशस्त रूप की रचना की अर्थात् देवताओं में जो ये इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशानादि हैं उन्हें उत्पन्न किया। वह विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। उसने वैश्य जाति की अर्थात् जो ये वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव, मरुत, आदि देवगण गणशः कहे जाते हैं उनकी रचना की। वह विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। उसने शूद्र वर्ण की रचना की। पूषा शूद्रवर्ण है...ब्रह्म अग्नि-रूप से देवताओं में ब्राह्मण है।" दूसरे, ये देवता प्राकृतिक शक्तियों के भी प्रतीक माने गये हैं। सूर्य, वायु, अग्नि, पृथ्वी, ऊषा आदि तो स्पष्ट रूप से प्राकृतिक शक्तियाँ हैं परन्तु इन्द्र, वरुण आदि भी वैसे ही रूपों को दिग्दर्शित करते हैं तथा इतिहास-पुराण ग्रन्थों की कथाओं में उनका वैसा ही वर्णन आता है। उदाहरण के लिये महाभारत में जब श्रीकृष्ण और अर्जुन खाण्डव वन जलाने का प्रयत्न करते हैं।[२१] तब उन्हें इन्द्र (वर्षा के देवता) से युद्ध करना पड़ता है। इसी प्रकार वरुण का वर्णन जल के देवता के रूप में आया है।[२२] इसी प्रकार से जिन्हें पौराणिक देवता कहा जाता है वह भी प्राकृतिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार की शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। देवताओं को प्राकृतिक शक्तियों का प्रतीक मानने के कारण ही यह कहा गया है कि होम द्वारा इनका पोषण होता है।[२३] इसके अतिरिक्त ऐसा भी प्रतीत होता है कि ये देवता शरीर के अन्दर निवास करनेवाली विविध शक्तियों के भी प्रतीक हैं। वर्णों की शरीर के अङ्गों से जो तुलना की गयी है और दूसरी ओर देवताओं को भिन्न-भिन्न वर्णों का जो माना गया है इसका अर्थ है कि यह देवता भी शरीर के विभिन्न भागों से सम्बन्धित माने गये हैं।

भारतीय संस्कृति धर्मवादी भी है। धर्म की सर्वत्र प्रशंसा की गयी है तथा धर्मपालन की आवश्यकता बतायी गयी है। इसका यह भी एक अर्थ है कि इस आध्यात्मिक उन्नति के जितने भी साधन हैं पूजा, यज्ञ, तप, आदि उनका जीवन में व्यवहार करते हुए मनुष्य को, उसका मन धीरे-धीरे स्वार्थ से हटा कर परमार्थ की ओर तथा भौतिक लालसाओं से हट कर सर्वस्व-त्याग की ओर बढ़ाने का प्रयत्न है और साकार, सगुण तथा निर्गुण उपासना के क्रमशः बढ़ते हुए माध्यम से परमात्मा से एक रूपता प्राप्त करने के प्रयत्न

का विधान है। धर्मवादी होने का यह भी अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में उसके आध्यात्मिक स्तर, अतः उसकी चारित्रिक उन्नति और सामाजिकता की भावना के अनुरूप, अर्थात् उसकी उन्नति और योग्यता के अनुसार उसके लिये जो कर्त्तव्य जीवन में निर्धारित किये गये हैं उनका प्रत्येक को पालन करना आवश्यक है, विशेष रूप से इसलिये कि यह कर्त्तव्य उसकी त्याग करने की और उसकी चारित्रिक उन्नति और श्रेष्ठता प्रकट करने की सामर्थ्य के आधार पर हैं और इस कारण प्रत्येक व्यक्ति को इनके अनुसार अपने व्यक्तिगत और सामाजिक उत्तरदायित्व को उत्तमता के साथ निवाहना सम्भव है और विशेष रूप से इसलिये कि इन कर्त्तव्यों के अनुसार जीवन व्यतीत करने पर व्यक्ति जिस आध्यात्मिक स्तर तक पहुँचा है उस आध्यात्मिक स्तर से आगे बढ़ना उसके लिये सम्भव है। धर्मवादी होने का अर्थ यह भी है कि नैतिक गुणों को पालन करने और उसके अनुसार जीवन व्यतीत करने का भी व्यक्ति से आग्रह किया गया है क्योंकि इसके द्वारा व्यक्तिगत रूप से आध्यात्मिक उन्नति की ओर बढ़ने की पात्रता और सामाजिक जीवन की दृष्टि से सङ्घर्षहीनता उत्पन्न होती है। संक्षेप में भारतीय संस्कृति धर्मवादी है इसका अर्थ यह है कि मनुष्य के आध्यात्मिक लक्ष्य को ध्यान में रख कर मनुष्य के जीवन में सर्वसाधारण रूप से (साधारण धर्म) तथा उसका जो समाज में स्थान निर्धारित किया गया है उसके अनुसार विशेष रूप से (वर्णाश्रम धर्म) जो कर्त्तव्य निर्धारित किये गये हैं उनका पालन करने का तथा भगवद्प्राप्ति के साधन अपनाने का भारतीय जीवन में प्रवल आग्रह है। मनुस्मृति में धर्मपालन का महत्त्व वताते हुए कहा है[२४] "नष्ट किया हुआ धर्म ही मारता है" और रक्षा किया हुआ धर्म ही रक्षा करता है इसलिये धर्म कहीं हमारा नाश न करे यह सोचकर धर्म का नाश नहीं करना चाहिये।" वृहदारण्यक उपनिषद् में भी वताया गया है[२५] "धर्म से उत्कृष्ट कुछ नहीं है इसीलिये जिस प्रकार राजा की सहायता से उसी प्रकार धर्म के द्वारा भी निर्वल पुरुष वलवान को जीतने की इच्छा करने लगता है। यह जो धर्म है निश्चय वह सत्य ही है।"

धर्मवादी होने के कारण सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था 'धर्म' के नाम से पुकारी गयी है अतः व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के कर्त्तव्यों का ही प्रमुख रीति से उल्लेख है—उदाहरणार्थ राजधर्म में वर्णन है राजा को क्या करना चाहिये तथा किस प्रकार रहना चाहिये, स्त्री-धर्म में स्त्री के कर्त्तव्यों का तथा जीवन के नियमों का वर्णन हैं। विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों की सुविधाओं और अधिकारों का भी यद्यपि वर्णन किया गया है—ब्राह्मण की सुविधाओं का (जैसे सव लोग ब्राह्मण की वन्दना करें, ब्राह्मण को दान दें, ब्राह्मण का धन न लूटें आदि) स्त्रियों की सुविधाओं का (स्त्रियों का कोई वध न करे, स्त्रियों की कामनाओं की सदैव पूर्ति

की जाये आदि) राजा की सुविधाओं का (राजा को सब देवताओं का रूप समझना चाहिये, राजा की आज्ञा का सदैव पालन करना चाहिये, शूद्र की सुविधाओं का (उनका जीवन-भर उनके स्वामी को पोषण करना चाहिये, उनके लिये विविध प्रतिबन्धों का अभाव) तथा ब्रह्मचारी की, स्नातक की, संन्यासी की सुविधाओं और अधिकार का (प्रत्येक के विषय में देखिए आगे तत्सम्बन्धी विवेचन)—परन्तु इस बात पर आग्रह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्य का ध्यान दे, सुविधाओं और अधिकारों का नहीं। यदि प्रत्येक ने ही अपने-अपने कर्तव्य का पालन किया तो सबकी सुविधाओं और अधिकारों का स्वतः ही पालन हो जायेगा।

आन्तरिकता का महत्त्व होने के कारण तथा बौद्धिक ज्ञान से आत्मिक उन्नति को श्रेष्ठ समझने के कारण भारतीय संस्कृति में **श्रद्धा का बहुत महत्त्व** है। ऋग्वेद में है[२६] "अग्नि श्रद्धा से प्रदीप्त किया जाता है। हविर्द्रव्य का श्रद्धा से हवन किया जाता है। धन से श्रद्धा को अधिक महत्त्वपूर्ण कहा जाता है। प्राण का रक्षण करनेवाले देवता, यजमान श्रद्धा की ही उपासना करते हैं। हृदय के सङ्कल्प से श्रद्धा की ही उपासना होती है। श्रद्धा से ही धन प्राप्त होता है। प्रातःकाल (हम) श्रद्धा का आवाहन करते हैं, मध्यंदिन में श्रद्धा का आवाहन करते हैं, सूर्य के अस्त के समय श्रद्धा का आवाहन करते हैं। हे श्रद्धा देवि! हमें इस लोक में श्रद्धा से युक्त कर।" मनुस्मृति में सभी कर्मों को श्रद्धापूर्वक करने पर बल दिया गया है।[७२] "पूर्त धर्म बिना तन्द्रा के श्रद्धापूर्वक करे। न्याय से आये हुए धन से श्रद्धापूर्वक करने पर वे (इष्टापूर्त कर्म) अक्षय (फल) देते हैं।" नारदपुराण में तो श्रद्धा का महत्त्व विस्तार से वर्णन किया है।[२८] श्रद्धा का यह महत्त्व कई कारणों से है। एक तो श्रद्धा न रही तो सबसे गुणकारी कार्य में भी दोष ढूँढ़े जा सकते हैं। श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ नियम में भी श्रद्धाविहीनता के कारण अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है। दूसरे कोई भी कर्म श्रद्धापूर्वक करने से ही व्यक्ति अपनी उन्नति कर सकता है। यदि गुरु के प्रति श्रद्धा है तभी गुरु के उपदेशों का उपयोग होगा, यदि तीर्थयात्रा में श्रद्धा है तभी व्यक्ति को उसका लाभ होगा। तीसरे, श्रद्धा के द्वारा किया हुआ कर्म ही 'धर्म' के अन्तर्गत गिना जा सकता है और वही समाज-जीवन को लाभ पहुँचा सकता है अन्यथा वह केवल औपचारिकता-मात्र होगी जिससे समाज का आन्तरिक जीवन खोखला होता जायेगा।

भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता को प्रमुखता देते हुए **भौतिकता** को भी कम महत्त्व नहीं दिया गया है। चारों वेदों के मन्त्रों में भौतिक जीवन की वस्तुओं को प्राप्त करने की प्रार्थना की गयी है। उपनिषद् में प्राण तथा अन्न दोनों की उपासना बतायी गयी है। प्राण अध्यात्म का प्रतीक है तथा अन्न भौतिकता का। अन्न और प्राण की समान आवश्यकता का वर्णन बृहदारण्यकोउपनिषद् में

किया गया है।[२९] "कोई कहते हैं कि अन्न ब्रह्म है किन्तु ऐसी बात नहीं है क्योंकि प्राण के विना अन्न सड़ जाता है। कोई कहते हैं प्राण ब्रह्म है किन्तु ऐसी बात नहीं है क्योंकि अन्न के विना प्राण सूख जाता है। परन्तु ये दोनों देव एकरूपता प्राप्त कर परम पद प्राप्त करते हैं।" राजा पृथु की कथा तथा अमृत-मन्थन की कथा दोनों में ही भौतिक उन्नति का महत्त्व दिखाया गया है। राजा पृथु ने पृथिवी को दुह कर संसार के उपभोग की सब वस्तुएँ प्राप्त कर प्रजा को सुखी किया।[३०] अमृतमन्थन के द्वारा देवताओं तथा दैत्यों ने लक्ष्मी, ऐरावत, स्यमन्तक मणि, वाजिश्रवा घोड़ा, धन्वन्तरि वैद्य आदि को प्राप्त किया। अग्निपुराण में, जिसमें सम्पूर्ण धर्म का संक्षेप में वर्णन किया है, अन्य शास्त्रों के समान ही धर्म के सभी कृत्यों को यथा तप को, तीर्थों को, व्रतों को, दान को तथा धर्म के अन्य सभी अङ्गों को भुक्ति-मुक्तिप्रद कहा है[३१] अर्थात इनके पालन से संसार के भोग तथा मुक्ति दोनों की प्राप्ति होती है। चारों वेदों के उपवेद—धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, आयुर्वेद, अर्थशास्त्र—भौतिक ज्ञान के वर्णन से ही सम्बन्धित हैं। चारों विद्याओं में आन्वीक्षिकी (दर्शनशास्त्र) और त्रयी (धर्मशास्त्र) के अतिरिक्त दण्डनीति और वार्ता भी दो विद्याएँ हैं जिनमें से एक में राजनैतिक व्यवस्था तथा दूसरे में आर्थिक जीवन का वर्णन है।[३२] धर्मशास्त्रों ने धर्मपालन का उपदेश दिया है पर साथ-साथ यह भी आग्रह किया है कि शरीर का ध्यान करते हुए धर्माचरण करना चाहिये। पराशर का कहना है "अपने देह की रक्षा करे और पीछे धर्म का आचरण करे। मृदु अथवा कठोर किसी भी धर्म से व्यक्ति पहले स्वयं का उद्धार करे और (फिर) समर्थ हो कर धर्म का आचरण करे।"[३३] "जीता हुआ मनुष्य व्रत, कृच्छ्र आदि के द्वारा पापों को दूर कर सकता है, ऐसा भगवान यम ने कहा है। परन्तु शरीर धर्म का सर्वस्व है। उसकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये।"

भारतीय व्यवस्था में भौतिक जीवन को भी पर्याप्त महत्त्व होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति से अपने आदर्श के पालन का आग्रह होने के साथ-साथ उसमें सांसारिक जीवन की व्यावहारिक कठिनाइयों तथा आवश्यकताओं का भी पूरा ध्यान रखा गया है अर्थात् भारतीय व्यवस्था में आदर्श के साथ सांसारिक व्यावहारिकता कम नहीं दिखायी देती। यद्यपि संन्यास को अन्तिम आदर्श के रूप में बताया गया है परन्तु व्यावहारिकता का ध्यान रखते हुए गृहस्थाश्रम का भी विधान है और उसकी अनिवार्यता भी रखी गयी है।[३४] व्यावहारिकता की दृष्टि से अन्य भी कई बातों का ध्यान रखा गया है। सर्वप्रथम तो आपद्धर्म की व्यवस्था है। विशेष परिस्थिति में जब कि धर्म की सर्वसाधारण व्यवस्था का पालन करना कठिन हो जाये तब उस व्यवस्था को छोड़ कर भी व्यवहार करने की अनुमति है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिये उनकी वृत्ति (जीविका के साधन)

निर्धारित कर दी गयी है। परन्तु साथ ही साथ यह भी व्यवस्था है कि आपत्तिकाल हो तो प्रत्येक वर्ण अपने नीचे के किसी वर्ण की जीविका का प्रयोग कर सकता है।[३५] आपत्तिकाल में साधारण काल के धर्म का परित्याग करना अधर्म नहीं है इसके उदाहरण मनुस्मृति में दिये गये हैं। "भूखा अजीगर्त ऋषि अपने पुत्र शुनःशेफ को मारने के लिए तैयार हुआ, तो भी, क्षुधा का उपाय करने के कारण, वह पाप से लिप्त नहीं हुआ। धर्म-अधर्म जाननेवाले क्षुधा से पीड़ित वामदेव ऋषि ने प्राण-रक्षा के लिये कुत्ते का मांस खाना चाहा तो भी वह पाप से लिप्त नहीं हुए। महातपस्वी भारद्वाज मुनि ने पुत्र सहित क्षुधा से पीड़ित हो कर निर्जन वन में वृद्ध बढ़ई से बहुत-सी गौएँ लीं। धर्म-अधर्म के ज्ञाता विश्वामित्र मुनि भूखे होने पर चाण्डाल के हाथ से कुत्ते की जांघ का मांस खाने को तैयार हुए।"[३६] रोग आदि में भी धर्मपालन में कड़ाई न करने का आदेश है।[३७] सत्य, अहिंसा आदि नियमों का भी विशेष परिस्थितियों में अपवाद बताया गया है।[३८] विशेष परिस्थितियों में ही नहीं विशेष व्यक्तियों की आवश्यकताओं का भी धर्मपालन में ध्यान रखा गया है। अशौच राजा को, व्रती को, तथा यज्ञ करनेवाले को नहीं लगता, इसी प्रकार ब्रह्मचारी को भी नहीं लगता।[३९] यह सब व्यावहारिक आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर ही है और राजा के सम्बन्ध में तो यह बात स्पष्ट कर ही दी गयी है। "राजगद्दी पर बैठे हुए राजा की तुरन्त शुद्धि बतायी गयी है। प्रजा की रक्षा के लिये राजा का राजपद पर बैठना ही इसका कारण है।"[४०] इसी प्रकार स्त्रियों को प्रायश्चित्त का विधान उनकी शक्ति और सुविधा को ध्यान में रखते हुए सरल बनाया गया है अर्थात् जहाँ उनके केशों का मुण्डन कहा गया है वहाँ केवल दो अङ्गुल केश काटने का विधान है।[४१] "स्त्रियों की, बालकों तथा वृद्धों की तुरन्त शुद्धि बतायी गयी है। निरन्तर बरसनेवाली मेघ की धारा, पवन की उड़ाई हुई धूल, स्त्री, बाल, और वृद्ध ये कभी दूषित नहीं हैं।"[४२] स्त्रियों के सम्बन्ध में निम्न नियम भी स्त्रियों की दुर्बलता को ध्यान में रखते हुए बनाया गया है। "जो स्त्री बलपूर्वक अथवा चोरी से भोगी गयी हो ऐसी दूषित स्त्री का त्याग न करे क्योंकि स्त्री की इच्छा के अनुसार यह काम नहीं किया गया।"[४३] आपत्तिकाल और विशेष व्यक्तियों की विशेष अवस्था छोड़ कर भी शेष नियमों में भी व्यावहारिकता का ध्यान रखा गया है। शरीर-रक्षा का धर्मपालन में सदैव ध्यान रखना चाहिये इसका उल्लेख ऊपर किया ही गया है। मनुस्मृति, अत्रिस्मृति, शङ्खस्मृति में भी शरीर की सुरक्षा का बहुत आग्रह है।[४४] गृहस्थ के निम्न नियम भी व्यावहारिकता की ओर सङ्केत करते हैं "वस्त्र स्वच्छ रखे; केश, डाढी, मूँछ और नख को सदा कटा कर रखे तथा पवित्र रहे। अपनी

स्त्री के सामने एक ही वस्त्र पहने और खड़ा हो कर भोजन न करे। जिसमें प्राण का संशय हो ऐसा काम न करे, अकस्मात कड़ी बात न कहे, किसी का अहित न करे और झूठ न बोले, चोर और व्याजखोर न हो।......पाँव आग में न तपाये, न आग को लाँघे। अञ्जलि से जल न पिये। कोई सोया हो तो न जगाये, पाँसा न खेले, धर्मनाश करनेवाली वस्तुओं से भी न खेले और स्त्रियों के साथ शयन न करे।"[४५] इसी प्रकार अनध्याय के नियम, भोजन-सम्बन्धी नियम, शुद्धि-सम्बन्धी नियम[४६] व्यावहारिकता पर आधारित हैं। व्यावहारिकता को ध्यान में रखते हुए मनुष्य की दुर्बलताओं को भी भारतीय धर्मशास्त्रों में मान्यता दी गयी है तथा उन दुर्बलताओं को ध्यान में रखते हुए नियम बनाये गये हैं। आठ प्रकार के विवाह तथा दस प्रकार के पुत्रों को मान्यता देने का अर्थ है मनुष्य की दुर्बलता को स्वीकार करते हुए उस दुर्बलता के लिये व्यवस्था करना। इसी प्रकार स्त्रियों से सम्बन्धित निम्न नियम भी मनुष्य की दुर्बलता का विधान करने के लिये ही है। "यदि असवर्ण गर्भ स्त्री की योनि में सींचा जाये तो वह स्त्री इतने समय तक अशुद्ध रहती है जब तक वह गर्भ का त्याग न करे और गर्भ त्याग कर, दुःख की निवृत्ति होने पर, तथा रजकण दिखने पर वह स्त्री इस प्रकार शुद्ध हो जाती है जैसे निर्मल सोना।"[४७] वर्णसङ्करता की घोर निन्दा करते हुए वर्णसङ्कर जातियों को मान्यता प्रदान करना भी मनुष्य की दुर्बलताओं को मान्यता देने का एक उदाहरण है। भारतीय धर्मशास्त्रों में इन दुर्बलताओं को इसीलिये स्वीकार और अङ्गीकार किया कि यदि मनुष्य की दुर्बलता के कारण उसे त्याग दिया जाये तो फिर उसकी उन्नति सम्भव ही नहीं है। इसीलिये इन दुर्बलताओं की भर्त्सना तो की है परन्तु साथ-ही-साथ इन्हें मान्य भी किया है जिससे दुर्बल व्यक्तियों के लिये परिवर्तन का मार्ग सदैव प्रशस्त बना रहे। दुर्बलताओं को मान्यता देना वर्तमानकालीन नैतिक कल्पनाओं को आघात पहुँचा सकता है पर भारतीय समाजशास्त्रियों ने प्रत्येक व्यक्ति को ही ऊँचा उठाने की दृष्टि से ऐसा करना आवश्यक समझा तथा इसके लिये विधान भी बनाया। भारतीय समाज-जीवन में व्यावहारिकता का महत्त्व इस बात से भी समझा जा सकता है कि विभिन्न शास्त्रों के भारतीय ग्रन्थों में यथा राजनीति और समाज-शास्त्र के ग्रन्थों में सिद्धान्तों की बहुत अधिक विवेचना नहीं है अर्थात् पश्चिमी शास्त्रों के समान यहाँ के शास्त्रकारों ने तत्त्वज्ञान (theory) और व्यवहार (Practice) ऐसे दो भेद नहीं किये हैं। यदि कहीं तत्त्वज्ञान की थोड़ी-बहुत विवेचना है भी तो वह केवल व्यावहारिक नियमों को सिद्ध करने के लिये। साधारणतया सभी ग्रन्थों में केवल व्यावहारिक नियम ही दिये गये हैं। जहाँ तक तत्त्वज्ञान का प्रश्न है उसे भी व्यावहारिक बनाया गया है। यहाँ तक कि

मोक्ष का तत्त्वज्ञान भी भारतीय विचार में केवल सिद्धान्त की अथवा विचार की ही बात नहीं है परन्तु प्रत्यक्ष व्यवहार का एक आदर्श है। इस प्रकार आदर्शवादिता के साथ भारतीय संस्कृति में व्यावहारिकता पर भी पूरा बल है।

भारतीय व्यवस्था में आन्तरिक श्रेष्ठता पर यद्यपि बल दिया गया है परन्तु भौतिक जीवन के महत्त्व के कारण समाज-जीवन और व्यक्ति-जीवन की बाह्य व्यवस्था भी महत्वपूर्ण मानी गयी है। व्यावहारिकता का ध्यान रखने के कारण आन्तरिक गुणोत्कर्ष और श्रेष्ठ भावना के निर्माण के आग्रह के साथ यह भी माना है कि इस सबके लिये बाह्य व्यवस्था भी आवश्यक है। यह तो ठीक है कि आन्तरिक विकास श्रेष्ठ है और उसके बिना बाह्य व्यवस्था का कोई विशेष लाभ नहीं परन्तु फिर भी बाह्य व्यवस्था पर भारतीय जीवन-प्रणाली में इसलिये बहुत बल दिया गया है कि व्यवस्था के पालन से ही व्यक्ति की बहुत-कुछ उन्नति हो सकती है। यदि व्यवस्था को बिलकुल छोड़ दिया तो फिर उसके प्रति आदरपूर्ण धारणा उत्पन्न होना तथा उसकी उपयोगिता समझ में आना बहुत कठिन है परन्तु यदि व्यवस्था का निर्जीव पालन भी किया तो भी यह सम्भव है कि एक-न-एक दिन उसका भाव ग्रहण हो जायेगा और फिर उसका अर्थपूर्ण पालन प्रारम्भ होगा। दूसरे, कोई, समाज-व्यवस्था, इसलिये प्रारम्भ की जाती है कि समाज-जीवन सुखी हो। इसके निर्जीव पालन से भी समाज में कुछ न-कुछ व्यवस्था तथा सुख तो बना ही रह सकता है परन्तु यदि पद्धति को बिलकुल छोड़ दिया जाये तो इससे अव्यवस्था ही उत्पन्न होगी। व्यवस्था का यह महत्त्व भारतीय जीवन-प्रणाली की एक विशेषता है और यही कारण है कि जब अन्य देशों में उनकी प्राचीन जीवन-प्रणालियाँ नष्ट-भ्रष्ट दिखायी पड़ती हैं वहाँ भारत में उसी प्राचीन व्यवस्था के अनुसार अभी तक जीवन चला आया है तथा बीच-बीच में उसका विरोध होने पर भी उसका पुनः श्रद्धापूर्ण पालन प्रारम्भ हो जाता है। पद्धति का महत्त्व प्रदर्शित करने के लिये ही भारतीय धर्मशास्त्रों ने पद्धति को पालन न करने अथवा करने का परिणाम बताते हुए अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन अपनाया है। अतः पापों के फल की कल्पना देने के लिये नरकों का वर्णन है जहाँ विभिन्न प्रकार की दारुण यातनाएँ बतायी गयी हैं।[४८] मनुस्मृति में व्यवस्था पालन न करने का परिणाम बहुत स्पष्ट रीति से बताया गया है।[४९] "ये क्षत्रिय जातियाँ, कर्मों के लोप होने से तथा ब्राह्मणों के दर्शन न करने से (अर्थात् धर्मानुसार न चलने से) धीरे-धीरे वृषल हो गयीं। पौण्ड्रक, ओड्र, द्रविड, कम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खस इन देशों के निवासी क्रिया का लोप होने से धीरे-धीरे वृषल हो गये।" इसलिये

समाज-व्यवस्था के पालन पर अर्थात् आचार-पालन पर बहुत बल दिया है। "वेद और स्मृति दोनों में कहा हुआ आचार ही परम धर्म है, इसलिये आत्म-ज्ञानी ब्राह्मण इनसे सदा युक्त रहे। आचार से रहित ब्राह्मण वेद के फल को नहीं पाता और आचार से युक्त ब्राह्मण सम्पूर्ण फल को पाता है। इस भाँति आचार से धर्म की गति देख कर मुनिजनों ने सम्पूर्ण तप की मुख्य जड़ आचार को माना है।"[५०] पराशर का कहना है[५१] "चारों वर्णों का आचार ही धर्म का पालन करनेवाला है। जिनकी देह आचार से भ्रष्ट है उनसे धर्म भी पराङ्मुख होता है।" आचार के ऊपर सामूहिक रूप से इतना जोर देने के अतिरिक्त व्यवस्था के प्रत्येक अङ्ग-अङ्ग के पालन पर भी पृथक् पृथक् महत्त्व दिया गया है। उदाहरण के लिये वर्णों और आश्रमों के स्वधर्म-पालन का बहुत महत्त्व है। पद्धति का महत्त्व इतना अधिक है कि वानप्रस्थ तो क्या संन्यासी के भी जीवन के लिये नियम निर्धारित किये गये हैं जब कि संन्यासी निःसंग, निर्लिप्त, अकाम, और सर्वत्यागी है। प्रत्येक तीर्थ का वर्णन करते समय अथवा प्रत्येक व्रत का वर्णन करते समय अथवा प्रत्येक ग्रन्थ के अध्ययन का महत्त्व बताते समय ऐसा दिखाया गया है कि मानों उसी तीर्थ के सेवन, उसी व्रत के पालन अथवा उसी ग्रन्थ के अध्ययन से, चाहे वह अज्ञानवश ही किया जाये, सम्पूर्ण भौतिक और आध्यात्मिक फल प्राप्त हो जायेंगे।[५२] यह सब अतिशयोक्तिपूर्ण माहात्म्य भी इसलिये है कि व्यक्ति इन सब बातों का पालन करे। क्योंकि ऐसा करने पर, चाहे वह जानबूझ कर हो अथवा अनजाने व्यक्ति के मन पर कुछ-न-कुछ परिणाम अवश्य पड़ेगा ही तथा समाज की भी उस कृत्य के प्रति श्रद्धा जागृत होगी।

ऊपर जिस बाह्य व्यवस्था का उल्लेख किया गया है उसके अन्तर्गत सम्पूर्ण भारतीय जीवन की विवेचना अध्यात्मज्ञान से प्रारम्भ होती है जिसे 'आन्वीक्षिकी' नाम दिया गया है। इस अध्यात्म ज्ञान से प्रारम्भ करते हुए जीवन के सभी अङ्गों के सिद्धान्त निष्पन्न किये गये हैं—ऐसा पिछले विवेचन में बताया गया है।[५३] इस कारण भारतीय संस्कृति के अनुसार समाज-जीवन के सभी अङ्गों में एकात्मता है और जीवन के सभी अङ्ग एक ही आदर्शों से सञ्चालित होते हैं।[५४] जब कि पश्चिमी शास्त्रकारों का यह सिद्ध करना आवश्यक प्रतीत होता है कि समाज-जीवन के विभिन्न अङ्गों (नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीति, मनोविज्ञान आदि) में पारस्परिक सम्बन्ध भी है वहाँ भारतीय संस्कृति में इन सबों की एकात्मता एक स्वतःसिद्ध बात है। धर्म का महत्त्व होने के कारण धर्म के ही अनुसार जीवन के सभी अङ्ग अर्थ, काम आदि सञ्चालित होते हैं। इसलिये भारतीय संस्कृति में राजनीति को यद्यपि एक महत्त्व का स्थान प्राप्त

है परन्तु यह जीवन का एक अङ्ग-मात्र ही है। भारतीय जीवन-प्रणाली में राज्य सर्वग्रासी नहीं है तथा राज्य को असीमित अधिकार भी नहीं है। यह सत्य है कि राज्य धर्म का संरक्षण करता है तथा धर्म मर्यादाओं की स्थापना करता है परन्तु राज्य को धर्म-निर्णय का कोई अधिकार नहीं है।[५५] धर्म (समाज-व्यवस्था) तो ऋषियों ने श्रुति-स्मृतियों के द्वारा निर्धारित कर किया है। उसी धर्म को लागू करने का काम राज्य का है। इतना ही नहीं राज्य को भी उन्हीं धर्म-नियमों के अन्तर्गत चलना आवश्यक है। "यह जो धर्म है क्षत्रिय का भी नियन्ता है।"[५६] धर्म के अनुसार अर्थ का सञ्चालन होना चाहिये यह नियम स्वीकार करते हुए कौटिल्य, शुक्र, आदि भी[५७] पहले धर्म-नियमों (समाज-व्यवस्था) का संक्षेप में वर्णन करके तत्पश्चात फिर अपने अर्थशास्त्र (राज्य-व्यवस्था) के सिद्धान्तों की विवेचना प्रारम्भ करते हैं। राजधर्म भी वर्णधर्म, आश्रमधर्म, स्त्रीधर्म आदि के समान धर्मशास्त्रों का का ही अङ्ग है। श्री काणे का कथन है "अतः अर्थशास्त्र, जो कि मुख्यतः राजा के अधिकार, सुविधाओं और उत्तरदायित्व से सम्बन्धित है, ठीक प्रकार से देखने पर धर्मशास्त्र का ही एक अङ्ग है...परन्तु अर्थशास्त्र के ग्रन्थों ने एक देश के शासन के सभी अङ्गों के विषय में बहुत विस्तार के साथ विचार किया है जब कि धर्मशास्त्र के ग्रन्थ राज्यशास्त्र की कुछ प्रमुख बातों के विषय में ही विचार करते हैं।"[५८]

समाज-व्यवस्था के पालन का महत्त्व होने के कारण उसमें भावना भरने के लिये **प्रतीकवाद का प्रयोग** किया गया है। विभिन्न संस्कारों में (जिनमें उपनयन, विवाह प्रमुख हैं) राज्याभिषेक में, संन्यास लेने की विधि में तथा ऐसे ही अन्य सब कर्मकाण्डों में प्रतीकों के माध्यम से भावना स्पष्ट करने और उत्पन्न करने का प्रयत्न है। उपनयन के समय गुरु ब्रह्मचारी का हाथ पकड़ता है तथा उसका हृदय स्पर्श करता है। यह सब गुरु-शिष्य की आत्मीय भावना प्रदर्शित करने के लिये है।[५९] विवाह में वधू को अरुन्धती तथा वर को ध्रुव नक्षत्र देखना होता है और यह वर-वधू के सम्बन्ध की दृढ़ता के लिये है। सप्तपदी के सात पद धन, सुविधा, सन्तति, मित्रता, रस, दृढ़ता और सुख की भावना प्रदर्शित करने के लिये हैं।[६०] राज्याभिषेक में राजा को सिंह की खाल पहन कर अपनी अजेयता प्रदर्शित करनी होती है।[६१] इसी प्रकार से अन्य सभी आचारों में है।

समाज-व्यवस्था की दृष्टि से **अधिकार-भेद** का सिद्धान्त भी भारतीय संस्कृति का एक प्रमुख सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार ऐसा माना गया है कि प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति का स्तर भिन्न होने के कारण उसे उसकी उन्नति के स्तर के अनुरूप स्थान, महत्त्व तथा अधिकार देना योग्य है तथा सबके लिये

तदनुसार पृथक्-पृथक् नियम बनाये गये हैं। सबके लिये एक ही आदर्श तथा एक से अधिकार भारतीय जीवन-पद्धति में स्वीकार नहीं किये गये हैं। यह भी भारतीय समाज-व्यवस्था की उसे अन्य समाज-व्यवस्थाओं से पृथक् करनेवाली एक विशेषता है। परन्तु भारतीय समाज-व्यवस्था में यह अधिकार-भेद व्यक्ति की भौतिक श्रेष्ठता अर्थात धन अथवा राजनैतिक सत्ता अथवा पद-प्रतिष्ठा अथवा, जैसा बताया गया, बौद्धिक श्रेष्ठता पर आधारित नहीं है, अपितु अधिकारों का यह भेद व्यक्ति की आध्यात्मिक श्रेष्ठता पर आधारित हैं। इसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से जितना अधिक उन्नत है उसके पास उतना ही अधिक सामाजिक उत्तरदायित्व, उसके जीवन में उतनी ही अधिक मर्यादाएँ, उसके लिये उतनी ही कर्तव्यपालन की कठोरता और अनुशासन, उसके पास उतना ही अधिक समाज पर नियंत्रण का अधिकार और फलस्वरूप उसे उतना ही अधिक समाज में सम्मान मान्य किया गया है। इसके ही आधार पर विभिन्न वर्गों के कर्तव्य और अधिकार भी भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तियों की योग्यता और मर्यादाओं के अनुसार निर्धारित किये गये हैं। अधिकार-भेद का यह सिद्धान्त दो कारणों से मान्य किया गया है—सामाजिक दृष्टि से और व्यक्तिगत दृष्टि से। सामाजिक दृष्टि से तो समाज के विभिन्न कार्यों को करने का तथा समाज पर नियंत्रण रखने का अधिकार उन्हीं को देना उचित समझा गया है जो उन कार्यों के लिये आध्यात्मिक उन्नति, अतः चरित्र के आधार पर सबसे अधिक योग्य और उपयुक्त हों। यह चारित्रिक उन्नति मापने के लिये, जैसा पिछले अध्याय में बताया गया, त्रिगुण का सिद्धान्त रखा गया है अर्थात सतोगुणी व्यक्ति को सबसे अधिक तथा तमोगुणी को सबसे कम श्रेष्ठ कार्य तथा अधिकार दिये गये हैं। इसका कारण यह है कि जो व्यक्ति अपने गुणों के कारण स्वार्थ-त्याग में, भौतिक सुखोपभोग की ओर से निवृत्त होने में, समाज-जीवन के लिये अपना समर्पण करने में, सांसारिक लालसाओं से ऊपर उठने में तथा व्यक्तिगत चरित्र और संयम में जितना श्रेष्ठ होगा समाज में स्वाभाविक ही उसके प्रति उतनी अधिक श्रद्धा होगी, अन्य व्यक्तियों द्वारा उसकी उतनी ही अधिक मान्यता होगी और उसके अनुशासन का पालन करने में समाज में उतनी ही अधिक सिद्धता होगी अर्थात वह समाज को योग्य मार्ग पर लगाने में उतना ही अधिक समर्थ होगा। इसके विपरीत यदि भौतिक आधारों पर श्रेष्ठता और निम्नता का निर्धारण किया गया और व्यक्ति के चारित्र्य का ध्यान न दे कर उसके अन्य गुणों के कारण उच्च स्थान दिया गया तो प्रथमतः ऐसा श्रेष्ठ माना जानेवाला तथा श्रेष्ठ अधिकार-प्राप्त व्यक्ति अपने दुर्गुणों और स्वार्थपरता के कारण समाज में विश्रृङ्खलता उत्पन्न कर देगा; दूसरे, ऐसे व्यक्ति

के प्रति कोई श्रद्धा निर्माण न हो कर उसके पद, अधिकार तथा सुविधाओं के प्रति समाज के शेष व्यक्तियों में स्वाभाविक रूप से विद्वेष और ईर्ष्या जागृत होगी तथा तीसरे, ऐसे व्यक्तियों द्वारा लागू किये गये अनुशासन तथा नियमों का पालन करने में और उसका मार्गदर्शन स्वीकार करने में लोगों को आपत्ति होगी। व्यक्तिगत दृष्टि से व्यक्ति जिस मात्रा तक उन्नति कर चुका है उसके जीवन के नियम तदनुसार ही बनाये गये हैं जिससे वह अपने जीवन में सुविधा-पूर्वक व्यवहार करता हुआ आगे उन्नति कर सके। ऐसा माना गया है कि यदि कम उन्नत व्यक्ति के लिये अधिक कड़े नियम बना दिये जायें तो उन नियमों का तो पालन होगा ही नहीं परन्तु साथ-ही-साथ उसे अपनी वर्तमान स्थिति से आगे बढ़ कर और अधिक आध्यात्मिक उन्नति करना कठिन हो जायेगा जो कि वह उपयुक्त नियम होने पर कर सकेगा। जैसे, जिसे धन की बहुत कामना है उसे यदि अल्पसन्तोषी होने का उपदेश दिया गया और उसके लिये यदि निर्धन रहने का विधान बनाया गया तो न तो वह नियम का पालन कर सकेगा और वह नियम उसके उन्नतिक्रम के विरुद्ध होने के कारण वह उसी की लालसा में पड़ा रह कर उसके आगे उन्नति भी न कर सकेगा। इस अधिकार-भेद के सिद्धान्त के सम्बन्ध में सबसे अन्तिम बात यह है कि यह अधिकार-भेद यद्यपि आध्यात्मिक मापदण्ड के आधार पर था, भौतिक आधारों पर नहीं, परन्तु, मूलतया यह अधिकार-भेद केवल भौतिक अर्थात सांसारिक जीवन की ही दृष्टि से था, अर्थात् ऐसा समझा गया था कि इस संसार में व्यवहार करते हुए व्यक्तियों का समाज के हित के लिये उनके अन्तर के अनुसार विभाजन करना ही पड़ेगा नहीं तो, जैसा ऊपर बताया गया, सामाजिक व्यवस्था में तथा सामाजिक जीवन में विश्रृङ्खलता उत्पन्न हो जायेगी। परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से तो सभी व्यक्तियों में समानता मानी गयी थी और यह कहा गया था[६२] कि कुत्ते और हाथी, श्वपाक और ब्राह्मण इनमें कोई भेद नहीं है और सबमें एक ही परमात्मा का निवास है। अतः जो आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण है उनकी दृष्टि से सभी व्यक्ति समान थे। इसके अतिरिक्त भौतिक जीवन में भेद मानते हुए आध्यात्मिक दृष्टि से यह भी समानता थी कि आध्यात्मिक उन्नति का अर्थात ब्रह्म-प्राप्ति का अधिकार प्रत्येक के लिये मान्य था और व्यक्ति किसी भी श्रेणी में हो उसको यह अधिकार था कि वह ब्रह्म-प्राप्ति का प्रयत्न कर सके। अर्थात आध्यात्मिक दृष्टि से तो मनुष्य-मात्र की ही नहीं प्राणी-मात्र की भी समानता मान्य थी परन्तु यह अधिकार-भेद केवल सांसारिक व्यक्तियों के लिये तथा सांसारिक व्यवहार के लिये था। सांसारिक जीवन में तो अधिकार-भेद का सिद्धान्त मानने के साथ इस बात का भी पूरा आग्रह था और यह कहा गया था कि इस आधार पर प्रत्येक के लिये जो पृथक्-

पृथक् कर्तव्य निर्धारित किये गये हैं अर्थात जो प्रत्येक का स्वधर्म है उसका प्रत्येक व्यक्ति को पालन करना ही चाहिये और इस स्वधर्म के पालन से ही व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक उन्नति तथा ब्रह्म-प्राप्ति कर सकता है न कि इस स्वधर्म का त्याग करने से।

व्यावहारिकता तथा अधिकार-भेद के सिद्धान्त के कारण ऐसी बातें भी धर्मशास्त्रों ने मान्य की है, जो आदर्श की दृष्टि से तो हीन कहीं जा सकती हैं, परन्तु जिन्हें समाज-जीवन में एकता बनाये रखने के लिये मान्य करना आवश्यक हो गया अर्थात् मनुष्य की बहुत-सी निम्न प्रवृत्तियों को मान कर भारतीय जीवन और व्यवस्था में उनके **उदात्तीकरण का प्रयत्न** किया गया है। इन सब बातों को मान्य करके इनमें एक ऊँची भावना भरने का प्रयास इसलिये किया है जिससे मनुष्य धीरे-धीरे उन हीन बातों से विमुख हों। प्रस्तावना में नियोग के उदाहरण पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।[६३] वैसा ही मांस-भक्षण के विषय में भी है। मनु ने मांस-भक्षण की निन्दा की है। कहा है "जीवों की हिंसा किये बिना कहीं भी मांस उत्पन्न नहीं हो सकता और जीवों को मारना स्वर्ग देनेवाला भी नहीं है इसलिये मांस को त्याग कर देना चाहिये। जो फल मांस का त्याग करने से होता है वह फल पवित्र फल-मूल खाने से, यज्ञों से और मुनियों द्वारा अन्न खाने से नहीं होता। यहाँ मैं जिसका मांस खाता हूँ मुझको (मां) वह (स) परलोक में खायेगा—मांस शब्द का यह अर्थ मुनियों ने बताया है।"[६४] फिर भी मांस-भक्षण में कुछ लोगों को रुचि हो सकती है इसलिये वह विधान किया गया है कि केवल देवता और पितरों को अर्पण करके ही तत्पश्चात् शेष मांस खाया जाये, स्वाद के लिये नहीं। इससे एक तो मांस खाने के अवसरों में कमी होगी। फिर धीरे-धीरे व्यक्ति के मन में यह भावना उत्पन्न होगी कि "साधारण रीति से मांस-भक्षण खराब है और मैं तो केवल धर्म की दृष्टि से खाता हूँ" तथा तत्पश्चात धीरे-धीरे मनुष्य उतना भी त्याग देगा। इसलिये मनु[६५] ही कहते हैं "यज्ञ के लिए मांस खाना देव-विधि कही गयी है, शरीर-वृद्धि के लिये मांस खाना राक्षस-विधि कही गयी है। मोल ले कर अथवा स्वयं ही उत्पन्न करके अथवा किसी के भेंट देने पर देवता और पितरों को समर्पण करके जो मनुष्य खाता है वह दोष का भागी नहीं होता। मांस के दोष की विधि को जानता हुआ द्विज बिना विधि के न खाये क्योंकि अनापत्काल में जो बिना विधि के मांस खाता है मरने के पश्चात उस परवश मनुष्य का वे ही जीव भक्षण करते हैं जिनको उसने खाया है।" यही बात मैथुन के विषय में है। मैथुन में भी काम-भावना धीरे-धीरे नष्ट करने का प्रयत्न है। प्रथमतः गुरुपत्नी (गुरुजनों की पत्नियों) के साथ संसर्ग महापाप बताया है। तत्पश्चात, परस्त्री-संसर्ग भी वर्जित है। फिर कन्या को दूषित करने

का और वेश्या-संसर्ग का प्रायश्चित्त बताया गया है। फिर एकपत्नीव्रत को ब्रह्मचर्य के ही समान बताया गया है।[६६] इस प्रकार काम-भावना कम की गयी है। इसके साथ-साथ सबसे अन्त में स्त्री-निन्दा तथा शरीर के अन्दर का बीभत्स वर्णन करके स्त्री-सहवास की भावना ही नष्ट करने का प्रयास है। इसी प्रकार धन-प्राप्ति की लालसा तथा सुखोपभोग की कामना को एक ऊँचा भाव प्रदान कर इन आसक्तिपूर्ण भावनाओं को नष्ट करने का प्रयत्न है। धन-प्राप्ति की प्रशंसा की गयी है परन्तु धन का उपभोग अपने लिये कम-से-कम करने का आदेश और उसके नियम हैं।[६७] मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति को स्वीकार कर उसमें ऊँची भावना भरने के भारतीय समाज-व्यवस्था में अन्य भी बहुत से उदाहरण मिलेंगे। (देखिए राजाओं की संघर्ष-वृत्ति का उदात्तीकरण तथा स्त्री-लम्पटता पर नियन्त्रण के लिये उनके लिये गान्धर्व और राक्षस विवाह की मान्यता का उदाहरण)।[६८]

क्योंकि समाज-व्यवस्था का ठीक प्रकार सचालन तथा व्यक्तियों की उन्नति बहुत-कुछ वातावरण पर अवलम्बित है इसलिये भारतीय संस्कृति में पवित्र और शुद्ध वातावरण का भी बहुत महत्व है। प्रत्येक आश्रम के ऐसे नियम बनाये गये हैं कि उस आश्रम के उपयुक्त धर्मानुकूल वातावरण का निर्माण हो। ब्रह्मचारी को भी गुरुकुल में गुरु की देखरेख में एक योजनाबद्ध वातावरण में रहने की व्यवस्था है तथा गृहस्थ के दैनिक कृत्य भी उसके जीवन में उसके आदर्शों के अनुकूल वातावरण निर्माण करते हैं। वानप्रस्थ और संन्यास के लिये भी उनके अनुकूल वातावरण की व्यवस्था है। इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों अपने-अपने कर्मों के अनुकूल वातावरण में रहते हैं—ब्राह्मण विद्याध्ययन के वातावरण में, क्षत्रिय शौर्य तथा वीरता के वातावरण में तथा वैश्य धनार्जन के वातावरण में। तीर्थयात्रा के माध्यम से भी धार्मिक वातावरण निर्माण करने का प्रयत्न है। यज्ञ, दान, तप, नाम-संकीर्तन आदि सभी समाज में श्रेष्ठ वातावरण उत्पन्न करनेवाले हैं। विशिष्ट वातावरण उत्पन्न करने के कारण ही संसर्ग का भारतीय जीवन में बहुत महत्त्व है। स्वाध्याय को भी महत्त्वपूर्ण इसीलिये माना गया है कि व्यक्ति सद्ग्रन्थों के सहवास से ऊँचा उठेगा। सत्सङ्गति का महत्त्व पीछे बताया ही गया है।[६९] केवल सत्सङ्गति की ही प्रशंसा नहीं है परन्तु बुरे व्यक्तियों की सङ्गति वर्जित है। "पतित, चाण्डाल, पुल्कस, मूर्ख, अभिमानी, अन्त्यज, और अन्तयावसायी इनके साथ न बैठे।" "पतित के साथ सहवास करने पर, साथ बैठने पर, साथ खाने पर, अथवा उसे यज्ञ कराने अथवा पढ़ाने पर अथवा उससे विवाह सम्बन्ध जोड़ने पर एक वर्ष में व्यक्ति पतित हो जाता है। उस पतित के साथ बैठना, बोलना, दायभाग देना, यात्रा करना, तथा लोक-व्यवहार करना इन सबको छोड़ देना चाहिये।[७०]

नारदपुराण में कहा है[७१] "नास्तिकों, मर्यादा का नाश करनेवालों तथा चुगली करनेवालों से उपवासव्रतपरायण व्यक्ति कभी भी वातें न करे। जो पराये अन्न के लोलुप हैं तथा परस्त्री में निरत हैं उनकी व्रतोपवास-परायण वाणी-मात्र से भी अर्चना न करे (अर्थात् उनसे कभी भी न वोले)।" यह भी कहा है "दुर्जनों के साथ न रहे और अशास्त्र न सुने।" अत्रिस्मृति में पापियों का सङ्ग संन्यासियों तक के लिये वर्जित वताया गया है।[७२] अशुद्ध व्यक्ति ही नहीं अशुद्ध वस्तु का स्पर्श भी पतित करनेवाला माना गया है जैसे मदिरा के पात्र का।[७३] यह भी माना गया है कि अवगुणी व्यक्ति का अन्न खाना भी पतित करनेवाला है तथा उस अन्न का मन पर भी वुरा परिणाम पड़ता है। सभी स्मृतियों में ऐसे व्यक्तियों की सूचियाँ दी हुई हैं जिनका अन्न न खाना चाहिये।[७४] पराशरस्मृति का कहना है "दुराचारी और निषिद्ध आचरण करनेवाले ब्राह्मण के अन्न को खा कर द्विज एक दिन भोजन न करे। उत्तम आचरण का पालन करनेवाले और वेदान्त जाननेवाले ब्राह्मण के अन्न को खा कर मनुष्य अहोरात्रि के पाप से मुक्त होता है।"[७५] वायुपुराण का तो संन्यासियों तक के विषय में कहना है[७६] कि उन्हें केवल आचारशील अथवा अदुष्ट और अपतित गृहस्थों के घर ही भिक्षा माँगनी चाहिये। वातावरण की ही दृष्टि से वाह्य और आन्तरिक शुद्धि दोनों ही वहुत महत्त्वपूर्ण माने गये हैं। आन्तरिक शुद्धि तो व्यक्ति के उन्नति के लिये सहायक है ही परन्तु वाह्य शुद्धि का भी मन और शरीर पर वहुत उत्तम परिणाम होता है। शुद्धि के सम्वन्ध में दक्षस्मृति के नियम उद्धृत करने योग्य हैं। "शौच का (पालन) करना तथा अशौच का त्याग करना वुद्धिमानों ने कहा है। इन दोनों की विशेषताएँ हित-कामना से कहता हूँ। शौच के लिये सदैव यत्न करना चाहिये क्योंकि द्विजत्व का मूल शौच ही कहा गया है। शौच का जो आचरण नही करते हैं उनके सब कर्म निष्फल हो जाते हैं। शौच दो प्रकार का है, वाह्य और आभ्यन्तर। वाह्य शौच मिट्टी और जल से तथा अन्तःशौच मनःशुद्धि से होता है। अशौच से वाह्य शौच उत्तम है और वाह्य से आभ्यन्तर शौच उत्तम है। इन दोनों से जो शुद्ध है वही शुद्ध है अन्य नहीं।"[७७] शुद्धि की संक्षेप में परिभाषा अत्रिस्मृति में दी गयी है।[७८] "अभक्ष्य वस्तुओं का त्याग सज्जनों की सङ्गति और आचार-पालन को शौच कहते हैं।" शुद्धि के जो नियम स्मृतियों और पुराणों में दिये गये हैं उनके अवलोकन-मात्र से ही यह स्पष्ट हो जायेगा कि शुद्धि की दृष्टि से आचमन का विधान है।[७९] शुद्धि के ही कारण सूतक में स्वाध्याय, होम, दान, आदि मना किया है।[८०] शुद्धि के ही कारण रजस्वला-स्पर्श वर्जित है।[८१] शुद्धि के कारण [८२] "वमन, क्षौरकर्म, मैथुन, तथा प्रेत (मृत-शरीर) के छूत में अथवा इनका

स्वप्न देखने पर स्नान करना वताया गया है।" शुद्धि के ही कारण भोजन के विस्तृत नियम बनाये गये हैं।[८३]

भारतीय संस्कृति समन्वयवादी भी है। परमात्मा है और किसी भी मार्ग से उसकी उपासना की जाये परन्तु सभी मार्गों से भगवान तक पहुँचा जा सकता है यह भारतीय समन्वयवाद की सबसे बड़ी घोषणा है। ऋग्वेद में कहा है[८४] "एक ही सत् है उसका विप्र लोग बहुत प्रकार से वर्णन करते हैं—इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि यम, मातरिश्वान।" इसलिये चाहे विष्णु की पूजा की जाये, चाहे शिव की, चाहे ब्रह्मा की, चाहे शक्ति को उन सबको भारतीय धर्मशास्त्रों ने एक समान माना है। इसी प्रकार से विविध धार्मिक आचार भी भावनापूर्वक किये जाने पर समान रीति से चित्तशुद्धिकारी हैं तथा विविध नैतिक सद्‌गुणों—सत्य, अहिंसा अपरिग्रह आदि—में से किसी का पालन व्यक्ति को समान रीति से ऊँचा उठानेवाला है। इन सबकी श्रेष्ठता के बहुत अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किये गये हैं और एक की श्रेष्ठता का वर्णन दूसरे की तुलनात्मक हीनता सिद्ध करनेवाला नहीं है। समन्वयवादी होने के कारण विभिन्न विचारों की ही नहीं, विभिन्न प्रथाओं की भी स्वतन्त्रता मान्य की है। यथा, आपस्तम्ब का कहना है[८५] कि विभिन्न जनपदों और कुलों के आचार अधिकृत है तथा उनका उन जनपदों और कुलों में पालन होना चाहिये[८६]। प्रथाओं को मान्य करने का कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कुल, जाति आदि के धर्म (प्रथाओं) का पालन करते हुए भी चरित्रवान हो सकता है। जहाँ बहुपतित्व की प्रथा है वहाँ एक स्त्री के कई पति होना चरित्रहीनता की वात नहीं है अपितु इसी प्रथा का पालन करते हुए व्यक्ति अपने चरित्र को श्रेष्ठ बना सकता है। विभिन्न जातियों अथवा वर्गों को प्रथाओं को नष्ट न करने का आग्रह इसलिये भी है कि यदि किसी जाति की प्रथा पर आघात हो कर दूसरी प्रथाएँ बलपूर्वक लादी जाती हैं तो पहले की प्रथाओं के कारण जो नैतिक व्यवस्था निर्माण हो गयी थी और नैतिकता की जो धारणाएँ वन गयी थीं वह तो नष्ट हो ही जाती हैं परन्तु नयी प्रथाओं के कारण जो नैतिक धारणाएँ निर्माण होनी चाहिये वह भी नहीं निर्माण होतीं। इसलिये इस प्रकार की जाति का विनाश ही हो जाता है। इसलिये भारतीय समाजशास्त्रियों ने एक श्रेष्ठ व्यवस्था केवल उपस्थित कर दी उसे बलपूर्वक किसी पर लागू नहीं किया। इस बात के लिये लोगों को स्वतन्त्र छोड़ दिया कि वह इस व्यवस्था को माने अथवा न माने और यदि माने भी तो स्वेच्छापूर्वक तथा अपनी नैतिक धारणाओं से समन्वय करते हुए। इस व्यवस्था को बलपूर्वक लागू न करने का यह भी कारण है कि भारतीय विचारकों की अहङ्कारपूर्ण वृत्ति नहीं थी। उन्हें लगा कि यह व्यवस्था

श्रेष्ठ है, परन्तु हो सकता है कि अन्य कोई प्रथा या व्यवस्था उससे भी श्रेष्ठ हो। ऐसी अवस्था में बलपूर्वक अपनी व्यवस्था को अहङ्कारपूर्ण रीति से लादने में जो हानि होगी वह असीमित होगी। फिर यह भी लगा कि इस प्रकार से व्यवस्था को लादना सांस्कृतिक दासता निर्माण करना ही होगा और किसी भी प्रकार की दासता व्यक्ति अथवा समाज के चरित्र को, जीवन को, जीवन के मूल्यों को, नष्ट करनेवाली होती है। इसलिये राजनैतिक दासता भी न लादने का आदेश है और राजा से कहा गया है कि वह विजित राज्य के राजा के स्थान पर उसके भाई अथवा पुत्र का अभिषेक करे, स्वयं राज्य न हड़पे।[८७] दासता केवल विजित जाति का नाश ही नहीं करती अपितु विजेता के प्रति तथा उसकी रीति-नीति सबके प्रति विद्वेष उत्पन्न करती है और यह भी समन्वयवादी दृष्टिकोण के विरोधी बात थी। समन्वयवादिता का एक अन्य स्वरूप यह भी है कि भारतीय जीवन में, विचार में तथा समाज-रचना में विभिन्न विरोधी दिखनेवाले दृष्टिकोणों का भी समन्वय किया गया है। इस कारण भारतीय विचार और जीवन में आध्यात्मिकता का भौतिकता का, आदर्शवादिता का और व्यावहारिकता का, त्याग और भोग का, आन्तरिक गुणों का और बाह्य व्यवस्था का, श्रद्धा का और तर्क का समन्वय किया गया है। यह समन्वयवादिता इस रूप में भी प्रकट होती है कि भारतीय धर्मशास्त्रों में परस्पर विरोधी दिखनेवाले नियम मिलते हैं। उसके कुछ उदाहरण पहले अध्याय में दिये गये हैं। ऐसा ही अन्य नियमों के विषय में भी है (यथा विवाह-सम्बन्धी नियम, स्त्रियों की निन्दा और प्रशंसा, धन के महत्त्व का प्रतिपादन और उसकी निन्दा आदि)। यह परस्पर विरोधी दिखनेवाले नियमों की मान्यता इस बात को प्रकट करनेवाली है कि धर्म अथवा सत्य बहुअङ्गी है और इन परस्पर विरोधी परन्तु सत्य तत्त्वों का समन्वय करना ही उचित होगा। इसमें तार्किक एकता का अभाव दिखायी दे सकता है परन्तु यह जीवन के बहुमुखी रूप को समझ सकने का परिचायक है। यह पीछे बताया ही गया है कि ऐसे नियमों का वर्णन मतभेद का द्योतक नहीं है। समन्वयवादिता का उपरोक्त सिद्धान्त मानने का परिणाम यह था कि भारत में (विभिन्न मार्गों द्वारा एक ही परमात्मा को प्राप्त करने के सिद्धान्त के अनुकूल अथवा विभिन्न प्राणियों में एक ही परब्रह्म का निवास देखने के सिद्धान्त के अनुकूल अथवा विभिन्न देवताओं की पूजा के द्वारा एक ही ईश्वर की पूजा करने के सिद्धान्त के अनुसार) विविधता में एकता मान्य की गयी, अर्थात् चाहे जीवन में जितने भी ऊपरी भेद हों परन्तु भीतर का जीवन एक ही सिद्धान्तों के आधार पर होने पर ऊपर के उन भेदों के कारण यह आन्तरिक एकता का प्रवाह अविच्छन्न

रहेगा यह उन्हें मान्य था। इसी आधार पर देश में विभिन्न राज्यों का अस्तित्व स्वीकार कर अथवा यत्र-तत्र विविध प्रथाओं को भी मान्यता दे कर अथवा विभिन्न प्रकार के विचारों को व्यक्त करने की स्वतंत्रता दे कर भी देश की एकता का तन्तु आन्तरिक सांस्कृतिक आधार पर निर्माण करने का प्रयत्न किया गया था। परन्तु इस विविधता में एकता का सिद्धान्त मान्य करने के साथ जीवन के चरम लक्ष्य को अमान्य किया जा सकता है यह बात भारतीय विचारकों को मान्य नहीं थी अथवा उन्होंने यह भी नहीं माना कि उस लक्ष्य तक पहुँचाने वाली उनके द्वारा स्थापित समाज-रचना श्रेष्ठ नहीं है और इसके अतिरिक्त दूसरी कोई भी व्यवस्था श्रेष्ठ हो सकती है।

चौथा अध्याय

समाज-संघटन

जैसा पीछे बताया गया है भारतीय जीवन में व्यक्ति की आन्तरिक उन्नति को बहुत महत्व दिया गया था। इस आन्तरिक उन्नति को बहुत महत्त्व देते हुए भी यह माना गया था कि इस आन्तरिक उन्नति के लिए एक उपयुक्त बाह्य वातावरण की आवश्यकता है। यह भी विचार था कि यदि समाज का ठीक प्रकार से संघटन किया गया तो उचित तथा आवश्यक वातावरण भी अधिक सरलता से उत्पन्न हो जायेगा। इसलिये भारतीय समाजशास्त्रियों ने उपयुक्त वातावरण निर्माण करनेवाली एक ऐसी समाज-रचना तैयार की जिसमें व्यक्ति की उन्नति भी हो सके तथा सामाजिक सुव्यवस्था भी रहे। भारतीय समाज-शास्त्रियों का यह मत था कि सद्गुणों के केवल उपदेश देने से व्यक्ति में सद्गुण नहीं निर्माण हो जाते, उसके लिये तो व्यक्ति के जीवन में संस्कार डालने पड़ते हैं। हो सकता है कि कुछ लोगों का स्वतः विकास हो जाये परन्तु सर्वसाधारण व्यक्ति के लिये स्वार्थपूर्ण, लालसापूर्ण अतः सङ्घर्षपूर्ण और निम्न जीवन से ऊपर उठाने के लिये कोई-न-कोई व्यवस्था आवश्यक होगी ही। इसलिये सामाजिक-व्यवस्था के रूप में वर्णाश्रम-व्यवस्था का, क्योंकि यह व्यवस्था मनुष्य को उन्नत करनेवाली है तथा उसे मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर करनेवाली भी है, निर्माण किया गया। यह प्रस्तावना में बताया जा चुका है कि यह व्यवस्था भारत की अपनी विशेषता है। सामाजिक दृष्टि से यदि देखा जाये तो अन्य देशों में राज्य के द्वारा सामाजिक जीवन में जो बन्धन लगाये गये होंगे अथवा जो नियम लागू किये गये होंगे उनके अतिरिक्त केवल कुछ प्रथाओं और मान्यताओं के द्वारा ही समाज-जीवन का नियंत्रण होता है। प्रत्येक व्यक्ति को मनचाहा कार्य करने की स्वतन्त्रता है। अर्थात् वहाँ समाज में इस प्रकार से कार्यों का

विभाजन और उस विभाजन के अनुसार कार्य करने का आग्रह इस प्रकार नहीं है, जैसा भारत में। इसके अतिरिक्त व्यक्ति के दैनिक जीवन में, प्रतिक्षण के व्यवहार में, उसके नियन्त्रण के लिए वैसी नियमों की परम्परा भी नहीं है जैसी भारत में अर्थात् व्यक्ति के जीवन को विभिन्न सीढ़ियों में विभाजन कर, उसके जीवन की प्रत्येक सीढ़ी की व्यवस्था के लिए वैसे नियम भी नहीं हैं, जैसे भारत में। अन्य समाजों में व्यक्तिगत जीवन को नियमन करने के लिए कुछ नैतिक गुण मात्र ही हैं, अन्यथा वह स्वच्छन्द है। इस स्वतन्त्रता को वहाँ एक गुण भी माना गया है; परन्तु भारत में इस प्रकार की स्वच्छन्दता को उपयोगी नहीं माना गया। जब व्यक्ति स्वतन्त्र है और यह उसी पर अवलम्बित है कि वह चाहे ऊपर उठे अथवा नीचे गिरे (नैतिक दृष्टि से), तब सम्भावना इसी बात की है कि अधिकांश में व्यक्ति ऊपर उठने के स्थान पर नीचे ही गिरेगा क्योंकि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति सुखोपभोग की है और व्यवस्था द्वारा स्वाभाविक निम्न प्रवृत्तियों का नियमन और संयमन ही होता है। अतः भारतीय विचारकों ने यह माना कि व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड़ने के स्थान पर उसे इस प्रकार की व्यवस्था में रखा जाये कि उसकी प्रवृत्तियों का नियमन और संयमन होते होते वह अधिकाधिक श्रेष्ठ होता जाये। अतः भारत ने संसार के सामने निश्चित लक्ष्य को पहुँचानेवाली समाज-रचना प्रस्तुत की है। यह भी बताया ही जा चुका है कि भारत की यह समाज-रचना राजनीतिक सत्ता से स्वतन्त्र थी। राज्य-सत्ता इस व्यवस्था का एक अङ्ग अवश्य थी, यद्यपि उसका कार्य यह देखना था कि इस व्यवस्थित समाज-रचना में कहीं दोष न आये अथवा कोई बाधा न उत्पन्न हो, परन्तु भारतीय समाजशास्त्रियों का विचार था कि यदि एक बार राज्य-व्यवस्था न भी रहे तो भी समाज-जीवन यथासम्भव व्यवस्थित चलना ही चाहिए। राज्य के होने से सहायता अवश्य मिलेगी तथा समाज-जीवन के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को समाप्त करने में सुविधा होगी परन्तु ऐसी स्थिति तो बहुत बुरी है कि राज्य के होने न होने पर ही समाज की व्यवस्था जो एक निश्चित लक्ष्य और आवश्यकताओं पर आधारित है, पूर्णतया अवलम्बित हो। इस कारण राज्य के अन्दर कैसे भी परिवर्तन हों तथा कोई राज्य रहे अथवा न रहे परन्तु इस समाज-व्यवस्था का स्थायीरूप से चलते रहना आवश्यक माना गया। यही कारण था कि भारत में कितने भी परकीय राज्य आये परन्तु समाज-जीवन का ढाँचा अविच्छिन्न रूप से चलता रहा, यद्यपि यह सत्य है कि समाज-जीवन की त्रुटियों को दूर करनेवाला सहानुभूतिपूर्ण राज्य न रहने के कारण समाज-व्यवस्था के दोष धीरे-धीरे बढ़ते रहे। इसी कारण यह कहा जाता है कि अन्य देशों के नष्ट होने पर भी भारत नष्ट नहीं हुआ और उसके अन्दर का धर्म पूर्ववत् जागृत रहा।

भारत में व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की व्यवस्था के रूप में वर्णाश्रम-व्यवस्था का निर्माण किया गया। इस वर्णाश्रम-व्यवस्था के कारणों की विस्तार-पूर्वक मीमांसा करना यहाँ योग्य होगा। पिछले अध्याय में यह बताया गया है कि मोक्ष की ओर बढ़ने के लिए अर्थ और काम का धर्मानुसार उपभोग ही लाभप्रद है। अर्थ और काम को नियन्त्रित रूप से अर्थात् धर्मानुसार उपभोग करने से एक ओर तो मानसिक सन्तुष्टि होगी, तथा, दूसरी ओर भोग-लालसा भी अनियन्त्रित रूप से न बढ़ेगी। वर्णाश्रम-व्यवस्था इसीलिए है कि अर्थ और काम का धर्मपूर्ण उपभोग करते हुए व्यक्ति क्रमशः उन्नति करता जाये। वर्ण-व्यवस्था के माध्यम से धर्म का अर्थ के ऊपर नियन्त्रण स्थापित किया गया है अर्थात् ऐसी व्यवस्था की गयी है कि समाज-सत्ता (अर्थ) का सब वर्ग नियन्त्रित और समुचित उपयोग करें। उसके लिए प्रत्येक वर्ण की अर्थात् ज्ञानी, शिक्षक तथा समाज-नियन्ताओं (ब्राह्मणों) की, राज्यसत्ताधारियों (क्षत्रियों) की तथा धनिकवर्ग (वैश्यों, की मर्यादाएँ स्थापित कर दी गयी हैं। विभिन्न आश्रमों के द्वारा कामोपभोग की मर्यादा निश्चित की गयी है अर्थात् धर्म का काम के ऊपर नियन्त्रण, व्यक्ति-जीवन में, प्रस्थापित किया गया है। वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मण, धर्म का प्रतीक है (अन्य सब वर्ण अर्थ और काम के हैं) और उसको अन्य सबके ऊपर श्रेष्ठ स्थान दे कर तथा उसका नियन्त्रण प्रस्थापित कर धर्म का अर्थ और काम के ऊपर नियन्त्रण स्थापित किया गया है; आश्रम-व्यवस्था में सन्यासी ही श्रेष्ठ धर्म (मोक्ष) का प्रतीक है और उसकी श्रेष्ठता प्रस्थापित करने का अर्थ है अर्थ और काम के ऊपर धर्म की श्रेष्ठता प्रस्थापित करना। वर्ण-व्यवस्था से मनुष्य विभिन्न जन्मों में कामप्रधान शूद्र, अर्थप्रधान वैश्य, धर्म, अर्थ का समन्वय करनेवाला क्षत्रिय तथा धर्मप्रधान ब्राह्मण, इन विभिन्न सीढ़ियों के माध्यम से बढ़ता जाता है; आश्रम-व्यवस्था में एक जन्म के अन्दर व्यक्ति की क्रमशः उन्नति का विधान है। वर्ण-व्यवस्था सामूहिक पद्धति से व्यक्ति की उन्नति का ढङ्ग है; आश्रम-व्यवस्था में व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक व्यक्ति अपनी उन्नति करता है।

व्यक्तिगत उन्नति ही नहीं, सामाजिक-व्यवस्था निर्माण करना भी वर्णाश्रम-व्यवस्था का उद्देश्य था। वर्णाश्रम-व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति और अवस्था के अनुसार कार्य का विभाजन कर दिया गया था और प्रत्येक को अपने-अपने कार्य में पूर्णता प्राप्त करने का पूरा अवसर था। इस प्रकार कार्य-विभाजन के द्वारा समाज में सुव्यवस्थितता, पारस्परिक पूरकता तथा पारस्परिक सहयोग का वातावरण निर्माण करने का प्रयत्न था। श्रम-विभाजन का इतना पूर्ण, व्यवस्थित और आदर्शानुसार रूप अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। वर्ण-व्यवस्था में यह श्रम-

विभाजन और भी पूर्णता को प्राप्त था क्योंकि वंशगत रूप से एक ही कार्य करने के कारण पारिवारिक परम्पराओं, पारिवारिक वातावरण और पारिवारिक स्वभाव तथा गुण (heredity) के कारण अधिकाधिक योग्यता निर्माण होनी स्वाभाविक थी। इस प्रकार इस श्रम-विभाजन और पारस्परिक पूरकता के द्वारा एक सहकारितापूर्ण समाज (Co-operative Commonwealth) का निर्माण किया गया था।

वर्ण-व्यवस्था

वर्ण-व्यवस्था के सामाजिक लाभ अन्य भी बहुत-से थे। वर्ण-व्यवस्था के द्वारा समाज में एक प्रकार का अधिकार-विभाजन और शक्ति-सन्तुलन किया गया था। जिसे ज्ञान का अधिकार दिया उसे राज्य का अधिकार अथवा सम्पत्ति का अधिकार नहीं दिया, अपितु उसे राज्य-व्यवस्था और धन-लालसा से दूर रखा।[1] जिसे राज्य का अधिकार दिया उसे सम्पत्ति पर असीमित अधिकार नहीं दिया (राज्य द्वारा किस-किस साधन से और कितनी मात्रा में धन-प्राप्ति की जा सकती है यह निश्चित था)[2] तथा ज्ञानियों पर भी नियन्त्रण करने का अधिकार उसे नहीं दिया गया।[3] सम्पत्ति के अधिकारी को राज्य में अथवा धर्म में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं था। इस प्रकार अधिकार का विभाजन कर शक्ति-सन्तुलन निर्माण किया गया। एक ही वर्ग के पास विभिन्न प्रकार के अधिकार रहते तो समाज के ऊपर असीमित अत्याचार करने की उस वर्ग की शक्ति रहती। भारतीय समाज-रचना की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है। अधिकार का विभाजन होने पर भी विभिन्न प्रकार के अधिकारों की उत्तरोत्तर वृद्धिङ्गत श्रेणियाँ हैं। सबसे निम्न श्रेणी पर शरीर-प्रधान शूद्र है, उसके ऊपर सम्पत्ति का स्वामी वैश्य है, उसके भी ऊपर राज्य-सत्ता का अधिकारी क्षत्रिय है, तथा सबके ऊपर अधिकार रखनेवाला ज्ञानवान् ब्राह्मण है। इस प्रकार भारतीय व्यवस्था में विभिन्न प्रकार की सामाजिक शक्तियों की श्रेणियाँ (गुरुता और लघुता) भी निर्धारित कर दी गयी। कार्य का और अधिकार का विभाजन भी योग्यता और पात्रता के अनुसार किया गया। धर्म पर अर्थात् समाज-जीवन पर नियन्त्रण का सबसे श्रेष्ठ अधिकार सबसे अधिक निःस्वार्थी, अल्पसन्तोषी, अमहत्त्वाकांक्षी तथा धर्मवृत्तिपूर्ण वर्ग को दिया गया। राज्य पर नियन्त्रण का अधिकार उन्हें दिया गया जो महत्वाकांक्षी है परन्तु फिर भी जिनमें धार्मिकता है, शौर्य है, उत्साह है, तेज है तथा साथ-साथ अन्याय को दूर करने की तथा उसे न सहने की वृत्ति है; सम्पत्ति पर उनका नियन्त्रण रखा गया जिनका सामाजिक दृष्टि से अधिक विकास तो नहीं हुआ परन्तु

जिनको धन-प्राप्ति की लालसा है तथा उसकी पात्रता है। जो विचारशक्ति से विहीन, आत्मसंयम और आत्मानुशासन करने में असमर्थ हैं, अतः जो समाज का मार्गदर्शन करने तथा अधिक बुद्धिवादी कार्यों में असमर्थ हैं और प्रमुख रीति से शारीरिक कार्यों के ही योग्य हैं, उन्हें इन तीन वर्गों को इनके साधारण जीवन की चिन्ता से मुक्त कर, (जिससे यह अपना कार्य अधिक निश्चिन्ततापूर्वक, मनोयोगपूर्वक तथा व्यवस्थित रीति से कर सकें), इनकी सेवा करने का कार्य दिया गया। सामाजिक जीवन में कार्य का और अधिकार का विभाजन ठीक रहना समाज-जीवन की सुव्यवस्था की दृष्टि से आवश्यक है। वर्तमान काल में अधिकार का समुचित विभाजन न होने के ही कारण कई बार दुर्गुणी व्यक्ति ऊँचे स्थानों पर पहुँच जाते हैं और समाज की अव्यवस्था का यह एक बहुत बड़ा कारण है। वर्ण-व्यवस्था का एक लाभ यह भी था कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वाभाविक रीति से ही व्यवसाय प्राप्त हो जाता था तथा प्रत्येक व्यवसाय के लिए, चाहे वह कितना भी निम्न क्यों न हो, व्यक्ति भी गुणानुसार निश्चित कर दिये गये थे। इस प्रकार इस व्यवस्था के द्वारा जीवन की अनिश्चितताएँ समाप्त कर दी गयीं। वर्ण-व्यवस्था के ही अन्तर्गत जाति-व्यवस्था का भी समावेश है। चारों वर्णों के अतिरिक्त पृथक् वर्णों के स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों से विभिन्न वर्णसङ्कर जातियों का भी निर्माण हुआ। इन सभी जातियों के पृथक्-पृथक् व्यवसाय निश्चित किये गये हैं। इस प्रकार जाति-व्यवस्था के माध्यम से व्यावसायिक सङ्गठन (Trade guilds) निर्माण करने का प्रयत्न किया गया जो अपने व्यवसाय का तथा व्यवसाय के सदस्यों का हित-साधन कर सके; परन्तु साथ-ही-साथ दूसरे व्यवसायों से विद्वेष न करें। जाति-व्यवस्था का यह भी एक लाभ हुआ कि बाहर से आयी विभिन्न जातियों का समाज के अन्दर समावेश किया जा सका।

'वर्ण' शब्द के विभिन्न अर्थ बताये गये हैं। डॉ० भगवानदास 'वर्ण' की व्याख्या करते हैं--"वृ, वरणे; वर्ण, वर्णने; वृ, आच्छादने। जीविकार्थ व्रियते इति वर्णः। वर्णयति वा पुरुष इति वर्णः। वस्त्रवद् आच्छादयति, श्वेतः, रक्तः, पीतः, कृष्णः इति वर्णः।" इसका स्पष्टीकरण करते हुए वह कहते हैं कि वर्ण का अर्थ है जो वरण के योग्य हो अर्थात् जो विभिन्न कार्यों के लिये अपनी योग्यतानुसार चुना जा सके अथवा वह स्थान जिसके द्वारा व्यक्ति का वर्णन किया जा सकता है।[४] डॉ० राधाकमल मुकर्जी भी इसी प्रकार अर्थ करते हुए वर्ण को 'वरणीयम्' (चुने जाने योग्य) का पर्यायवाची कहते हैं।[५] 'वर्ण' शब्द रङ्ग का भी पर्यायवाची है और इसके कारण यह अर्थ निकाला गया है कि यह बाहर से आये हुये श्वेत आर्य तथा देश के अन्दर रहनेवाली काली जातियों की भिन्नता का

बोध कराने के लिए प्रयुक्त किया गया और इसलिए जो काले थे वह शूद्र हुए तथा शेष द्विज हुए। यह तो ठीक है कि 'वर्ण' शब्द रङ्ग का बोधक है और इसलिए चारो वर्णों का श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण (काला) वर्ण बताया गया है, परन्तु यह रङ्ग इसलिए बताये गये हैं कि ये रङ्ग इन वर्णों के विभिन्न गुणों के प्रतीक हैं। ब्राह्मण सतोगुणी हैं इस कारण उसका रङ्ग श्वेत है। शूद्र तमोगुणी है उसका रङ्ग कृष्ण है। यह बात सर्वविदित है कि श्वेत रङ्ग सबसे श्रेष्ठ और कृष्ण रङ्ग सबसे निकृष्ट है। रजोगुणी होने के कारण क्षत्रिय रक्ताङ्ग माना गया तथा रज और तम का मिश्रण होने के कारण वैश्य पीत वर्ण। वामनपुराण में चार प्रकार की देवियों का वर्णन है जिन्हें सरस्वती, जयश्री, लक्ष्मी और प्रियदेवी कामभावनायुक्त देवी) कहा गया है तथा जिनकी क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उपासना करते हैं। उन देवियों को क्रमशः श्वेताङ्गी तथा सत्त्वगुण-सम्पन्ना रक्ताङ्गी तथा रजोगुण-सम्पन्ना पीतवर्णा और नीलवर्णा तथा तमोगुण-सम्पन्ना कहा गया है।[६] इस प्रकार इन गुणों (सत्त्व, रज, तम) के आधार पर विभिन्न रङ्गों का स्वरूप माना गया है। यह एक विचारणीय प्रश्न है कि 'वर्ण' शब्द का प्रयोग पहले किस अर्थ में हुआ, रङ्ग के अर्थ में अथवा इन जातियों के अर्थ में। क्योंकि 'वर्ण' का धातु (मूल) अर्थ जो ऊपर बताया गया है, 'गुण' से सम्बन्धित है, अतः यही सम्भावना अधिक प्रतीत होती है कि पहले इस शब्द का प्रयोग इन चार जातियों के अर्थ में हुआ और फिर, क्योंकि इन जातियों पर, इनके गुणानुसार कुछ रङ्ग आरोपित थे, इस कारण बाद में इस शब्द का रङ्ग के अर्थ में भी प्रयोग होने लगा। राधाकृष्णन का यह भी कहना है कि विभिन्न वर्णों के अन्दर रङ्ग आरोपित करने का कारण यह है कि विभिन्न व्यक्तियों की आत्माओं से उनके गुणानुसार भिन्न-भिन्न रङ्गों की आभाएँ निकलती हैं[७] जो कि सर्वसाधारण व्यक्ति को नहीं दिखायी देती। उसे वही देख सकते हैं जो आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत हों। विभिन्न आत्माओं से विभिन्न रङ्गों की आभाएँ निकलने की धारणा जैनमत को मान्य है और शान्तिपर्व में भी यह कहा गया है[८]। अतः यदि वर्ण रङ्ग का ही प्रतीक माना जाये तो वह इसी अर्थ में रङ्ग का बोधक है।

इस प्रकार श्रेष्ठ और निकृष्ट गुणों के अनुसार व्यक्तियों और कार्यों का विभाजन किया गया और इस आधार पर वर्ण-व्यवस्था की निर्मिति हुई। अतः वर्ण, गुणों पर तो आधारित थे ही, 'कर्म' पर भी आधारित थे। 'गुण' और 'कर्म' दोनों दुअर्थी शब्द हैं। 'गुण' का अर्थ जहाँ एक ओर सत्त्व, रज और तमोगुण है वहाँ गुण का वह अर्थ भी है जिस अर्थ में साधारणतया हम 'गुण' शब्द का प्रयोग करते हैं। सत्त्व, रज, तम भी जीवन

के साधारण गुणों के द्योतक हैं। वनपर्व में धर्मव्याध कौशिक ब्राह्मण को उपदेश देते हुए कहता है[९]–"जिसमें अज्ञान की वहुलता है, जो मूढ़ और अचेतन तथा वहुत सोनेवाला है, जिसकी इन्द्रियाँ वश में न होने के कारण दूषित हैं, जो अविवेकी, क्रोधी और आलसी है, ऐसे मनुष्य को तमोगुणी जानना चाहिए। ब्रह्मर्षे ! जो प्रवृत्तिमार्ग की ही वातें करनेवाला, मन्त्रणा में कुशल और दूसरों से ईर्ष्या न करनेवाला, तथा जो सदा कुछ-न-कुछ करने की इच्छा रखता है, जिसमें कठोरता तथाअभिमान की अधिकता है, वह मनुष्यों पर रोव जमानेवाला पुरुष रजोगुणी कहा गया है। जिसमें प्रकाश (ज्ञान) की वहुलता है, जो धीर और नये-नये कार्य आरम्भ करने की उत्सुकता से रहित है, जिसमें दूसरों के दोष देखने की प्रवृत्ति का अभाव है, जो क्रोधशून्य, वुद्धिमान् और जितेन्द्रिय है वह सतोगुणी है।" मनुस्मृति में भी कहा है[१०]--"वेदाभ्यास, तप, शौच, इन्द्रियसंयम, धर्मानुष्ठान और आत्मचिन्तन, ये सव सतोगुण के लक्षण हैं। कर्म प्रारम्भ करने में अरुचि, अधैर्य, असत्कार्य के प्रति प्रेम और विषयोपभोग, ये रजोगुण के लक्षण हैं। लोभ, निद्रा, अधीरता, क्रूरता, नास्तिकता, आचार का लोप, याचना का स्वभाव और प्रमाद, ये तमोगुण के लक्षण हैं।" अतः सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी कहने का अर्थ व्यक्ति के अन्दर कुछ गुणों को परिलक्षित करना है। वर्णों के अन्दर गुणों का दोनों प्रकार से समावेश वताया भी गया है। वामनपुराण के जिस उद्धरण का ऊपर उल्लेख किया गया है, उसी उद्धरण के प्रारम्भ में विभिन्न वर्णों को सत्त्व, रज, तम गुणों से क्रमशः समन्वित कह कर तत्पश्चात् इन वर्णों के व्यक्तियों का वर्णन किया गया है—"सत्य तथा पवित्रता से युक्त, दान, उत्सव में लगे हुए व्यक्ति, हे दानवपति ! महापद्मा देवी (सरस्वती) के आश्रित होते हैं। यज्ञ करनेवाले, अच्छे व्यवहारवाले पर अभिमानी, वहुत दक्षिणा देनेवाले और सर्वसामान्य रीति से सुखी जीवन व्यतीत करनेवाले मनुष्य पद्मा देवी (जयश्री) के आश्रित रहते हैं। सत्य और झूठ दोनों से युक्त, न्याय और अन्याय से युक्त, दान देनेवाले, यज्ञ करनेवाले, महानीला देवी (लक्ष्मी) के आश्रित रहते हैं तथा नास्तिक, शौचरहित (अपवित्र), कृपण, भोग भी न कर सकने की पात्रतावाले, झूठ वोलनेवाले तथा चोरी करनेवाले मनुष्य, हे वाले ! शङ्खाश्रित (प्रियदेवी के आश्रित) रहते हैं।"[११] महाभारत में भी कहा है कि "तमोगुण शूद्रों में, रजोगुण क्षत्रियों में तथा सत्त्वगुण ब्राह्मणों में होता है।"[१२] 'कर्म' शब्द का प्रयोग भी दो अर्थ में है। सर्वप्रथम तो 'कर्म' का अर्थ यह है कि कर्मफल पर अर्थात् पूर्वजन्म के कर्म पर व्यक्ति का वर्ण निर्भर रहता था। योगसूत्र में यह कहा ही है कि जाति, आयु और भोग कर्म के अनुसार प्राप्त होते हैं।[१३] महाभारत में भी धर्मव्याध तथा विदुर के उदाहरण हैं जिनके विषय में वताया गया है कि वे सद्गुणी होने पर

भी पूर्वजन्मों के कर्म के कारण शूद्र हुए।[१४] अतः ऐसा हो सकता है कि कई बार गुणों में श्रेष्ठ होने पर भी व्यक्ति निम्न वर्ण में जन्म ले अथवा निकृष्ट गुणवाला व्यक्ति भी किसी पूर्व कर्म के पुण्यफल के कारण श्रेष्ठ वर्ण में जन्म ले। कर्मफल का सिद्धान्त मानने के कारण श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट जाति में जन्म, पूर्वजन्म के कर्मों के आधार पर मिलता है, यह मानना स्वाभाविक था। साधारणतया तो 'गुण' (सत, रज, तम) और 'कर्म' का समन्वय रहता था। व्यक्ति के जैसे कर्म होते थे तदनुसार ही उसके मन पर संस्कार निर्माण होकर उसके अन्दर वैसे ही गुण भी निर्माण होते थे, इसलिए यह धारणा थी कि 'कर्म' और 'गुण' दोनों के समन्वय से व्यक्ति किसी एक वर्ण की योग्यता प्राप्त करेगा। परन्तु कई बार अपवाद के रूप में बहुत श्रेष्ठ गुण के व्यक्ति को भी किसी दुष्कर्म के परिणाम-स्वरूप निम्न वर्ण में जन्म लेना पड़ता है। 'कर्म' शब्द का दूसरा अर्थ है कि चारों वर्णों के कर्म निश्चित थे।[१५] ब्राह्मणों का कर्म था यज्ञ करना और कराना, दान देना तथा लेना, अध्ययन करना और कराना; क्षत्रिय के कर्म थे यज्ञ और अध्ययन करना, दान देना तथा प्रजापालन; वैश्य के कर्मों में यज्ञ करना, दान देना, अध्ययन, कृषि, वाणिज्य और पशुपालन था तथा शूद्र का कर्म था सेवा एवं कारीगरी। केवल कर्म ही निर्धारित नहीं थे परन्तु यही कर्म व्यक्ति करे और अन्य दूसरा कर्म न करे, इस बात का भी आग्रह था (देखिए, आगे का विवेचन)। इन्हीं सब अर्थों में गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि "चातुर्वर्ण्य की सृष्टि मैंने गुण और कर्म के आधार पर की है।"[१६]

वर्ण-व्यवस्था जन्म पर आधारित थी। आपस्तम्बधर्मसूत्र में कहा है[१७] कि चारों वर्ण एक दूसरे से जन्म से ही श्रेष्ठ हैं। वसिष्ठधर्मसूत्र का भी कहना है[१८] कि चारों वर्ण प्रकृति (मूल स्वभाव अथवा जन्म) और संस्कारों से जाने जाते हैं। प्रत्येक वर्ण के पुरुष को अपनी ही सवर्णा स्त्री से विवाह करने का आदेश है[१९] और इसलिए स्वाभाविक रूप से एक समान वर्ण के स्त्री-पुरुष से उत्पन्न सन्तान उसी वर्ण की मानी गयी है। विभिन्न वर्णों के स्त्री-पुरुष के योग से (अर्थात् यदि पुरुष एक वर्ण का हो और स्त्री दूसरे वर्ण की हो तो ऐसे योग से) उत्पन्न सन्तति को चारों वर्णों से भिन्न स्थान दिया गया और ऐसी वर्णसङ्कर जातियों का वर्णन कई स्मृतियों में है। वर्णसङ्करता की अर्थात् विभिन्न वर्णों के स्त्री-पुरुषों के संयोग की सर्वत्र बहुत निन्दा भी की गयी है (देखिए नीचे)। वर्ण को जन्म पर आधारित करना बहुत स्वाभाविक भी था। यदि वैसा न किया जाता तो वर्ण-व्यवस्था ही शेष न रहती और वर्णों का स्वरूप अव्यवस्थित हो जाता। यदि जन्म पर वर्णों को आधारित न किया होता तो फिर वर्ण निर्धारित करने का अन्य कोई आधार रखना भी बहुत कठिन था।

जन्म पर जाति निर्धारित करने का नियम मान कर भारतीय धर्म-व्यवस्थापकों ने जाति-निर्धारण का काम प्रकृति के ऊपर छोड़ दिया। ऐसा माना गया कि प्रकृति द्वारा वर्ण-निर्धारण अधिक प्राकृतिक और न्यायानुकूल होगा बजाय इसके कि मनुष्य द्वारा वर्ण-निर्धारण हो क्योंकि प्रकृति के सभी काम सुनिश्चित नियमों के आधार पर होते हैं। यह भी माना गया कि वर्ण के अन्दर जन्म साधारणतया योग्यता के अनुसार ही होगा। साधारणतया जो जिस वर्ण के योग्य होगा, वह उसी वर्ण में उत्पन्न होगा। जन्मना वर्ण-व्यवस्था मानने का एक यह भी कारण था कि यह एक स्वीकृत सिद्धान्त के रूप में माना गया है कि माता-पिता के गुण उनकी सन्तान में भी आते हैं। मनुस्मृति में कहा है,[२०] "पूर्वोक्त (पुत्र) पिता का अथवा माता का अथवा दोनों का स्वभाव प्राप्त करता है। दुष्ट योनि द्वारा उत्पन्न सन्तति कभी भी अपने स्वभाव को नहीं छिपा सकती।" वायुपुराण में कहा है [२१] "पुत्र सदा पिता के स्वरूप का अनुकरण करता है, पराक्रम में भी पुत्र माता और पिता के समान होता है।" इस कारण यह विचार था कि एक वर्ण के स्त्री-पुरुष में उत्पन्न सन्तान साधारणतया उन्हीं के गुणानुसार होगी और इस कारण उसी वर्ण की पात्रता उस सन्तान के अन्दर होगी।

वर्ण, जन्म पर आधारित तो थे ही, साथ ही-साथ इस बात का भी भारतीय धर्मशास्त्रों का आग्रह था कि सबको स्वधर्म-पालन करना ही चाहिए अर्थात् जिस वर्ण के व्यक्ति को जो काम सौंपा गया है वही उसका धर्म है और उसे उस धर्म अर्थात् कर्म को कदापि नहीं छोड़ना चाहिए। अत्रिस्मृति में कहा है,[२२] "पराया धर्म इस प्रकार त्यागने योग्य है जैसे श्रेष्ठ रूपवाली परायी स्त्री।" गीता में कहा है, "स्वधर्म में मृत्यु भी श्रेयस्कर है परन्तु परधर्म भयानक है।" इस कारण राजा को भी यह आदेश है कि वह प्रत्येक वर्ण और आश्रम के व्यक्तियों से अपने-अपने धर्म का पालन कराये[२३]। स्वधर्म-पालन पर आग्रह इस कारण है कि यदि प्रत्येक वर्ण अपने-अपने धर्म का पालन छोड़ दे तो समाज-जीवन अव्यवस्थित हो जाये। स्वधर्म-पालन पर आग्रह करके प्रत्येक प्रकार के श्रम के प्रति सम्मान की भावना भी उत्पन्न की गयी है। किसी भी कार्य को हेय समझ कर न करना भूल है। उसी को यदि कर्तव्य-भावना से अथवा धर्म-भावना से किया तो वह व्यक्ति के लिये कल्याणकारी होगा।[२४] स्वधर्म पर इसलिए भी आग्रह है कि प्रत्येक श्रेणी के व्यक्ति का कर्म उसकी अपनी पात्रता और योग्यता के आधार पर स्थिर किया गया था। यदि वह कर्म व्यक्ति छोड़ दे तो फिर सब कर्मों का विभाजन योग्यतानुसार न रहने के कारण सभी कामों में गड़बड़ी तथा अनवस्था उत्पन्न होगी।

वर्ण-व्यवस्था में केवल इतनी ही कड़ाई नहीं थी कि सबको अपने-अपने कर्म करने का आग्रह हो; अपितु वर्ण-परिवर्तन की भी इस जन्म में, अपवाद छोड़ कर अनुमति नहीं थी। महाभारत में बताया गया है कि शुद्ध हो कर काम करने से वर्ण की दृष्टि से उन्नति तो होती है, परन्तु इस जन्म में नहीं दूसरे जन्म में। "शूद्र यदि देवता और ब्राह्मण की पूजा, अतिथि-सत्कार, ऋतु-स्नान के बाद स्त्री-प्रसङ्ग तथा नियमित भोजन करते हैं, पवित्रता से रहते हैं, कुटुम्ब के भोजन कर चुकने पर भोजन करते हैं और वृथा मांस नहीं खाते तो वे दूसरे जन्म में वैश्य होते हैं। वैश्य यदि सत्यवादी, अहङ्काररहीन, सुख-दुख आदि से मुक्त, शान्त, याज्ञिक, विद्वान्, पवित्र, ब्राह्मणों का सत्कार करनेवाला और सब वर्णों की पुष्टि का साधन करनेवाला होता है तथा गृहस्थधर्म का अवलम्बन करके सबके भोजन कर चुकने पर भोजन करता है तो, वह पवित्र क्षत्रिय कुल में जन्म लेता है।" यही नियम क्षत्रिय के सम्बन्ध में है। मनुष्यों के करोड़ों जन्मों की जहाँ कल्पना है वहाँ अगला जन्म कुछ सुदूर नहीं कहा जा सकता। फिर जब यह विचार है कि मृत्यु का अर्थ केवल शरीर-परिवर्तन है, जीवन की समाप्ति नहीं जीवन तो अविच्छिन्न रूप से चलता ही रहता है, तब दूसरे जीवन में वर्ण-परिवर्तन (छोटी दृष्टि रखने पर चाहे विशेष अन्तर का प्रतीत हो) भारतीय विचार में एक ही जीवन में परिवर्तन के समान है। वह इसी प्रकार है जैसे एक सत्र में व्यक्ति एक कक्षा में रह कर दूसरे सत्र में ही दूसरी कक्षा में जाता है। जाति-उत्कर्ष अर्थात् वर्ण-परिवर्तन का केवल एक ही नियम था कि निम्न वर्ण की कोई स्त्री किसी उच्च वर्ण के पुरुष के साथ विवाह करे और उस योग से उत्पन्न जो पुत्री हो उसका फिर उसी ऊँचे वर्ण के पुरुष के साथ विवाह हो तथा इसी प्रकार छः पीढ़ियों तक उत्पन्न पुत्रियों का विवाह उसी ऊँची वर्ण के पुरुष के साथ करने पर सातवीं पीढ़ी में उत्पन्न सन्तति उस ऊँचे वर्ण की होगी [२५]। ऐसा ही नियम जाति-अपकर्ष का है अर्थात् कुछ पीढ़ियों तक उत्पन्न पुत्रियों का किसी नीच वर्ण के पुरुष के साथ विवाह होने पर आगे की पीढ़ी की सन्तति उस नीच वर्ण की हो जायेगी। यह नियम भी इस जन्म में उन्नति देनेवाला नहीं है, इससे तो सातवीं पीढ़ी में उत्पन्न सन्तति की उन्नति होगी क्योंकि क्रमशः प्रत्येक पीढ़ी में उत्पन्न होनेवाली सन्तति गुण में पिछली पीढ़ी से अच्छी होगी और सातवीं पीढ़ी में जा कर जो सन्तति उत्पन्न होगी वह ऊँचे वर्ण की योग्यता को पूरी करनेवाली होगी। जब अपना-अपना कर्म करना ही व्यक्ति की उन्नति करने का एकमात्र मार्ग है तब इसी जन्म में व्यक्ति अपने वर्ण का परिवर्तन चाहे, इसका अर्थ है कि वह व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की दृष्टि से यह चाहता है, समाज-सेवा की उसकी दृष्टि नहीं है। समाज-

सेवा तो वह अपना निज कर्म करते हुए ही कर सकता है तथा परमात्मा की उपासना भी वह उसी रूप में कर सकता है और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा होने का अर्थ है कि उस व्यक्ति में उच्च वर्ण की पात्रता नहीं है। वह निजी स्वार्थ को समाज से श्रेष्ठ समझता है, उससे अहङ्कार-भावना अधिक है, वह समष्टि से अर्थात् परमात्मा से दूर है और ऐसा व्यक्ति वर्णोन्नति का पात्र हो ही नहीं सकता। फिर जितना ऊँचा वर्ण होगा उतनी ही प्रतिष्ठा अधिक होगी, सम्मान भी अधिक होगा परन्तु साथ-ही-साथ उतना ही कड़ा अनुशासन भी होगा, सुखोपभोग की सुविधा भी कम होगी, उत्तरदायित्व अधिक होगा तथा आदर्श के रूप में समाज में जीवन व्यतीत करने की आवश्यकता भी अधिक होगी। निम्न-वर्ण के व्यक्ति का सम्मान तो अवश्य कम है, परन्तु उसके जीवन में सुविधा, कामोपभोग की सम्भावना भी उतनी ही अधिक है और जो व्यक्ति कर्तव्य-भावना से व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा को, अर्थात् व्यक्तिगत सम्मान को, अधिक महत्त्व देता है वह भौतिक जीवन को अधिक महत्त्व देनेवाला है और इसलिए उसे नीच वर्ण में ही रहना चाहिए।

इतनी कड़ाई होने पर भी हो सकता है कि पिछले जन्म के किसी कर्म-विशेष के कारण व्यक्ति को उसके गुण की तुलना में ऊँचा अथवा नीचा वर्ण प्राप्त हो जाये, अथवा इस जन्म में ही संसर्ग के कारण अथवा वातावरण के कारण अथवा व्यक्तिगत कारणों से व्यक्ति के अन्दर उन्नति अथवा अवनति हुई हो। ऐसी स्थिति की भी अपवाद-रूप में व्यवस्था की गयी है। यह नियम बताया गया है कि यदि ब्राह्मण स्वधर्म का पालन न करता हो तो उसे शूद्र समझ कर व्यवहार करना चाहिए।[२६] परन्तु जो व्यक्ति अयोग्य हो अर्थात् अपात्र हो उसे नीचे के वर्ण का मान कर चलना चाहिए। यह नियम लागू करना अधिक सरल रखा गया था परन्तु भारतीय समाज-व्यवस्था में निम्न वर्ण के योग्य व्यक्ति को ऊँचे वर्ण का मानने का मार्ग इतना प्रशस्त नहीं था। ऊँचे वर्ण के व्यक्ति को यदि एक बार भूल से भी नीच वर्ण का मान कर उसके साथ वैसा व्यवहार किया तो इस भूल में समाज-जीवन को विशेष हानि न पहुँचेगी परन्तु नीच वर्ण के व्यक्ति को यदि भूल से ऊँचे वर्ण का स्थान दे दिया गया तो अधिक हानि होगा क्योंकि ऊँचे वर्ण का कार्य अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण, अधिक योग्यता की अपेक्षा रखनेवाला तथा अधिक आदर्शपूर्ण है और ऐसे स्थान पर व्यक्ति को बहुत सँभाल कर पहुँचाना ही उचित है। फिर भी ऊँचे वर्ण के अन्दर व्यक्ति के जाने का एक मार्ग है। यदि तपस्या के माध्यम से व्यक्ति अपने अन्दर श्रेष्ठता उत्पन्न करे, इन्द्रियसंयम करे और गुणोत्कर्ष करे तो उसे ऊँचे वर्ण के अधिकार दिये जा सकते हैं। विश्वामित्र का उदाहरण है ही और वह

रामायण (बालकाण्ड) में विस्तार के साथ वर्णित है। उन्होंने कई वर्षों तक तपपूर्ण जीवन व्यतीत कर पहले काम का, फिर अहङ्कार का और फिर क्रोध का त्याग किया और तत्पश्चात् वे क्षत्रिय से ब्राह्मण माने गये। वायुपुराण में कहा है[२७] "ऐसा सुना जाता है कि क्षत्रिय गुण-कर्म-स्वभाववाले अनेक द्विजों ने तपस्या द्वारा सिद्धि प्राप्त की। नरपति विश्वामित्र, मान्धाता, संकृति, कपि, पुरुकुत्स, सत्य, आनृहवान, ऋथु, आर्ष्टिषेण, अजमीढ, भागान्य, कुक्षीव, शिजय तथा अन्य रथीतर, रुन्द, विष्णुवृद्ध आदि महारथी राजाओं ने क्षत्रिय जाति में उत्पन्न हो कर तपस्या द्वारा ऋषि-पदवी प्राप्त की।" शान्तिपर्व में[२८] जनक पराशर से पूछते हैं "बहुत से मुनि नीच (जाति) में जन्म लेने पर भी किस प्रकार ब्राह्मण हो गये?" पराशर उत्तर देते हैं "उनकी तपस्या से उनकी आत्मा श्रेष्ठ हो जाती है। पिता के द्वारा चाहे जिस वर्ण में वे उत्पन्न किये गये परन्तु फिर अपनी तपस्या से उन्होंने ऋषित्व प्राप्त किया।" मनु ने भी तपस्या के आधार पर वर्णोत्कर्ष बताया है।[२९]

वर्ण-व्यवस्था में एक और कड़ाई थी। वर्णसङ्करता की बहुत निन्दा की गयी है। वर्णसङ्करता दो प्रकार से होती है—दूसरे वर्ण में विवाह करने से अथवा दूसरे वर्ण की वृत्ति (जीविका का साधन) अपनाने से।[३०] जीविका के साधन परिवर्तन करने के (वृत्ति की वर्णसङ्करता के) सम्बन्ध में स्वधर्म-पालन का महत्त्व ऊपर बताया ही जा चुका है तथा दूसरे वर्ण का काम अपना लेने की भी निन्दा की गयी है। परन्तु वर्णसङ्करता का प्रयोग साधारणतया विवाह की वर्णसङ्करता के ही लिए हुआ है। अर्जुन, गीता के प्रारम्भ में युद्ध से होनेवाले जन-विनाश का वर्णन करते हुए कहता है [३१] "कुलों के नाश से सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्म के नाश हो जाने पर सम्पूर्ण कुल को अधर्म भी बहुत दबा लेता है। कृष्ण! अधर्म के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं और वार्ष्णेय! स्त्रियों के दूषित हो जाने पर वर्णसङ्कर उत्पन्न होता है। वर्णसङ्कर कुलघातियों को और कुल को नरक में ही ले जानेवाला होता है। जिनकी पिण्ड और जल की क्रिया लुप्त हो गयी है वे (अर्थात् श्राद्ध और तर्पण से वञ्चित) पितर भी (स्वर्ग से) गिर जाते हैं। इन वर्णसङ्करकारक दोषों से कुलघातियों के सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं। जनार्दन! जिनका कुलधर्म नष्ट हो गया है, ऐसे मनुष्यों का अनिश्चित काल तक नरक में वास होता है" व्यासस्मृति में भी कहा गया है "योनिसङ्करसे जो सङ्कीर्ण है (वर्णसङ्कर) वे नरक में जाते हैं।"[३२] संवर्तस्मृति में विभिन्न वर्णों के पुरुषों द्वारा अन्य वर्णों की स्त्रियों से सम्बन्ध करने पर

प्रायश्चित्त बताया गया है [33] तथा मनुस्मृति में [34] वर्णसङ्कर सम्बन्धों के लिए राज्य द्वारा दण्ड का भी विधान दिया गया है।

किन्तु जिस प्रकार वर्ण-परिवर्तन के सम्बन्ध में बिलकुल आग्रहपूर्वक मना करने पर भी उसके लिए व्यावहारिक अपवादों का विधान है, वैसा ही उपरोक्त विषय में भी है। वैसे तो दूसरे वर्ण में विवाह करना अथवा दूसरे वर्ण की वृत्ति अपनाना अच्छा नहीं माना जाता परन्तु आवश्यकता होने पर अनुलोम पद्धति से यह करने में (अर्थात् नीचे वर्ण की वृत्ति अपनाने में अथवा नीचे वर्ण की स्त्री से विवाह करने में) विशेष दोष नहीं माना गया है। जहाँ तक दूसरे वर्ण की वृत्ति अपनाने का प्रश्न है, आपत्ति-काल में, अर्थात् जब अपने वर्ण का कार्य करते हुए जीविका न चलायी जा सके तब, नीचे के वर्ण की वृत्ति द्वारा अपनी जीविका चलाने की अनुमति है।[35] परन्तु दूसरे वर्णों की वृत्ति अपनाने की जो अनुमति दी गयी है, उसमें भी कई बन्धन हैं। एक तो जब आपत्ति समाप्त हो जाये तब तुरन्त ही अपने वर्ण की वृत्ति पुनः अपना लेनी चाहिए तथा दूसरे वर्ण की वृत्ति अपनाने का प्रायश्चित्त करना चाहिए।[36] दूसरा प्रतिबन्ध यह है कि दूसरे वर्ण की वृत्ति अनुलोम विधि से अपनायी जा सकती है, प्रतिलोम विधि से नहीं अर्थात् निम्न वर्ण की जीविका अपनायी जा सकती है उच्चवर्ण की नहीं।[37] क्योंकि जिस प्रकार वर्ण-परिवर्तन के सम्बन्ध में नीचे वर्ण में गिरने की तो सरल व्यवस्था है परन्तु ऊँचे वर्ण में जाने के सम्बन्ध में अधिक कड़ाई है उसी प्रकार आपद्धर्म में नीचे की ही वृत्ति अपनायी जा सकती है ऊँचे वर्ण की नहीं, क्योंकि उससे (ऊपर के वर्ण की वृत्ति नीचे वर्ण के व्यक्ति द्वारा अपनाये जाने से) समाज-जीवन में भ्रष्टता निर्माण होने का भय अधिक है। जिसकी पात्रता कम है और आदर्श उपस्थित करने की भी सिद्धता कम है, उसे किसी भी दशा में अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य देने का सिद्धान्त भारतीय समाज-व्यवस्था में मान्य नहीं है। केवल शूद्र को वैश्य-जीविका अपनाने की अथवा कारीगरी का काम करने की अनुमति है[38] क्योंकि अन्यथा उसके लिए और कोई मार्ग नहीं है।

वृत्ति के अतिरिक्त विवाह की भी वर्णसङ्करता बुरी बतायी गयी है, परन्तु व्यवहार की दृष्टि से यह मान्य भी की गयी है। यह तो नियम अवश्य है[39] कि सभी व्यक्ति अपने-अपने वर्ण की स्त्री से ही विवाह करे परन्तु फिर भी ऐसा हो सकता है कि एक वर्ण का पुरुष ऊँचे अथवा नीचे वर्ण की किसी स्त्री से सम्बन्ध स्थापित कर ले। ऐसे सम्बन्ध करनेवाले स्त्री-पुरुषों का कृत्य चाहे कितना ही गर्हित माना जाये फिर भी उनके जीवन की व्यवस्था तो करनी ही होगी। उनका समाज-जीवन में स्थान भी निर्धारित करना होगा तथा उनकी आगे

उन्नति हो सके, ऐसा भी प्रबन्ध करना होगा। इस प्रकार के वर्ण-सम्बन्धों में भी अनुलोम-सम्बन्ध तो एक सीमा तक उचित भी माना गया है परन्तु सभी प्रतिलोमों को तो शूद्रवत् ही समझा गया है। अनुलोम-सन्तानों को, पिता और माता के गुण सम्मिलित होने के कारण और पिता का वर्ण ऊँचा है तथा माता का वर्ण नीचा है, इस कारण पिता के वर्ण से नीचा और माता के वर्ण से ऊँचा माना गया है। यद्यपि श्रेष्ठ वर्ण का (ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य) पिता होने के कारण और पिता के गुण भी सन्तान में होने के कारण सभी अनुलोमों को द्विज तो माना गया है, परन्तु, क्योंकि पिता की तुलना में माता नीचे वर्ण की है और माता के गुण भी सन्तान में हैं, इसलिए उन्हें द्विजों के अन्तर्गत पिता के ऊँचे वर्ण का न मान कर, माता के नीचे वर्ण का माना गया है। मनु ने इस सबका सकारण उल्लेख किया है—"अपने से नीचे वर्ण की स्त्रियों में द्विजों ने जो पुत्र उत्पन्न किये हों, वे उनके (पिता के) समान हैं परन्तु माता के दोष से निन्दित कहा गया है"। [४०] अग्निपुराण का भी कहना है[४१] कि "वर्णों के अनुलोम से जाति मातृसम बतायी गयी है"। प्रतिलोम सन्तानों को समाज-व्यवस्था में स्थान देते हुए भी उन्हें बहुत गर्हित बताया गया है। व्यासस्मृति का कहना है कि [४२] "निचले वर्ण से उत्तम वर्ण की कन्या में जो पैदा हो वह शूद्र से भी अधम है", तथा महाभारत का भी कहना है कि "श्रेष्ठ वर्ण की स्त्री के गर्भ और नीच वर्ण के पुरुष के वीर्य से उत्पन्न सन्तान चारों वर्णों में निन्दनीय होती है।" प्रतिलोम को अनुलोम से अधिक निन्दित समझने का यह कारण है कि स्त्री को अपने से श्रेष्ठ पुरुष से सम्बन्ध स्थापित होने की वृत्ति स्वाभाविक है परन्तु यदि किसी स्त्री के द्वारा हीन पुरुष से सम्बन्ध स्थापित होता है तो वह काम-भावना के अत्याधिक्य के कारण होता है। पिता तो हीन वर्ण का है ही, और जब माता भी दोषपूर्ण है तो इस सम्बन्ध से उत्पन्न सन्तान कभी भी श्रेष्ठ नहीं होती। स्मृतियों में तथा महाभारत में इन वर्णसङ्कर जातियों का (अनुलोमों और प्रतिलोमों का) वर्णन है [४३] तथा इनकी क्या-क्या वृत्ति है, इसका भी वर्णन है। औशनसस्मृति का जो उपलब्ध अंश है, उसमें तो केवल इन सङ्कर जातियों का तथा इनको सौंपे गये कार्यों का ही उल्लेख है। इन वर्णसङ्कर जातियों की व्यवस्था करके भारतीय समाज-नियामकों ने यह मान्य किया कि मनुष्य का कई बार श्रेष्ठ नियमों से पतन हो सकता है। साथ-ही-साथ उन्होंने इन वर्णसङ्कर जातियों के व्यक्तियों को समाज में स्थान दे कर इनकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त रखा है तथा समाज के लिए आवश्यक बहुत-से व्यवसायों की व्यवस्था भी की है।

वर्ण-व्यवस्था की यह कड़ाई उन्हें बहुत विचित्र लगती है जो इसके वातावरण से अपरिचित हैं तथा उनको अन्य देशों के स्वतन्त्र जीवन की तुलना

में यह कड़ाई हेय भी प्रतीत होती है। अन्य देशों में भी व्यवसाय हैं परन्तु व्यवसायों के परिवर्तन करने की भी व्यक्तियों को पूर्ण स्वतन्त्रता है। यह स्वतन्त्रता भारत में नहीं स्वीकार की गयी। भारतीय समाज-नियन्ताओं की यह धारणा थी कि प्रत्येक व्यवसाय उसके योग्य व्यक्ति को ही मिलना चाहिए और योग्यता का आधार आध्यात्मिक उन्नति तो है ही, परन्तु यह आध्यात्मिक उन्नति बहुत-कुछ पैतृक गुण और पारिवारिक वातावरण के प्रभाव पर निर्भर है। जब आध्यात्मिक योग्यता के अनुसार व्यक्ति को काम सौंपा गया है तो उस काम को बदलने की भावना असामाजिक, स्वार्थपूर्ण, कर्तव्य-भावना के विपरीत और अश्रेयस्कर मानी गयी है। दूसरे, यह तो अवश्य सत्य है कि भारत में वर्ण के आधार पर उच्चता और हीनता मानी जाती है, परन्तु अन्य देशों में भी समाज विभिन्न वर्गों में विभाजित है। जहाँ अन्य देशों में वर्ग अनिश्चित आधार पर निर्माण होते हैं, वहाँ भारत में वर्णों को निश्चित स्वरूप दे कर तथा उसे धन-सम्पत्ति अथवा पद-प्रतिष्ठा पर नहीं अपितु व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति पर आधारित कर वर्ग-विद्वेष की भावना ही यहाँ समाप्त कर दी गयी। फिर, ऊँचे वर्ण के व्यक्तियों के जीवन में इतना अनुशासन और कड़ाई रखी गयी कि निम्न वर्ण के व्यक्तियों को, जो आध्यात्मिक दृष्टि से इतने उन्नत नहीं थे और जो इस कारण उतना कठिन और अनुशासनपूर्ण जीवन व्यतीत करने में अक्षम थे—उन ऊँचे वर्णों में प्रवेश करने की इच्छा ही होना कठिन था।

समाज-व्यवस्था में सर्वश्रेष्ठ स्थान ब्राह्मण को प्राप्त था। स्वाभाविक ही है कि जब सन्तोष, क्षमा, शान्ति, उदारता, संयम, अनुशासन, अलोभ आदि सद्गुणों के प्रतिमूर्ति के रूप में ब्राह्मण की कल्पना की गयी तब उसको श्रेष्ठ स्थान देना ही उपयुक्त था। ब्राह्मणों के सम्बन्ध में धर्मग्रन्थों में इतना लिखा गया है कि यदि उसे सङ्कलित किया जाये तो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ तैयार हो जाये। इस कारण ब्राह्मणों के विषय में समाज-व्यवस्था से सम्बन्धित मूल बातों का ही यहाँ उल्लेख किया जायेगा। जिन गुणों के कारण ब्राह्मण की श्रेष्ठता वर्णित है, वह गुण कई ग्रन्थों में वर्णित हैं।[४४] उदाहरण के लिए शान्तिपर्व में कहा है "जो जातकर्म आदि संस्कारों से संस्कृत और पवित्र हैं, वेदाध्ययन में रत है, जो षट्कर्मों (अध्ययन, अध्यापन आदि) में लगे हुए हैं, जो शुद्धि और सदाचार का ठीक प्रकार से पालन करते हैं, यज्ञशेष का भोजन करते हैं, गुरु को प्रिय हैं, सदा व्रतपालन में तत्पर हैं, सत्यवादी हैं और जो दान, अद्रोह, कोमलता, दया, क्षमा और तपस्या में लगे रहते हैं, वही ब्राह्मण हैं।[४५]" इस कथन का भाव यह है कि ब्राह्मण के पूर्ण संस्कार होने चाहिए क्योंकि संस्कार के द्वारा बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की शुद्धि

तथा व्यक्ति की उन्नति होती है। ब्राह्मणों के द्वारा प्रतिदिन आचार का पालन भी होना चाहिए क्योंकि उसके द्वारा पारमार्थिक बुद्धि का विकास होता है तथा ब्राह्मणों के अन्दर सद्गुण होने चाहिए। इसी प्रकार से ब्राह्मणों के गुण अन्य ग्रन्थों में भी वर्णित हैं।[४६] पद्मपुराण में यही गुण विस्तार के साथ वर्णित हैं। अत्रिस्मृति में भी कहा है "शौच, मङ्गल, अनायास, अनसूया, अस्पृहा, दम, दान, दया—ये विप्र के लक्षण हैं।" तत्पश्चात् इन शब्दों की परिभाषा की गयी है। शौच का अर्थ है अभक्ष्य वस्तु तथा असज्जन पुरुष का त्याग, मङ्गल का अर्थ है सदाचरण में लगे रहना, अनायास का अर्थ है शरीर-पीड़ित करनेवाले कर्म को अत्यधिक करने का दुराग्रह न करना, दूसरे के गुणों की स्तुति करना तथा दोषों की निन्दा न करना अनसूया है और स्वयं प्राप्त धन में तथा स्वस्त्री में सन्तोष अस्पृहा है। मनुस्मृति में ब्राह्मण के ये गुण बताये गये हैं—दृढ़तापूर्वक स्वकर्म में लगा रहनेवाला, मृदु, इन्द्रिसंयमी, क्रूर व्यक्तियों के साथ न रहनेवाला, अहिंसाशील, व्रती तथा दानशील (स्वार्थत्यागी)।

इन सब गुणों की श्रेष्ठता के ही कारण इस वर्ण को ब्रह्म प्राप्त करने में समर्थ तथा उस दृष्टि से प्रयत्नशील और उन्नतिशील समझ कर 'ब्राह्मण' नाम दिया गया है[४७]। "जिसके हृदय में निर्मल निर्गुण ब्रह्म का भाव उदय हो, वही ब्राह्मण है।" उपरोक्त गुणों के कारण तथा यह ब्रह्म-प्राप्ति की दृष्टि से सबसे अधिक निकट हैं, इस कारण समाज की व्यवस्था बनाये रखने का *काम अर्थात् धर्म-स्थापन तथा धर्म-रक्षा का कार्य ब्राह्मणों को सौंपना* स्वाभाविक ही था। "तीनों लोक (समाज), तीनों वेद (धर्म), तीनों आश्रम तथा तीनों अग्नि (आचार) की रक्षा के लिए पहले ब्राह्मणों की सृष्टि हुई थी।"[४८] "ब्रह्मा ने तप करके हव्य-कव्य पहुँचाने के लिए और इस सम्पूर्ण (जगत्) की रक्षा के लिए अपने मुख से सबसे पहले ब्राह्मण को उत्पन्न किया। ब्राह्मण की उत्पत्ति ही धर्म के शाश्वत रूप की उत्पत्ति है। वह धर्म के लिए उत्पन्न हुआ है और (अपने तथा अन्य सबके लिए) ब्रह्मत्व-प्राप्ति की दृष्टि से प्रयत्न करता है। उत्पन्न हुआ ब्राह्मण पृथ्वी पर सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि वह सब प्राणियों के धर्म-समूह की रक्षा के लिए ईश्वर है।"[४९]

धर्म-स्थापन करनेवाले ब्राह्मण को समाज के सम्मुख आदर्श रूप में रहना चाहिए, यह आवश्यकता भी भारतीय समाज-निर्माताओं ने अनुभव की। इसलिए समाज-व्यवस्था को दूषित करनेवाले कृत्य, ब्राह्मणों को करना मना है। इस कारण ऐसे समाज-भावहीन अथवा समाज-व्यवस्था के विपरीत कर्म करनेवाले ब्राह्मणों को निन्द्य समझ कर उन्हें श्राद्ध में आमन्त्रित करना अथवा दान देना वर्जित किया गया है। श्राद्ध में आमन्त्रित किये जाने के

अयोग्य ब्राह्मणों की मनुस्मृति में दी हुई सूची यहाँ दी जाती है।[५०] "मनु ने चोर, पतित, नपुंसक, तथा नास्तिक वृत्तिवालों को हव्य-कव्य (पितृकर्म) के अयोग्य कहा है। जटिल स्वभाववाला, बिना पढ़ा, दुर्बल, धूर्त, तथा जो बहुतों का यज्ञ कराता है (अर्थात् दक्षिणा का लोभी) इनको भी श्राद्ध में भोजन नहीं देना चाहिए। वैद्य, पुजारी, माँस बेचनेवाले, व्यापार से जीविका करनेवाले भी हव्य-कव्य में वर्जित हैं। ग्राम का और राजा का नौकर (अर्थात् सेवा-कर्म करनेवाला), बुरे नखवाला, काले दाँतवाला, अग्निहोत्र त्यागनेवाला, व्याजखोर, क्षयरोगी, पशु पालनेवाला (वैश्यकर्म-जीवी), बड़े भाई से पूर्व विवाह करनेवाला (परिवेत्ता) तथा वह बड़ा भाई जिसके पूर्व छोटे भाई ने विवाह किया हो (परिवित्ति), देवताओं का तिरस्कार करनेवाला, ब्राह्मणों से द्वेष करनेवाला, गणों के माध्यम से जीनेवाला, बुरे शीलवाला, शूद्रा स्त्री का पति, दुबारा पति करनेवाली स्त्री का पति, काना, ब्रह्मचर्याश्रम में स्त्री-गमन करनेवाला, धन ले कर पढ़ानेवाला, गुरु को भृत्य के समान रखनेवाला, शूद्र का शिष्य, शूद्र का गुरु, दुर्वचन बोलनेवाला, कुण्ड (पति के जीवित रहते पर-पुरुष से उत्पन्न), गोलक (पति की मृत्यु के पश्चात् पर-पुरुष से उत्पन्न), माता-पिता, और गुरु का बिना कारण त्याग करनेवाला, जो अधर्मपूर्ण विवाह तथा बुरे संसर्ग के कारण पतित है, घर में आग लगानेवाला, विष देनेवाला, कुण्ड के यहाँ भोजन करनेवाला, सोमविक्रयी, समुद्र-मार्ग से जानेवाला, भाट, तेली, झूँठी गवाही देनेवाला, पिता के साथ झगड़ा करनेवाला, मद्य पीनेवाला, धूर्त, पापरोगी (कोढ़ी), नापित, घमण्डी, रस (दूध, तेल आदि) बेचनेवाला, धनुष-बाण बनानेवाला, बड़ी बहन के अविवाहित रहते छोटी बहन से विवाह करनेवाला, मित्रद्रोही, जुआरी, आचार्य का पुत्र (भाई माना जाने के कारण), मिरगी, गण्डमाला और श्वेतकुष्ठ का रोगी, चुगलखोर, पागल, अन्धा और वेद-निन्दक ये भी वर्जित हैं। हाथी, घोड़ा, ऊँट, बैल, इनको सिखानेवाला, ज्योतिषी, पक्षियों को पालनेवाला, युद्धाचार्य (क्षत्रिय की वृत्तिवाला), स्रोतों को (नहर-नदी आदि) तोड़नेवाला तथा ऐसे व्यक्तियों को बचानेवाला, दूत, घर बनाने का अथवा वृक्ष लगाने का काम करनेवाला, कुत्तों और बाज से जीविका करनेवाला, कन्या को दूषित करनेवाला, हिंसक, शूद्र वृत्तिवाला, गणों को यज्ञ करानेवाला, आचारहीन, नित्य याचक, कृषिजीवी, फीलपाँव का रोगी, सज्जनों द्वारा निन्दित, मेढे, भैसों की जीविका करनेवाला, जिसका अन्य पति जीवित हो उससे विवाह करनेवाला, मुर्दों को उठानेवाला, इन सबको प्रयत्नपूर्वक (श्राद्ध से) वर्जित करना चाहिए। द्विजातियों में श्रेष्ठ विद्वान् को चाहिए कि इन बुरे आचारवाले और पंक्ति में बैठने के अयोग्य

अधम द्विजों को हव्य-कव्य में वर्जित कर दे क्योंकि बिना पढ़ा ब्राह्मण तृण की अग्नि के समान है जो शीघ्र शान्त हो जाती है, इस कारण उन्हें न देना चाहिए क्योंकि राख में होम नहीं किया जाता है।" इसी प्रकार की दान के अपात्र ब्राह्मणों की भी सूची है।[५१] इस प्रकार की विविध शास्त्रों में जो सूचियाँ दी हुई हैं उन्हें देखने से ज्ञात होगा कि जो अधर्मी हैं, जो अपने कर्म को छोड़कर अन्य कर्मों में रत हैं, जो समाज-व्यवस्था के नियमों का उल्लङ्घन करनेवाले हैं अथवा जो ऐसी जीविका करते हैं जिनमें धन के लोभ का स्वाभाविक रीति से विकास होता है तथा जो क्रूरकर्मा, चरित्रहीन, दुष्ट हैं उन सबको श्राद्ध में आमन्त्रित करना अथवा दान देना वर्जित है। संक्षेप में जो समाज-जीवन की दृष्टि से आदर्श प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं उनको ब्राह्मणों में योग्य स्थान देना मना किया गया है।

क्योंकि ब्राह्मण को समाज के सामने आदर्श जीवन व्यतीत करना है, अतः ऐसे वर्ग को ही समाज को शिक्षित करने का तथा यज्ञ कराने का महत्वपूर्ण कार्य दिया गया है। स्वयं आदर्श जीवन व्यतीत करने के कारण ही वही समाज की भावी सन्तति को ठीक मार्ग पर लगाने में समर्थ है, वही उनमें निःस्वार्थ सामाजिक-जीवन व्यतीत करने की पात्रता और सिद्धता उत्पन्न कर सकता है तथा वही मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा और शक्ति दे सकता है। ऐसे ही व्यक्ति के पास यज्ञ अर्थात् समाज-जीवन को व्यवस्थित रखनेवाले तथा व्यवस्थित करानेवाले कर्मों का ठीक से सञ्चालन करने की पात्रता है। ब्राह्मण को प्रायश्चित्त निश्चित करने का, धर्म-निर्णय का तथा न्यायकर्ता का काम भी सौंपा गया है। मनु का कहना है कि "ब्राह्मण उत्पत्ति से ही देवताओं का देवता है और संसार में उसे प्रमाण माना जाता है। इसका वेद ही कारण है। उन ब्राह्मणों में से तीन वेदपाठी ब्राह्मण पाप के प्रायश्चित्त बतायें क्योंकि विद्वानों की वाणी पवित्र और पापियों को पवित्र करनेवाली है।[५२] अत्रिस्मृति में कहा है[५३] "जो वेद और शास्त्र को पढ़ा हुआ है और शास्त्र के अर्थ का ज्ञान रखता है, उस ब्राह्मण को वेदविद् कहते हैं। उसका वचन पवित्र करनेवाला है। एक भी वेद को जाननेवाला ब्राह्मण जिसे धर्म कहे, वही परम धर्म जानना चाहिए परन्तु जिसे दस सहस्र मूर्ख कहे वह धर्म नहीं है।" न्याय के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य तथा शुक्र का कहना है कि "न्यायकर्त्ता ब्राह्मण होना चाहिए।[५४]" धार्मिक, विद्वान्, न्यायप्रिय, होने के कारण ब्राह्मणों को यह काम सौंपे गये।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण का वध क्यों वर्जित था। जो इतना गुणी था, जिसके ऊपर समाज-जीवन का इतना उत्तरदायित्व

था, ऐसे महत्त्वपूर्ण वर्ग का वध निषेध होना स्वाभाविक था। धर्म की स्थापना करनेवाले, धार्मिक वृत्तिवाले, समाज-जीवन को व्यवस्थित रखनेवाले तथा समाज के सामने आदर्श जीवन प्रस्तुत करनेवाले व्यक्ति की हत्या को उचित रीति से ही समाज के प्रति एक अपराध, समाज के जीवन-मूल्यों पर आघात तथा समाज को अव्यवस्थित करनेवाला एक कर्म माना गया। तैत्तिरीय-संहिता, शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्योपनिषद्, गौतमधर्मसूत्र, वसिष्ठधर्मसूत्र[५५] तथा अन्य सभी इतिहास, पुराण ग्रन्थों में जहाँ वर्णों का वर्णन किया गया है, वहाँ ब्रह्महत्या को एक महापातक गिना गया है। ब्राह्मण-वध का इतना निषेध है कि अपराधी ब्राह्मण को भी मृत्युदण्ड देना मना किया गया है। मनु ने कहा है,[५६] "वध न करके ब्राह्मण के सिर का मुण्डन ही करा दिया जाये।' यही प्राणान्तक दण्ड है। अन्य वर्णों को प्राणान्तक दण्ड हो सकता है। (उसके) सब पापों में स्थित होने पर भी ब्राह्मण का वध कदापि न करे, उसे धन सहित अक्षत-शरीर ही राज्य से निकाल दे। ब्राह्मण-वध से अधिक दूसरा कोई पाप पृथ्वी पर नहीं है, इसलिए राजा मन में भी ब्राह्मण-वध का विचार न करे।" परन्तु इतना होने पर भी धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति आततायी के रूप में आये तो उसका अवश्य वध करना चाहिए चाहे वह गुरु हो, बालक हो, वृद्ध हो अथवा बहुश्रुत ब्राह्मण हो।[५७] वसिष्ठधर्मसूत्र में कहा है[५८] "अपनी रक्षा की जो इच्छा करता है ऐसे आततायी के मारनेवाले को कोई पाप नहीं बताया गया है। छः प्रकार के आततायी हैं—अग्नि लगानेवाला, विष देनेवाला, जिसके हाथ में शस्त्र हो, धन का चोर, खेत का चोर और स्त्री का चोर। यदि वेदपारगी आततायी भी मारने आये तो उसको मारने से ब्रह्महत्यारा नहीं होता। अच्छे कुल में उत्पन्न वेदपाठी आततायी को जो मारता है, उस हत्या से वह ब्रह्महत्यारा नहीं होता क्योंकि उसका (आततायी का) क्रोध ही उसको मारता है।"

ब्राह्मण का वध ही केवल निषिद्ध नहीं है, उसे इतना उच्च और इतना पवित्र माना गया है कि उसे किसी भी प्रकार का शारीरिक त्रास पहुँचाना उचित नहीं समझा गया। गौतम का कहना है "यदि छुड़ाने में समर्थ होने पर भी कोई ब्राह्मण की हिंसा करा दे और ब्राह्मण गुरु पर क्रोध करे तो सौ वर्ष तक नरक, (ब्राह्मण के) मारने पर सहस्र वर्ष तक और (उसके) रुधिर निकलने पर रुधिर से पृथ्वी के जितने परमाणु भींगे, उतने वर्ष तक नरक होता है।"[५९] इसीलिए याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मणों को शारीरिक दण्ड के स्थान पर निर्वासन का दण्ड और शरीर पर कोई चिह्न अङ्कित करने का दण्ड कहा है।[६०] ब्राह्मण की निन्दा, उसके प्रति द्वेष अथवा उसका अपमान करना भी मना है। मनु का

सकारण कथन है[६१] "विधान बनानेवाला (धर्म-निर्णायक), शासन करनेवाला (धर्म-पालन करनेवाला), वक्ता (प्रायश्चित्त निर्धारित करनेवाला) तथा सब प्राणियों का मित्र ब्राह्मण कहा जाता है। इस कारण उन्हें न बुरे और न रूखे वचन कहना चाहिए।" गुणशाली होने के कारण तथा समाज को बनाये रखने का उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य होने के कारण ही ब्राह्मण की महत्ता शास्त्रों में बहुत वर्णित है। तैत्तरीयसंहिता तथा शतपथब्राह्मण ने ब्राह्मणों को प्रत्यक्ष रूप से दिखायी देनेवाले देवता बताया है[६२] तथा स्मृतियों और इतिहास-पुराण ग्रन्थों में भी ब्राह्मणों की महिमा विस्तार और विविधता के साथ वर्णित है। ब्राह्मणों का यह महत्त्व इतना अधिक वर्णित है[६३] कि उसका शतांश भी यहाँ देना सम्भव नहीं है। केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ब्राह्मण (श्रेष्ठ व्यक्ति) की समाज में प्रतिष्ठा रखने की ही दृष्टि से यह महिमा वर्णित की गयी है।

ब्राह्मण को गुणों से श्रेष्ठ होना आवश्यक है, यह तो पीछे बताया ही गया है क्योंकि जब तक गुणों की श्रेष्ठता ब्राह्मणों में न होगी तब तक न तो वह समाज में आदर पा सकते हैं, न समाज में अपना आदर्श प्रस्थापित कर सकते हैं, और न वह समाज को अपने अनुसार चला सकते हैं। परन्तु इसका दूसरा भी पक्ष है। ऐसा तो हो नहीं सकता कि प्रत्येक ब्राह्मण दोषहीन हो, कुछ-न-कुछ दोष तो प्रत्येक व्यक्ति में रह ही सकते हैं चाहे वह कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो। पूर्णता की अवस्था गुणातीत अवस्था है; ब्राह्मण गुणातीत नहीं है वह तो सतोगुणी है और गुणातीत अवस्था उसको जीवन के अन्तिम काल सन्यासाश्रम में ही, जब कि वह संसार के समस्त अर्थ और काम का उपभोग कर उनसे निवृत्त हो जायगा, साधारणतया प्राप्त होगी, यह माना गया है। इसलिए बहुत अधिक गुणवान् होने पर भी हो सकता है कि ब्राह्मण में कहीं-न-कहीं दोष शेष हो। ऐसी अवस्था में यदि शेष समाज की यही धारणा रही कि केवल गुणों के आधार पर ही ब्राह्मणों को मान्यता देनी है तो फिर यह भी सम्भव है कि थोड़ा-सा दोष देख कर ही ब्राह्मण के प्रति आदर न रखने की भावना उत्पन्न हो जाये। इस कारण एक ओर तो ब्राह्मणों को बताया गया है कि यदि वे गुण-सम्पन्न न रहें तो समाज में उन्हें सम्मान का स्थान न प्राप्त होगा, तथा दूसरी ओर, शेष समाज से आग्रह किया गया है कि ब्राह्मण कैसा भी हो उसका सम्मान करना चाहिए तथा जन्म से भी जो ब्राह्मण है वह भी सम्मान का पात्र है। अनुशासनपर्व में कहा गया है, "ब्राह्मण विद्वान् हो या अविद्वान् इस भूतल का महान् देवता है जैसे अग्नि पञ्च-भूसंस्कार पूर्वक स्थापित हो या न हो वह महान् देवता ही है।"[६४] मनु का भी यही कथन है।[६५]

ब्राह्मण को धन की दृष्टि से भी समाज के सामने चरम आदर्श प्रस्तुत करना है। ऐसा नहीं हो सकता कि श्रेष्ठता के नाम से वह समाज में सबसे अधिक ऐश्वर्य तथा सुखोपभोग की कामना करे और स्वयं वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत कर समाज को सन्तोष की और सर्वस्व-त्याग की शिक्षा दे। उन्हें स्वयं भी चरम सन्तोष का तथा स्वार्थ-त्याग का जीवन व्यतीत करना है। ब्राह्मण की जीविका के सम्बन्ध में मनु ने जो नियम दिये हैं, उन्हीं को यहाँ पूर्ण उद्धृत करना उपयोगी होगा[६६]। "अनापद्काल में विप्र ऐसी वृत्ति के द्वारा रहे जिसमें प्राणियों का अद्रोह हो (अर्थात् उन्हें कष्ट न हो) अथवा कम-से-कम द्रोह हो। अपनी (जीवन) यात्रा पूरी करने के निमित्त अपने अनिन्दित कर्मों द्वारा शरीर को पीड़ा न देते हुए धन-सञ्चय करे। ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत, तथा सत्यानृत से अपनी जीविका कमाये परन्तु श्ववृत्ति से कभी भी नहीं। उञ्छ (खेत में पड़े हुए अन्न के दाने बीनना) तथा शिल (खेत में पड़ी हुई बालियाँ बीनना) को ऋत कहते हैं, अयाचित (बिना माँगी वस्तु) अमृत होता है, याचित भिक्षा मृत कहाती है, खेती को प्रमृत कहते हैं और वाणिज्य को सत्यानृत कहते हैं, इनसे भी मनुष्य (ब्राह्मण) जीविका चलाते हैं (आपद्काल व्यवस्था)। सेवा को श्ववृत्ति कहते हैं, इस कारण उसे वर्जित करना चाहिए। कुसूलधान्यक (बारह दिन का धान रखनेवाला) अथवा कुम्भीधान्यक (घड़े-भर अर्थात् लगभग छः दिन का धान रखनेवाला) अथवा तीन दिन का धान रखनेवाला अथवा उसी दिन का धान रखनेवाला हो (परन्तु) इन चारों गृहस्थ ब्राह्मणों में आगे-आगेवालों को पीछे कहे हुओं से श्रेष्ठ जानना चाहिए और वह (ऐसा श्रेष्ठ ब्राह्मण) धर्म के द्वारा (इहलोक और परलोक) जीतता है। इनमें (ब्राह्मणों में) कोई छः कर्म, (अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान देना, दान लेना), कोई तीन कर्म, कोई दो कर्म और अन्य कोई ब्रह्मयज्ञ (अध्ययन) के द्वारा ही जीवन व्यतीत करता हैं। शिल और उञ्छ में लगा हुआ ब्राह्मण अग्निहोत्रपरायण हो तथा पर्व और अयनों में होनेवाले यज्ञों को सदा करे। अपनी वृत्ति के लिए कभी भी संसार को प्रसन्न करने का प्रयत्न न करे। ब्राह्मण शुद्ध, शठता, से विहीन और दम्भ आदि से विहीन जीविका से जिये। सन्तोष ही परम वस्तु है, इस कारण सुख चाहनेवाला संयमी हो। सुख का मूल सन्तोष है और असन्तोष दुःखकारक है। इसीलिए स्नातक ब्राह्मण किसी एक आजीविका से जीता हुआ स्वर्ग, आयु और यश देनेवाले उपरोक्त व्रतों को धारण करे तथा वेद में कहे हुए अपने कर्म को निरालस्य भाव से करे। उसे (वेद में कहे हुए कर्म को) यथाशक्ति करने से (वह) परमगति प्राप्त करता है। न तो विरुद्ध (बुरे) कर्म से जीविका चाहे और न प्रसङ्गानुसार बात (चापलूसी) करके।

विद्यमान अर्थ होने पर भी इधर-उधर न जाये (अर्थात् धन के लिये इधर-उधर न घूमे)। समस्त इन्द्रियों में अपनी इच्छानुसार आसक्त न हो तथा मन के द्वारा अति आसक्ति त्याग दे। जो स्वाध्यायविरोधी हों ऐसे सब अर्थों को त्याग दे। जिस किसी प्रकार सम्भव हो, अध्यापन करे—यही उसकी कृतकृत्यता है।" उपरोक्त नियमों के द्वारा ब्राह्मण किस प्रकार अपनी जीविका का निश्चय करे, यह स्पष्ट कर दिया गया है। सन्तोष का आग्रह है और सन्तोष की भावना की दृष्टि से शिल और उञ्छ (खेत में पड़ी हुई अन्न की बाली अथवा दानों को बीन कर निर्वाह करना) तथा कुसूलधान्यक और कुम्भीधान्यक (बारह, छ, तीन अथवा एक दिन का अन्न संग्रह करने) का आग्रह किया गया है। इसके अतिरिक्त ऐसी जीविका करने के लिए मना किया है जो स्वाध्याय में बाधा डालनेवाली हो अथवा निन्दित वृत्ति की हो, अथवा शठतापूर्ण हो अथवा जिससे प्राणियों को थोड़ा भी कष्ट हो। संसार को प्रसन्न करके अथवा व्यक्ति की चापलूसी करके जीवित रहना भी मना किया गया है। सेवा करना भी मना है क्योंकि इससे किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं रहती—न विचार व्यक्त करने की, न जीवन व्यतीत करने की, न इच्छानुसार कार्य करने की—और फिर ऐसा व्यक्ति समाज का मार्गदर्शन करने में किसी भी प्रकार समर्थ नहीं हो सकता। सन्तोष की भावना पर और आग्रह करने के लिए यह फिर कहा गया है कि जिस प्रकार सम्भव हो (अर्थात् कष्ट से चाहे निर्धनता में) अध्यापन का कार्य करते रहना चाहिए तथा यज्ञ भी करते रहना चाहिए।

ब्राह्मण की जीविका के तीन साधन बताये गये हैं—"षट्कर्मों में से पढ़ाना, यज्ञ कराना और विशुद्ध व्यक्तियों से दान लेना, ये तीनों कर्म ब्राह्मण की जीविका (के साधन) कहे गये हैं।"[६७] इन तीनों साधनों में भी ब्राह्मण के लिए बहुत कठिनाई रखी गयी है। पढ़ाने के सम्बन्ध में ऐसा निर्देश किया गया है कि ब्राह्मण धन के लिए कभी न पढ़ाये। भृतकाध्यापक को अर्थात् पढ़ाने के बदले में धन लेनेवाले को श्राद्ध में आमन्त्रित करने के अयोग्य बताया है।[६८] तथा धन के लिए अध्ययन उपपातकों में से एक गिना गया है।[६९] यज्ञ कराने के सम्बन्ध में भी यह नियम है कि ग्रामयाजक को, अर्थात् जो दक्षिणा के लिए कई व्यक्तियों की यज्ञ कराये, न श्राद्ध में बुलाना चाहिए और न दान देना चाहिए (देखिये पीछे)। दान का जहाँ तक प्रश्न है, प्रतिग्रह की अर्थात् दान माँगने की निन्दा की गयी है। कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में कहा है, "दीनतापूर्वक दूसरों के सामने प्रार्थना करना, यह याचना का धर्म होता है अर्थात् याचना करनेवाले को ही दैन्य-प्रदर्शन करना पड़ता है। और याचना से दूर रहने पर ही उसे लोग इस प्रकार निमन्त्रण देते हैं कि 'आओ हम तुम्हें

देंगे।"[७०] याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा है कि "प्रतिग्रह लेने में समर्थ होने पर भी यदि ब्राह्मण न ले तो वह सर्वश्रेष्ठ लोक प्राप्त करता है।"[७१] इसके अतिरिक्त यह भी प्रतिबन्ध है कि दान अच्छे ही व्यक्ति का लेना चाहिए और इसी कारण याज्ञवल्क्यस्मृति तथा मनुस्मृति में लोभी तथा शास्त्र-नियमों का उल्लङ्घन करनेवाले राजा का दान लेना मना किया गया है।[७२] कुछ वस्तुओं का भी दान लेना मना किया है जो ब्राह्मण के जीवन के लिए अनुपयुक्त हैं।[७३]

दान के सम्बन्ध में एक ओर तो ब्राह्मणों को दान लेने पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये गये हैं, परन्तु दूसरी ओर राजा तथा जनता से ब्राह्मणों को दान देने का बहुत आग्रह किया गया है जिससे यथासम्भव ब्राह्मणों को अर्थ-कष्ट न रहे। गौतम ने कहा है कि "राजा का कर्तव्य है कि वह श्रोत्रियों की तथा ऐसे ब्राह्मणों की जीविका की व्यवस्था करे जो अपनी जीविका का स्वयं पालन करने में असमर्थ हों।"[७४] नारदपुराण में सभी व्यक्तियों के लिए कहा गया है[७५] "ब्राह्मणों को समस्त देवतास्वरूप बताया गया है। उसको जीवन देनेवाले का पुण्य कौन कहने में समर्थ है? जिसने नित्य ब्राह्मण का हित किया (मानो) उसने सब यज्ञ कर लिये, सब तीर्थों में स्नान कर लिया। हे महीपाल! जो ब्राह्मणों को निवास देता है उसे परमात्मा प्रसन्न होकर अपना लोक देते हैं। ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण को जो गौ का दान करता है वह अन्य व्यक्तियों के लिए अति दुर्लभ ब्रह्मलोक प्राप्त करता है। ब्राह्मणों को वृत्ति (जीविका) का दान महापुण्यकारी कहा गया है। अध्यात्मज्ञानी को उसका (वृत्ति का) दान करने से वह अक्षय (फलदायक) होता है।"

अल्प धनवाले को धन की दृष्टि से अधिक बोझ न पड़े तथा जहाँ तक सम्भव हो उसे धन की सहायता हो जाये, इसलिए कुछ अन्य भी नियम हैं। ब्राह्मणों से कर लेना मना किया गया है[७६] परन्तु शान्तिपर्व में यह कहा है कि अनाहिताग्नि (आचार-पालन न करनेवाले) तथा अश्रोत्रिय (वेदाध्ययन न करनेवाले) ब्राह्मणों से राजा अवश्य कर ले[७७]। कर से ब्राह्मणों को मुक्त करने के अतिरिक्त यह भी नियम था[७८] कि यदि अज्ञात धन किसी ब्राह्मण को मिले तो वह पूरा धन उसी का होता है तथा यदि वैसा धन किसी राजा को मिले तो उसका आधा ब्राह्मणों में बाँटा जाना चाहिए। यह भी नियम था कि जो ब्राह्मण निस्सन्तान मरे उसकी सम्पत्ति राजा न ले कर उसे श्रोत्रियों और अन्य ब्राह्मणों में विभाजित कर दे[७९]। एक अन्य आदेश राजा के लिए यह था कि वह ब्राह्मणों के धन का कदापि हरण न करे[८०]।

ब्राह्मणों के विषय में बताये गये सभी नियमों का यदि सिंहावलोकन किया जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि ब्राह्मणों को (भौतिकवादी परिभाषा में) अत्यन्त

कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करने के नियम बनाये गये थे। ब्राह्मणों को सुविधाओं की तुलना में असुविधाएँ बहुत थीं। धन की दृष्टि से निर्धनता का जीवन व्यतीत करने का आग्रह था तथा स्थायी आय के जितने भी नियम थे वे निर्धनता के पोषक थे। दान, दक्षिणा आदि का मिलना दूसरों की इच्छा पर अवलम्बित था तथा अज्ञात सम्पत्ति आदि का मिलना आय का कोई स्थायी साधन नहीं था। सांसारिक महत्त्वाकांक्षाएँ ब्राह्मण के लिए होना मना था तथा राज्य-सत्ता के ऊपर भी ब्राह्मण को कोई अधिकार नहीं दिया गया था। इस सबके बाद भी सभी कर्तव्यों का, जो धर्मशास्त्रों में निर्धारित थे, पालन करना आवश्यक था (यथा अतिथियों का सत्कार, पशु-पक्षियों को भोजन आदि)। इसकी तुलना में सुविधाएँ बहुत कम थीं। ऐसे आदर्श वर्ग के लिए समाज की श्रद्धा उत्पन्न करके वैसे जीवन और वैसे आदर्शों के लिए आस्था उत्पन्न करना उचित ही था और उनके प्रति किसी प्रकार की अश्रद्धा का भाव समाज-जीवन के लिए हानिकारक होता।

ब्राह्मणों के पश्चात् समाज का शेष उत्तरदायित्व क्षत्रियों और वैश्यों के पास है जिन्हें राज्यसत्ता तथा धनसत्ता का अधिकार दिया गया है। इनके सम्बन्ध में राज्य-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत विस्तार से विचार किया जायेगा। यहाँ क्षत्रियों और वैश्यों के व्यक्तिगत कर्तव्यों का ही उल्लेख करना पर्याप्त है। ब्राह्मणों के ही साथ क्षत्रियों को भी धर्म और समाज के संरक्षण का कर्तव्य है। ऋग्वेद में कहा गया है[८१] "हे बृहस्पति और इन्द्र! तुम दोनों हम लोगों का वर्धन करो। हम लोगों के प्रति तुम दोनों का अनुग्रह एक समय में ही प्रयुक्त हो। तुम दोनों हम लोगों के यज्ञ की रक्षा करो, हमारी स्तुति से जागरित होओ और स्तोताओं के शत्रुओं (धर्म-विरोधियों) के साथ युद्ध करो।" शतपथब्राह्मण में कहा है "राजा धर्म का संरक्षक है...वह और श्रोत्रिय दोनों, मनुष्यों में धर्म को धारण करानेवाले हैं"।[८२] गौतम नेकहा है "संसार में दो धर्म को धारण करनेवाले हैं—राजा और विद्वान् ब्राह्मण"।[८३] मनुस्मृति में कहा है "प्रजापति ने प्रजा को उत्पन्न कर उन सबको ब्राह्मण तथा राजा को दे दिया।"[८४] 'क्षत्रिय' शब्द का अर्थ ही है क्षत (घाव) से त्राण (संरक्षण) करनेवाला[८५] अर्थात् समाज-जीवन में जो व्रण उत्पन्न हुए हैं, उन सबको ठीक करनेवाला क्षत्रिय है।

समाज के पालन का कार्य क्षत्रिय के पास होने के कारण क्षत्रिय को भी अध्ययन, यजन और दान, यह तीन कर्तव्य बताये गये हैं। अध्ययन इसलिए कि उससे ज्ञान प्राप्त होता है तथा समाज का काम करने की पात्रता उत्पन्न होती है, यजन इसलिए कि समाज को सुसंघटित करने का एक साधन है, और दान इसलिए कि वह समाज का पोषण करनेवाला है। परन्तु इन सबसे भी क्षत्रिय का

प्रमुख कर्तव्य है समाज का रक्षण और पालन। क्षत्रियों को इस दृष्टि से आवश्यक गुणों का उपार्जन भी बताया गया है। गीता में कहा "शूरता, तेज, धृति, निपुणता या सबके प्रति अनुकूलता युद्ध से विमुख न होना, दान तथा स्वाभिमान ये क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।"[८६] सबसे अधिक प्रशंसा क्षत्रिय के लिए रण से विमुख न होने की है और रण में यथासम्भव विजय प्राप्त करनी चाहिए यह आदेश दिया गया है।[८७] यदि क्षत्रिय अपने धर्म पर डटा रहेगा और कभी भी भय से अथवा स्वार्थ से विमुख न होगा तभी धर्म रक्षित रह सकता है। यदि रक्षा करनेवाला ही दब जाये तो अधर्मियों का राज्य हो जायेगा। सम्पूर्ण गीता के उपदेश का भी आशय है।

यह तो अवश्य था कि क्षत्रिय भी धर्म का त्राता था परन्तु ब्राह्मण के गुण (सन्तोष, क्षमा, मृदुता, सात्त्विकता आदि) और उसको सौंपे गये कार्य (अध्यापन आदि) के कारण उसे क्षत्रिय से श्रेष्ठ स्थान प्राप्त था। यह तो अवश्य है कि समाज को ब्राह्मणों के अतिरिक्त क्षत्रियों और वैश्यों की भी आवश्यकता है क्योंकि उनके बिना न तो समाज में पूर्णता आ सकती है, न समाज का संरक्षण हो सकता है[८८] परन्तु, फिर भी, यदि धर्म की व्यवस्था करनेवाले और उसकी मर्यादाएँ बतानेवाले व्यक्तियों की श्रेष्ठता न मानी गयी तो धर्म नीचे दब जायेगा और धर्म के नीचे दब जाने पर फिर संरक्षण किस बात का होगा? साथ-ही-साथ यदि राज्यकर्ताओं के ऊपर धर्म का अङ्कुश जमानेवाला वर्ग न रहा जिसे समाज की श्रद्धा प्राप्त हो और जो इसी आधार पर राज्यकर्ताओं को अपनी मर्यादा के अन्दर रख सके तो फिर राज्यकर्ताओं के (अथवा वीरवृत्तिधारियों के) निरङ्कुश होने की, उनके समाज पर अत्याचार करने की तथा उनके द्वारा धर्म के नष्ट-भ्रष्ट होने की सम्भावना बहुत अधिक बढ़ जायेगी। तीसरे, यह ठीक है कि धर्म को बहुअंश में निश्चित कर दिया गया है फिर भी प्रत्येक उत्पन्न होनेवाली नवीन और पृथक् परिस्थिति में धर्म का स्पष्टीकरण और व्यवस्था करनी पड़ती है। यदि ज्ञानीवर्ग को समाज में श्रेष्ठता प्राप्त होगी तभी धर्म की यह व्याख्याएँ राज्यकर्ता मान्य करेंगे तथा तभी धर्म का अनुशासन रहेगा और रह सकेगा। इस कारण भारतीय समाज-व्यवस्था में ब्राह्मण को क्षत्रिय से श्रेष्ठ स्थान दिया गया। ऋग्वेद में इस सम्बन्ध में बहुत प्रकाश देनेवाला सूक्त है[८९] "जो बृहस्पति का सुन्दर रूप से पोषण करता है, एवं उन्हें प्रथम हव्यग्राही कह कर उनकी स्तुति करता है और नमस्कार करता है, वह राजा अपने वीर्य द्वारा शत्रुओं को अभिभूत करके अवस्थित रहता है। जिस राजा के निकट ब्राह्मण प्रथम गमन करते हैं (सर्वश्रेष्ठ स्थान पाते हैं) वह अपने गृह में सुतृप्त होकर निवास करता है, पृथ्वी उसके लिए सब काल में फल

प्रसव करती है, प्रजागण स्वयं उसके निकट अवनत रहते हैं।" वनपर्व में कहा है "जिन ब्राह्मणों ने धर्म और अर्थ का ज्ञान प्राप्त करके मोहजाल को काट डाला है, उनकी सहायता पा कर राजा लोग सहज ही अपने शत्रुओं का नाश कर देते हैं। राजा बलि ने प्रजापालन की दृष्टि से मोक्षधर्म का आचरण करने के लिए ब्राह्मणों की ही सेवा की थी और उसी से उनका मनोरथ सिद्ध हुआ था। ब्राह्मणों की कृपा से उन्हें समुद्रपर्यन्त पृथ्वी और अचल राज्यलक्ष्मी प्राप्त हुई। अन्त को ब्राह्मणों का अपमान करने से ही राजा बलि का सर्वनाश हुआ। यह रत्नगर्भा पृथ्वी ब्राह्मणसेवा (धर्म)-विमुख व्यक्तियों के आधीन नहीं रहना चाहती। जो कोई श्रद्धा और भक्ति के साथ ब्राह्मणों के उपदेश को मानता है उसी को यह पृथ्वी अपना स्वामी बनाती है। संग्राम-भूमि में अङ्कुश की चोट से हाथी का बल जैसे घट जाता है वैसे ही ब्राह्मण-विमुख क्षत्रिय के बल का भी नाश होता है।"[१०] इसी तथ्य को परशुराम और सहस्रार्जुन तथा वसिष्ठ और विश्वामित्र की कथाओं द्वारा स्पष्ट किया गया है। जब क्षत्रिय, जिनके सबसे प्रमुख प्रतिनिधि के रूप में सहस्रबाहु था, निरङ्कुश हो गये और प्रजा पर तथा विशेष रूप से धर्म के त्राता और व्यवस्थापक ब्राह्मणों पर अत्याचार करने लगे तब परशुराम ने इक्कीस बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय कर क्षत्रियों के दर्प और उनकी निरङ्कुशता को खण्डित किया, यद्यपि बाद में क्षत्रियों की आवश्यकता अनुभव होने पर पुनः शेष क्षत्रियों को समाज में अपने पद पर प्रस्थापित किया गया। इसी प्रकार जब राजा विश्वामित्र ने ब्राह्मणों से स्वयं को श्रेष्ठ समझ कर वसिष्ठ का अपमान करने का प्रयत्न किया तब उन्हें पराजय पाकर वसिष्ठ (ब्राह्मण) की श्रेष्ठता स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ा। इस प्रकार क्षत्रिय की तुलना में ब्राह्मण की श्रेष्ठता धर्मशास्त्रों ने निश्चित रूप से स्वीकार की है तथा उपरोक्त कथाओं के माध्यम से यह आग्रह किया है कि जब क्षत्रिय निरङ्कुश हो जायेगा और प्रजा को पीड़न करेगा तो उस समय ब्राह्मण का कर्तव्य है कि वह समाज की श्रद्धा के आधार पर उसे ठीक मार्ग पर लगाये। इन सब कथाओं से ब्राह्मण-क्षत्रिय सङ्घर्ष का अर्थ निकालना भ्रमपूर्ण होगा।

ज्ञानसत्ता और राज्यसत्ता के पश्चात् अर्थसत्ता को स्थान दिया गया और इस कारण वैश्य का स्थान ब्राह्मण और क्षत्रिय के पश्चात् था। समाज की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना वैश्य का काम था। इसीलिए उसके कार्यों में वार्त्ता (कृषि, वाणिज्य, पशुपालन) को प्रमुख स्थान दिया गया है; परन्तु क्षत्रिय की भाँति वैश्य के लिये भी अध्ययन, यजन और दान की आवश्यकता है। धन का स्वामी होने के कारण दान तो वैश्य को करना ही चाहिए, समाज की एक महत्त्वपूर्ण सत्ता (अर्थसत्ता) हाथ में होने के कारण

उसे ज्ञान का उपार्जन करना (अध्ययन) आवश्यक है, साथ-ही-साथ उसे समाज-जीवन को व्यवस्थित करनेवाले कार्यों (यज्ञों) में भी हाथ बँटाना उचित है। वैश्य-धर्म का विस्तार से वर्णन शान्तिपर्व में है [९१] "दान, अध्ययन, यज्ञ, ईमानदारी से धन का सञ्चय और पुत्र के समान पशुओं का पालन करना वैश्यों का धर्म है। ब्रह्मा ने संसार की सृष्टि करके ब्राह्मणों और क्षत्रियों को मनुष्य की रक्षा तथा वैश्यों को पशुओं की रक्षा का भार सौंपा है। इसीलिए वैश्य लोग पशुओं का पालन करके सुखी होंगे। वैश्यों को अपना निर्वाह कैसे करना चाहिये, यह बतलाता हूँ, सुनो। वैश्यों को छः गायों का पालन करने पर एक गाय का दूध, सौ गायों की रक्षा करने पर वर्ष में एक गाय और एक बैल, दूसरे से धन ले कर वाणिज्य करने पर आय का सातवाँ भाग, मूल्यवान् सींग और खुर का सोलहवाँ भाग तथा खेती में पैदा हुए अन्न का सातवाँ हिस्सा अपने वेतन के रूप में लेना चाहिए।" इसका अर्थ है कि धन कमा कर वैश्यों को उसका कम से-कम ६।७ भाग समाज के लिए अर्पण करना चाहिये तथा अधिक से अधिक १।७ का उपभोग स्वयं करना चाहिए। मनुस्मृति में उपरोक्त नियमों के अतिरिक्त वैश्यों के विषय में यह बताया है कि "वैश्यों को मणि, मोती, प्रवाल, लोहा, वस्त्र, गन्ध आदि के मूल्य की कमी-बढ़ती को जानना चाहिये। बीजों को बोने का ढङ्ग, खेत के गुण-दोष, सब तरह के परिमाण तथा बाटों का भी ज्ञान रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त सब वस्तुओं की उत्तमता और हीनता, विभिन्न देशों के गुण और दोष, व्यापार की वस्तुओं में होनेवाली लाभ और हानि, पशुओं के पोषण का ढङ्ग, भृत्यों का वेतन, मनुष्यों की विभिन्न भाषाएँ, सब द्रव्यों के प्राप्त होने का स्थान तथा क्रय-विक्रय भी जानना चाहिए। वह धर्मपूर्वक धन-वृद्धि का यथाशक्य प्रयत्न करे और यत्न के साथ सभी प्राणियों को अन्न दे।"[९२] इस उद्धरण में वैश्यधर्म का वर्णन करते हुए बताया है कि वैश्य को धर्मपूर्वक और प्रयत्नपूर्वक धन कमाना चाहिये, उसे धन का उपयोग अपने लिए नहीं परन्तु सब प्राणियों के हित के लिए करना चाहिए और उसे देश-विदेश के व्यापार का, भाषाओं का तथा कृषि-सम्बन्धी सभी बातों का ज्ञान रखना चाहिए। श्रुति ग्रन्थों में भी यह बताया गया है कि वैश्य को धन कमा कर उसके द्वारा समाज का पोषण करना चाहिए। ताण्ड्य-महाब्राह्मण तथा तैत्तिरीयसंहिता का कहना है [९३] कि वैश्य, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय द्वारा खाये जाने के योग्य है क्योंकि उसे इन दोनों से निम्न स्थान दिया गया है। वैश्यों के गुण शान्तिपर्व में बताये गये हैं जहाँ कैकय देश का राजा कहता है कि "मेरे राज्य के वैश्य भी अपने कर्मों में लगे रहते हैं। वे छल-कपट छोड़ कर खेती, गोरक्षा और व्यापार से जीविका चलाते हैं। प्रमाद में समय नहीं बिताते,

सदा काम में ही लगे रहते हैं, उत्तम व्रतों को धारण करते हैं और सत्यवादी हैं। अभ्यागतों को दे कर खाते हैं तथा सबके हित का ध्यान रखते हैं। इन्द्रियसंयम और पवित्रता कभी नहीं छोड़ते।"[९४]

समाज की तीन आवश्यकताओं—ज्ञान, राज्यसत्ता तथा धन की व्यवस्था होने पर भी समाज के अन्दर कुछ अन्य कर्म शेष रह जाते हैं जिनकी व्यवस्था करनी आवश्यक होती है। जो यह तीन वर्ण बताये गये हैं यह अपना-अपना काम निश्चिन्ततापूर्वक कर सकें, इसके लिए इनकी जो अन्य साधारण आवश्यकताएँ हैं उनकी भी पूर्ति होनी चाहिए। इस कारण शूद्र वर्ण का भी निर्माण किया गया था जिसका कार्य था अन्य तीन वर्णों की सेवा करना। उसमें भी ब्राह्मण-सेवा को विशेप महत्त्व था क्योंकि शुद्ध व्यक्ति की सङ्गति व्यक्ति की उन्नति करनेवाली होती है[९५]। शूद्र को तमोगुणी होने के कारण ही उसे यह सेवा-कार्य दिया गया है। पीछे विस्तार के साथ तमोगुण के लक्षण बताये गये हैं और यह भी स्पष्ट किया गया है कि वर्णों का विभाजन गुणानुसार होने के कारण तमोगुणी व्यक्तियों को शूद्र वर्ण की संज्ञा दी गयी है। तमोगुणी होने के ही कारण शूद्र को 'वृषल' अर्थात् धर्महन्ता भी कहा गया है[९६]।

शान्तिपर्व में शूद्रों का धर्म संक्षेप में परन्तु पूर्ण रीति से वर्णित है।[९७] कहा गया है, "ब्रह्मा ने ब्राह्मणादि तीनों वर्णों की सेवा के लिए शूद्रों को उत्पन्न किया है, इसलिए क्रमशः तीनों वर्णों की सेवा करना ही शूद्रों का धर्म है। सेवा-धर्म के पालन करने से शूद्रों को परम सुख मिल सकता है। शूद्रों को धन का सञ्चय न करना चाहिए, क्योंकि वे धनवान् होने पर ब्राह्मणादि ऊँची जातियों को अपने आधीन रखने का विचार करेंगे और इससे पाप के भागी होंगे। इसलिए शूद्र भोग की इच्छा से धन का सञ्चय न करे। राजा की आज्ञा से किसी धार्मिक कार्य के लिए धन का सञ्चय करना उनके लिए अनुचित नहीं। अब शूद्रों की जीविका बतलाता हूँ। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को शूद्रों का भरण-पोषण करना चाहिए। उनको पुराना छाता, जूता, कपड़ा, पङ्खा, आसन आदि देना चाहिए—यह सब शूद्रों का धर्मतः प्राप्य धन है। धार्मिक पुरुषों का कहना है कि जब कोई शूद्र किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के पास सेवा के लिए जाए तो उनको उसकी जीविका का प्रबन्ध कर देना चाहिए। किसी शूद्र के पुत्र न हो तो उसके मरने पर उसका पिण्डदान स्वामी को करना चाहिए और बूढ़े अथवा दुर्बल होने पर उसका भरण-पोषण स्वामी करता रहे। स्वामी पर विपत्ति पड़े तो कोई शूद्र उसका साथ न छोड़े। यदि स्वामी निर्धन हो जाये तो सेवक को अपने परिवार को खिलाने-पिलाने से बचे हुए धन से, उसकी सहायता करनी चाहिए। शूद्रों के धन का मालिक उनका स्वामी होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए

जो यज्ञ बतलाये गये हैं, ये सब शूद्रों को भी करने चाहिए, किन्तु उनको स्वाहाकार, वषट्कार और मन्त्र का अधिकार नहीं है। इसलिए शूद्रों को व्रती न हो कर वैश्वदेव और गृहशान्ति आदि यज्ञ करना चाहिए।" गौतमधर्मसूत्र में[९८] शूद्रधर्म का इसी प्रकार विवेचन किया गया है। "शूद्र का चौथा वर्ण है जो एक बार उत्पन्न होता है (अर्थात् जिसका उपनयन—दूसरा जन्म—नहीं होता)। उसके भी ये ही धर्म हैं—सत्य, क्रोध न करना, शौच, आचमन के लिए हाथ-पैर धोना, श्राद्धकर्म, भृत्यों का भरण-पोषण, अपनी ही पत्नी में सन्तुष्टि तथा ऊपर के वर्णों की परिचर्या। उन्हीं से (ऊपर के वर्णों से) वह अपनी जीविका चाहे। जीर्ण जूते, छाता, स्थान तथा कूर्च का प्रयोग करे, उच्छिष्ट अन्न खाये, शिल्पवृत्ति (कारीगरी) से जिये। यह शूद्र जिसके आश्रित रहे वह इसके दीन (दुर्बल, वृद्ध, असहाय) हो जाने पर भी इसका पालन करे। ऊँचे वर्णों के हित के लिए ही इसका अर्थ-सञ्चय है। शूद्र को नमस्कार के मन्त्र की अनुमति है और वह पाकयज्ञों से यज्ञ करे, ऐसा अनेक कहते हैं।" केवल स्मृतियों और पुराणों में ही नहीं परन्तु शूद्रधर्म से सम्बन्धित मूल सिद्धान्त श्रुतिग्रन्थों में भी वर्णित हैं।[९९]

ऊपर दिये गये उद्धरणों तथा अन्य सन्दर्भों के विवेचन से शूद्रों के सम्बन्ध में निम्न नियम स्पष्ट रूप से ज्ञात होते हैं। वह अन्य तीन वर्णों की सेवा करता है परन्तु उसके पोषण का भी भार इन्हीं तीन वर्णों के ऊपर है, चाहे वह सेवा करने के अयोग्य भी हो जाये (वृद्धावस्था, रोग आदि के कारण)। शूद्र को धन-संग्रह का अधिकार नहीं है जिसका कारण स्पष्ट कर दिया गया है (देखिए, शान्तिपर्व और मनुस्मृति) कि धन प्राप्त होने पर वे ब्राह्मणादि वर्णों को अपने आधीन रखने की इच्छा रखेंगे जो कि उनके तमोगुणी होने के कारण समाज की दृष्टि से बहुत हानिकारक है। इसलिए शूद्र को भोग की इच्छा से धन-संग्रह करना मना है परन्तु धार्मिक कार्यों के लिए वे धन-संग्रह कर सकते हैं। शूद्र की भरण-पोषण की वृत्ति निर्धारित करते समय उसके कुटुम्ब, उसकी आवश्यकताएँ, उसकी शक्ति आदि का ध्यान रखना आवश्यक है। शूद्र को धर्मकृत्य करने का अधिकार है क्योंकि उसके बिना मनुष्य की पारलौकिक दृष्टि से उन्नति नहीं हो सकती, अतः वह वैदिक यज्ञ छोड़ कर पाकयज्ञ आदि सभी धर्मकृत्य कर सकता है। यद्यपि शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है परन्तु उसे पूर्ण धर्म का ज्ञान हो सके, इसीलिए इतिहास-पुराणादि ग्रन्थ स्पष्ट और सुबोध भाषा में लिखे गये हैं।[१००] शूद्र को नैतिक गुणों का अर्थात् साधारणधर्म का पालन आवश्यक है परन्तु अन्य आचार का पालन करना और न करना उसकी इच्छा पर निर्भर है।[१०१] शूद्र को इष्टधर्म (यज्ञ) का अधिकार नहीं है परन्तु दान का अर्थात् दूसरे शब्दों में पूर्त धर्म का शूद्र के लिए आग्रह किया गया है।[१०२] सबसे अन्त में शूद्र को

ब्रह्मज्ञान का भी अधिकार है जैसा कि महाभारत की धर्मव्याध की कथा से स्पष्ट होता है। उपरोक्त सुविधाओं के विपरीत शूद्र को केवल वेदाध्ययन का, उपनयन का तथा वैदिक यज्ञों का अधिकार नहीं है; क्योंकि वेद के मन्त्र प्रच्छन्न अर्थों से पूर्ण हैं [१०३] अतः वह तमोगुणी अज्ञान से आवृत्त-शूद्र के लिए वर्जित है। इसी कारण उसके लिए उपनयन तथा ब्रह्मचर्याश्रम भी वर्जित है। वैदिक यज्ञों का शूद्र को अधिकार न देने का कारण यह है कि लोकसंग्राहक होने के कारण यह यज्ञ समाज पर अधिकार और समाज में प्रतिष्ठा देनेवाले हैं। अतः यह माना गया है कि तमोगुणी शूद्र को इनका अधिकार देने का अर्थ है समाज-जीवन को निम्न स्तर पर लाना। भारतीय विचारकों की गुणों के अनुसार अधिकार-भेद करने की धारणा के कारण ही शूद्र के सम्बन्ध में उपरोक्त नियम हैं।

शूद्रधर्म का ऊपर संक्षेप में परन्तु पूर्णता के साथ वर्णन किया गया है। अब केवल स्पर्शास्पर्श का प्रश्न विचार करने योग्य रह जाता है जिसके अन्तर्गत मन्दिर-प्रवेश का प्रश्न भी है। धर्मशास्त्र में शूद्र का संसर्ग अवश्य निषेध किया गया है और वह इसलिए कि हीन-व्यक्ति का संसर्ग अन्य व्यक्तियों को भी, जब तक उन्होंने पूर्णता नहीं प्राप्त की हो, पतित करनेवाला होता है। स्मृतियों और पुराणों में शूद्र-संसर्ग के लिए जो प्रायश्चित्त दिये गये हैं वे इसी प्रकार के हैं।[१०४] इसे स्पष्ट भी किया गया है कि[१०५] "शूद्र का अन्न, शूद्र का सम्पर्क, शूद्र के साथ एक आसन पर बैठना और शूद्र से ज्ञान लेना—ये ज्वलन्त व्यक्ति को भी पतित करते हैं।" परन्तु जिस अर्थ में आज अस्पृश्यता शब्द का प्रयोग किया जाता है वैसी अस्पृश्यता चाण्डाल तथा श्वपाक आदि कुछ प्रतिलोम जातियों को छोड़ कर सर्वसाधारण शूद्रों के लिए सम्भव ही नहीं हो सकेगी, क्योंकि जब शूद्रों को सेवा का कार्य दिया गया है तब अस्पृश्यता रह ही नहीं सकती। फिर, शूद्र को जब पुरुष (समाज-पुरुष) का एक अभिन्न अङ्ग माना गया है (पुरुषसूक्त) तो स्पष्ट है कि धर्मकारों को वैसी अस्पृश्यता मान्य ही नहीं है। ब्राह्मण के शूद्रा स्त्री से विवाह की (अनुलोम विवाहों के अन्तर्गत) एक सीमा तक मान्यता भी यही सिद्ध करती है कि शूद्र-स्पर्श का निषेध नहीं है,[१०६] यद्यपि हीन-संसर्ग वर्जित करने के सिद्धान्त के अनुसार उसकी भी निन्दा की गयी है।[१०७] आपस्तम्ब ने शूद्रों द्वारा भोजन पकाये जाने का विधान भी दिया है। "आर्यों की देखभाल में शूद्रों को चाहिए कि वे पाकसिद्धि करें। वे (भोजन पकाने में) वैसा ही आचमन करें जैसा अन्य वर्ण करते हैं। इसके अतिरिक्त वे प्रतिदिन केश, श्मश्रु, और लोम, नख आदि कटवायें तथा कपड़ा पहने हुए स्नान करें अथवा प्रति अष्टमी अथवा पर्व में बाल कटवायें। ऐसे शूद्रों ने भोजन यदि आर्यों के परोक्ष में पकाया हो तो आर्यों को चाहिए कि वे उसे स्वयं दुबारा अग्नि पर रख कर उसका प्रोक्षण करें।

ऐसा भोजन देवताओं के लिए भी पवित्र होगा, यह कहा जाता है।"[१०८] जहाँ तक शूद्र के यहाँ भोजन करने का प्रश्न है, उसको अवश्य वर्जित किया गया है[१०९] यद्यपि उसकी भी वहुत-कुछ मात्रा में अनुमति है। पराशरस्मृति में इस सम्बन्ध में विस्तार से नियम दिये हुए हैं[११०] "शूद्र का घी, दूध, तेल, तेल में पकी हुई (वस्तु), गुड़, इसको नदी पर जा कर ब्राह्मण शूद्र के पात्र में भी खा ले। दास, नाई, ग्वाला, कुल का मित्र तथा अर्धसीरी (आधे पर खेती करनेवाला), यह यदि स्वयं भोजन के लिए निवेदन करे तो इनका अन्न भोजन के योग्य है। यदि आपत्काल में ब्राह्मण ने शूद्र के घर (अन्य प्रकार का) भोजन कर लिया हो तो मन के अन्दर ही पश्चात्ताप कर लेने से अथवा द्रुपदा मन्त्र जपने से शुद्ध हो जाता है।" मनुस्मृति में कहा है "जो कहीं भोजन न मिले तो उससे (शूद्र से) एक रात्रि का भोजन ले ले।"[१११] इसके अतिरिक्त स्वयं का नाई, ग्वाला, खेत जोतने वाला, कुल का मित्र, दास तथा जो स्वयं आ कर कहे, इनका अन्न खाने की अनुमति गौतम, मनु, पराशर आदि ने तथा पुराणों ने दी है।[११२] अत्रिस्मृति तथा अग्निपुराण ने ऐसी वस्तुओं की सूची दी है जो शूद्र के यहाँ खायी जा सकती है और इनके अन्तर्गत खटाई, दूध, दही, सत्तू, घी से पका हुआ पदार्थ, मट्ठा, गीला मांस, घी, तेल, फल वताये गये हैं।[११३] शूद्रों की साधारण आर्थिक स्थिति के कारण ही यह भी आग्रह है कि यथासम्भव शूद्र से दान नहीं लेना चाहिए। शङ्खस्मृति में शूद्र का धन लेना वर्जित कहा है।[११४] फिर भी कठिनाई के काल में शूद्र से दान लेने की अनुमति दी गयी है।[११५] मनु, वसिष्ठ, विष्णुधर्मसूत्र तथा याज्ञवल्क्य का यह भी कथन है कि क्षुधातुर गुरुजनों के लिए, भृत्यों के लिए, देवपूजा के लिए तथा अतिथि-पूजा के लिए ब्राह्मण सबसे प्रतिग्रह ले ले।[११६] गुरुदक्षिणा के लिए शूद्र से दान लेने की अनुमति आपस्तम्बधर्मसूत्र में दी गयी है।[११७]

जहाँ तक शूद्रों के मन्दिर-प्रवेश का प्रश्न है, अधिकृत धर्मशास्त्रों में निषेध कहीं नहीं मिला है। श्री काणे ने भागवतपुराण का एक उद्धरण दिया है जिसमें शूद्रों को देवपूजा का अधिकार वताया गया है।[११८] यद्यपि यह उद्धरण वहुत स्पष्ट नहीं है, फिर भी पुराणों में ऐसी कई कथाएँ है जिनमें शूद्रों को हरिमन्दिर में जाकर दीप जलाने, झाड़ू लगाने आदि के फलस्वरूप मुक्ति प्राप्त हुई है।[११९] इसके अतिरिक्त धर्मशास्त्रों के अनुसार शूद्रों को वैदिक यज्ञ छोड़ कर अन्य सव धर्मकृत्यों की अनुमति है ही, जिससे भी यही सिद्ध होता है कि उनके मन्दिर-प्रवेश में कोई निषेध नहीं है। स्कन्दपुराण में एक चाण्डाली की कथा है[१२०] जो अत्यन्त पापचारिणी थी परन्तु जिसने "श्री गोकर्ण क्षेत्र में शिवरात्रि को उपवास करके रात्रि में जागरण किया और शिवजी के मस्तक पर

बिल्वपत्र चढ़ाया" तथा इसी पुराण में पैजवन शूद्र की कथा है "जो सदा धर्मपरायण हो देवताओं और अतिथियों के पूजन में लगा रहता था" तथा "चातुर्मास्य में वह विशेष रूप से भगवान विष्णु के भजन में लगा रहता था" और जिससे गालव मुनि ने बताया कि सभी "सत्शूद्रों को शालिग्राम-पूजा का अधिकार है।" इसी प्रकार नारदपुराण में एक व्याध की कथा है जो मन्दिर में गया तथा "सत्सङ्ग के प्रभाव से और भगवद्विग्रह का सामीप्य मिल जाने से उसका सारा पाप नष्ट हो गया।" पद्मपुराण में एक पुल्कस की बहुत स्पष्ट कथा है जिसकी मृत्यु के समय उसे ले जाने के लिए यमदूत आये परन्तु उसके प्रति एक महर्षि को दया उत्पन्न हुई और "वे कृपालु मुनीश्वर हाथ में शालिग्राम-शिला ले कर पुल्कस के निकट पहुँच गये और भगवान् शालिग्राम का पवित्र चरणामृत जिसमें तुलसीदल भी मिला हुआ था, उसके मुख में डाल दिया। फिर उसके कान में उन्होंने राम-नाम का जप किया, मस्तक पर तुलसी रखी और छाती पर शालिग्राम शिला रखी।"

शूद्र को भारतीय समाज-व्यवस्था में छोटा स्थान अवश्य दिया गया है, फिर भी शूद्र माना गया है समाज का ही एक अङ्ग। इस कारण ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में[१२१] शूद्र का विराट् पुरुष के एक अङ्ग के ही रूप में वर्णन किया गया है। स्मृतियों में शूद्र को धर्मकृत्य करने का अधिकार दिया गया है तथा शूद्र को ज्ञान प्राप्त करने के लिए इतिहास-पुराण ग्रन्थों की रचना हुई है—अर्थात् शूद्र को समाज का एक अङ्ग मान कर उसके विकास का प्रयत्न किया गया है। केवल इतना ही है कि शूद्र को उसके गुण के अनुसार समाज-जीवन में स्थान दिया गया है और इसके कर्तव्य और अधिकार निर्धारित किये गये हैं। शूद्र समाज का केवल एक अभिन्न अङ्ग ही नहीं माना गया अपितु उसके स्वभाव के अनुसार उसे उत्तरदायित्वों से तथा व्यक्तिगत अनुशासन से मुक्त रखा गया है। गृहस्थ के लिए जो दैनिक आचार हैं, वह शूद्रों के लिए आवश्यक नहीं बताये गये और विवाह के अतिरिक्त अन्य कोई संस्कार भी उनके लिए अनिवार्य नहीं है। खाने, पीने के कोई प्रतिबन्ध भी शूद्र के लिए नहीं है और न शास्त्र-नियमों का उल्लङ्घन करने पर उसके प्रायश्चित्त की ही अनिवार्यता है।[१२२] इस प्रकार उनके गुणों को ध्यान में रखते हुए यद्यपि शूद्रों को प्रतिष्ठा और सम्मान का स्थान नहीं दिया गया है तथापि उनकी उसी गुणहीनता को ध्यान में रख कर उन्हें न तो धार्मिक अनुशासन की कड़ाई के अन्दर बाँधा गया है न उनके कर्तव्य कड़ाई के साथ निर्धारित किये गये हैं। उन्हें इन्द्रियोपभोग की पूरी स्वतन्त्रता है और उनके जीवन में कोई विशेष मर्यादाएँ (अन्य द्विजों के समान) लागू नहीं की गयी हैं। इसीलिए विष्णुपुराण में व्यास मुनि कहते हैं, "द्विजों को पहले ब्रह्मचर्य-व्रत

का पालन करते हुए वेदाध्ययन करना पड़ता है और फिर स्वधर्माचरण से उपार्जित धन के द्वारा विधिपूर्वक यज्ञ करने पड़ते हैं, परन्तु जिसे केवल पाकयज्ञ का ही अधिकार है, वह शूद्र द्विजों की सेवा करने से ही सद्गति प्राप्त कर लेता है, इसलिए वह अन्य जातियों की अपेक्षा धन्यतर है।"[१२३]

इन चारों वर्णों के अतिरिक्त बहुत-सी वर्णसङ्कर जातियों का उल्लेख है। उपलब्ध औशनसस्मृति में इन प्रतिलोम (नीचे वर्ण के पुरुष तथा ऊँचे वर्ण की स्त्री के सम्बन्ध से उत्पन्न) तथा अनुलोम (ऊँचे वर्ण के पुरुष तथा नीचे वर्ण की स्त्री के सम्बन्ध से उत्पन्न) जातियों तथा उनके व्यवसायों का ही वर्णन है। अन्य स्मृतियों में भी (देखिए, ऊपर) वैसा ही वर्णन है। परन्तु यहाँ औशनसस्मृति का ही थोड़ा उद्धरण दिया जाता है "अब जाति और उनकी वृत्तियों का नियम मैं अनुलोम और प्रतिलोम विधि से कहता हूँ। क्षत्रिय से ब्राह्मण की कन्या में विवाह से प्रतिलोभ विधि से उत्पन्न हुआ द्विज सूत है जो वेद का अधिकारी नहीं परन्तु उनके अर्थों का (इतिहास-पुराणादि ग्रन्थों का) उपदेष्टा है। सूत से ब्राह्मण की कन्या में जो पैदा हो उसे वेणक (बाँस का काम करनेवाला) कहते हैं तथा क्षत्रिय की कन्या में जो सूत से उत्पन्न हो उसे चर्मकार कहते हैं। ब्राह्मण की कन्या में जो क्षत्रिय से (विना विवाह के) पैदा हो, वह रथकार कहलाता है। इसको द्विजत्व वर्जित है और वह शूद्र-वृत्ति का (अधिकारी) है। ये सवारियों के चलानेवाले तथा उनके परिचारक होते हैं तथा इन्हें शूद्र वृत्ति से जीना चाहिए और क्षात्रधर्म का आचरण नहीं करना चाहिए। ब्राह्मणी में वैश्य के संसर्ग से जो उत्पन्न है उसे मागध कहते हैं, वह ब्राह्मणों के और विशेष रूप से क्षत्रियों के बन्दीजन का काम करता है। उसे प्रशंसा-वृत्ति से अथवा वैश्य की सेवा करके जीना चाहिए। ब्राह्मणी में शूद्र के संसर्ग से जो उत्पन्न है, उसको चाण्डाल कहते हैं जिसके सीसे के अथवा लोहे के आभूषण होते हैं। वह कण्ठ में वध्री (चमड़े का पट्टा) तथा कोख में झालर बाँध कर मध्याह्न से पहले गाँव में शुद्धि की दृष्टि से मल को हटाये तथा मध्याह्न के पश्चात् गाँव में प्रवेश न करे और गाँव से वाहर दिशा में रहे। यदि ऐसा न करे तो वह विशेष रूप से वध के योग्य है। चाण्डाल से वैश्य की कन्या में जो उत्पन्न हो, वह श्वपाक कहा जाता है। कुत्ते का मांस ही उनका भक्षण है तथा कुत्ते से ही उनकी जीविका चलती है। क्षत्रिय की कन्या में जो वैश्य से पैदा होता है, उसे आयोगव कहा गया है। कताई से अथवा कांसे से उन्हें अपनी जीविका चलाना चाहिए तथा इनमें से कोई वस्त्र-निर्माण से भी जीविका चलायें। आयोगव से जो ब्राह्मण की कन्या में पैदा हो वे ताम्बे से जीविका चलानेवाले होते हैं और आयोगव से क्षत्रिय की कन्या में जो उत्पन्न हो उसे सूनिक कहते हैं।...क्षत्रिय की कन्या में चोरी से जो

(वैश्य से) पैदा हो उसे पुलिन्द कहते हैं, उनकी पशुवृत्ति होती है (कसाई का काम) तथा इनका काम उन्हें (पशुओं को) मारना है। क्षत्रिय में शूद्र के संसर्ग से जो उत्पन्न हो उसे पुल्कस (कलार) कहते हैं। उसकी वृत्ति का साधन सुरा है तथा वह मधुविक्रय करता है।...पुल्कस से जो वैश्य की कन्या में उत्पन्न हो उसे धोबी कहा है। क्षत्रिय में जो शूद्र से चोरी से उत्पन्न हो उसे रँगनेवाला (रँगरेज) कहते हैं और रँगरेज से वैश्या स्त्री में उत्पन्न नर्तक तथा गायक (नट) होता है। वैश्या स्त्री में शूद्र के संसर्ग से उत्पन्न सन्तति को वैदेहिक (ग्वाला) कहते हैं और उसे बकरी, गौ, भैंसों को पालना चाहिए तथा दही, घी, मट्ठा का विक्रय उसकी जीविका है। जो ब्राह्मणी में वैदेहिक से पैदा हो उसे चर्मोपजीवी (चमड़े से जीविका करनेवाला) कहते हैं। वैदेहिक से क्षत्रिय-कन्या में जो उत्पन्न हो उसे सूत्रिक (दरजी) तथा पाचक (रसोइया) कहते हैं। शूद्र से जो वैश्या स्त्री में चोरी से पैदा हो उसे चक्री (तेली) कहते हैं और वह तेल, खली और नमक से जीविका चलाता है।

"ब्राह्मण के द्वारा विधि से मन्त्रपूर्वक प्राप्त क्षत्रिय-कन्या में उत्पन्न अनुलोम द्विज सुवर्ण कहलाता है तथा वह अथर्ववेद की विधि से नित्य-नैमित्तिक क्रिया करता है और राजा की आज्ञा से अश्व, रथ, हाथी पर चलता है और सेनापत्य का अथवा वैद्य का काम करता है। क्षत्रिय में चोरी से जो ब्राह्मण से पैदा हो उसे भिषक् कहते हैं। अभिषिक्त राजा की आज्ञा से वह वैद्य का कार्य करे, अष्टाङ्ग आयुर्वेद तथा तन्त्रों में कहे धर्म का आचरण करे अथवा ज्योतिष तथा गणितविद्या का आचरण करे ।...विधि से विवाहित वैश्या कन्या में (ब्राह्मण द्वारा) उत्पन्न अम्बष्ट कहा जाता है। खेती तथा लकड़ी उसकी जीविका होती है अथवा शस्त्र की, ध्वज की जीविका होती है। वैश्या स्त्री में ब्राह्मण के द्वारा चोरी से उत्पन्न सन्तान को कुम्भकार कहते हैं, वह कुम्हार की वृत्ति से जिये अथवा नाई हो। सूतक में, मृत्यु में अथवा दीक्षाकाल में वह बाल काटता है। नाभि के ऊपर केश काटने से वह नापित कहलाता है और कायस्थ के नाम से प्रसिद्ध हो कर इधर-उधर विचरण करता है। काक से चञ्चलता, यमराज से क्रूरता और स्थपति (कारीगर) से छाँटना, इन आदि-अक्षरों को ले कर इसे कायस्थ कहा गया है। ब्राह्मण के द्वारा विधिपूर्वक विवाहित शूद्रा में उत्पन्न सन्तति पारशव है। इसे भद्र पुरुषों के आश्रय से जीना चाहिए। शूद्रों में ही (ब्राह्मण से) जो चोरी से उत्पन्न हो उसे निषाद कहते हैं। वन में दुष्ट पशुओं को मार कर उनका माँस-विक्रय इनकी जीविका है। गृह्योक्त विधि से विवाहित वैश्य-कन्या में जो पुत्र क्षत्रिय से पैदा हो वह वैश्य-वृत्ति से जिये, तथा क्षात्रधर्म का आचरण न करे। वैश्य कन्या में चोरी से जो (क्षत्रिय से) पैदा हो वह मणिकार है, मणियों को

रँगना और मोतियों की बींधना इसका काम है।" ऊपर प्रतिलोम तथा अनुलोम विधि से उत्पन्न कुछ प्रमुख जातियों का वर्णन है। इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन जातियों में समाज-जीवन के विविध कार्यों का किस प्रकार वितरण किया गया है। इस वर्णन से यह भी ज्ञात होता है कि खुले सम्बन्धों से उत्पन्न सन्तान को चोरी के सम्बन्धों से उत्पन्न सन्तानों की तुलना में ऊँचा स्थान दिया गया है। एक और भी बात जो ज्ञात होती है वह यह कि अनुलोम विधि से विधिपूर्वक विवाह की अनुमति थी परन्तु प्रतिलोम विधिपूर्वक विवाह विधि के सम्बन्धों में मन्त्रपूर्वक विवाह का लगभग कहीं उल्लेख नहीं है।

वर्ण-व्यवस्था का सम्पूर्ण रीति से अवलोकन करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि भारतीय विचारकों ने इस व्यवस्था में गुणों के अनुसार विभिन्न श्रेणियाँ रखी थीं परन्तु उसमें किसी को भी तुच्छ दृष्टि से देखने का भाव नहीं था, अपितु यही भाव था कि प्रत्येक को उसकी योग्यता के अनुसार कार्य मिले अर्थात् समाज में योग्यतानुसार कार्य-विभाजन हो। अतः किसी के भी साथ दुर्व्यवहार करने की वृत्ति नहीं थी अपितु यह प्रबल प्रयत्न था कि किसी को जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की दृष्टि से कष्ट न सहना पड़े और सबके जीवन में उन आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाये। इतना ही नहीं, यह भी प्रयत्न था कि प्रत्येक को उसकी उन्नति के अनुकूल उपयुक्त अवसर प्राप्त हो।

पञ्चम अध्याय

जीवन-रचना

पिछले अध्याय में वर्ण-व्यवस्था के द्वारा जो समाज-संघटन निर्माण किया गया, उसका वर्णन किया गया है। वर्ण-व्यवस्था से ही संलग्न आश्रम-व्यवस्था है तथा दोनों के सम्मिलित कारणों का उल्लेख वर्णाश्रम-व्यवस्था के कारणों का वर्णन करते समय कर ही दिया गया है। वर्ण-व्यवस्था के द्वारा मूल रीति से सामाजिक व्यवस्था की गयी है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की पात्रता और योग्यता के आधार पर कार्य-विभाजन किया गया है अर्थात् सामाजिक व्यवस्था इस प्रकार की गयी है कि उससे व्यक्ति की उन्नति हो जाये; आश्रम-व्यवस्था के द्वारा मूल रीति से व्यक्ति की उन्नति का प्रयत्न है (ब्रह्मचर्य से सन्यास तक) परन्तु साथ-ही-साथ आश्रम-व्यवस्था के द्वारा भी सामाजिक व्यवस्था निर्माण करने का प्रयत्न है। वर्ण-व्यवस्था के द्वारा क्रमशः विभिन्न जन्मों में व्यक्ति उन्नति करे इसकी व्यवस्था है, परन्तु यदि उसने इस जन्म में थोड़ी भी उन्नति न की तो फिर अगले जन्मों में उसकी उन्नति कैसे होगी? इस कारण वर्ण-व्यवस्था परिपूर्ण नहीं है, आश्रम-व्यवस्था वर्ण-व्यवस्था मिल कर ही पूर्णता आती है। अतः व्यक्तिगत उन्नति की दृष्टि से ब्रह्मचर्याश्रम में गृहस्थाश्रम की अर्थात् सांसारिक जीवन योग्य रीति से व्यतीत करने की शिक्षा दी जाती थी तथा वानप्रस्थाश्रम में सन्यास की अर्थात् सांसारिक जीवन-त्याग की शिक्षा दी जाती थी। ब्रह्मचर्याश्रम में व्यक्ति यह सीखता था कि धर्म का अर्थ और काम के ऊपर किस प्रकार नियन्त्रण किया जाये—(देखिए आगे ब्रह्मचर्याश्रम में व्यक्तिगत जीवन का अनुशासन) और इसे गृहस्थाश्रम में वह व्यवहार में लाता था। अर्थ और काम का उपभोग कर चुकने पर व्यक्ति वानप्रस्थाश्रम में मोक्ष की दृष्टि से जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ करता था तथा फिर संन्यासाश्रम में पूर्ण सन्यस्त

(त्यागपूर्ण) जीवन व्यतीत करता था। सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से ब्रह्मचर्याश्रम में समाज शिक्षा की व्यवस्था है, गृहस्थाश्रम में समाज के पोषण की तथा वानप्रस्थी और संन्यासी अपने अनुभव तथा निःसङ्गता के आधार पर समाज का योग्य मार्गदर्शन करते हैं। त्रिऋण पूर्ण करने की दृष्टि से भी आश्रम-व्यवस्था है। प्रत्येक व्यक्ति तीन ऋण लेकर पैदा होता है[1]—ऋषिऋण, पितृऋण और देवऋण। जैसा कि तैत्तिरीयसंहिता में कहा गया है, ब्रह्मचर्याश्रम से ऋषिऋण पूर्ण होता है अर्थात् विभिन्न पीढ़ियों की शिक्षा के द्वारा ज्ञान-भण्डार आगे बढ़ता है और वृद्धिङ्गत होता है; गृहस्थाश्रम से पितृऋण पूर्ण होता है अर्थात् संसार का जीवनक्रम सन्तानोत्पत्ति के द्वारा चलते रहने की व्यवस्था होती है, वानप्रस्थाश्रम के द्वारा देवऋण पूरा होता है अर्थात् अग्निहोत्र के कारण तथा तपपूर्ण जीवन व्यतीत करने के कारण समस्त संसार के लिए जीवन का समर्पण होता है तथा संन्यासाश्रम से ब्रह्मऋण पूर्ण होता है अर्थात् व्यक्ति ब्रह्म-प्राप्ति की ओर बढ़ता है। मनु भी संन्यासाश्रम का वर्णन करते समय यही कहते प्रतीत होते हैं[2]—"तीन ऋणों को चुका कर फिर मोक्ष में मन लगाना चाहिए (सन्यास) और ऐसा किये बिना सब व्यर्थ हो जाता है। विधिपूर्वक वेद पढ़ कर (ऋषिऋण पूर्ण कर), धर्मपूर्वक पुत्र उत्पन्न कर (पितृऋण पूर्ण कर) तथा शक्ति के अनुसार यज्ञ कर (देवऋण पूर्ण कर) फिर मोक्ष में मन लगाना चाहिये।" राधाकृष्णन का यह भी कहना है कि श्रुति के चार भाग—वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्—के आधार पर चार आश्रम हैं।[3] व्यक्ति ब्रह्मचर्याश्रम में वेद का अध्ययन करता है, ब्राह्मणों में कर्मकाण्ड का वर्णन है जिसका व्यवहार गृहस्थाश्रम में होता है, आरण्यक ग्रन्थ अरण्यवासी वानप्रस्थ के लिये है तथा उपनिषदों का ज्ञान ब्रह्म-प्राप्ति की ओर अग्रसर होनेवाले संन्यासी की दृष्टि से है।[4] आश्रम-व्यवस्था के अन्य कारण वर्णाश्रम-व्यवस्था के कारणों का उल्लेख करते समय पिछले अध्याय के प्रारम्भ में दिये गये हैं।

व्यक्ति की अधिकाधिक उन्नति का महत्त्व होने के कारण धर्मशास्त्रों ने आश्रम-व्यवस्था को जितना स्थान दिया है उतना वर्ण-व्यवस्था को नहीं। प्रत्येक आश्रम के नियम और आचार स्मृतियों में बहुत विस्तार के साथ दिये हुए हैं। मनुस्मृति में दूसरे अध्याय से छठे अध्याय तक विभिन्न आश्रमों के नियम दिये गये हैं, परन्तु वर्ण-व्यवस्था का सुसम्बद्ध वर्णन केवल दसवें अध्याय में है और तत्सम्बन्धित छोटी-मोटी बातें अन्यत्र दी हुई हैं। गौतमधर्मसूत्र में केवल सातवें और दसवें अध्याय में वर्ण-व्यवस्था दी हुई है, और दसवें अध्याय तक के शेष आठ अध्यायों में आश्रम-व्यवस्था का वर्णन है। आपस्तम्बधर्मसूत्र, हारीतस्मृति, व्यासस्मृति, शङ्खस्मृति, दक्षस्मृति तथा वसिष्ठधर्मसूत्र में वर्ण-

व्यवस्था को आश्रम-व्यवस्था से चौथाई से कम स्थान दिया गया है तथा वर्ण-व्यवस्था का वर्णन इधर-उधर बिखरा हुआ मिलता है। इतिहास-पुराण ग्रन्थों में भी आश्रम-व्यवस्था का वर्णन वर्ण-व्यवस्था से अधिक है। यद्यपि वर्ण-व्यवस्था को आश्रम-व्यवस्था से कम स्थान दिया गया, परन्तु इससे ऐसा न समझना चाहिए कि वर्ण-व्यस्था का आश्रम-व्यवस्था से कम महत्त्व था। वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था के मेल से ही समाज-रचना पूर्ण होती है। वर्ण-व्यवस्था के द्वारा विभिन्न प्रकार के कर्मों और व्यवसायों की योग्य व्यवस्था किये बिना, जिनके आधार पर समाज-जीवन सुचारु रीति से चल सके, आश्रम-व्यवस्था चल ही नहीं सकती। इस प्रकार दोनों ही प्रकार की व्यवस्था पृथक्-पृथक् दृष्टि से आवश्यक थी। यहाँ तो केवल इतना ही कहना है कि यद्यपि वर्ण-व्यवस्था की तुलना में आश्रम-व्यवस्था का, व्यक्तिगत उन्नति की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण होने के कारण, अधिक वर्णन किया गया है परन्तु इस निबन्ध में समाज-व्यवस्था पर ही मूल रीति से ध्यान देने के कारण वर्ण-व्यवस्था का वर्णन स्वाभाविक रीति से ही अधिक हुआ है।

आश्रमों के पालन करने की आवश्यकता, उनको क्रमानुसार व्यतीत करने की आवश्यकता तथा आश्रम-व्यवस्था का उद्देश्य—व्यक्ति को ब्रह्मप्राप्ति की ओर अग्रसर करना—मनुस्मृति में वर्णित है। मनु[५] ने कहा है, "एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जा कर, होम किया हुआ, जितेन्द्रिय, भिक्षा और बलिवैश्वदेव को पूरा करनेवाला व्यक्ति मरने पर उन्नति प्राप्त करता है। जो द्विज बिना वेद पढ़े (बिना ब्रह्मचर्याश्रम व्यतीत किये), बिना सन्तान उत्पन्न किये (बिना गृहस्थाश्रम व्यतीत किये) तथा बिना यज्ञ किये मोक्ष की (सन्यास की) इच्छा करता है, उसकी अधोगति होती है। क्रमानुसार और शास्त्र के कथनानुसार करने से ये विप्र को परमगति (मोक्ष) तक पहुँचा देते हैं।" यही दक्षस्मृति का भी कथन है।[६] आश्रमों का क्रम बिगाड़ना ही केवल बुरा नहीं माना गया अपितु उनमें से किसी एक आश्रम को छोड़ कर आगे के आश्रम का व्यवहार करने की भी अनुमति नहीं है। मनुस्मृति में तो एक के पश्चात् एक आश्रम बताया ही है—"द्विज को चाहिये कि आयु के चौथाई भाग में गुरु के यहाँ रह कर, द्वितीय भाग में पत्नी प्राप्त करके घर में बसे। स्नातक (ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त किया हुआ), जितेन्द्रिय द्विज गृहस्थाश्रम में रह कर (तत्पश्चात्) विधिवत् वन में नियमानुसार रहे (वानप्रस्थाश्रम व्यतीत करे)। इस प्रकार आयु के तीसरे भाग में वन में विहार कर, सब सङ्ग छोड़ कर आयु के चौथे भाग में परिव्राजक (संन्यासी) हो।[७]" गौतम[८] का कथन है, "कोई आश्रमों का विकल्प कहते हैं। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु (संन्यासी), वैखानस (वानप्रस्थ) इन सबका गृहस्थ मूल है" अर्थात्

आश्रमों का विकल्प वर्जित है और गृहस्थाश्रम व्यतीत किये विना वानप्रस्थ तथा संन्यासी नहीं होना चाहिए। बादरायण[९] का वेदान्तसूत्र में कहना है कि चारों आश्रम व्यतीत करने चाहिए। अपवादों की भारतीय जीवन-प्रणाली में आवश्यकतानुसार अनुमति है ही।

आश्रम-व्यवस्था संस्कारों के साथ संलग्न है। संस्कारों में सबसे महत्त्वपूर्ण संस्कार उपनयन और विवाह है और इनसे ही दो आश्रम—ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रम प्रारम्भ होते हैं। स्मृतियों में आश्रमधर्म का वर्णन बाल्यकाल के संस्कारों से ही प्रारम्भ होता है और उपनयन-संस्कार का वर्णन करने के पश्चात् ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन किया जाता है। ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् विवाह का वर्णन है और तत्पश्चात् गृहस्थाश्रम के नियम दिये गये हैं।[१०] बृहदारण्यक-उपनिषद् में[११] उपनयन से पूर्व के सभी संस्कारों का वर्णन पर्याप्त विस्तार के साथ दिया गया है, परन्तु इन संस्कारों का क्रमबद्ध और पूर्ण वर्णन गृह्यसूत्रों में है। धर्मशास्त्रों में (स्मृतियों तथा धर्मसूत्रों में) संस्कारों का केवल उल्लेख-मात्र है, अतः समाज-जीवन के अध्ययन के लिये हमें केवल इतना समझ लेना ही पर्याप्त है कि इन संस्कारों का क्या उपयोग था। इन संस्कारों के द्वारा व्यक्ति के आत्मिक तथा शारीरिक संवर्धन का प्रयत्न था, जिससे व्यक्ति सब प्रकार के अन्तर्बाह्य दोषों से मुक्त हो कर उन्नति कर सके। संस्कारों का उद्देश्य अग्निपुराण, याज्ञवल्क्यस्मृति तथा मनुस्मृति में दिया गया है। अग्निपुराण में कहा है,[१२] "संस्कारों के द्वारा संस्कृत (आत्मिक उन्नति-प्राप्त) व्यक्ति भुक्ति (भोग) और मुक्ति दोनों पाता है। सभी (शारीरिक) रोगों से मुक्त हो कर मनुष्य देवता (श्रेष्ठ व्यक्ति) के समान वृद्धि प्राप्त करता है।" याज्ञवल्क्यस्मृति[१३] का कहना है, "इस प्रकार इनको करने से बीज और गर्भ से उत्पन्न दोष (अर्थात् आत्मिक और शारीरिक दोष) दूर हो जाते हैं।" मनुस्मृति में कहा है,[१४] "गर्भ शुद्ध करनेवाले हवनों और जातकर्म, चौल (मुण्डन) तथा मौञ्जीबन्धन (यज्ञोपवीत) आदि संस्कारों से द्विजों के गर्भ (शरीर) और बीज (चरित्र) के दोष नष्ट हो जाते हैं। स्वाध्याय से, व्रतों से, विद्याव्रत से, पुत्रों से (विवाह से), (पञ्च) महायज्ञों से तथा यज्ञों से शरीर ब्रह्म पाने के योग्य हो जाता है।" इसका अर्थ स्पष्ट है कि उपनयन के पूर्व के संस्कार मूल रूप से शरीर की शुद्धि करनेवाले और उसे पुष्ट करनेवाले होते हैं और उपनयन तथा तत्पश्चात् के संस्कार मनुष्य के अन्तर की शुद्धि कर उसे ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य बना देते हैं। अतः संस्कारों के द्वारा मनुष्य को पूर्ण बनाने का प्रयत्न था। संस्कारों का यह भी एक उपयोग था कि भारतीय समाज ने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की दृष्टि से जो आदर्श निर्माण किये थे उन आदर्शों को

व्यक्ति के मन पर संस्कारित किया जा सकता था जिससे यह संस्कार, समाज-व्यवस्था के अन्य अङ्गों के साथ-साथ राष्ट्र-निर्माण के प्रबल साधन के रूप में भी थे।

संस्कारों के करने पर बहुत अधिक आग्रह है। शङ्खस्मृति का कथन है, "जिनका यथाकाल संस्कार नहीं हुआ है ऐसे इन तीनों (वर्णों) को सावित्री-पतित, व्रात्य और सब धर्मों से वहिष्कृत जानना चाहिए।" शातातपस्मृति का कथन है कि संस्कारहीन व्यक्ति मर कर योग्य गति प्राप्त नहीं करते तथा मनुस्मृति ने भी उचित समय पर संस्कार न करनेवालों को आर्यों (श्रेष्ठ जनों) द्वारा निन्दित बता कर कहा है कि इन अपवित्र लोगों के साथ ब्राह्मणों को अध्ययन-अध्यापन तथा विवाह-सम्बन्ध नहीं करना चाहिये।[१५] कात्यायनस्मृति का कहना है कि असंस्कृत पितरों का पौत्र-प्रपौत्रों द्वारा संस्कार (श्राद्ध) नहीं होना चाहिये तथा पराशरस्मृति में कहा है कि "जिस प्रकार अनेक रङ्गों (के प्रयोग) से चित्र धीरे-धीरे प्रकट होता है उसी प्रकार विधिपूर्वक किये गये संस्कारों से ब्राह्मणत्व प्रकट होता है।"[१६]

संस्कारों की संख्या गौतम तथा अग्निपुराण में चालीस बतायी गयी है[१७] तथा आठ गुणों को भी इनके साथ संलग्न किया गया है। इनके अतिरिक्त सभी संस्कारों का एक साथ उल्लेख कहीं नहीं मिलता। जिन संस्कारों का सर्वत्र उल्लेख है वे हैं—(१) गर्भाधान, (२) पुंसवन, (३) सीमन्तोन्नयन, (४) जातकर्म, (५) नामकरण, (६) अन्नप्राशन, (७) चौल अथवा चूड़ाकर्म, (८) उपनयन, (९-१२) चार वेदव्रत, (१३) समावर्तन, (१४) विवाह। इसके अतिरिक्त पञ्चमहायज्ञ, सात पाकयज्ञ, सात हविर्यज्ञ, और सात सोमयज्ञ, गौतमधर्मसूत्र तथा अग्निपुराण में शेष संस्कारों के रूप में बताये गये हैं। पहले बताये गये चौदह संस्कार नैमित्तिक हैं और विवाह के पश्चात् के छब्बीस संस्कार नित्य (अर्थात् अपने निश्चित समय पर करने) हैं। संस्कारों के साथ दया, क्षमा, ईर्ष्या का अभाव, शौच (आन्तरिक और वाह्य पवित्रता), अनायास (शरीर को पीड़ित करनेवाले कर्म को अत्यधिक करने का दुराग्रह न करना), मङ्गल (सदाचरण में लगे रहना), कृपणता का अभाव, तथा लालच का अथवा इच्छा का अभाव—इन आठ गुणों का भी उल्लेख है तथा यह सिद्ध करता है कि संस्कारों का अन्तःशुद्धि की दृष्टि से बहुत महत्त्व है। इस प्रकार इन चालीस संस्कारों तथा आठ गुणों के द्वारा व्यक्ति शारीरिक तथा मानसिक दोषों से मुक्त और गुणों से सम्पन्न हो कर सामाजिक जीवन व्यतीत करने के लिये योग्यता प्राप्त करता था। क्योंकि सभी संस्कारों के यही उद्देश्य थे (जैसा ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट हुआ है), अतः प्रत्येक संस्कार का पृथक्-पृथक् विचार करने

की आवश्यकता नहीं है। केवल डॉ० राजबली पाण्डेय का एक उद्धरण[१८] यहाँ दे देना पर्याप्त होगा, "संस्कार इस ढङ्ग से रखे गये थे कि वे एक व्यक्ति के जीवन के प्रारम्भ से उसके ऊपर उचित प्रभाव निर्माण करें। संस्कार एक निर्देशक के रूप में थे जो कि व्यक्ति के जीवन का, उसके विकास के अनुसार, निर्देशन करें। अतः एक हिन्दू के लिये यह आवश्यक था कि वह अनुशासित जीवन व्यतीत करे और उसकी शक्तियाँ एक सुरक्षित और उद्देश्यपूर्ण प्रवाह में वहें।"

वाल्य-जीवन के संस्कार यदि छोड़ दिये जायें तो व्यक्ति का वास्तविक जीवन उपनयन-संस्कार से प्रारम्भ होता है। इसी कारण उपनयन को व्यक्ति का दूसरा जन्म कहा है जिसमें गुरु उसका पिता तथा गायत्री उसकी माता है।[१९] अग्निपुराण में तो[२०] संस्कारदीक्षा (ज्ञान के संस्कार) का वर्णन करते हुए उसकी उपमा मनुष्य-जन्म के साथ विस्तृत रूप में दी गयी है जिसमें गर्भाधान से ले कर जातकर्म तक के सभी संस्कारों का पर्याय वताया गया है। उपनयन के ही पश्चात् वास्तव में मनुष्य-जीवन प्रारम्भ होता है तथा तत्पश्चात् ही मनुष्य सामाजिक उत्तरदायित्व वहन करने के योग्य होता है, यह सिद्ध करने के लिये वसिष्ठधर्मसूत्र में एक श्लोक उद्धृत किया गया है,[२१] "इसको यज्ञोपवीत के पूर्व कर्म (धर्मकृत्य) करने का अधिकार नहीं है। जव तक वह वेद में उत्पन्न (अर्थात् उपनयन) नहीं होता तब तक वह शूद्र है।" क्योंकि इसी संस्कार से व्यक्ति, व्यक्तिगत जीवन की श्रेष्ठता और सामाजिक उत्तरदायित्व वहन करने की क्षमता की ओर वढ़ता है। अतः ब्रह्मचर्याश्रम अर्थात् उपनयन-संस्कार इतना महत्त्वपूर्ण है कि जिनका उपनयन नहीं हुआ है उनके साथ किसी भी प्रकार का सम्वन्ध वर्जित है। ऊपर वताया है कि जन्म से व्यक्ति ब्राह्मण होता है परन्तु संस्कार से विप्र होता है अर्थात् संस्कार के बिना व्यक्ति के जीवन में उन्नति नहीं होती और इस कारण स्वाभाविक ही है कि जब तक व्यक्ति संस्कृत नहीं है तब तक उसके साथ सम्बन्ध नहीं रखना ही उचित है। अतः ऐसे व्यक्तियों के विषय में कहा गया है कि "न उनका उपनयन करना चाहिये, न अध्यापन, न याजन, न उनके साथ व्यवहार (विवाहादि) करना चाहिये।"[२२]

ब्रह्मचर्य मनुष्य के एक जीवन की उन्नति की प्रथम सीढ़ी है। व्यक्ति अभ्युदय (वैभवपूर्ण सांसारिक जीवन) और निःश्रेयस (मोक्ष) के लिए तैयार हो कर जीवन का कार्य प्रारम्भ करे, यह ब्रह्मचर्याश्रम के द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है अर्थात् इस आश्रम के द्वारा अर्थ और काम के ऊपर धर्म का नियन्त्रण प्रस्थापित करने की शिक्षा दी जाती है जिसके कारण व्यक्ति

सांसारिक जीवन ऐश्वर्यपूर्ण परन्तु निःस्वार्थी ढङ्ग से व्यतीत कर सके, अपने जीवन को ऐसा निर्माण कर सके जिसमें स्वार्थ कम हो और सामाजिकता की भावना अधिक हो, तथा वह इस प्रकार धर्म के नियन्त्रण में कार्य कर सके जिससे कि अगली सीढ़ियों में वह मोक्ष की ओर अग्रसर हो सके। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति धीरे-धीरे ब्रह्म-प्राप्ति के लिए सिद्ध हो जाये, यह ब्रह्मचर्याश्रम का उद्देश्य है और इसी कारण इसका नाम ब्रह्मचर्य रखा है। मनुस्मृति में[२३] अध्ययन और अध्यापन को ब्रह्मयज्ञ कहा है और इसको आत्मा का भोजन बताया है तथा उपनयन को 'ब्रह्मजन्म' कहा है। महाभारत में इसी बात को विस्तार के साथ कहा गया है, "बुद्धि में मन के लय हो जाने पर सब वृत्तियों का निरोध करनेवाली जो स्थिति हैं उसका नाम है ब्रह्मविद्या और वह ब्रह्मचर्य का पालन करने से ही उपलब्ध होती हैं।" [२४] सनत्सुजात इसके आगे ब्रह्मचर्य के नियमों का वर्णन करते हुए अन्त में यह बताते हैं कि ब्रह्मचर्य से क्या-क्या प्राप्त होता है, "इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करने से शिष्य सब प्रकार से समृद्ध हो कर बहुत से पुत्र तथा कीर्ति (सांसारिक सुख अर्थात् अभ्युदय) प्राप्त करता है। अनेक दिशाओं और देशों के लोग जल-वर्षा की तरह उसे धन देने आते हैं और अनेक लोग ब्रह्मचर्य-साधन के लिए शिष्यभाव से उसके घर में रहते हैं। इसी प्रकार के ब्रह्मचर्य के द्वारा देवताओं ने देवभाव (सद्गुण) प्राप्त किया है और महाभाग महर्षियों को ब्रह्मलोक की गति मिली है (निःश्रेयस)। अभीष्ट फल देनेवाले चिन्तामणि के समान इस ब्रह्मचर्य को जिन्होंने प्राप्त कर लिया है वे देवताओं से वाञ्छित पदार्थ प्राप्त करते हैं। जो तपस्या के साथ चार चरणों से युक्त ब्रह्मचर्य को धारण करते हैं वे राग-द्वेष आदि से शून्य तत्त्वज्ञान के लाभ में समर्थ हो कर अन्त में मृत्यु को जीत सकते हैं। राजन्! ब्रह्मविद्या से शून्य पुरुष भी विशुद्ध कर्मों के अनुष्ठान के बल से अनित्य लोगों (स्वर्ग) को जीत लेते हैं, किन्तु विद्वान् व्यक्ति विज्ञान के प्रभाव से विश्वात्मा ब्रह्म को ही प्राप्त करता है। मतलब यह कि ज्ञान ही मुक्ति-लाभ का अद्वितीय उपाय है।" ब्रह्मचर्य का यही उद्देश्य था, यह अन्य भी कई बातों का विवेचन करने से ज्ञात होता है। 'विद्या' और 'ज्ञान' शब्द का जो अर्थ पीछे बताया गया है,[२५] वह भी यही इङ्गित करनेवाला है। ब्रह्मचारी के दैनिक कार्यक्रम में ओंकार का जप, गायत्री का जप, अग्नि-परिचर्या, सन्ध्या, प्राणायाम और वेदपाठ आवश्यक बताया है और वह भी इसी दृष्टि से है कि व्यक्ति का मन संयमित हो कर वह ब्रह्म-प्राप्ति की ओर अग्रसर हो सके। ब्रह्मचारी के जीवन में जो अनुशासन बताया गया है (देखिए, आगे शिक्षा-पद्धति) वह भी इसलिये कि उसमें स्वार्थपूर्ण भावनाएँ

कम हो कर वह सामाजिकता की भावना से आगे का जीवन व्यतीत करे तथा सांसारिक इच्छाएँ कम कर वह अधिकाधिक निर्लिप्त हो जाये।

जो अपना सम्पूर्ण जीवन ज्ञानार्जन में और ब्रह्म-प्राप्ति की ही दृष्टि से व्यतीत करना चाहते हैं और जिनमें सांसारिक जीवन में फँसने की इच्छा नहीं है, उनके लिये नैष्ठिक ब्रह्मचर्य अर्थात् निष्ठापूर्वक जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन का विधान है। इस प्रकार के नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का वर्णन छान्दोग्योपनिषद् में है।[२६] वहाँ ऐसे विद्यार्थी का उल्लेख है जो जीवनपर्यन्त अपने आचार्य के परिवार में रहता है तथा वहीं अपना शरीर नष्ट करता है। ऐसे व्यक्ति के लिए कहा है कि वह ब्रह्मत्व प्राप्त करता है और अमर हो जाता है। धर्मशास्त्रों में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के जो नियम दिये हुये हैं[२७] उनमें बताया गया है कि अन्त तक गुरु की सेवा करनी चाहिये और गुरु के मरने पर गुरु के पुत्र, पत्नी तथा सपिण्ड को गुरु के समान समझना चाहिये, साथ ही साथ उसे ब्रह्मचर्य के अन्य नियमों का भी पालन करना चाहिये जैसे गुरु की अग्नि की परिचर्या, भिक्षा, वेदाध्ययन आदि। छान्दोग्योपनिषद् के समान अन्य ग्रन्थों में भी यह बताया गया है कि ऐसा ब्रह्मचारी ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[२८]

व्यक्ति को, यदि वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना न चाहे, तब नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन तो बताया गया है परन्तु गृहस्थाश्रम लाँघ कर संन्यासी अथवा वानप्रस्थ होने का विधान कहीं नहीं है। हारीतस्मृति में इसे बहुत स्पष्ट किया गया है,[२९] "इस नैष्ठिक ब्रह्मचारी को विवाह और संन्यास नहीं बताये गये।" अतः नैष्ठिक ब्रह्मचर्य में संन्यासी के समान इच्छानुसार घूमने की अथवा उत्तरदायित्व से मुक्त होने की अथवा ब्राह्मण गृहस्थ के समान शिष्य-परम्परा निर्माण करने की धारणा उचित नहीं है। आज जो बहुत-सा संन्यासी-वर्ग दिखायी देता है और जो इच्छानुसार संन्यास ग्रहण किये हुए है, शास्त्र-नियमों का उल्लङ्घन करके संन्यासी बना है। अपवाद हो सकते हैं, जैसे शुकदेव, जिन्हें जीवन के प्रारम्भ अथवा मध्य में ही परिपूर्ण ज्ञान हो जाये परन्तु सर्वसाधारण रीति से तो इच्छानुसार संन्यास ग्रहण कर लेना उचित नहीं। सर्वसाधारण रीति से तो व्यक्ति नैष्ठिक ब्रह्मचारी ही रह सकता है तथा इस अवस्था में गुरु के यहाँ रह कर उसके उत्तराधिकारी की सेवा करना तथा ब्रह्मचर्याश्रम के अन्य सब नियमों का पालन करना आवश्यक है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहने की इसलिए अनुमति है कि ब्रह्मचारी रहते हुए यदि व्यक्ति को किसी समय कठोर नियम पालन में कष्ट प्रतीत हो अथवा यदि उसे सांसारिक जीवन में प्रवेश करने की इच्छा हो तो वह गृहस्थाश्रम अर्थात् अगले आश्रम में प्रवेश कर सकता है परन्तु सांसारिक जीवन से ऊपर उठे हुए तथा समाज के सामने आदर्श रूप में उपस्थित

संन्यासी का इस प्रकार का पतन धर्म-विधायकों को मान्य नहीं। इसी कारण कहा गया है कि व्यक्ति सांसारिक जीवन से सन्तुष्ट हो कर ही वानप्रस्थी अथवा संन्यासी हो जिससे कि उसके पतन की लगभग कोई सम्भावना शेष न रहे। विना गृहस्थाश्रम व्यतीत किये संन्यास में जाने का, अथवा विना गृहस्थाश्रम के कर्तव्य पूर्ण किये संन्यास ग्रहण करने का बहुत विरोध धर्मशास्त्रों में किया गया है, जैसा नीचे गृहस्थाश्रम के विवरण से स्पष्ट होगा और वह इसलिये भी कि विना सामाजिक उत्तरदायित्व पूर्ण किये सांसारिक जीवन से अलिप्त रहने की भावना योग्य नही।

ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के योग्य हो जाता है। ब्रह्मचर्याश्रम के विभिन्न नियमों के द्वारा व्यक्ति जीवन में अपने ऊपर, अपनी कामनाओं के ऊपर नियन्त्रण करना सीखता है, जिससे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर वह केवल स्वार्थपूर्ण अथवा ऐहिक सुखोपभोगपूर्ण अर्थात् सामाजिक कर्तव्यविहीन जीवन न बिताये अपितु अपनी इच्छाएँ कम-से-कम करते हुए सामाजिक जीवन को पोषण करने की भावना लेकर तथा आध्यात्मिक उन्नति को ध्यान में रख कर जीवन व्यतीत करे। गृहस्थाश्रम का वहुत महत्व बताया गया है, क्योंकि गृहस्थ अन्य सब आश्रमवासियों का पोषण करनेवाला है। यदि सभी व्यक्ति सन्यासी हो जायेंगे अथवा ब्रह्मचारी ही बने रहेंगे तो फिर सांसारिक जीवन का चलना कठिन हो जायेगा, इस कारण गृहस्थाश्रम की लगभग अनिवार्यता बतायी गयी है। गृहस्थाश्रम की अनिवार्यता का एक कारण यह भी है कि सर्वसाधारण व्यक्ति की कामोपभोग की तथा ऐश्वर्योपभोग की इच्छा स्वाभाविक है। यह तो अवश्य है कि उस इच्छा को नियन्त्रित और मर्यादित करना चाहिए परन्तु यदि व्यक्ति को बाध्य कर उसे उसकी इन इच्छाओं से पूर्णतया दूर रखा गया अथवा यदि उसने स्वयं उन इच्छाओं से बलपूर्वक दूर भागने का प्रयत्न किया तो उसकी इस प्रकार की इच्छाएँ तो नष्ट होगी ही नहीं, साथ-ही-साथ समाज में भ्रष्टाचार भी फैलेगा। इसी भ्रष्टाचार को रोकने के लिए गृहस्थाश्रम की अनिवार्यता है। साथ-ही-साथ ऐसा भी आवश्यक है कि समाज का उत्तरदायित्व प्रत्येक व्यक्ति को वहन करना चाहिए, उत्तरदायित्वहीन जीवन व्यतीत कर संसार का केवल आनन्द प्राप्त करने की इच्छा ठीक नहीं। बहुत-से व्यक्तियों के मन में विवाह न करने की भावना अथवा विवाह देर से करने की भावना, उत्तरदायित्वहीन आनन्दोपभोग की इच्छा से प्रेरित होती है। अतः यह वृत्ति भारतीय समाज-जीवन के आदर्शों के प्रतिकूल है। पद्मपुराण में कहा है,[30] "ब्रह्मा आदि देवताओं ने मनीषी पुरुषों के लिए गृहस्थधर्म को बहुत उत्तम बताया है। साधु पुरुष वन में तपस्या करके जब भूख से पीड़ित होता

है तब सदा अन्नदाता गृहस्थ के ही घर आता है। वह गृहस्थ जब भक्तिपूर्वक उस भूखे अतिथि को भोजन देता है तो उसकी तपस्या में भाग लेता है, अतः जो मनुष्य समस्त आश्रमों में श्रेष्ठ इस गृहस्थाश्रम का सदा पालन करता है वह इसी में मानवोचित भोगों का उपभोग करके अन्त में स्वर्ग जाता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। देवि ! सदा गृहस्थधर्म का पालन करनेवाले मनुष्यों के पास पाप कैसे आ सकता है ? गृहस्थाश्रम परम पवित्र है। घर सदा तीर्थ के समान पवित्र है। इस पवित्र गृहस्थाश्रम में रह कर विशेष रूप से दान देना चाहिए। यहाँ देवताओं का पूजन होता है, अतिथियों को भोजन दिया जाता है तथा पथिकों को शरण मिलती है। अतः गृहस्थाश्रम परम धन्य है।" शान्तिपर्व में भी, जब युधिष्ठिर महाभारत-युद्ध के वध से त्रस्त हो राज्य छोड़ना चाहते हैं, तब व्यासजी कहते हैं कि गृहस्थाश्रम छोड़ना उचित नहीं है क्योंकि उसी से देवता, अतिथि और पितर तृप्त होते हैं तथा उसी से नौकर-चाकर, पशु-पक्षी आदि पलते हैं[31]। गृहस्थाश्रम की अनिवार्यता बताने के लिए महाभारत के प्रारम्भ में ही[32] जरत्कारु नामक एक ऋषि की कथा दी गयी है जिन्होंने विवाह नहीं किया था। एक बार तीर्थों की यात्रा करते समय उन्होंने देखा कि कुछ ऋषि एक कुएँ में सेठों की जड़ों के सहारे उलटे लटक रहे हैं, परन्तु उन जड़ों को एक चूहा काट रहा है तथा वह एक जड़ को छोड़ कर अन्य सभी जड़ें काट चुका है। वह चूहा उस एक शेष जड़ को भी काटने में लगा हुआ है और इस जड़ के कटते ही ये सब ऋषि कुएँ में गिर जायेंगे। जरत्कारु ने उन ऋषियों से इस सबका कारण पूछा। उन ऋषियों ने उत्तर दिया, "सुनो ! हम यायावर नाम के प्रसिद्ध ऋषि हैं। हमने जन्म-भर अनेक प्रकार के व्रत करके पुण्य-सञ्चय किया है। इस समय हमारा वंश संसार से उठ जाने को है—इसी से पवित्र स्वर्गलोक से यहाँ इस अवस्था में गिर पड़े हैं। हमारा तप व्यर्थ हो गया है। हमारे वंश में अभी एक मनुष्य है—उसका नाम जरत्कारु है। किन्तु हमारे भाग्य से वह ब्रह्मचर्य-धारण करके घोर तपस्या कर रहा है। उसका होना न होने के बराबर है। वह वेदपाठ, व्रत और इन्द्रियों के दमन में ही अपनी आयु बिताये देता है। उस अभागे ने तप से फल की आशा करके हमारी यह दुर्दशा की है। उसके न स्त्री है, न पुत्र और न कोई बन्धु-बान्धव है। हे ब्राह्मण ! वह सेठों की जड़—जिसके सहारे हम लटके हुए हैं—हमारे कुल को बढ़ानेवाला वंश है। ये इस जड़ के डोरे हमारी सन्तानें हैं। यह चूहा काल है—इसने हमारी सन्तानों को नष्ट कर दिया है। यह जो एक डोरा लगा हुआ दिखायी देता है यह वही विवाह से विमुख जरत्कारु है। इसी के सहारे हम गढ़े के ऊपर लटक रहे हैं। यह अनिवार्य काल तपस्या में लगे हुए मूढ़ जरत्कारु को धीरे-

धीरे क्षीण करता चला जाता है। भगवन् ! यह जरत्कारु, तप और ब्रह्मचर्य से हमारी रक्षा नहीं कर सकता। यह डोरा कटते ही हम इस नरक-रूपी गड्ढे में पापियों की तरह गिर कर घोर यन्त्रणा भोगेंगे। हम जब गिर पड़ेंगे तब कुछ समय बाद जरत्कारु भी इसी गड्ढे में गिर कर नरक की यन्त्रणा भोगेगा। तप, यज्ञ आदि पुण्यकर्म पुत्र उत्पन्न करने के समान नहीं हैं।" इस कथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि गृहस्थाश्रम अत्यन्त आवश्यक है और यदि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हित को (चाहे वह मोक्ष हो अथवा अन्य कुछ) अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों से, जिन्हें वह गृहस्थ हो कर ही पूर्ण कर सकता है, अधिक महत्त्व देता है, तो वह पापपूर्ण है। पुत्र-उत्पत्ति भारतीय धर्मग्रन्थों में आवश्यक मानी गयी है—इसलिए कि संसार का क्रम अविच्छिन्न रूप से चलता रहे तथा सामाजिक जीवन व्यवस्थित रूप से चल सके। अतः यह आग्रह किया गया है कि लोग सन्तानोत्पत्ति से विमुख न हों। इसे इस ढङ्ग से कहा गया है कि पुत्' नामक नरक से जो त्राण (रक्षा) करता है वह 'पुत्र' है[33]। पुत्रोत्पत्ति की आवश्यकता के कारण गृहस्थाश्रम की भी अनिवार्यता है। त्रिऋण का सिद्धान्त भी गृहस्थाश्रम की अनिवार्यता सिद्ध करता है क्योंकि उसके बिना पितृऋण पूर्ण नहीं किया जा सकता। जैमिनि ने[34] तैत्तिरीयसंहिता के त्रिऋण-सम्बन्धी सिद्धान्त का विचार कर यह सिद्ध किया है कि उन ऋणों को पूर्ण करना अनिवार्य है। पत्नी को भी प्रत्येक व्यक्ति के धार्मिक उत्थान के लिए आवश्यक बताया है तथा यज्ञ तो बिना पत्नी के पूरा हो ही नहीं सकता।[35] उपरोक्त सभी कारणों से धर्मशास्त्रों ने व्यक्ति के लिए गृहस्थाश्रम की अनिवार्यता बतायी है।

यह तो अवश्य है कि भौतिक जीवन की पूर्णता तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से गृहस्थाश्रम की अनिवार्यता और उसका महत्त्व बताया गया है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि व्यक्ति सांसारिक जीवन में ही अथवा सुखोपभोग और इन्द्रिय-लालसा में ही लिप्त हो जाये। अतः उसे ऐसे सभी कृत्य करने चाहिए जिनसे उसकी प्रवृत्ति धार्मिक हो, उसका मन परमात्मा में लगे और धीरे-धीरे वह संसार छोड़ने की दृष्टि से सिद्ध हो सके। इसी दृष्टि से गृहस्थ का नित्यकर्म निर्धारित किया गया है और जहाँ-जहाँ गृहस्थधर्म का वर्णन है[36] वहीं-वहीं गृहस्थ के नित्य-आचार का उल्लेख है। इस नित्यकर्म के अन्तर्गत है ब्रह्ममुहूर्त में उठना, शौच (मलत्याग) करके तर्पण, मन्त्रपाठ सहित स्नान करना, सन्ध्या, अग्निहोत्र तथा देवपूजा, वेदाभ्यास, धर्मशास्त्रों का अध्ययन तथा पञ्चमहायज्ञ अर्थात् देवताओं के लिए होम, पितरों के लिए श्राद्ध, ऋषिऋण पूर्ण करने के लिए स्वाध्याय, अतिथि-सेवा, तथा पशु-पक्षियों को भोजन। स्पष्ट दिखायी देता है कि यह सब कृत्य इसीलिए हैं

जिसमें मनुष्य की वाह्य-शुद्धि तथा अन्तःशुद्धि रहे, उसमें स्वार्थहीनता की भावना निर्माण हो तथा धीरे-धीरे उसकी बुद्धि ब्रह्मप्राप्ति में लगे। दक्षस्मृति में तथा स्कन्दपुराण में दिन के आठ भाग करके छः भाग इन सव दैनिक कृत्यों के लिए रखें हैं तथा शेष दो भाग जीविकोपार्जन के लिए वताये हैं।

भोजन, शयन और मैथुन के नियमों में भी इस वात का ध्यान रखा गया है कि उनसे धीरे-धीरे मनुष्य का आत्म-संयम वढ़े और उसकी सुखोपभोग तथा इन्द्रिय-लिप्सा के प्रति अधिक आसक्ति न हो। इसलिये कहा गया है कि मनुष्य को दिन में केवल दो वार ही भोजन करना चाहिये और ऐसा करने पर व्यक्ति को उपवास का फल प्राप्त होगा। भोजन आने पर, चाहे वह कैसा ही हो, उसमें दोष नहीं देखना चाहिये अपितु उसे प्रसन्नतापूर्वक खाना चाहिये और सब लोगों को भोजन कराने के पश्चात् ही जो भोजन शेष वचे, वही खाना चाहिये। यह भी ध्यान में रखा गया है कि भोजन के द्वारा मनुष्य की अन्तःशुद्धि वनी रहे क्योंकि यह विचार था कि भोजन मनुष्य के मन और हृदय पर परिणाम करनेवाला होता है।[३७] इसलिये यह नियम है कि तमोगुणी पदार्थों का खाना उचित नहीं यथा लहसुन, प्याज आदि तथा ऐसे व्यक्तियों का अन्न भी नहीं खाना चाहिये जो पापी हों, अथवा निन्दित व्यवसाय करनेवाले हों अथवा ऐसे व्यवसाय करनेवाले हों जिसमें मनुष्य की वृत्ति लोभपूर्ण, स्वार्थी होती हो। "लोभी, कारागार में वद्ध, चोर, नपुंसक, रागरङ्ग में मस्त, वेण, शापित, व्याजखोर, वेश्या, सबको दीक्षा देनेवाला, वैद्य, रोगी, क्रोधी, व्यभिचारिणी, मत्त, शत्रु, क्रूर, उग्र, पतित, व्रात्य, जूठा खानेवाला, स्वतन्त्र स्त्री, सुनार, स्त्री के जो वश में हो, ग्रामयाजक, शस्त्र-विक्रेता, लोहार, जुलाहा, कुत्ते के द्वारा जीनेवाला, नृशंस, राजा, धोबी, कृतघ्न, व्याध, मदिरा बेचनेवाला, लम्पट पुरुष का साथी, चुगली करनेवाला, मिथ्यावादी, तेली तथा सोम-विक्रेता, इनका अन्न न खाना चाहिये।"[३८] शयन के सम्वन्ध में कहा गया है कि दिन में अथवा नग्न हो कर अथवा स्त्रियों के विस्तर पर अथवा दुष्ट लोगों के मध्य में नहीं सोना चाहिये। मैथुन-सम्बन्धी नियम वाद में इन्द्रिय-निग्रह का विचार करते समय विस्तार के साथ दिये जायेंगे[३९] परन्तु संक्षेप में दिन में मैथुन वर्जित है, पर्व-दिनों पर वर्जित है, मैथुन के सभी प्रकार के अप्राकृतिक ढङ्ग वर्जित हैं तथा स्वस्त्री को छोड़ अन्य किसी से भी मैथुन वर्जित है। यह सव नियम, जैसा वताया गया है, मनुष्य के मन पर धीरे-धीरे अधिकाधिक आत्मसंयम निर्माण करने की दृष्टि से हैं।

गृहस्थाश्रम ही एक ऐसा आश्रम है जिसमें सांसारिक दृष्टि से भी जीवन व्यतीत करना होता है, अन्य आश्रमों में तो केवल-मात्र संयम की शिक्षा है और सुखोपभोग तथा सांसारिकता को तनिक भी स्थान नहीं है। क्योंकि गृहस्थ को

सांसारिक ढङ्ग से जीवन व्यतीत करना पड़ता है इसलिये गृहस्थाश्रम के वर्णन में कुछ व्यावहारिक नियम दिये गये हैं। उदाहरण के लिये कहा गया है कि दही, छाँछ, मक्खन अथवा घी, तेल आदि से पकाये पदार्थों को छोड़ कर अन्य वासी पदार्थ नहीं खाना चाहिये। ऐसे भी सब पदार्थ खाना मना है जिनमें बाल, विष्टा (मल), कीड़ा, चूहे आदि का कोई अङ्ग हो, जिसमें किसी पक्षी ने चोंच डाली हो अथवा जिसे कुत्ते ने स्पर्श किया हो, अथवा गाय ने सूँघा हो। शुद्धि का ध्यान रख कर कहा गया है कि हाथ, पैर आदि धो कर ही भोजन करना चाहिये। टूटी हुई खाट पर, सूने घर में, आग के ऊपर अथवा अस्वच्छ स्थान में सोना मना है। इसके अतिरिक्त कहा गया है कि संशयपूर्ण काम न करे; अप्रिय, अहितपूर्ण अथवा असत्य न बोले; सदैव डाढ़ी, बाल को कटाये रखे; नदी, मार्ग में अथवा स्त्री के सम्मुख मल-मूत्रादि न करे; जुआ न खेले; किसी सोते हुए को न जगाये; रोगियों के समीप न बैठे; देश, ग्राम और कुल के आचार के विरुद्ध कर्म न करे; भस्म, भूसी, कोयला, खप्पर पर न बैठे; नगर, ग्राम, अथवा घर में द्वार छोड़ कर अन्य स्थान से न घुसे; अर्धरात्रि में, बिजली चमकने, बादल गरजने अथवा आँधी आने पर, सन्ध्या के समय, कोहरा गिरने में, भूकम्प में, श्मशान में, भय होने पर, हाथी, घोड़े आदि पर चढ़े हुए न पढ़े; साँप, राजा का तिरस्कार न करे; जूठन, विष्ठा, मूत्र, पग का धोया जल घर से दूरी पर डाले; किसी की निन्दा न करे; अकारण विवाद न करे; अन्य की वस्तु का प्रयोग न करे; अकेले यात्रा न करे।[४०] मनुस्मृति में ऐसे नियम और भी अधिक विस्तार के साथ चौथे अध्याय में (२६० श्लोक) दिये गये हैं।

ऊपर गृहस्थ के व्यक्तिगत जीवन के नियमों का, व्यावहारिक नियमों का तथा उन नियमों का जो उसके जीवन में संयम निर्माण कर उसे आगे के आश्रमों के लिये तैयार करनेवाले हैं अर्थात् जो उसे उन्नति के मार्ग पर बढ़ानेवाले हैं— उल्लेख किया गया है। परन्तु सामाजिक दृष्टि से भी गृहस्थ के ऊपर पूरा उत्तरदायित्व है। सामाजिक उत्तरदायित्व वहन करने की ही दृष्टि से पञ्चमहायज्ञ का विधान है, ब्रह्मचारी तथा संन्यासी के पोषण करने का कर्तव्य है, आग्रह दान पर बहुत बल दिया गया है और पोष्यवर्ग के पोषण का आग्रह है जिनमें अनाथ, दीन, निर्धन भी सम्मिलित हैं। पञ्चमहायज्ञ का उल्लेख शतपथब्राह्मण, (आरण्यक) तैत्तिरीयारण्यक तथा बृहदारण्यकोपनिषद् में है[४१] और इनकी व्याख्या करते हुए यह बताया गया है कि भूतों को (पशु-पक्षियों को) बलि (भोजन) देना भूतयज्ञ है, अतिथि को भोजन देना मनुष्ययज्ञ है, पितरों के लिये स्वधा (श्राद्ध) करना पितृयज्ञ है, अग्नि में समिधा छोड़ना (हवन करना) देवयज्ञ है तथा स्वाध्याय करना ब्रह्मयज्ञ है। इनका कारण यह बताया गया है,[४२] "गृहस्थी के यहाँ चूल्हा,

चक्की, झाड़ू, ओखली और जल का घड़ा—ये पाँच पाप (हिंसा) के स्थान हैं, इनको काम में लानेवाला (गृहस्थ) बँधता है। क्रम से उन सबसे निष्कृति के लिये महर्षियों ने प्रतिदिन करने के पाँच महायज्ञ बनाये हैं।" पञ्चमहायज्ञ का महत्त्व बताने के अतिरिक्त प्रत्येक महायज्ञ अर्थात् धर्मग्रन्थों का पाठ (ब्रह्मयज्ञ), श्राद्ध (पितृयज्ञ), अतिथि-सत्कार (नृयज्ञ), होम (देवयज्ञ), तथा बलिवैश्वदेव (भूतयज्ञ) का अलग-अलग महत्त्व भी वर्णन किया है, परन्तु उसका यहाँ विस्तार से उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यहाँ केवल इन महायज्ञों की उपयोगिता का वर्णन कर देना पर्याप्त है। सम्पूर्ण मनुष्येतर प्राणियों का पोषण करने का कर्त्तव्य मनुष्य का है इसलिये भूतयज्ञ है। विश्व की सभी प्राकृतिक शक्तियों का[४३] तथा शारीरिक शक्तियों का (हवन वातावरण शुद्ध करनेवाला है) पोषण होना चाहिये, इसलिये देवयज्ञ है। धर्म का ज्ञान हो तथा सद्वृत्ति का निर्माण हो जिसके कारण सम्पूर्ण समाज का पोषण करने की भावना उत्पन्न हो तथा उन्नति की प्रेरणा हो, इसलिये ब्रह्मयज्ञ है। पूर्वजों के प्रति श्रद्धा का भाव रहे तथा समाज की प्राचीन परम्परा में विश्वास रहे, इसलिये पितृयज्ञ है तथा अन्य मनुष्यों के प्रति भी सद्भावना रहे इसलिये अतिथियज्ञ है। पञ्चमहायज्ञ के अतिरिक्त समाज को पोषण करने के लिये गृहस्थ का दूसरा आवश्यक कर्तव्य है—संन्यासी तथा ब्रह्मचारी को भिक्षा देना। पराशरस्मृति में[४४] कहा है, "यति और ब्रह्मचारी ये दोनों पके अन्न के अधिकारी हैं। इन दोनों को बिना अन्न दिये जो भोजन करे उसे चान्द्रायण करना चाहिये।" स्कन्दपुराण का कहना है,[४५] "राह चलनेवाला पुरुष (अतिथि), जिस की जीविका नष्ट हो गयी हो, विद्यार्थी, गुरु का पालन करनेवाला, संन्यासी और ब्रह्मचारी, ये छः धर्मभिक्षुक माने गये हैं।" गृहस्थ के सामाजिक कर्तव्यों की इतिश्री केवल अन्य आश्रमों के व्यक्तियों का पोषण करके तथा अन्य जड़ और चेतन पदार्थों और प्राणियों के पोषण करने से ही नहीं हो जाती। इतना सब करने के पश्चात् भी गृहस्थ के लिये एक अन्य सामाजिक कर्तव्य भी बताया गया है—वह है दान। दान की तथा उसके अर्थ की विशद विवेचना पहले ही[४६] की जा चुकी है। दान के माध्यम से अपने तथा परिवार के जीवन-मात्र के लिये आवश्यक वस्तुओं को छोड़ कर शेष सब कुछ समाज को ही समर्पित करने की वृत्ति निर्माण की गयी है। उद्योगपर्व में कहा है,[४७] "दान न देनेवाले धनी और तपस्या न करनेवाले निर्धन के गले में दृढ़ता से शिला बाँध कर उन्हें गहरे जल में डुबा देना चाहिए।" दान के ही अन्तर्गत 'पूर्तधर्म' आता है जिसकी परिभाषा अग्निपुराण में की गयी है,[४८] "बावड़ी, कुँआ, तालाब, देवगृह (मन्दिर), उद्यान (का निर्माण) तथा अन्नसत्र (की व्यवस्था) पूर्तधर्म है, जो मुक्तिदायक है"

अर्थात् सभी प्राणियों के अन्न, जल, निवास, सुविधा तथा पूजा आदि के लिए व्यवस्था करना पूर्तधर्म के अन्तर्गत है। अत्रिस्मृति तथा लिखितस्मृति में[४९] पूर्तधर्म चारों वर्णों के लिए बताया गया है। पूर्तधर्म के फल का अर्थात् पोखरे खुदवाने, वृक्ष लगाने, पौशाला चलाने, गोचर भूमि छोड़ने का विशद महत्त्व पद्मपुराण में[५०] वर्णित है।

सबसे अन्त में पोष्यवर्ग के भरण-पोषण का प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है। दैनिक कृत्यों में जो जीविकार्जन बताया गया है, वह पोष्यवर्ग के लिए ही है। दक्षस्मृति में कहा है,[५१] "माता, पिता, गुरु, स्त्री, सन्तान, दीन, समाश्रित, अवगत, अतिथि और अग्नि इसे पोष्यवर्ग कहा गया है तथा जातिबन्धु, अनाथ, दीन और अन्य धनहीन भी पोष्यवर्ग में है। अन्न आदि सभी भूतों (प्राणियों) के लिए बनाने चाहिये और ज्ञानियों को (भी) देना चाहिये अन्यथा व्यक्ति नरक में जाता है। पोष्यवर्ग का पालन करना स्वर्ग का उत्तम साधन है और पोष्यवर्ग की पीड़ा से नरक होता है, इसलिए यत्न से उनका पालन करे। वही वास्तव में जीवित है जो एक हो कर भी बहुतों का पालन करता है। अन्य पुरुष तो केवल अपना पेट भरते हैं, जो जीवित ही मृतक के समान हैं।" मनु, विष्णु, याज्ञवल्क्य तथा आपस्तम्ब का कहना है कि प्रत्येक गृहस्थ मित्रों, सम्बन्धियों तथा भृत्यों को भोजन कराने के पश्चात् ही स्वयं भोजन करे[५२] तथा कहा गया है कि सब लोगों को भोजन कराने के पश्चात् जो शेष बचे वही खाना चाहिए।[५३] ऋग्वेद में कहा है, "जिसका मन उदार नहीं है, उसका भोजन करना वृथा है। उसका भोजन उसकी मृत्यु के सामन है। जो न तो देवता को देता है और न मित्र को देता है और न स्वयं भोजन करता है वह केवल (मानो) पाप ही खाता है।"[५४] गीता[५५] में तथा अन्यत्र भी केवल स्वयं भोजन करने की निन्दा की गयी है। इस प्रकार अपने आश्रितजनों को पीड़ित कर दिये हुए दान की भी निन्दा की गयी है। मनु ने कहा है, "जो समर्थ (व्यक्ति) स्वजनों को दुःख देकर परजनों को देता है उसका दान प्रारम्भ में मधु परन्तु वास्तव में विष के समान धर्म का पाखण्ड-मात्र है। भृत्यों को कष्ट दे कर जो परलोक के लिये (दान) करता है, उसका दान जीवित रहने पर और मरने पर दुःखदायक होता है।"[५६] याज्ञवल्क्य का कथन है कि अपने कुटुम्ब के अविरोधी (पालन के पश्चात् शेष) ही दान दिया जा सकता है और सर्वस्व दान नहीं करना चाहिये।[५७]

गृहस्थधर्म में जब व्यक्ति जीवन के सर्वसाधारण सुखों का तथा ऐश्वर्यों का संयमित उपभोग करके निवृत्त हो जाता है, उस समय फिर वानप्रस्थाश्रम बताया गया है। वानप्रस्थाश्रम, गृहस्थ और संन्यास के मध्य की सीढ़ी है। अतः व्यक्ति गृहस्थाश्रम के अन्दर का मोह छोड़ कर धीरे-धीरे तप अर्थात् आत्मसंयम के मार्ग

से सर्वस्वत्याग (संन्यास) की ओर बढ़ता है। इस दृष्टि से वानप्रस्थ संन्यास की शिक्षा देनेवाला अर्थात् उसकी ओर व्यक्ति को बढ़ानेवाला आश्रम है। इस कारण वानप्रस्थी के लिए जो नियम बताये गये हैं[५८] वे गृस्थाश्रम और संन्यासाश्रम के मध्य के हैं। वानप्रस्थाश्रम का काल मनुस्मृति, शङ्खस्मृति तथा शान्तिपर्व में बताया है कि "जब शरीर पर झुर्रियाँ पड़ जायें, जब सिर के बाल श्वेत हो जायें तथा जब पुत्र का भी पुत्र हो जाये तब व्यक्ति वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करे।"[५९]

गृहस्थ और संन्यास के मध्यवर्ती होने के कारण वानप्रस्थी की इच्छा पर निर्भर है कि यदि अभी गृहस्थाश्रम का अभ्यास पूरा न छूटा हो तो वह अपने साथ पत्नी ले जा सकता है परन्तु उसे पूर्ण जितेन्द्रिय रह कर स्त्री-सम्भोग से पूर्णतया दूर रहने का नियम है। अथवा यदि उसके लिये अकेले रहना सम्भव हो तो उसे पत्नी को अपने पुत्रों के पास छोड़ जाना चाहिये। गृहस्थाश्रमी के समान अग्नि की परिचर्या करने का तथा श्रौत-यज्ञ करने का नियम है एवं गृहस्थ के ही समान उसे पञ्चमहायज्ञ भी करने चाहिए। उसी के समान वह एक दिन अथवा एक मास अथवा एक वर्ष के लिये अन्न-सञ्चय कर सकता है परन्तु प्रति-दिन आश्विन मास में सञ्चित अन्न को फेंक देना चाहिये। उसको तीन बार स्नान करना चाहिये तथा प्रतिदिन वेदपाठ करना चाहिये और दान भी करना चाहिये। वानप्रस्थाश्रम के ये सब नियम गृहस्थ के समान हैं।

संन्यासी के समान उसे घर में न रह कर पेड़ के नीचे रहना चाहिये, भूमि पर सोना चाहिये, मृगचर्म अथवा छाल आदि पहनना चाहिये तथा ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से उपनिषदों का पाठ करना चाहिये। उसे तपपूर्ण जीवन भी व्यतीत करना है, इस दृष्टि से यह बताया गया है कि उसे केवल फल, फूल, मूल, शाक आदि खाना चाहिये, दिन में एक बार अथवा दो-तीन दिन में एक बार भोजन करना चाहिये तथा धीरे-धीरे भोजन कम करना चाहिये। भोजन में यदि वह अनाज का भी प्रयोग करे तो उसे दाँतों से ही चबाना चाहिये। उसे ग्रीष्म में पञ्चाग्नि का सेवन करना चाहिये, वर्षा में खुले में रहना चाहिये और शरद् ऋतु में भीगे वस्त्र पहनना चाहिये। उसे सम्पूर्ण दिन बैठे हुए अथवा घूमते हुए योगाभ्यास करते हुए व्यतीत करना चाहिये। यह तपपूर्ण नियम इसलिये हैं जिस कारण जीवन के कोई मोह शेष न रहें, सभी इन्द्रियों के ऊपर संयम हो तथा जीवन की कामनाएँ नष्ट हो कर सभी प्रकार का कष्टपूर्ण जीवन स्वाभाविक हो जाये और संसार से विरक्ति की भावना उत्पन्न हो जाये।

वानप्रस्थाश्रम में जीवन में संयम का अभ्यास कर व्यक्ति संन्यासाश्रम की ओर बढ़ता है। श्रुति-ग्रन्थों में वानप्रस्थ और संन्यास दोनों आश्रमों का उल्लेख है। वानप्रस्थाश्रम का उल्लेख ऐतरेयब्राह्मण में तथा छान्दोग्योपनिषद् में है।[६०]

तप को वानप्रस्थाश्रम का प्रतीक मानते हुए छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि "धर्म के तीन स्कन्ध हैं—यज्ञ, अध्ययन, दान प्रथम है (गृहस्थ), तप द्वितीय है (वानप्रस्थ), तथा आचार्यकुल में रहनेवाला ब्रह्मचारी तृतीय है जो स्वयं को पूरी प्रकार से आचार्यकुल में नष्ट कर देता है। यह सभी पुण्यलोक प्राप्त करते हैं परन्तु जो ब्रह्म में रहता है (संन्यासी) वह अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्त करता है।" बृहदारण्यकोपनिषद् में[६१] याज्ञवल्क्य जब परिव्राजक होना चाहते हैं तो वह अपनी सम्पत्ति दोनों पत्नियों में बाँटना चाहते हैं। इसका अर्थ यह है कि संन्यासी को स्त्री और धन दोनों छोड़ देना चाहिये। मुण्डकोपनिषद् में कहा है,[६२] "जीवन में रहनेवाले, शान्त स्वभाववाले, विद्वान् (ज्ञानी) तथा भिक्षा के लिये विचरनेवाले तप और श्रद्धा से जो रहते हैं, वे रजोगुणरहित सूर्यमार्ग से वहाँ चले जाते हैं जहाँ पर जन्म-मृत्यु से रहित वह नित्य अविनाशी पुरुष है।" यहाँ वानप्रस्थ और संन्यास दोनों आश्रमों का उल्लेख है। यही बात आगे स्पष्ट रूप से 'संन्यास' शब्द का प्रयोग करते हुए कही गयी है।[६३] वानप्रस्थ और संन्यास यह एक ही प्रकार के जीवन के (जिसमें संयम है, त्याग है, कठोर और इच्छारहित जीवन है, तप है और ब्रह्म-जिज्ञासा है) दो अङ्ग हैं—एक प्रारम्भिक, दूसरा वृद्धिङ्गत। और इस कारण स्वाभाविक है कि कई बार दोनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख न करके एक ही साथ किया गया है। इसी कारण दोनों आश्रमों की विशेषता बताते हुए आपस्तम्ब एक ही जैसे शब्दों को कहते हैं[६४] तथा मनु ने जो नियम वानप्रस्थों के लिये बताये हैं वैसे ही नियम आगे संन्यासियों के लिये बताये हैं।[६५]

सन्यासी होने के लिए सर्वप्रथम व्यक्ति को प्रजापति यज्ञ कर अपना सर्वस्व 'दक्षिणा' रूप में दान कर देना चाहिए। परन्तु, जैसा कि पीछे कहा गया है गृहस्थ-धर्मपालन करने के पश्चात् ही संन्यासी होने का विधान है। संन्यासी होकर व्यक्ति को स्वाभाविक रीति से घर, परिवार तथा सम्पत्ति का त्याग करना चाहिए, घर से बाहर गृहविहीन अवस्था में पेड़ के नीचे रहना चाहिये और वर्षाऋतु के अतिरिक्त शेष काल में घूमते ही रहना चाहिये जिससे न तो एक स्थान में आसक्ति हो और न शरीर के लिये सुख की कोई कामना रहे। आसक्ति न निर्माण हो, इस कारण घूमते समय भी उसे अकेले ही घूमना चाहिये। भोजन के प्रति कोई रुचि न रहे और न उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की इच्छा हो, इस कारण भोजन की दृष्टि से संन्यासी को कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना चाहिये। केवल उसके शरीर का, जब तक वह जीवित है, येन-केन प्रकारेण पोषण होता रहे, इस कारण उसे दिन में केवल एक बार भिक्षा माँगनी चाहिये और भिक्षा के निमित्त एक बार ग्राम में प्रवेश करने के अतिरिक्त ग्राम में फिर प्रवेश भी न करना चाहिये। भिक्षा के लिये भी ग्राम में उसे तभी

प्रवेश करना चाहिये जब घरों से रसोई का धुआँ दिखायी देना बन्द हो जाये, मुसल का शब्द समाप्त हो जाये, अग्नि बुझ जाये तथा भोजन के जूठे पात्र अलग रख दिये जायें अर्थात् जब सभी भोजन समाप्त कर लें तभी वह भिक्षा माँगे जिससे उसकी भिक्षा के कारण किसी भी व्यक्ति को कष्ट न हो और कोई भी व्यक्ति अपने भोजन के अंश में से उसे भिक्षा न दे सके। वह "भूमिकम्प आदि उत्पात अथवा नेत्र-स्पन्दन आदि शकुन अथवा नक्षत्र अथवा हाथ की रेखा का फलाफल बता कर अथवा शास्त्र की आज्ञा दिखा कर किसी से भीख माँगने की इच्छा न करे। जिस घर में अन्य तपस्वी, ब्राह्मण, पक्षी, कुत्ते और अन्य भिक्षुक विद्यमान हों वहाँ भीख माँगने की इच्छा से न जाना चाहिये।[६६] ऐसी कड़ाई होने पर भी उसे भिक्षा केवल सात घरों से ही माँगनी चाहिये और उन सात घरों को भी पहले से निश्चित न करना चाहिये। उसे भीख मिलने पर प्रसन्न और न मिलने पर दुखी न होना चाहिये तथा उतनी ही भिक्षा लेनी चाहिए जितने में प्राणों का निर्वाह हो सके। भोजन में अनासक्ति निर्माण करने के साथ-साथ संन्यासी के लिये संसार की अन्य वस्तुओं में अनासक्ति आवश्यक है। उसके पास केवल भिक्षा का पात्र, जल का कटोरा और जीर्ण वस्त्र ही रहने चाहिये। वह जीर्ण वस्त्र भी इतने ही, हों जिनसे शरीर के गुप्ताङ्ग ढके जा सकें तथा जो औरों द्वारा प्रयुक्त हुए हों परन्तु धो कर पहने गये हो। जो भिक्षा का पात्र हो वह किसी धातु का न हो। शरीर की दृष्टि से भी उसे अनासक्त रहना है। उसे न तो रोग का कोई उपचार करना है और न उसे मृत्यु से भय करना है तथा उसे मृत्यु का स्वागत भी नहीं करना है (क्योंकि इसका अर्थ है शारीरिक कष्टों से घबड़ाने की वृत्ति तथा भौतिक सुखों के प्रति मोह) परन्तु शरीर की स्वच्छता की दृष्टि से उसे दाढ़ी, मूँछ, नख आदि सब कटा देने चाहिये।

संन्यासी को पूर्ण अहिंसा का व्रत धारण करना है। उसे इस प्रकार रहना चाहिये कि उससे किसी प्राणी को भय न हो। बाह्य और आन्तरिक शुद्धि का ध्यान रखते हुए तथा अहिंसा की दृष्टि से उसे देख-देख कर चलना चाहिये, वस्त्र से छान कर जल पीना चाहिये, सत्य से पवित्र वाणी बोलना चाहिये, तथा पवित्र मन से आचरण करना चाहिये, (जिससे किसी को कष्ट न पहुँचे)।[६७] उसे अपमान के प्रति उदासीन रहना चाहिये, क्रोध करनेवाले के प्रति क्रोध न करना चाहिये, कभी असत्य न बोलना चाहिये और निन्दा करनेवाले के प्रति भी मीठे वचन बोलने चाहिये। उसे उपरोक्त संयमों के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के इन्द्रियसंयम भी रखने चाहिये और इसी दृष्टि से उसके त्रिदण्डी होने का नियम बनाया गया है। मनुस्मति का कथन है[६८] कि त्रिदण्डी वही है

जिसे अपने वाणी, मन और शरीर पर संयम हो। दक्ष, यह कहकर आगे स्पष्ट रीति से यह कहते हैं[६९] कि सन्यासी बाँस का दण्ड लेने से त्रिदण्डी नहीं है। त्रिदण्डी वही है जिसके पास ब्रह्मज्ञान है। मन को संयमित रखने की दृष्टि से संन्यासी को प्राणायाम तथा अन्य यौगिक क्रियाएँ करनी चाहिये और इस प्रकार धीरे-धीरे उसे परमात्म-प्राप्ति और मोक्ष की ओर बढ़ना चाहिये। मन और वाणी के संयम के लिये तथा ब्रह्म-प्राप्ति की ओर बढ़ने के लिये यदि वह वेद-मन्त्रों को दुहरा न रहा हो तो उसे मौन ही रहना चाहिये और उसे ऐसे वेदमन्त्रों को ही दुहराना चाहिए जो यज्ञ और देवता सम्बन्धी हों अथवा आध्यात्मिक हों। उसे विषयों से विरक्त रह कर सदा ब्रह्म का चिन्तन करना चाहिये और वैराग्य का निर्माण हो इस दृष्टि से उसे शरीर को रोग और अशुद्धियों से पूर्ण समझना चाहिये तथा जन्म से मृत्यु तक के दुःखों की और अनवरत जन्म तथा मृत्यु की चिन्ता करते हुए संसार की क्षणभंगुरता का ध्यान करना चाहिये।

ऐसे अनासक्त तथा ब्रह्मज्ञानी व्यक्ति को सर्वसाधारण गृहस्थों आदि के समान धर्मकृत्य करने की आवश्यकता नहीं, अतः उसे अग्नि-परिचर्या नहीं करनी चाहिये। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि संन्यासी नियमों से परे है। ऊपर जो नियम दिये गये हैं उनसे यही सिद्ध होता है कि संन्यासी भी नियमों से वाह्य नहीं है। जब भारतीय समाजशास्त्रियों ने सामाजिक नियम बनाये तो उन्होंने यह निर्धारित किया कि व्यक्ति कितना भी श्रेष्ठ क्यों न हो नियमों का बन्धन शेष न रहने पर उसके पतन की सम्भावना शेष रहती ही है। वेदान्तसूत्र का भी यही कथन है कि ब्रह्मज्ञानी को भी इन्द्रियों पर संयम तथा मन में शान्ति रखनी चाहिये और उसे न तो मनमाना व्यवहार करना चाहिये और न नैतिक नियमों का उल्लङ्घन करना चाहिये। फिर भी क्योंकि ऐसा व्यक्ति निरासक्त है और उसमें स्वार्थ का अभाव है, इस कारण यही आशा करनी चाहिये कि यदि वह बाहर से कोई ऐसा काम करे जो समझ में न भी आये तो भी यही मानना उचित है कि उसने जन-कल्याण की दृष्टि से ही किया होगा। केवल इसी दृष्टि से कहा गया है कि जिसने ब्रह्म को जान लिया वह पापकर्मों से लिप्त नहीं।[७०] इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि नियमों का पालन करना न करना संन्यासी की इच्छा पर निर्भर है।

छठा अध्याय

स्त्री और विवाह

स्त्रियों का स्थान और कर्तव्य

समाज के विभिन्न वर्गों (वर्णों) तथा जीवन के चारों भागों में से प्रत्येक भाग का जीवन व्यतीत करनेवाले व्यक्तियों (आश्रमवासियों) की व्यवस्था करने के पश्चात् भी समाज का आधा अङ्ग (अपनी विशेष शरीर-रचना और जीवनक्रम के कारण) शेष रहता है। उस अङ्ग की अर्थात् स्त्रियों के जीवन की योग्य व्यवस्था भी आवश्यक है। यह व्यवस्था भारतीय समाजशास्त्रियों ने अपने मूलभूत सिद्धान्तों के अनुसार की है। अतः भारतीय समाज-जीवन में और भारतीय विचार में स्त्रियों को समाज में जो स्थान और कार्य दिया गया है, वह इस प्रकार का है जो उनके स्वभाव के अनुकूल हो। भारतीय व्यवस्थापकों ने स्त्रियों की दुर्बलता एवं सबलता दोनों का विचार किया और तदनुसार उन्हें समाज में स्थान और कार्य दिया गया। उन्होंने न तो स्त्रियों को अनावश्यक महत्त्व दिया और न स्त्रियों को हीन ही रखा। धर्मशास्त्रों में स्त्रियों की यद्यपि निन्दा भी की गयी है (जिसके कारणों का आगे उल्लेख है) परन्तु उनके महत्व का वर्णन भी किया गया है। स्त्री को वैदिक यज्ञ का अधिकार नहीं है परन्तु बिना स्त्री के यज्ञ पूरा भी नहीं हो सकता। भगवान् रामचन्द्र को भी यज्ञ करने के लिये सीता की सोने की प्रतिमा का निर्माण करना पड़ा था।[1] स्त्रियों को परतन्त्र ही रखने का आदेश है परन्तु स्त्रियों की रक्षा का भी प्रबल आग्रह है। स्त्रियों को गृहकार्य ही बताया गया है परन्तु साथ-साथ में पुरुष के लिये भी यह अनिवार्य है कि वह स्त्री का पोषण करे और यह भी आग्रह है कि वह स्त्री का तब तक त्याग न करे जब तक स्त्री घोर पाप में ही लिप्त न हो। स्त्रियों को कुछ विशेष प्रकार के धनों के ऊपर अधिकार नहीं है परन्तु कुछ विशेष प्रकार का धन स्त्री-धन कहा गया है और उसके

ऊपर एकमात्र अधिकार स्त्री का ही है। स्त्रियाँ पुरुषों के ऊपर आश्रित रखी गयी हैं परन्तु पुरुष भी स्त्रियों पर आश्रित हैं और इस कारण पुनर्विवाह पुरुषों के लिये आवश्यक है क्योंकि स्त्री के बिना धर्मकृत्यपूर्ण हो ही नहीं सकते। स्त्रियों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है परन्तु स्त्रियाँ ब्रह्मज्ञान से वर्जित नहीं हैं और धर्मज्ञान के लिये स्त्रियों को इतिहास-पुराण ग्रन्थों पर अधिकार है। स्त्रियों को इष्टधर्म (यज्ञ) का अधिकार नहीं परन्तु पूर्तधर्म (दान आदि) का अधिकार है।

स्त्रियों का स्थान और उनका कार्य स्त्रियों के स्वाभाविक गुणों और उनकी दुर्वलताओं के आधार पर निर्माण किये गये हैं। यह तो मानी हुई बात है कि स्त्री शारीरिक दृष्टि से दुर्बल होती है और यह दुर्बलता कुछ विशेष अवस्थाओं में (मासिक धर्म और सन्तानोत्पादन के पूर्व और पश्चात्) विशेष रूप से प्रकट होती है। मानसिक दृष्टि से भी स्त्रियों की सीमाएँ होती हैं। वह अधिक विशाल दृष्टि से सोचने में असमर्थ रहती है अर्थात् उनका मष्तिष्क इतना विकसित नहीं होता जितना पुरुषों का। इसके विपरीत स्त्रियों में गुण भी बहुत हैं। स्त्रियाँ स्वाभाविक रीति से लज्जाशील होती हैं, स्नेहशील होती हैं, त्यागवती होती हैं, कष्टसहिष्णु होती हैं और जिनके प्रति उनके मन में स्नेह है उसके प्रति वे जितनी अधिक मात्रा में सर्वस्वार्पण करने में समर्थ रहती हैं उतनी मात्रा में पुरुष का किसी अन्य व्यक्ति के लिये समर्पण करना कठिन है। इस प्रकार एक ओर तो सङ्कुचितता है और दूसरी ओर सर्वस्वार्पण की वृत्ति है और इन दोनों के समन्वय की दृष्टि से स्त्री को प्रमुख रीति से भारतीय जीवन में गृहिणी और माता के रूप में देखा जाता है। इस प्रकार स्त्री का एक क्षेत्र निर्माण कर दिया गया है जो उसके मानसिक और शारीरिक गुणों को ध्यान में रखते हुए उसके लिये उपयुक्त है और जिस क्षेत्र में वह सर्वस्वार्पण करती हुई प्रगति कर सकती है। अधिकारभेद का सिद्धान्त मानने के कारण स्त्री और पुरुषों को भारतीय जीवन में बिल्कुल एक-सा स्थान और एक-सा कार्य नहीं दिया गया अपितु स्त्रियों और पुरुषों की स्वाभाविक भिन्नता भारतीय जीवन में स्वीकार की गयी है। स्त्री के स्वभाव को संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्त्री यज्ञमय नहीं (सामाजिक लोकसंग्राहक कार्यों के उपयुक्त नहीं) तपोमय है और इसलिए स्त्रियों को वाह्य समाज-जीवन का कार्य न दे कर एक परिवार के जीवन में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाते हुए वहाँ अपना पूर्ण समर्पण करने का काम दिया गया है। इस प्रकार स्त्री के त्यागपूर्ण गुणों की उपेक्षा नहीं, उसको तो स्थान दिया गया है और उसका उपयोग स्त्री के आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से हुआ है। परन्तु यह माना गया है कि यह त्यागमय वृत्ति, अपवाद छोड़ कर, विस्तृत समाज-

जीवन के लिए होना कठिन है। स्त्री के जीवन का क्षेत्र ही स्त्री के स्वाभाविक गुणों पर आधारित हो ऐसी बात नहीं है अपितु स्त्री-जीवन की अन्य मर्यादाएँ और सुविधाएँ भी इसी आधार पर निर्माण की गयी हैं। स्त्री के तपोमय होने के कारण, उसके काम-भावना की कमी के कारण तथा उसमें एक सीमित क्षेत्र में परिपूर्ण त्याग और समर्पण की वृत्ति होने के कारण स्त्री के लिये पातिव्रत्य का तथा पति की मृत्यु के पश्चात् विधवावृत्ति का बड़ा प्रबल आग्रह किया गया है तथा उसके आध्यात्मिक विकास का भी यही सर्वश्रेष्ठ मार्ग समझ कर उसके लिये यही प्रमुख धर्म बतलाया गया है। भारतीय जीवन में स्त्रियों के व्यावहारिक आदर्शों को देखते हुये स्त्रियों के लिए यह बात सम्भव भी प्रतीत होती है। परन्तु पुरुष में, स्त्री की तुलना में, काम-वासना की प्रबलता होने के कारण, उसका कार्यक्षेत्र भिन्न होने के कारण (जिसमें उसे सदैव जीवन की दैनिक व्यवस्था की ओर से निश्चित रहने की अतः दैनिक गृहकार्य के लिये स्थायी सहायक की आवश्यकता होती है), उसके विस्तृत सामाजिक कार्यक्षेत्र में जा कर वहाँ काम करने की मानसिक क्षमता तथा वहाँ का सङ्घर्ष सहन करने की शारीरिक पात्रता होने के कारण, पुरुष को गृहकार्य का क्षेत्र तो दिया ही नहीं गया है परन्तु पुरुष के लिये विधुर-व्रत का भी कोई आग्रह नहीं है। एक और भी बात है। स्त्रियों की शुद्धता भावी सन्तति की शुद्धता के लिए तथा वर्णसङ्करता रोकने के लिए भी आवश्यक है। पातिव्रत्य का, विधवा-व्रत का, स्त्रियों के बाल-विवाह का तथा स्त्रियों की परतन्त्रता का (जिससे उनकी शुद्धता की रक्षा की जा सके) आग्रह इस कारण भी है। फिर साधारण पुरुषों की तुलना में सर्वसाधारण स्त्रियों का संयम में रहना भी अधिक सरल है और यदि समाज के अन्दर साधारणतया स्त्रियों को संयमित रखा जा सका तो पुरुषों का भी मर्यादा रखना और संयमित रहना अधिक सरल और स्वाभाविक हो जायेगा। स्त्रियों की परतन्त्रता का नियम उनकी शारीरिक दुर्बलता को भी ध्यान में रख कर बनाया गया है। स्त्री शारीरिक दृष्टि से दुर्बल है तथा पुरुष के आधीन रह कर ही वह सुरक्षित रह सकती है और यदि पुरुषों को उनकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व नहीं दिया तो स्त्रियों की सुरक्षा का अन्य कोई मार्ग नहीं है। स्त्रियों पर इतनी मर्यादाएँ लगाने के साथ-साथ उन्हें सुविधाएँ भी हैं। स्त्रियों को जीवन के बाह्य सङ्घर्ष में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है, उन्हें अपने पोषण की भी चिन्ता नहीं करनी है तथा उनके पोषण का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व पुरुषों पर है। साध्वी-स्त्री का त्याग न करने का आग्रह तो है ही परन्तु दूषित स्त्रियों को असहाय अवस्था में छोड़ना भी वर्जित है। ज्ञान की दृष्टि से वेदों के अर्थ

प्रच्छन्न होने के कारण और उसको समझने के लिये परिष्कृत मस्तिष्क की आवश्यकता होने के कारण वेदाध्ययन स्त्रियों को वर्जित है परन्तु उन्हें इतिहास-पुराण के द्वारा धर्मज्ञान तथा ब्रह्म-प्राप्ति का अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने का भी अधिकार।

स्त्रियों के सम्मान का धर्मशास्त्रों ने सर्वत्र आग्रह किया है। महाभारत में कहा है,[२] "जहाँ स्त्रियों का आदर होता है वहाँ देताओं का वास होता है और जहाँ स्त्रियों का अनादर होता है वहाँ कोई कृत्य (धर्मकृत्य भी) नहीं होता है। स्त्रियों को दुःख देने से कुल का नाश हो जाता है। स्त्रियाँ दुःख पा कर जिनके घरों को कोसती है, वे उजड़ जाते हैं।" मनुस्मृति में कहा है,[३] "बहुत कल्याण चाहनेवाले, पिता, भाइयों, पति तथा देवरों को स्त्रियों का आदर करना चाहिये और उन्हें आभूषित करना चाहिये। जहाँ नारियों की पूजा (आदर) नहीं होती वहाँ की सब क्रिया (धर्मकर्म) निष्फल होती हैं। जहाँ स्त्रियाँ शोक करती हैं वह कुल तुरन्त नष्ट हो जाता है और जहाँ वह शोक नहीं करती (प्रसन्न रहती हैं) वह कुल सदा वृद्धिङ्गत होते हैं। जिन घरों में अपमानित होने के कारण स्त्रियाँ उन्हें श्राप देती हैं वह मानों आहत किये हुए, सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं। इसलिए कल्याण चाहनेवाले पुरुषों को चाहिये कि इनकी (स्त्रियों की) उत्सवों में और सत्कार में सदैव भूषण, वस्त्र, भोजन से पूजा करें। जिस कुल में स्त्री से पति और पति से स्त्री सदैव प्रसन्न रहती हैं वहाँ निश्चित कल्याण होता है।" उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट ही है कि भारतीय जीवन में स्त्रियों को पददलित, असम्मानित, पीड़ित तथा निम्न स्थान पर रखने की भावना नहीं थी। पीछे बताया ही गया है कि परमात्मा एक था, परन्तु उनको फिर दो होने की इच्छा हुई और वह आधे शरीर से पुरुष और आधे से स्त्री हो गया और दो हो कर सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की। इसका अर्थ यह है कि बिना स्त्री के परमात्मा ने अपने को पूर्ण अनुभव नहीं किया। स्त्री पुरुष का आधा अङ्ग भी मानी गयी है।[४] प्रकृति को परमात्मा का ही स्वरूप मान कर और प्रकृति की विभिन्न माताओं (पार्वती, लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा आदि) के रूप में पूजा कर भारतीय जीवन में स्त्रियों का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है।[५] स्त्रियों की स्तुति उषा देवता के रूप में की गयी है और माता की उपासना अदिति देवता के रूप है।

स्त्रियों की जो भी निन्दा धर्मशास्त्रों में मिलती है वह स्त्रियों की निन्दा करने के लिये अथवा उनकी हीनता प्रदर्शित करने के लिये नहीं है। एक प्रकार की निन्दा तो यह प्रदर्शित करने के लिये है कि स्त्रियों की रक्षा बहुत आवश्यक होती है क्योंकि यदि स्त्रियों की रक्षा न हुई और यदि उनका पतन हो जाये तो, जैसा पीछे बताया गया है, समाज-जीवन की वृद्धिङ्गत भ्रष्टता रोकना सम्भव न होगा।

अनुशासनवर्ग में[६] कहा है, "महात्मा मनु ने देवलोक जाते समय पुरुषों के साथ में स्त्रियों को सौंप कर कहा, स्त्रियाँ सत्यपरायण और प्रियकारिणी होती हैं। बहुत-सी स्त्रियाँ ईर्ष्यालु, मान चाहनेवाली, प्रचण्ड स्वभाव की, विचारहीन और अप्रिय करनेवाली होती हैं। थोड़ा-सा उद्योग करके उन्हें धर्मभ्रष्ट किया जा सकता है। अतएव तुम लोग यत्न से उनकी रक्षा करना।" महाभारत में देवशर्मा नामक एक ऋषि की एक कथा भी बतलायी गयी है[७] जिसकी स्त्री रुचि के सौन्दर्य से प्रभावित हो इन्द्र उसे डिगाने की भावना से आये। रुचि की भी इच्छा हुई कि वह इन्द्र का स्वागत करे परन्तु देवशर्मा के शिष्य विपुल की सतर्कता के कारण वह वैसा न कर सकी और उसे इन्द्र का तिरस्कार करना पड़ा। अतः इस प्रकार की स्त्रियों की जो निन्दा है वह इसी भावना से प्रेरित है कि यदि सावधानी न बरती जाय तो स्त्री अपने स्निग्ध और मधुर स्वभाव के कारण, अपनी दुर्बलता के कारण और सरलता अर्थात् दूरदर्शिता के अभाव के कारण दूसरों के वश में सरलता से आ सकती हैं और इसके कारण स्त्रियों का पतन तो होता ही है, साथ ही समाज-जीवन के भी दूषित होने की सम्भावना रहती है।[८] इन्हीं आधारों पर स्त्रियों की परतन्त्रता का धर्मशास्त्रों ने आग्रह किया है।[९] याज्ञवल्क्यस्मृति में स्त्रियों की परतन्त्रता का स्पष्ट कारण देते हुए कहा है, "बाल्यकाल में पिता कन्या की रक्षा करे और बढ़ने पर पति तथा पुत्र करे। इनके अभाव में जाति-बान्धव रक्षा करें। स्त्रियों को स्वातन्त्र्य कभी नहीं कहा है। यदि स्त्री बिना पति के हो तो पिता, पुत्र, भ्राता, सास, ससुर अथवा माता उसकी देखभाल करे अन्यथा स्त्री पतित होती है।"[१०] मनु ने भी ऐसा ही कहा है।[११] स्त्री की परतन्त्रता के उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त उनकी शारीरिक दुर्बलता भी एक कारण है। इसी प्रकार स्त्रियों को संसार-जीवन के सङ्घर्षों से बचाने का प्रयत्न किया गया है। स्त्रियों की दूसरी निन्दा इस प्रकार की है कि स्त्रियाँ पुरुष को वश में कर लेती हैं। वे अपने हाव-भाव से पुरुषों को मोहित करती हैं और पुरुष उनके वश में या मूढ़ हो किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। इस प्रकार की निन्दा पुरुषों को स्त्रियों के कामोपभोग से दूर करने के लिये है। स्कन्दपुराण में स्त्री को कुम्भीपाक नरक के समान बता कर उसकी योनि की तुलना अग्निकुण्ड से, नेत्र की तुलना रस्सी से (जो पकड़ कर मनुष्य को घसीटते हैं), स्तनों की तुलना दण्ड से (जिनके द्वारा व्यक्ति ताड़ित किया जाता है) की है और फिर कहा है कि स्त्री सभी प्रकार के सम्मोहन से बनी हुई है और इसके द्वारा व्यक्ति नरक में गिरता है। तभी तक मन का धैर्य, सत्य, ज्ञान, अनाकुलता है जब तक व्यक्ति स्त्री के फाँस में नहीं पड़ता और तभी तक माता, पिता, भ्राता और मित्र हैं, तभी तक व्यक्ति में लज्जा, भय,

आचार का पालन रहता है।[१२] इसमें स्त्रियों की निन्दा करने की भावना नहीं पुरुष की दुर्बलता की निन्दा का तथा उन्हें स्त्रीलिप्सा से बचाने का भाव है। जैमिनी के भाव को स्पष्ट करते हुए शबर कहता है, "निन्द्य की निन्दा में निन्दा करने का हेतु नही है जो निन्दित है। उससे इतर (धर्म) की प्रशंसा का भाव है जिससे जो निन्दित है उसका प्रतिषेध हो कर इतर का पालन हो।"[१३]

स्त्रियों के जीवन की व्यवस्था का विचार उनकी शिक्षा से प्रारम्भ करना उचित होगा। भारतीय जीवन-प्रणाली में यद्यपि स्त्रियों की उन्नति का मार्ग भिन्न रखा गया है परन्तु उनकी शिक्षा की भी पूर्ण व्यवस्था की गयी है। सर्वप्रथम तो स्त्री को उनके वैवाहिक जीवन की, दृष्टि से, आवश्यक शिक्षा का उल्लेख है। वात्स्यायन के कामसूत्र में कहा है कि कन्या ६४ कलाओं का अभ्यास करे[१४] और फिर आगे इन ६४ कलाओं को गिनाया गया है जिन कलाओं की सूची पर अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि स्त्रियों के द्वारा वेदाध्ययन न होने पर भी उनको विविध विषयों का ज्ञान रहा होगा। इस सूची से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा-सम्बन्धी, गृहकार्य-सम्बन्धी, शारीरिक तथा क्रीड़ा-सम्बन्धी सभी ज्ञान इस सूची के अन्तर्गत आता है। फिर बृहदारण्यकोपनिषद् में[१५] 'पण्डिता' शब्द का प्रयोग, पाणिनि में[१६] 'उपाध्याया' और 'आचार्या' शब्द का शिक्षक के अर्थ में प्रयोग, आश्वलायन गृह्यसूत्र के ऋषितर्पण में तीन महिला ऋषियों में नाम[१७]। (गार्गी, मैत्रेयी, प्रातिथेयी) और इसी गृह्यसूत्र में समावर्तन संस्कार के अन्तर्गत स्त्रियों का उल्लेख यही सिद्ध करता है कि स्त्रियों को वेदाध्ययन के अतिरिक्त अन्य प्रकार की शिक्षा की अनुमति है। सबसे अन्त में, यद्यपि स्त्रियों को वेदाध्ययन वर्जित है परन्तु स्त्रियों के लिये वेदमन्त्रों के उच्चारण के सम्बन्ध में इतना प्रतिबन्ध नहीं है जितना शूद्रों के लिए है। स्त्रियों का विवाह-संस्कार तो मन्त्रों के साथ होता ही है[१८] परन्तु इसके साथ-साथ विवाह में स्त्रियों को कुछ मन्त्रों का पुनरुच्चारण करना पड़ता है[१९] और यज्ञों में भी।[२०] रामायण में भी कौशल्या तथा तारा के वेदमन्त्र-जप का उल्लेख है।[२१]

यद्यपि स्त्रियों को वेदाध्ययन वर्जित है पर इसका यह अर्थ नहीं कि स्त्रियों को धर्मज्ञान और मोक्षज्ञान (ब्रह्मज्ञान) वर्जित है। यह बताया ही गया है कि स्त्रियों को धर्म का ज्ञान हो, इसके लिए इतिहास-पुराण ग्रन्थों की रचना हुई है और इनके अन्दर कथाओं के माध्यम से तथा अन्य सुलभ रीति से धर्मज्ञान दिया गया है तथा इनमें उन्हीं बातों पर विशेष आग्रह है जो स्त्रियों और शूद्रों के लिए विशेष रूप से कार्यपालन के लिए बतायी हैं, यथा पातिव्रत्य, ब्राह्मण-सेवा, तीर्थयात्रा, देवपूजा, पूर्तधर्म (दानादि)। मोक्ष-ज्ञान का तो भारतीय

विचार में प्रत्येक अधिकारी है ही यद्यपि इस मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग प्रत्येक के लिए पृथक्-पृथक् बताया गया है और कहा गया है कि स्वधर्मपालन से ही मोक्ष मिलता है। यद्यपि साधारण रीति से यह आशा अवश्य है कि व्यक्ति धीरे-धीरे विभिन्न जन्मों में प्रगति करता हुआ मोक्ष के मार्ग पर अन्त तक पहुँचेगा परन्तु व्यक्ति को किसी भी अवस्था और स्थिति में मोक्ष का ज्ञान सम्भव माना गया है। इसलिए मोक्ष का ज्ञान किसी को वर्जित नहीं है। इतिहास-पुराण ग्रन्थों में धर्मव्याध की तथा पतिव्रता स्त्री की कथा है जिन्हें तपस्वी संन्यासी से अधिक ब्रह्मज्ञान था तथा मैत्रेयी की याज्ञवल्क्य से ब्रह्मज्ञान की प्रार्थना भी यही परिलक्षित करनेवाली है कि स्त्रियों को ब्रह्मज्ञान वर्जित नहीं था, यद्यपि यह ब्रह्मज्ञान भी मैत्रेयी को इसलिए दिया गया है कि वह ब्रह्मवादिनी थी अर्थात् उस ज्ञान की योग्य पात्र थी।[२२] परन्तु याज्ञवल्क्य की दूसरी पत्नी कात्यायनी साधारण स्त्रियों के समान होने के कारण गृह-कार्य में ही रत रहती है और इसलिए उसे ब्रह्मज्ञान देने का कोई उल्लेख नहीं है। स्त्रियों के संन्यासिनी होने का जो वर्णन मिलता है,[२३] वह भी सिद्ध करता है कि उन्हें ब्रह्मज्ञान का अधिकार है। महाभारत में सुलभा नामक एक संन्यासिनी की कथा है जो राजा जनक की सभा में उनके ब्रह्मज्ञान की परीक्षा लेने गयी थी[२४] और जिसने राजा जनक के सामने गहन ब्रह्मज्ञान का वर्णन किया था। इस सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्रियों को ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति का पूर्ण अधिकार था।

परन्तु फिर भी स्त्रियों की ज्ञान-प्राप्ति अथवा आध्यात्मिक उन्नति का श्रेष्ठ मार्ग विवाह को ही मान कर विवाह को ही स्त्रियों का उपनयन कहा गया है। उपनयन-संस्कार का वर्णन करते हुए मनु कहते है,[२५] "स्त्रियों के लिये वैवाहिक विधि को ही वैदिक संस्कार (उपनयन) स्मृतियों में कहा है, पति-सेवा ही गुरुगृह में वास है तथा गृह का कार्य ही अग्नि-परिचर्या है।" क्योंकि भारतीय विचारकों ने आध्यात्मिक उन्नति को महत्त्व दे कर मानसिक अथवा बौद्धिक ज्ञान से आध्यात्मिक विकास को श्रेष्ठ माना है, अतः उनको ऐसा लगा कि यदि स्त्री ने केवल साधारण शिक्षामात्र ही प्राप्त की तो भी इससे यह निश्चित नहीं कि स्त्री की आध्यात्मिक उन्नति हो ही सकेगी। परन्तु यदि स्त्री अपने स्वभाव के अनुकूल किसी के लिए सर्वस्वार्पण कर सके तो वही उसकी उन्नति का एकमात्र साधन है। भारतीय विचारकों ने विवाह को ही स्त्री का उपनयन इस विचार से बताया कि स्त्री के पति-सेवा के माध्यम से ब्रह्म तक जाने का (ब्रह्मचर्य का) यही मार्ग है। इसी कारण उन्होंने स्त्री के लिये विवाह अनिवार्य बताया है। महाभारत में[२६] कुणि मुनि की एक कन्या का वर्णन है

जो तप करते-करते वृद्ध हो गयी और जब वह मरने लगी तो नारद मुनि ने कहा, "हे कुमारी ! जिसका विवाह-संस्कार नहीं हुआ वह कुमारी स्त्री किसी श्रेष्ठ लोक को नहीं पा सकती।" तब गालव के पुत्र शृङ्गवान ऋषि ने उससे विवाह किया और फिर वह स्वर्गलोक गयी। विवाह की इस अनिवार्यता के कारण ही शास्त्रों में जितने भी स्त्री-सम्बन्धी नियम हैं, वे अधिकांशतः पत्नी के ही नियम हैं जिसका अर्थ यही है कि स्त्री का प्रमुख अथवा महत्त्वपूर्ण जीवन विवाह से प्रारम्भ होता है।

क्योंकि स्त्रियों का विवाह अनिवार्य है इसलिए स्त्री को भार्या अर्थात् पत्नी के रूप में ही प्रमुख स्थान है। पत्नी का भारतीय धर्मशास्त्र में बहुत महत्त्व बताया गया है। ऋग्वेद में कहा है[२७] कि पत्नी ही घर है। महाभारत में[२८] विस्तार के साथ कहा है, "गृहस्थ का घर पुत्र, पौत्र, वधू और नौकर-चाकरों के होने पर भी भार्या के बिना खाली हो जाता है। घर को घर नहीं कहा जाता, गृहिणी को ही लोग घर कहते हैं। गृहिणी से हीन घर अरण्य के समान है।...जिसकी पत्नी पेड़ के नीचे हो वही उसके लिए घर है तथा उसके बिना महल भी निश्चित ही वन है।" इसके अतिरिक्त पत्नी को पुरुष की अर्धाङ्गिनी माना गया है तथा बिना पत्नी के पुरुष आधा रहता है। अतः स्वाभाविक ही है कि पत्नी के बिना धर्मकृत्य पूर्ण नहीं होता।[२९] काठकसंहिता का यह कहना है तथा तैत्तिरीयब्राह्मण में भी यही कहा गया है कि[३०] यज्ञ के दिन जिसकी पत्नी अनुपलब्ध होती है उसका आधा यज्ञ नष्ट हो जाता है। यज्ञ के अतिरिक्त अन्य धर्मकृत्यों के विषय में मनु का कहना है,[३१] "गर्भ धारण करने के लिए स्त्रियों की और सन्तान उत्पन्न करने के लिए पुरुषों की सृष्टि की गयी है। इस कारण वेद में कहा है कि साधारण धर्म पत्नी के सहित करने चाहिए।"

इस प्रकार पत्नी के बिना पुरुष को धर्मकृत्य करना सम्भव नहीं और पुरुष द्वारा किये धर्मकृत्य का आधा भाग स्त्रियों को मिलता है परन्तु स्त्री के लिए पृथक् कोई धर्म नहीं है। उनका धर्म एकमात्र पति-सेवा ही है। अत्रिस्मृति में स्त्रियों के लिए जप, तप, तीर्थयात्रा, मन्त्र-सिद्धि, संन्यास और देवपूजा तथा व्रतों को मना करने के पश्चात् कहा है कि[३२] "यदि स्त्री को तीर्थस्नान की इच्छा हो तो वह पति के चरणों को धो कर पिये।" शङ्खस्मृति का कथन है, "व्रत, उपवास तथा नाना प्रकार के धर्म से नहीं परन्तु पति-सेवा से स्त्री स्वर्ग प्राप्त करती है।"[३३] पति-सेवा के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों में जो वर्णन है और आग्रह है वह इतने विस्तार से है और इतना सर्वज्ञात है कि उसके यहाँ वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं। सीता (जिसने दूसरे व्यक्ति के आधीन रहने पर तथा वन में निर्वासित कर दिये जाने पर भी पति के प्रतिकूल

मन में विचार नहीं धारण किया), सावित्री (जिसने पति को मृत्यु से बचाया), अनसूया, अरुन्धती, लोपामुद्रा (जिन्होंने क्रमशः अत्रि, वसिष्ठ और अगस्त्य की पत्नी के रूप में उनके तपोमय जीवन में सदैव साथ दिया), गान्धारी (जो पति के अन्धे होने पर स्वयं भी आँखों में पट्टी बाँधे रही) तथा अन्य बहुत-सी ऐसी स्त्रियों के उदाहरण इतिहास-पुराण ग्रन्थों में पातिव्रत्य की महत्ता बताने के लिए दिये गये हैं। सम्पूर्ण समाज के लिए नहीं अपितु जिसके प्रति प्रेम है उसी के लिए समर्पण की पात्रता स्त्री में होने के कारण पति को परमेश्वर समझ कर उसमें लीन हो कर परब्रह्म में ही स्त्री लीन होती है, यह धर्मशास्त्रों का मत है और इस कारण यह उनके मोक्ष-प्राप्ति अथवा स्वर्ग-प्राप्ति का साधन है।

पातिव्रत्य का केवल इतना ही वर्णन नहीं है कि स्त्री पति के साथ मधुर व्यवहार करे, उसकी सेवा करे तथा उसके अतिरिक्त अन्य किसी का मन में भी विचार न करे। इससे भी आगे बढ़ कर यह माना गया है कि विवाहित अवस्था में पति की मृत्यु हो जाने पर सबसे श्रेष्ठ तो यह है कि स्त्री पति के साथ लीन हो जाये। पराशरस्मृति में[३४] लिखा है, "पति की मृत्यु होने पर जो नारी ब्रह्मचर्य में स्थिर रहती है (विधवा होने पर विवाह नहीं करती) वह (नैष्ठिक) ब्रह्मचारियों के समान स्वर्ग प्राप्त करती है। जो स्त्री पति के सङ्ग अनुगमन करती है (सती होती है) वह मनुष्य के साढ़े तीन करोड़ लोम के समान उतने ही वर्ष तक स्वर्ग में निवास करती है।" गरुड़पुराण में सती की महिमा दी हुई है कि [३५] "नारी यदि पति के साथ शरीर का दहन करती है तो अग्नि उसके शरीर को जलाता है और उसकी आत्मा को पीड़ा नहीं देता। जिस प्रकार अग्नि में धौंकी हुई धातुओं का मल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार नारी अमृत-समान अग्नि में अपने पाप नष्ट करती हैं। जिस प्रकार सत्यवान, धर्मशील और शुद्ध व्यक्ति दिव्य प्रमाणों में तपे हुए लोहे के पिण्ड से भी नहीं जलता है, उसी प्रकार यह पति के साथ जलती नहीं है अपितु उसकी आत्मा पति (पुरुष-रूप में ब्रह्म) के साथ एकत्व प्राप्त करती है।" भारतीय धर्मशास्त्रों में यद्यपि आत्महत्या की बहुत निन्दा की गयी है क्योंकि यह परमात्मा के बनाये गये जीवन के विरुद्ध पाप है,[३६] परन्तु फिर भी धर्मकार्य के रूप में आत्महत्या की अनुमति है। महापातकों (ब्रह्महत्या, गुरुपत्नीगमन, मदिरापान, चोरी और इन पापों को करनेवालों से सहवास) के प्रायश्चित्त में जो विविध प्रकार के नियम हैं उनका पालन करने पर मनुष्य की मृत्यु निश्चित है अर्थात् उनमें प्रायश्चित्तस्वरूप एक प्रकार से आत्महत्या ही होती है। तीर्थस्थानों पर भी (जैसे प्रयाग, सरस्वती, काशी आदि) आत्महत्या बतायी गयी है।[३७] धर्म-भावना से प्रेरित हो कर आत्महत्या का अर्थ है परमात्मा में अपने को लीन करने की

भावना से अपना समर्पण। क्षत्रिय को भी रण में लड़ते-लड़ते मर जाना इसीलिए श्रेष्ठ है।[३९] इसी प्रकार सती का भी अपने पति के साथ अपने शरीर का दहन स्वयं को लीन करने की भावना से प्ररित है और इस कारण साधारण आत्महत्या के अन्तर्गत नहीं माना गया है। सती होने के पीछे यह भाव है कि स्त्री सांसारिक जीवन से ऊपर उठ कर अपने धर्म के लिए समर्पण करने को प्रस्तुत होती है। परन्तु धर्मशास्त्रों का स्त्री से ही आग्रह है कि वह पति के साथ शरीर-दाह करे, अर्थात् यद्यपि सती-प्रथा को श्रेष्ठ माना है परन्तु सती होना स्त्री की स्वेच्छा पर निर्भर है। स्त्री को बलपूर्वक पति के साथ जलने को बाध्य करना नहीं कहा गया है क्योंकि यदि व्यक्ति धार्मिक भावना से शरीर-त्याग करता है तो वह भावना स्वयंस्फूर्ति से उत्पन्न होनी चाहिए, बलपूर्वक नहीं। वैसा ही धर्म-कार्य व्यक्ति की उन्नति करनेवाला भी है। परन्तु दूसरे व्यक्ति द्वारा बलपूर्वक कराया गया शरीर त्याग किसी को लाभदायक नहीं हो सकता। परन्तु यह धर्शशास्त्रों ने प्रच्छन्न रूप से स्वीकार किया है कि जिस प्रकार धर्मभावना से शरीर का त्याग करनेवाले बिरले ही होंगे, इसी प्रकार स्त्रियों में भी बिरली ही अपने शरीर को जलानेवाली होंगी (जैसे महाभारत में माद्री का तथा वसुदेव और श्रीकृष्ण की कुछ पत्नियों का सहमरण [३९])। अतः धर्मशास्त्रों ने दूसरे अवलम्बन के रूप में, प्रमुख रीति से विधवा के पुनर्विवाह का निषेध किया है। इस कारण विधवा-विवाह न करने के नियम ही धर्मशास्त्रों में अधिक प्रमुखता के साथ बताये गये हैं। ऊपर पराशरस्मृति के उद्धरण से भी यही सिद्ध होता है। उक्त स्मृति में सबसे प्रथम तो विधवा-विवाह का निषेध सर्वसाधारण नियम के रूप में बताया है और फिर कहा है कि इससे भी अच्छा तो यह है कि पति के मरने पर पत्नी सती हो जाये।[४०]

स्त्री की पात्रता के अनुकूल उन्हें गृहकार्य भी बताया गया है जिसके अन्तर्गत घर का आय-व्यय देखना भी सम्मिलित है। मनु का कहना है,[४१] "स्त्री को सदा प्रसन्नचित्त, घर के कामों में कुशल, घर के वर्तनों आदि को पूर्ण स्वच्छ रखनेवाली तथा सोच-समझकर व्यय करनेवाली होना चाहिये", तथा आगे पुरुषों को आदेश दिया गया है कि वे स्त्रियों को "धन की देखभाल में, उसके व्यय में, घर की शुद्धि में, धर्मकार्यों में, भोजन की व्यवस्था में तथा घर में वस्तुओं की देखभाल में लगायें।"[४२] इसका अर्थ यह है कि घर की समस्त सम्पत्ति स्त्रियों के ही हाथ में रखने का विधान था। विष्णुधर्मसूत्र में कहा गया है,[४३] "अब पत्नियों के कर्तव्य बताये जाते हैं। उन्हें वही व्रत करना चाहिए जो उनके पति करते हैं। उन्हें सास-स्वसुर, अन्य गुरुजन, देवता तथा अतिथियों का सम्मान

करना चाहिए तथा घर को सुव्यवस्थित रखना चाहिए, उन्हें अपव्ययी नहीं होना चाहिए, वस्तुओं को सुरक्षित रखना चाहिए, तथा जादू-टोने में रुचि नहीं रखनी चाहिए और पवित्र व्यवहार रहना चाहिए।" वनपर्व में द्रौपदी-सत्यभामा संवाद में स्त्रियों के पति और घर-सम्बन्धी इसी प्रकार के कर्तव्य बहुत विस्तार के साथ बताये गये हैं।[४४]

गृहिणी का दिन-भर का कार्यक्रम विस्तार के साथ व्यासस्मृति में दिया है और वहाँ पर स्त्री के गुण भी वर्णित हैं।[४५] "स्त्री पति के पहले उठ कर और देह-शुद्धि (स्नान) कर शैया आदि को उठा कर और झाड़ू से तथा लीपने से घर की शुद्धता कर अग्नि जला कर चौके आदि को शुद्ध करे तथा गरम जल से बर्तन धो कर उनको यथास्थान रखे और जो जोड़े के बर्तन हैं (अर्थात् एक साथ में काम आनेवाले) उन्हें कभी अलग न रखे। घड़ों को धो कर उसमें जल भर कर रख दे। अन्य बर्तनों को बाहर स्वच्छ कर (अर्थात् धूप में रख कर) चूल्हे को मिट्टी से लीप कर उसमें अग्नि जला दे। पूर्वाह्न का काम कर गुरुजनों का अभिवादन करे और उनमें पति, पिता, भाई, मामा, बान्धवों के दिये वस्त्र, अलङ्कार और रत्न आदि ग्रहण करे। वह मन, वाणी और कर्म से शुद्ध रहे, पति के आदेशों का पालन करनेवाली रहे, (शरीर और मन से) स्वच्छ रहे, (पति के) मित्र के समान कर्म करे तथा आदेश किये हुए कार्यों में भार्या पति की दासीवत् रहे। फिर अन्न बना कर पति को निवेदन करे। वैश्वदेव होने के पश्चात् जिन्हें भोजन करना है उन्हें भोजन कराये, फिर पति को और पति की आज्ञा से स्वयं भोजन करे। भोजन कर शेष समय आय-व्यय का विचार करे। इस प्रकार प्रतिदिन सायं और प्रातः घर की शुद्धि कर और भोजन की व्यवस्था कर साध्वी, पति को प्रेम से भोजन कराये। स्वयं अत्यन्त तृप्ति के साथ भोजन न कर (अधिक न खाये) तथा घर की व्यवस्था कर सुन्दर शैया बिछा कर फिर पति की परिचर्या करे। पति के सो जाने पर उसके समीप उसका ध्यान कर सोये। कभी नग्न प्रमत्त न हो, निष्काम तथा जितेन्द्रिय रहे। न ऊँचे स्वर से बोले, न कठोर बोले, न पति को अप्रिय (लगनेवाली) वाणी बोले। न किसी के साथ विवाद करे, न व्यर्थ की बकवास करे, न अधिक व्यय करे, न धर्म-अर्थ का विरोध करनेवाली हो, प्रमाद (असावधानी अथवा चिन्ताहीनता), उन्माद, रोष, ईर्ष्या, धोखा देना, अधिक मान करना, कठोरता, हिंसा, विद्वेष, अधिक अहङ्कार, धूर्तता, नास्तिकता, झगड़ा, चोरी, घमण्ड, इन सबको साध्वी छोड़ दे। इस प्रकार पति को परम देवता मान कर उसकी परिचर्या करती हुई इस लोक में यश और परलोक में उसकी सायुज्यता प्राप्त करती है।" इस उद्धरण में स्त्री के आवश्यक गुण, गृहिणी के नाते उसके कर्त्तव्य तथा उसका दैनिक कार्यक्रम दिया हुआ है। इससे यह भी

स्पष्ट होता है कि स्त्री के लिए घोर तपपूर्ण जीवन का विधान था जिसमें परिवार के लिए और विशेष रूप से पति के लिए सब कुछ समर्पण कर देने का आदेश था।

क्योंकि स्त्रियों को सम्पूर्ण जीवन किसी-न-किसी पुरुष के अधीन रह कर व्यतीत करना है—बाल्यकाल में पिता के अधीन और यौवन में पति के तथा वृद्धावस्था में पुत्र के अधीन रहना—अतः स्त्रियों के पोषण का उत्तरदायित्व भी पुरुषों पर ही है। यह तो ऊपर के उद्धरणों में बता ही दिया गया है कि स्त्रियों को वस्त्र-आभूषण आदि से सन्तुष्ट रखना है परन्तु इसके साथ-साथ स्त्रियों के पालन का भी आग्रह किया गया है। मनुस्मृति में कहा है[४७] "देवताओं के देने पर पति को पत्नी मिलती है, वह स्वयं इच्छा से उसे नहीं पाता। अतः देवताओं का प्रिय करने के लिए वह उस साध्वी का नित्य पोषण करें।" यह भी कहा है[४८] "कार्यशील व्यक्ति भार्या की जीविका का विधान कर बाहर जाये क्योंकि मर्यादा में स्थित स्त्रियाँ भी जीविका का उपाय न रहने पर दूषित हो जाती हैं। याज्ञवल्क्य का कहना है कि यदि पुरुष दूसरा विवाह कर ले तो पहली स्त्री को भी घर में रख कर वस्त्र-भोजन देना चाहिए नहीं तो बहुत पाप होगा।[४९] पालन तो पुरुष को उस स्त्री का भी करना आवश्यक है जो पतित हो अर्थात् जो महापातकी होने पर भी प्रायश्चित्त न करे, यद्यपि यह अवश्य है कि उसके बहिष्कार के लिए उसे घर से बाहर रखना चाहिए। याज्ञवल्क्य ने पहले बिना प्रायश्चित्त किये हुए महापातकी व्यक्तियों के बहिष्कार की विधि बता कर कि उसे मृत्त के समान मान कर उसका एक दिन तक सूतक मना लेना चाहिए, फिर स्त्रियों के लिए कहा है कि "पतित स्त्रियों के लिए भी यही विधि कही गयी है, परन्तु उन्हें गृह के समीप वास दे कर उन्हें अन्न, निवास आदि का संरक्षण देना चाहिए।"[५०] मनुस्मृति में भी स्त्रियों के लिए उपरोक्त विधि बतायी गयी है।[५१] इसके अतिरिक्त स्त्रियों के सम्बन्ध में एक और विशेष आग्रह यह है कि स्त्रियों का यथासम्भव त्याग नहीं करना चाहिए। साध्वी स्त्रियों के छोड़ने पर पुरुषों को दण्ड देने का नियम मनुस्मृति में[५२] तथा पुरुषों द्वारा त्यक्त स्त्रियों का भरण-पोषण उनके पूर्व अभिभावकों द्वारा कराने का नियम याज्ञवल्क्यस्मृति में बताया गया है।[५३]

सबसे आश्चर्य की बात यह है कि भारतीय समाज-व्यवस्था में दूषित स्त्रियों को भी छोड़ने का विधान नहीं है। यह तो अवश्य है कि स्त्रियों के लिए पातिव्रत्य का आग्रह है परन्तु दूसरी ओर पुरुषों से भी यह आग्रह है कि यदि स्त्रियाँ किसी कारण से दूषित हो जायें तो उनका यथासम्भव त्याग नहीं करना चाहिए। सर्वप्रथम तो यह कहा गया है कि यदि स्त्री से कोई पाप हो जाये

अथवा यदि वह भूल कर बैठे तो वह रजोदर्शन से शुद्ध हो जाती है। याज्ञवल्क्य का कथन है "स्त्रियों को सोम देवता ने शुद्धि दी है, गन्धर्वों ने शुभ वाणी दी है तथा अग्नि ने सब कुछ पचाने की शक्ति (सर्वमेधत्व) दी है। अतः स्त्रियों में सब आ कर शुद्ध हो जाते हैं तथा स्त्री से व्यभिचार हो जाता हो तो वह ऋतुकाल से शुद्ध हो जाती है।"[५४] मनुस्मृति में उसे स्पष्ट किया है कि मन से दूषित नारी रजोदर्शन से शुद्ध होती है अर्थात जो स्त्री फिसल चुकी है वह भी रजोदर्शन से शुद्ध हो जाती है।[५५] दूसरे, जिस स्त्री पर बलात्कार हुआ हो, उसे तो किसी प्रकार त्यागना नहीं बताया गया है। पराशरस्मृति में कहा गया है "जैसी पृथिवी है (अबला, असहाय, और निर्दोष) वैसी ही स्त्री है। इस कारण उसको दोष नहीं देना चाहिए। बन्दी बना कर, पकड़ कर, मार कर, बाँध कर अथवा भय से जो स्त्री भोगी गयी हो, वह सान्तपनकृच्छ से शुद्ध होती है, ऐसा पराशर ने कहा है। जो पापकर्मियों द्वारा, इच्छा न करती हुई नारी भोगी गयी हो वह प्राजापत्य (प्रायश्चित) से तथा ऋतुकाल (मासिक धर्म) से शुद्ध होती है।"[५६] अत्रिस्मृति में तो यह नियम विस्तार के साथ दिये गये हैं[५७] "स्त्रियों को और रोगियों को शौच का विचार नहीं करना है (अर्थात वे सदा शुद्ध हैं), स्त्री जारपने से दूषित नहीं होती तथा ब्राह्मण वैदिक कर्म करने से दूषित नहीं होते (नदी आदि) जल, मूत्र और विष्टा पड़ने से दूषित नहीं होती तथा धर्मकृत्य के लिए जलनेवाली अग्नि दूषित नहीं होती। पहले स्त्रियों को सोम, गन्धर्व और अग्नि ने भोगा है तत्पश्चात मनुष्य उसका भोग करते हैं अतः वह कभी दूषित नहीं होती। यदि असवर्ण गर्भ स्त्रियों की योनि में पड़े तो वह स्त्री तब तक अशुद्ध है जब तक वह गर्भ त्याग न करे (सन्तान हो जाये) और उससे (गर्भ से) विमुक्त होने पर दुःख-निवृत्ति होने के पश्चात जब रजोदर्शन हो जाये तब वह नारी शुद्ध सोने के समान शुद्ध हो जाती है। स्वयं कष्टपूर्ण अवस्था में होने पर अथवा ताड़ित होने पर अथवा बल से अथवा चोरी से जो नारी भोगी गयी है वह दूषित स्त्री त्याग करने के योग्य नहीं है क्योंकि उसकी इच्छा इस कार्य के लिए नहीं थी और ऋतुकाल आने पर वह शुद्ध हो जाती है। जो स्त्री पापी म्लेच्छों द्वारा भोगी गयी हो वह प्राजापत्य से और ऋतुकाल से शुद्ध होती है। जो बल से पकड़ ली गयी हो अथवा स्वयं गयी हो अथवा दूसरे से प्रेरित हो कर गयी हुई जो नारी भोग की गयी है वह भी प्राजापत्य से शुद्ध होती है।" अग्निपुराण में भी यही कहा है।[५८] संक्षेप में यदि स्त्री पर-पुरुष से दूषित हो चाहे स्वेच्छा से अथवा बलात्कार से तो उसका त्याग नहीं करना चाहिए क्योंकि स्त्री रजोदर्शन से अथवा गर्भधारण की अवस्था में गर्भ के बाहर निकल आने पर शुद्ध हो जाती है परन्तु स्वयं इच्छा

से दूषित स्त्री को पृथक् स्थान पर दण्डस्वरूप रख कर उससे प्रायश्चित्त करा लेना चाहिए। प्रायश्चित्त का ऐसा विधान मनु, याज्ञवल्क्य तथा व्यास स्मृतियों में भी है।[५९] इस नियम में एक ओर तो स्त्री की शुद्धि का भी विधान है परन्तु दूसरी ओर उसकी शारीरिक असहायता का ध्यान रखते हुए उसे त्याग न करने का भी आदेश है। स्त्री का त्याग कुछ विशेष अवस्थाओं में ही बतलाया गया है (विवाह-प्रकरण देखिए आगे) जब वह पति-हत्या, भ्रूणहत्या, तथा अन्य महापातक करे अथवा यदि वह नीच वर्ण के पुरुषों से संसर्ग करे।

पत्नी का त्याग न करने तथा उसको पोषण करने के अतिरिक्त जहाँ तक स्त्रियों की आर्थिक सुरक्षा का प्रश्न है भारतीय समाज-व्यवस्थापकों ने इसके लिए भी विस्तृत नियम बनाये हैं। याज्ञवल्क्य का कहना है[६०] कि यदि व्यक्ति अपनी अच्छी गृहिणी को छोड़ दे तो उससे उस पत्नी को सम्पत्ति का तिहाई भाग अथवा सम्पत्ति न होने पर भरण-पोषण दिलाना चाहिए। पत्नी के अतिरिक्त माता का भी पोषण बताया गया है। मनु ने कहा है[६१] कि जो व्यक्ति अपने माता, पिता, पत्नी आदि का भरण-पोषण नहीं करता है, यदि वह पतित न हो, तो उस पर ६०० पण दण्ड होना चाहिए। आपस्तम्ब तथा वसिष्ठधर्मसूत्रों का कथन है[६२] कि यदि माता पतित हो तो भी उसका पालन करना चाहिए। यह भी नियम है (जो बताया ही गया है) कि घर की स्त्रियों को भोजन करा कर ही गृहस्वामी और गृहस्वामिनी को भोजन करना चाहिए।[६३] नपुंसक, पतित, असाध्य, रोगी, अन्धा, पागल, मूर्ख आदि जिन्हें सम्पत्ति का भाग नहीं मिलता, उनकी स्त्रियों और कन्याओं के पालन का तथा कन्याओं के विवाह की भी व्यवस्था का भार उसके ऊपर है जिन्हें सम्पत्ति का भाग मिलता है।[६४]

इस सबके बाद भी स्त्रियों के लिए धन की व्यवस्था है। याज्ञवल्क्य का कहना है[६५] "यदि व्यक्ति समान भाग वितरण करे तो जिन स्त्रियों को पति ने अथवा श्वसुर ने स्त्री-धन नहीं दिया है उनको भी समान अंश देना चाहिए" अर्थात पत्नी को भी सम्पत्ति के अन्दर समान भाग मिलने का नियम है यदि स्त्री के पास स्वयं का स्त्री-धन न हो। परन्तु स्त्री के पास स्वतन्त्र स्त्री-धन का भी नियम है जिसके ऊपर, आपत्तिकाल छोड़ कर, केवल स्त्री को ही पूर्ण अधिकार है और जिसका उत्तराधिकार कन्याओं को है। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र के व्यवहार-अंशों में यह नियम अधिक विस्तार के साथ दिये गये हैं। मनुस्मृति में कहा है[६६] "माता की मृत्यु पर उसका धन सब भाई-बहिन समान भाग करके बांट लें। यदि इन कन्याओं के भी कन्याएँ हों तो उनको भी यथोचित मातामही के धन में से प्रीतिपूर्वक देना चाहिए। स्त्री-धन छः प्रकार का होता है—१ अध्याग्नि (विवाह के समय अग्नि के सम्मुख जो स्त्री को दिया जाता

है) २. अध्यावाहनिक (स्त्री जब पिता के घर से पति के घर आती है उस समय दिया गया धन) ३. प्रीतिदत्त (विवाह के पश्चात जो धन श्वसुर तथा सास की चरण-पूजा करने पर उनसे प्राप्त होता है), ४. अन्वाधेय (विवाह के (अनन्तर) पति और पिता के घर के बाद में जो कुछ कभी भी प्राप्त हो रस्म के रूप में), ५. पति ने जो प्रीति से दिया हो, ६. माता-पिता, भाई इत्यादि ने जो दिया है। पति के जीवित रहते हुए स्त्री के मरने पर यह धन सन्तान का होता है परन्तु ब्राह्म, देव, आर्ष, प्राजापत्य और गान्धर्व विवाहों में स्त्री के निःसन्तान मर जाने पर धन पति का होता है तथा आसुर, राक्षस और पैशाच विवाहों में विवाहित स्त्री का धन स्त्रियों के निःसन्तान मर जाने पर उसके माता-पिता का होता है। कोई स्त्री कुटुम्ब के अन्दर रहने पर उस कुटुम्ब का धन तथा अपना भी धन बिना अपने पति की आज्ञा के व्यय न कर सकेगी। पति के जीते हुए जो अलङ्कार स्त्रियों ने पहन लिए हो (अर्थात् जो स्त्री-धन हो), उन्हें (पति के) दायभाग के उत्तराधिकारी नहीं ले सकते और यदि वे लेंगे तो वे पतित होंगें। इसके अतिरिक्त यह भी कहा है[६७] कन्याओं (अविवाहित बहनों) के लिए भाई अपने-अपने अंश में से पृथक-पृथक चौथाई भाग न देने पर पतित होते हैं" तथा "जैसे पुत्र स्वयं की आत्मा ही (दूसरे रूप में) है उसी प्रकार कन्या भी पुत्र के समान है। तब अपने स्वयं की आत्मा के रहते हुए दूसरा व्यक्ति धन किस प्रकार ले सकता है। माता को विवाह के समय जो धन मिला है वह धन कुमारी कन्याओं का होता है।" राजा से भी मनुस्मृति में यह कहा गया है[६८] बाँझ, पुत्रहीन, कुलहीन, पतिव्रता, विधवा और रोगिणी स्त्रियों के धन की रक्षा राजा करे। जो उसके जीवित रहते ही उनके बान्धव धन हर लें तो धार्मिक राजा उन्हें चोर मान कर तदनुसार दण्ड दें। याज्ञवल्क्यस्मृति में यही नियम है, परन्तु साथ-साथ में यह भी कहा है कि "दूसरा विवाह करने पर स्त्री को, यदि उसे स्त्री-धन नहीं मिला है तो, दूसरे विवाह में जितना धन व्यय हुआ उतना धन मिलना चाहिए और यदि स्त्री-धन मिल चुका हो तो विवाह के आधे व्यय के बराबर धन उस स्त्री को मिलना चाहिए।"[६९] कौटिल्य के दिये हुए[७०] स्त्री-धन के नियम भी इसी प्रकार हैं। स्त्री-धन के सम्बन्ध में ऊपर दिये गये तथा अन्य नियमों का यदि व्यवस्थित रूप से वर्णन किया जाये तो उसके अनुसार स्त्री को कहीं से भी जो सम्पत्ति प्राप्त हो वह स्त्री-धन है। वह स्त्री-धन पति के जीवित रहने पर पति की आज्ञानुसार ही व्यय कर सकती है (क्योंकि स्त्री को पति की आज्ञानुसार रहना चाहिए) और विशेष आपत्तियों में अथवा धर्मकार्य के लिए पति भी उसे व्यय कर सकता है जिस स्थिति में पति के लिए उस धन को लौटाना आवश्यक नहीं है[७१] यद्यपि

अन्य प्रकार से व्यय करने पर वह धन स्त्री को लौटाना पड़ेगा। पति की मृत्यु के पश्चात विधवा उस धन का पूर्ण उपभोग कर सकती है तथा पति की जीवित अवस्था में भी यदि वह प्रवास के लिए बिना व्यवस्था किये चला गया है तो भी पत्नी वह धन स्वयं के तथा पुत्रादिकों के भरण-पोषण के लिए व्यय कर सकती है।[७२] विधवा के धन को कोई न ले यह आदेश है तथा राजा उसके धन की रक्षा करे और धन लेनेवाले को चोर के समान दण्ड दे। यदि स्त्री के पास स्त्री-धन के रूप में कोई धन नहीं है तो पति की सम्पत्ति में उसे समान भाग मिलना चाहिये।[७३] पिता की सम्पत्ति का बँटवारा करनेवाले भाइयों के लिये आवश्यक है कि वह कुमारी बहनों के लिये अपनी सम्पत्ति का चतुर्थांश दें तथा जिन भाइयों को अयोग्यता के कारण सम्पत्ति का भाग नहीं मिला है उनकी स्त्रियों और कन्याओं का पोषण करें तथा कन्याओं का विवाह करें। पति के जीवित रहते हुए स्त्री की मृत्यु होने पर स्त्री के उत्तराधिकारी उसके सभी पुत्र और पुत्रियाँ हैं परन्तु वह धन प्रथमतः कुमारी कन्याओं को मिलना चाहिये और यदि कोई कन्या कुमारी न हो तो वह धन शेष कन्याओ को मिले। गौतम का कहना है[७४] स्त्री-धन कन्याओं का है, जो अविवाहित तथा अप्रतिष्ठित हैं (निर्वाह नहीं कर सकती है)। याज्ञवल्क्य ने कहा है[७५] कि ऋण से शेष बचे हुए माता के धन को पुत्रियाँ बाँट लें और उनके न होने पर पुत्र। वसिष्ठधर्मसूत्र में भी[७६] यही कहा है तथा मनु में भी एक स्थल पर यही है। स्त्री-धन के सम्बन्ध में एक और भी नियम है कि यदि कुटुम्ब के लिये पति-पुत्र ने ऋण नहीं लिया हो तो उसे स्त्री न चुकाये और इसी प्रकार कुटुम्ब के कार्य के अतिरिक्त स्त्री के द्वारा लिये गये ऋण के प्रति पुत्र उत्तरदायी नहीं है।[७७] इस प्रकार समाज-व्यवस्थापकों ने स्त्रियों के निर्वाह की पूर्ण व्यवस्था की है। कन्या को सम्पत्ति का भाग देने का अवश्य कोई नियम नहीं है परन्तु अविवाहित बहनों के लिये (अर्थात उनके विवाह के लिये) प्रत्येक भाई अपने अंश से चौथाई भाग पृथक् कर दे यह नियम अवश्य है। स्त्रियों की धन की व्यवस्था के अतिरिक्त स्त्रियों से कर लेना भी राज्य के लिये मना है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा है "अकरः श्रोत्रियः। सर्ववर्णानां च स्त्रियाः।"[७८]

स्त्रियों को अन्य भी सुविधाएँ थीं। स्त्रियों को सम्माननीय मानने के कारण तथा स्त्रियों की सुविधा का ध्यान कर स्त्रियों को उन व्यक्तियों के अन्तर्गत रखा गया है[७९] जिन्हें पहले मार्ग दिया जायेगा तथा स्त्रियों को विष्णुधर्मसूत्र में[८०] तथा अन्य स्थानों पर पुरुषों का आधा प्रायश्चित्त बताया है।

स्त्रियों की शारीरिक असमर्थता का ही ध्यान रख कर स्त्रियों का वध अत्यन्त निन्दनीय माना गया है। शतपथ ब्राह्मण में स्त्री-वध वर्जित है।[८१]

मनु ने यह व्यवहार (कानून) का नियम बताया है कि राजा स्त्री-घाती का वध करे तथा स्त्री-वध का महत्त्व बताने के लिये यह भी कहा है कि यदि "बालक के हत्यारे, कृतघ्न, शरणागत की अथवा स्त्री की हत्या करनेवाले धर्म से विशुद्ध भी हो जायें अर्थात् प्रायश्चित कर लें, तो भी इनके साथ संसर्ग न किया जाये।[८२] अत्रिस्मृति में स्त्री-हत्या का बड़ा कड़ा प्रायश्चित्त बताया गया है।[८३] रामायण में भी जब विश्वामित्र राम से ताड़का के वध का आग्रह करते हैं तो वह यह स्वीकार करते हैं कि स्त्री-वध करना बुरा है फिर भी लोक-कल्याण के लिये ऐसा करने को कहते हैं "तुम स्त्री-हत्या का विचार करके उसे मारने से मुँह मत मोड़ना क्योंकि चारों वर्णों की प्रजा का हित करने के उद्देश्य से क्षत्रिय के लिये ऐसा करना आवश्यक हो जाता है। सुना जाता है पूर्व काल में, विरोचन की पुत्री मन्थरा सारी पृथ्वी का नाश कर डालना चाहती है, यह जान कर इन्द्र ने उसे मौत के घाट उतार दिया। और भी बहुत से क्षत्रिय महात्माओं ने पापाचारिणी स्त्रियों का वध किया है।"[८४] वायुपुराण में बताया है कि भृगु मुनि की पत्नी अर्थात् दानवों के गुरु शुक्राचार्य की माता की शरण में देवताओं से हार कर दानव पहुँचे उस समय उनका (शुक्राचार्य की माता का) सिर विष्णु ने सुदर्शन चक्र से काट डाला। उस समय भृगु ऋषि ने विष्णु को श्राप दिया कि "धर्म की महत्ता को भली भाँति जानते हुए भी तुमने एक अबला की हत्या की। अतः तुम सात बार मनुष्य लोक में जन्म लोगे।"[८५]

स्त्री का सबसे अधिक सम्मान धर्मशास्त्रों में माता के रूप में है। आपस्तम्बधर्मसूत्र का कहना है कि "माता पुत्र का बार-बार काम करती है इसलिये उसकी नित्य सुश्रूषा करनी चाहिये चाहे वह पतित ही हो।"[८६] वसिष्ठ का कथन है कि "पुत्र के लिये माता कभी पतित नहीं होती।"[८७] मनु तथा वसिष्ठ[८८] का कहना है कि दस उपाध्यायों से आचार्य, सौ आचार्यों से पिता, और एक सहस्र पिताओं से माता गौरव में अधिक है। अत्रि का कहना है "वेद से बड़ा कोई शास्त्र नहीं है। माता से बड़ा कोई गुरु नहीं है तथा दान से बड़ा कोई मित्र इस लोक और परलोक में नहीं है।"[८९] महाभारत में कहा है[९०] सबके श्राप का प्रतिघात है परन्तु माँ से श्रापित लोगों को मोक्ष नहीं मिलता।

विवाह

पुरुषों और स्त्रियों की जीवन-व्यवस्था का पूरा वर्णन होने के पश्चात् जो महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय सामने आता है वह है विवाह। यद्यपि विवाह का संस्कार सभी देशों में और जातियों में पाया जाता है परन्तु फिर भी भारतीय विवाह-नियमों में अपनी अलग विशेषता है। समाज-जीवन को व्यवस्थित करने

के लिए अन्य समाजों ने चाहे और कुछ न किया हो, परन्तु इस हेतु विवाह की पद्धति सभी जातियों ने अपनायी है। स्त्री और पुरुष का पारस्परिक आकर्षण का सम्वन्ध बहुत स्वाभाविक है। यदि इस पर किसी प्रकार का नियन्त्रण न लगाया जाये तो, एक तो, इससे कामोपभोग की प्रवृत्ति बढ़ सकती है, अर्थात् स्त्री-पुरुषों को अविचारपूर्ण रीति से अन्य सभी स्त्री-पुरुषों के साथ काम सम्बन्ध करने की इच्छा उत्पन्न हो सकती है और इसके कारण पारस्परिक ईर्ष्या अतः विद्वेष भी बढ़ने की सम्भावना है। इस कारण इन दोषों को रोकने के लिए विवाह की आवश्यकता होती है अर्थात् व्यक्ति को कामोपभोग की दृष्टि से संयमित तथा नियन्त्रित करने के लिए और समाज-जीवन को व्यवस्थित और सुखी बनाये रखने के लिए विवाह की आवश्यकता होती है। इस प्रकार व्यक्ति की कामेच्छा की पूर्ति के एक व्यवस्थित साधन के रूप में विवाह का प्रयोग आता है। इतिहास-पुराण ग्रन्थों का भी यही कथन है कि सतयुग में अर्थात् जब समाज की सबसे श्रेष्ठ और व्यवस्थित अवस्था थी उस समय विवाह की प्रथा नहीं थी और धीरे-धीरे जब अधर्म की प्रवृत्ति बढ़ी और उसके फलस्वरूप चरित्र का पतन हुआ, समाज-जीवन दूषित हुआ तब विवाह-संस्था की स्थापना हुई। विवाह-मर्यादा की श्वेतकेतु द्वारा स्थापना की कथा महाभारत[११] में दी हुई है। एक दिन श्वेतकेतु ऋषि अपना माता के पास बैठे हुए थे। उनके पिता भी वहीं पर थे। इसी बीच एक ब्राह्मण आ कर उनकी माता का हाथ पकड़ कर कहने लगा 'युवती ! तुम मेरे साथ चलो।' अब वह ब्राह्मण मानो बलपूर्वक श्वेतकेतु की माता को ले कर चल दिया। इससे श्वेतकेतु को बड़ा क्रोध आया। श्वेतकेतु को कुपित देख कर उनके पिता उद्दालक ने कहा 'बेटा ! क्रोध न करो। अत्यन्त प्राचीन काल से यह धर्म चला आ रहा है। संसार में सभी वर्णों की स्त्रियाँ इस विषय में स्वाधीन हैं। सब पुरुष और स्त्रियाँ गाय और बैलों के समान आचरण करते हैं। जो जिससे चाहे विवाह कर सकता है।' उद्दालक ने इस प्रकार श्वेतकेतु को समझाया परन्तु श्वेतकेतु ने उस धर्म का अनुमोदन नहीं किया। कुपित श्वेतकेतु ने स्त्री और पुरुष के लिए यह नियम बना दिया कि एक स्त्री एक ही पुरुष की पत्नी हो कर रहे। उन्होंने कहा 'जो स्त्री अपनी पति को छोड़ कर अन्य पुरुष से संसर्ग करेगी उसे गर्भहत्या जैसा घोर पाप लगेगा। यह दुःखदायक होगा। जो पुरुप पतिव्रता स्त्री को छोड़ कर अन्य स्त्री के साथ रमण करेगा उसे भी यही पाप लगेगा।' इस कथा में भी उपरोक्त दोनों कारणों की अर्थात् चरित्र-पतन रोकने की भावना की तथा समाज-जीवन के विद्वेष समाप्त करने की ध्वनि आती है।

यह तो ठीक है कि काम-प्रवृत्ति को नियमित और संयमित करते हुए इसे

सन्तुष्ट करने के लिये विवाह-प्रथा की आवश्यकता है. पर फिर भी धीरे-धीरे काम-प्रवृत्ति कम होनी चाहिये अर्थात् गृहस्थाश्रम तो काम का उपभोग करने के लिये है, यद्यपि वह उपभोग नियन्त्रित अर्थात् धर्मपूर्ण होगा, परन्तु गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थाश्रम में तो काम-भावना अर्थात् स्त्री-संसर्ग भावना पूर्ण रीति से समाप्त करनी होती है। यदि गृहस्थाश्रम में ही काम-प्रवृत्ति कम न हुई तो वानप्रस्थाश्रम में पूर्ण संयम निर्माण नहीं हो सकता। इसीलिए स्त्री-संसर्ग के स्वरूप का भी भारतीय समाज-व्यवस्थापकों ने उदात्तीकरण किया है जिससे वह काम-भावना कम करने में सहायक हो। उन्होंने कहा है कि पुत्र उत्पन्न करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है तथा अन्य भी धर्मकृत्य (अर्थात् सामाजिक उत्तरदायित्व) ऐसे हैं जो गृहस्थाश्रम में ही पूर्ण हो सकते हैं जैसे पञ्चमहायज्ञ, दान आदि। अतः व्यक्ति को विवाह करना ही चाहिये। इस प्रकार विवाह का हेतु उन्होंने समाज के सम्मुख प्रमुख रीति से काम-भावना की सन्तुष्टि नहीं रखा, अपितु पुत्रोत्पत्ति कर समाज-जीवन को अविच्छिन्न रखने की आवश्यकता और धर्म-कार्य कर समाज-जीवन का पोषण करने की आवश्यकता-विवाह के यही दो हेतु उन्होंने समाज के सम्मुख रखे। इस कारण उन्होंने एक तो यह आवश्यक बताया है कि स्त्री और पुरुष को काम सम्बन्ध तभी करना चाहिये जब सन्तानोत्पत्ति की सम्भावना हो और इस दृष्टि से रजोदर्शन के पश्चात् चौथी रात्रि से सोलहवीं रात्रि तक ही इस प्रकार के काम-सम्बन्धों के लिये योग्य बताया है[९२] आदि। गृहस्थाश्रम के द्वारा धर्म की पूर्ति व्यक्ति किस प्रकार कर सकता है यह पीछे बताया ही गया है। यही भारतीय विवाह की धारणा में और अन्य बहुत से समाजों की विवाह की कल्पना में अन्तर है। अन्य समाजों में विवाह मूल रीति से सुखोपभोग का साधन है चाहे वह कामोपभोग का सुख हो, चाहे गृहस्थ-जीवन का, परन्तु भारत में विवाह धर्मपालन का द्वार माना जाता है। इस कारण जब कि अन्य समाजों में यदि पति-पत्नी के साथ-साथ रहने से उनके सुखोपभोग में बाधा पड़ती है तब वहाँ विच्छेद मान्य किया जाता है परन्तु भारत में विवाह को धर्मपूर्ति का साधन मानने के कारण—जो धर्मकार्य पति-पत्नी को साथ-साथ करने हैं[९३]—भारतीय समाज-व्यवस्था में साधारणतया विवाह-विच्छेद को स्वीकार नहीं किया गया है।[९४] परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि समाज-व्यवस्थापकों ने विवाह में काम का महत्त्व न समझा हो। मनु ने[९५] उत्तम रति भी विवाह का एक कारण बताया है। ब्रह्मचारी को शिक्षा समाप्त होने के पश्चात् गन्ध, माला, अञ्जन, उबटन आदि कामोत्पादक वस्तुओं का प्रयोग बताया है वह भी इस दृष्टि से कि वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर रहा है जहाँ वह काम का उपभोग

करेगा। वात्स्यायन के कामसूत्र में कहा है[९६] "बाल्यकाल में विद्याग्रहण आदि कार्य करे, यौवन में अर्थ और काम का सञ्चय करे तथा वृद्धावस्था में धर्म और मोक्ष में (ही) लगे।"

इस प्रकार विवाह भारतीय जीवन में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों के साधन का मार्ग है। काम की विवाह द्वारा पूर्ति होती है यह तो बहुत स्पष्ट रीति से समझ में आ सकता है। पत्नी और पति मिल कर घर चलाते हैं, पति बाहर का काम कर परिवार के पोषण की व्यवस्था करता है और पत्नी घर के अन्दर की व्यवस्था करती है तथा परिवार के आय का योग्य व्यय करती है। इस प्रकार विवाह अर्थपूर्ति का भी साधन है। विवाह से सन्तानोत्पादन, पञ्चमहायज्ञ, अन्य यज्ञों तथा दान आदि के द्वारा धर्म की पूर्ति भी होती है। अतः धर्मशास्त्रों ने यह कहा है कि पति-पत्नी मिल कर धर्म, अर्थ, काम तीनों का साधन करते हैं। व्यासस्मृति में कहा है[९७] "दम्पति एकचित्त, समान व्रतशाली और समान वृत्ति के हो कर अहोरात्रि धर्म, अर्थ, काम में सम्यक् लगे रहें।" दक्ष का कहना है "स्त्री के द्वारा ही धर्म, अर्थ, काम इन त्रिवर्ग का फल प्राप्त होता है।"[९८] इसके साथ-साथ व्यक्ति अर्थ और काम का धर्मानुसार उपभोग कर धीरे-धीरे इनसे सन्तुष्ट हो इनके प्रति विरक्ति अनुभव करता है और तत्पश्चात् इनका उपभोग भी छोड़ता है। इस कारण विवाह मोक्ष-प्राप्ति का भी एक मार्ग है। इसका अर्थ यह है कि विवाह अभ्युदय और निःश्रेयस दोनो के साधन के लिए है। विवाह के नियम भी ऐसे हैं जिनके द्वारा व्यक्ति सुखोपभोग से सन्तोष भी प्राप्त करे तथा धीरे-धीरे वह इस सांसारिक सुखोपभोग से ऊपर भी उठता जाये। इसलिए एक से अधिक विवाह न करने का, (जब तक कि वह धर्मकार्यों के लिए ही आवश्यक न हो), विवाह-विच्छेद न करने का (अर्थात एक ही पति-पत्नी को जीवन-भर साथ रहने का), ब्राह्म विवाह को श्रेष्ठ मानने का (जिसमें कन्यादान के द्वारा विवाह है कामोपभोग की भावना से नहीं), परस्त्री, परपुरुष से सम्बन्ध न करने का (अर्थात् स्वपत्नी और स्वपति में ही जीवन-भर सन्तुष्ट रहने तथा स्त्रियों के लिए विधवा-विवाह न करने का) नियम व्यक्ति को सुखोपभोग की प्रवृत्ति से ऊपर उठाने के लिए है। परन्तु व्यक्ति की सुखोपभोग की भी प्रवृत्ति असन्तुष्ट न रहे इसलिए कुछ मात्रा में स्त्रियों के लिए पुनर्विवाह की, विधवा-विवाह की, नियोग की और कुछ अवस्था में पुरुषों के लिए बहु-विवाह की तथा दोनों के लिए गन्धर्व विवाह की अनुमति है। इस प्रकार जहाँ तक केवल व्यक्ति का सम्बन्ध है वहाँ तक विवाह के नियम उसकी सुखोपभोग की वृत्ति को सन्तुष्ट करते हुए उसे यथाशक्य उन्नत करने के लिए हैं। परन्तु विवाह के नियम समाज-जीवन में

व्यवस्था उत्पन्न करने और समाज-जीवन के अन्दर उत्पन्न होनेवाली भ्रष्टता रोकने के लिए भी हैं। स्वयं विवाह की प्रथा ही इसीलिए है। विवाह-विच्छेद न होने का नियम इसीलिए है जिससे विवाह-सम्वन्धों में स्थिरता उत्पन्न हो कर पारिवारिक जीवनों में भी अस्थिरता न आने पाये; परस्त्री, परपुरुष से सम्वन्ध वर्जित करने का नियम इसीलिए है जिससे समाज में उच्छृङ्खलता और पारस्परिक विद्वेष न उत्पन्न हो, सवर्ण विवाह का नियम इसीलिए है जिससे भारतीय समाज-नियामकों को अमान्य वर्णसङ्करता न उत्पन्न हो, सामाजिक रचना अस्त-व्यस्त न हो और सामाजिक व्यवस्था में गड़वड़ी न आने पाये, निकट सम्वन्धियों में सपिण्ड विवाह को अमान्यता इसीलिए है जिससे समाज के अन्दर परिवारों का सम्पूर्ण वातावरण परिवारों के व्यक्तियों के आन्तरिक दूषित सम्बन्धों के कारण न विगड़े; महापातकों के पापी स्त्री, पुरुषों के त्याग का नियम इसीलिए है जिससे ऐसे व्यक्तियों का समाज में से वहिष्कार हो और समाज में ऐसी प्रवृत्तियाँ कम हों, कुछ मात्रा में वहु-विवाह, पुनर्विवाह और विधवा-विवाह को जो मान्यता है वह इसीलिए है जिससे कामवृत्ति से असन्तुष्ट स्त्री-पुरुष समाज में दूषण न उत्पन्न करें तथा राक्षस और पैशाच विवाहों को भी मान्यता इसीलिए है कि जिन स्त्रियों का हरण हो अथवा जो दूषित कर दी जायें, वह समाज-जीवन से वहिष्कृत न रहें, उनकी व्यवस्था हो और उनके पालन का उत्तरदायित्व उन्हीं पर हो जिन्होंने उनका हरण अथवा दूषण किया हो।

विवाह-सम्वन्धी विविध समस्याओं (वालविवाह, वहुविवाह, विधवा-विवाह, विवाहविच्छेद आदि) पर विचार करने के पूर्व भारतीय धर्मशास्त्रों के विवेचन की एक पद्धति समझ लेने की आवश्यकता है। भारतीय धर्मशास्त्र में वैसे नियम नहीं है जिन्हें वर्तमान काल में विधि (कानून) के नाम से पुकारा जाता है और जिन्हें राज्य लागू करता है। राज्य द्वारा समाज के ऊपर जो कानून लागू किया जाता है वह प्रत्येक को वाध्य हो कर मानना पड़ता है अन्यथा राज्य द्वारा उसे दण्ड मिलता है। परन्तु भारतीय धर्मशास्त्रों के नियमों में, यद्यपि समाज की व्यवस्था की ही दृष्टि से है वैसी कोई कड़ाई नहीं है। धर्मशास्त्रों ने तो समाज की एक आदर्श व्यवस्था प्रस्तुत की है और उसके पालन का आग्रह किया है। कुछ ऐसे भी नियम हैं जिनके उल्लङ्घन पर राज्य द्वारा दण्ड का भी विधान है परन्तु सव नियमों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। उदाहरण के लिये विधवा-विवाह मना किया गया है परन्तु यदि कोई विधवा किसी पुरुष के साथ उसकी पत्नी के रूप में रहने लगे तो उसको राज्य द्वारा दण्ड देने का कोई विधान नहीं रखा है। अतः समाज-व्यवस्था के अधिकांश नियम वलपूर्वक लागू नहीं किये गये हैं। इस प्रकार

की कड़ाई इस समाज-व्यवस्था के सम्बन्ध में भारतीय समाज-व्यवस्थापकों ने जानबूझकर ही नहीं रखी। इस कड़ाई के न रखने का एक लाभ यह था कि उन्होंने इस आदर्श अवस्था के नीचे की सीढ़ियों को भी मान्य किया था। यह बात मांस-भक्षण के सम्बन्ध में पहले स्पष्ट की जा चुकी है कि माँस-भक्षण को बुरा बताते हुए भी उसे कुछ अवस्था में मान्यता दी है। इसलिए चरम आदर्श के नीचे भी जो कई सीढ़ियाँ हैं उनमें से व्यक्ति जिस सीढी को मान कर चल सकता है उसके लिये तदनुसार ही चलने का विधान है और उसकी उसी स्थान से किस प्रकार उन्नति हो सकती है इसकी व्यवस्था है। उदाहरण यदि लें तो सबसे श्रेष्ठ अवस्था यह मानी गयी है कि व्यक्ति संसार से निर्लिप्त रहे। पर यह सबके लिये सम्भव नहीं इसलिए दूसरी नीचे की अवस्था है कि व्यक्ति सांसारिक जीवन का उपभोग तो करे परन्तु धर्मपूर्ण रीति से करे। ऐसा करने में भी बहुतों से चूक हो सकती है इसलिए इससे भी नीचे की अवस्था मान्य है जिसमें पूर्ण कामाचार की अनुमति है, जैसे शूद्र को, तथा उसमें रह कर ही उससे आगे बढ़ने की व्यवस्था है। यही बात विवाह-नियमों के सम्बन्ध में है। श्रेष्ठ नियम बताया गया है परन्तु उससे नीचे की अवस्थाओं का भी वर्णन है और उन्हें मान्यता दी गयी है। इसलिए भारतीय सामाजिक नियमों के सम्बन्ध में यह भाषा प्रयोग करना ठीक नहीं है कि अमुक बात मान्य और अमुक अमान्य थी। एक श्रेष्ठ नियम था, फिर उसके भी नीचे की अवस्था के नियम थे परन्तु वह भी मान्य थे। यही बाल-विवाह, वर्णानुसार विवाह, पुनर्विवाह, विधवा-विवाह, बहुविवाह तथा विवाहविच्छेद के सम्बन्ध में है। ऐसा भी अवश्य था कि कुछ नियमों को भङ्ग करने के लिये राज्य द्वारा दण्ड का विधान था, पर ऐसे नियमों की संख्या बहुत कम है और यह दण्ड-व्यवस्था तब है जब समाज-व्यवस्था का घोर उल्लङ्घन हो—ऐसा उल्लङ्घन जिसके कारण सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था पर ही आघात पहुँचने की सम्भावना हो। एक और बात का भी ध्यान रखना चाहिए। यह तो ठीक है कि विवाह का एक उद्देश्य रति (काम) भी है, परन्तु काम की इस वृत्ति का उदात्तीकरण किये जाने पर भारतीय विवाह के हेतु में, काम-भावना पीछे पड़ गयी है। इस कारण भारतीय व्यवस्था के जो नियम विवाह-सम्बन्धी हैं वे काम-भावना को प्रधानता दे कर नहीं बनाये गये हैं अपितु यह ध्यान में रख कर बनाये गये हैं कि उनके द्वारा व्यक्ति उन्नति करे अर्थात् व्यक्ति आध्यात्मिक और चारित्रिक दृष्टि से उन्नत हो। इसलिये काम-भावना को यथाआवश्यक सन्तुष्ट कर और उस भावना को संयत कर व्यक्ति को उन्नति करना यह विवाह-नियमों का लक्ष्य है।

सबसे प्रथम तो विवाह के प्रकारों पर विचार करने की आवश्यकता है। धर्मशास्त्रों में विवाह के आठ प्रकार बताये गये हैं।[९९] "विद्या, आचरण, कुल और शील से सम्पन्न (वर) को (कपड़ों से) आच्छादित और अलङ्कृत करके कन्या देना ब्राह्म विवाह है। 'साथ-साथ धर्माचरण करो' ऐसा कह कर मन्त्रों के साथ संयोग प्राजापत्य विवाह है। कन्या के पिता को दो गायें दे कर जो कन्या दी जाये वह आर्ष विवाह है। वेदी पर बैठे ऋत्विज को अलङ्कार के साथ कन्यादान करना देव विवाह है। स्वयं इच्छा से अलङ्कृत हो कर जो संयोग हो जाये वह गान्धर्व विवाह है। अधिक स्त्री वाले मनुष्य को धन दे कर विवाह करना आसुर विवाह है। बलपूर्वक कन्या को ले आना राक्षस विवाह है। अज्ञान से आवृत्त (बेहोश, मद पी हुई, असावधान) कन्या से सङ्गम करना पैशाच विवाह है।"[१००] "इनमें विधान द्वारा तो ब्राह्म विवाह ही है तथा इसके अभाव में दूसरी विधि कही है।"[१०१] ब्राह्म आठो विवाहों में इसलिये श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें बिना किसी प्रकार की शर्त के, अपने ही वर्ण में, योग्य वर को, दक्षिणा सहित, कन्या दान किया जाता है। फिर भी बाद के चार प्रकार के विवाहों की तुलना में पहले चार प्रकार के विवाह श्रेष्ठ माने गये हैं क्योंकि इन चारों में कन्यादान की पद्धति है जो बाद के चारों प्रकार के विवाहों में नहीं है। मनुस्मृति में कहा है "ब्राह्म आदि चारों विवाहों में क्रम से शिष्टसम्मत तथा ब्रह्मवर्चस्वी (ब्रह्मतेजवाले) पुत्र उत्पन्न होते हैं। वे स्वरूपवान, सत्वगुण से युक्त, धनवान, यशस्वी, पूर्ण भोग भोगनेवाले तथा धर्मात्मा (हो कर) सौ वर्ष तक जीते हैं। अन्य नीच विवाहों में क्रूर, झूँठे व ब्रह्मधर्म से वैर करने-वाले पुत्र उत्पन्न होते हैं। स्त्रियों से अनिन्दित विवाह करने पर अनिन्दित सन्तान होती है और निन्दित विवाहों से निन्दित सन्तान होती है अतः निन्दित (विवाहों) का त्याग कर दे।"[१०२] कन्यादान विवाह का सबसे श्रेष्ठ ढङ्ग इस कारण माना गया है कि इसमें पिता यह विचारपूर्वक निश्चित करके कि कन्या का विवाह किस वर से करना चाहिये तत्पश्चात उसे कन्या देता है। इसका अर्थ है कि पुत्री का हित पिता के ध्यान में है, वह पुत्री का विक्रय नहीं कर रहा है और वह अनुभव-प्राप्त है इसलिये वह योग्य वर को ही कन्या देगा जिसमें कन्या के धर्म, अर्थ, काम तीनों की सिद्धि हो। कन्यादान के द्वारा किये हुए विवाहों को इसलिये भी महत्त्व दिया कि यदि कन्या का अभिभावक योग्य वर खोज कर उसका विवाह न करे (कन्यादान न करे) तो फिर कन्या भाग्य के थपेड़ों में पड़ जाती है और उसका जीवन अनिश्चित मार्ग पर और अव्यवस्थित रीति से बहने लगता है। इसलिये कन्या का जीवन सुनिश्चित मार्ग पर लगा देने के लिये कन्यादान का आग्रह है। यह आग्रह विशेषरूप से स्त्रियों की शारीरिक

दुर्बलता और असमर्थता (मासिक धर्म आदि के कारण) को देख कर किया गया है। इसी कारण कन्यादान का महत्त्व भी बहुत अधिक वर्णित है।[१०३] अतः पहले चार प्रकार के विवाह, जिनमें घर का श्रेष्ठ पुरुष कन्या का दान करता है अर्थात् उत्तम वर के साथ कन्या का विवाह इसी भावना से करता है कि वह योग्य है (अन्य किसी भावना से नहीं), श्रेष्ठ है और उनमें भी ब्राह्म विवाह, जिसमें किसी प्रकार की शर्त के बिना कन्यादान है, सब प्रकार के विवाहों में सर्व-श्रेष्ठ है। शेष चार विवाहों की हीनता का सर्वसामान्य कारण तो बताया ही गया है परन्तु गान्धर्व विवाह काम-भावना की दृष्टि से होने के कारण कामसूत्र में[१०४] इसी कारण से उसे अच्छा बताया गया है परन्तु धर्मशास्त्रियों ने इसे व्यक्ति की काम-भावना को प्रश्रय देनेवाला तथा तत्कालीन मन की उमङ्ग पर आधारित होने वाला समझ कर हीन विवाहों में ही गिना है।[१०५] गान्धर्व विवाह के सम्बन्ध में शकुन्तला का उदाहरण पहले ही दिया जा चुका है[१०६] जहाँ बताया है कि काम-भावना पर आधारित इस विवाह में स्थिरता की भावना नहीं रहती। गान्धर्व विवाह का एक यह भी दोष है कि यदि स्त्रियों और पुरुषों को स्वेच्छानुसार विवाह की अनुमति दी जाये तो स्त्रियों को शारीरिक दृष्टि से असमर्थ होने के कारण तथा इस कारण आश्रय की आवश्यकता होने के कारण बहुत बार पति की खोज में इधर-उधर भटकना पड़ता है, स्वयं को बहुत पुरुषों की काम-वासना में बलि (प्रेम-विवाह) होना पड़ता है, पुरुषों को आकर्षित करने के लिये सब प्रकार की हीन वृत्तियों और साधनों का उपयोग करना पड़ता है तथा जीवन अनिश्चित अवस्था में व्यतीत करना पड़ता है। इस सबके कारण बहुत बार उनके मन में असहायता तथा निराशा की वृत्ति भी उत्पन्न होती है। ये कठिनाइयाँ पिता द्वारा वर खोजने में कन्या को नहीं होती। जहाँ तक कन्या के आसुर विवाह का प्रश्न है इसमें कन्या के हित-अहित का ध्यान नहीं रहता, धन का विचार ही प्रमुख रहता है।[१०७] राक्षस विवाह में कन्या-हरण होने के कारण वह निन्दनीय है।[१०८] पैशाच विवाह बलात्कार पर आधारित होने के कारण सबसे निकृष्ट है ही। आपस्तम्ब तो उसका उल्लेख भी नहीं करता और मनु तथा शङ्ख का कहना है[१०९] कि "पैशाच विवाह अधम है।" बलात्कार के लिए दण्ड का भी विधान है। "जो समान जाति का मनुष्य कन्या की अनिच्छा होने पर भी उसके साथ भोग करेगा उसे तुरन्त प्राणदण्ड होगा। यदि रक्षित ब्राह्मणी के साथ ब्राह्मण बलपूर्वक समागम करे तो उसे एक सहस्र पण दण्ड होना चाहिए।...वध न करके ब्राह्मण के सिर का मुण्डन ही कराना उसके लिए प्राणान्तक दण्ड है और अन्य वर्णों को प्राणान्तक दण्ड हो सकता है।"[११०] फिर भी इन विवाहों को

मान्यता इस कारण दी गयी कि हरण की हुई, मोल ली हुई तथा बलात्कार से ध्वस्त हुई स्त्रियों की भी व्यवस्था होनी आवश्यक है परन्तु इनको मान्यता देते हुए भी इन विवाहों को निकृष्ट माना गया है[१११]। इन आठ प्रकार के विवाहों में से ब्राह्मणों के जीवन को ध्यान में रखते हुए उनके लिए प्रथम चार प्रकार के विवाह ही बताये गये हैं।[११२] पैशाच विवाह सबसे निकृष्ट होने के कारण वह किसी वर्ण के लिये योग्य नहीं बताया है, वैश्यों को तथा शूद्रों को आसुर विवाह करना भी धर्म-विरुद्ध नहीं बताया है[११३] यद्यपि वह भी अच्छा नहीं है[११४] और क्षत्रियों के लिए गान्धर्व तथा राक्षस विवाह भी बताया है।[११५] हीन वृत्ति होने के कारण शूद्र के लिये और धन से सम्पन्न होने के कारण वैश्य के लिये आसुर विवाह को हीन मानते हुए भी उसकी अनुमति दी गई है। क्षत्रिय में रजोगुण के आधिक्य के कारण जिसमें क्रोध, बल, उपभोग की वृत्ति अधिक होती है, उसको गान्धर्व और राक्षस विवाह की भी अनुमति दी गयी है।

विवाह के प्रकार के अनन्तर सबसे पहला प्रश्न विवाह की आयु का है जिसके अन्तर्गत बाल-विवाह की समस्या भी विचारणीय है। पुरुषों के लिये विवाह की कौन सी आयु निर्धारित की गयी है इसका अनुमान शिक्षा के निर्धारित काल से लगाया जा सकता है। जैसा पीछे बताया गया ६ से लेकर १६ वर्ष तक ब्राह्मण के उपनयन की, ८ से लेकर २२ वर्ष तक क्षत्रिय के उपनयन की और १० से लेकर २४ वर्ष तक वैश्य के उपनयन की आयु मानी गयी है। शिक्षा का काल कम-से-कम नौ वर्ष का था। इसका अर्थ यह है कि १५, १६ वर्ष से लेकर ४८, ५० वर्ष तक किसी भी काल में पुरुषों का विवाह हो सकता था। (कौटिल्य ने राजपुत्रों के विवाह की आयु १६ वर्ष ही बतायी है) परन्तु साधारणतया ८ वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन व १२ वर्ष का शिक्षा काल होने के कारण साधारणतया २० वर्ष से ले कर २८, ३० वर्ष तक ही विवाह होगा, ऐसा धर्मशास्त्रों का अनुमान प्रतीत होता है। परन्तु निश्चयात्मक रूप से शास्त्रकारों का इतना विचार अवश्य था कि शिक्षा समाप्त होने के पश्चात् ही पुरुष का विवाह हो।

स्त्रियों के विषय में नियम भिन्न है। गोभिलगृह्यसूत्र आदि में[११६] वधू के गुण बताते हुए यह लिखा है कि वधू नग्निका होनी चाहिए। वसिष्ठ धर्मसूत्र ने इसे स्पष्ट किया है "ऋतुकाल के भय से पिता नग्निका को दे दे (विवाह कर दे) क्योंकि ऋतुवाली कन्या के (घर में) रहने पर पिता को दोष लगता है।"[११७] यह भी वसिष्ठ का कथन है कि यदि रजोदर्शन के पूर्व पिता पुत्री का विवाह न करे तो वह प्रत्येक रजोदर्शन पर भ्रूणहत्या (गर्भपात) के पाप का भागी होता है। इसका अर्थ है कि वह कन्या जिसका यौवन बिलकुल न प्रारम्भ हुआ हो उसका ही विवाह होना चाहिए। इस प्रकार कन्या के बालविवाह का

विधान धर्मशास्त्रों में है। व्यक्ति के आध्यात्मिक और चारित्रिक उत्कर्ष को ध्यान में रखते हुए यह बालविवाह का नियम बनाया गया है। पुरुष जब वीर्यवान होता है उसके पश्चात् उसमें संयम रहे और उसका मन दूषित न हो इसके लिए समाज-व्यवस्थापकों ने ब्रह्मचर्याश्रम के कड़े नियमों का निर्माण किया है और ब्रह्मचर्याश्रम का इस प्रकार का वातावरण निर्माण करने का प्रयत्न किया है कि व्यक्ति उसके कारण ऊँचे चारित्रिक और आध्यात्मिक स्तर पर ही रहे। परन्तु स्त्रियों के लिये ब्रह्मचर्याश्रम का विधान न होने के कारण और क्योंकि उनके मन में रजोदर्शन के पश्चात् काम-भावना का विकास होना स्वाभाविक है अतः उस समय उनका मन अपने पति की ही ओर लगे तथा अन्य पुरुष का ध्यान मन में न आये इसके लिये रजोदर्शन के पूर्व बालिकाओं का विवाह कर देने का यह आग्रह है। संक्षेप में पुरुष और स्त्री दोनों मन में भी दूषित न हों और जब भी उनके मन में काम-भावना उत्पन्न हो तभी साधारणतया उनका मन पर-पुरुष और पर-स्त्री की ओर न जाये इसके लिये पुरुषों और स्त्रियों दोनों की दृष्टि से धर्मशास्त्रों में विधान किया है। इसके अतिरिक्त ऋतुकाल के पूर्व कन्या के विवाह का आग्रह इस कारण भी है कि कोई भी ऋतुकाल बिना गर्भाधान के व्यर्थ नहीं जाना चाहिये।[११८] परन्तु कन्या के बालविवाह का यह अर्थ नहीं कि विवाह के तुरन्त पश्चात् ही स्त्री-पुरुष का शारीरिक सम्बन्ध हो जाना चाहिये। संस्कारों के अन्दर दो संस्कारों का—गर्भाधान का और चतुर्थीकर्म का—उल्लेख है। यह दोनों संस्कार उस समय के लिये हैं जब पुरुष-स्त्री का शारीरिक सम्बन्ध प्रथम बार हो। विवाह के पश्चात् प्रथम तीन रात्रि तक स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध नहीं होना चाहिये[११९] और चौथे दिन जब स्त्री-पुरुष का शारीरिक सम्बन्ध हो तो उसका जो संस्कार किया जाये वह चतुर्थीकर्म है।[१२०] परन्तु तत्समान ही दूसरा संस्कार है गर्भाधान का और वह संस्कार उस समय का है जब पत्नी के प्रथम बार ऋतुमती होने पर पति उसके साथ काम-सम्बन्ध करता है। यह संस्कार चतुर्थी कर्म से भी प्रमुख है क्योंकि चतुर्थीकर्म का उल्लेख मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य-स्मृति, बौधायनगृह्यसूत्र, काठकगृह्यसूत्र, गौतमधर्मसूत्र आदि में नहीं है परन्तु गर्भाधान का उल्लेख प्रत्येक धर्मशास्त्र और गृह्यसूत्र में पाया जाता है अर्थात् चाहे चतुर्थीकर्म का उल्लेख हो न हो परन्तु गर्भाधान का उल्लेख प्रत्येक धर्मग्रन्थ ने संस्कारों के अन्तर्गत किया है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि जिन स्त्रियों का विवाह रजोदर्शन के पश्चात् होता है उनके लिये तो चतुर्थीकर्म का संस्कार है परन्तु जिनका विवाह रजोदर्शन के पूर्व होता है उनके लिये गर्भाधान का संस्कार है और वह संस्कार उनके रजोदर्शन के पश्चात् होता है। क्योंकि गर्भाधान का ही संस्कार प्रमुख रीति से धर्मशास्त्रों में वर्णित है इसका अर्थ यह है कि उन्होंने

प्रमुख रीति से बालिकाओं का विवाह रजोदर्शन के पूर्व ही स्वीकार किया है परन्तु शारीरिक सम्बन्ध तभी कहा है जब रजोदर्शन हो जाये ।

धर्मशास्त्रों ने यह तो आवश्यक माना है कि बालिकाओं का विवाह रजोदर्शन के पूर्व होना चाहिये परन्तु उन्होंने यह भी स्थिति मान्य की जब कि बालिकाओं का विवाह रजोदर्शन के पश्चात् हो सकता है। ऊपर जो चतुर्थीकर्म का संस्कार है वह ऐसी ही स्त्रियों के लिए है जिनका विवाह उनके युवती होने के पश्चात् हो । मनु ने भी आदेश दिया है [१२१] "ऋतुमती होने पर भी कन्या जन्म-भर घर में ही रहे परन्तु इसे किसी निर्गुण पात्र को कभी न दे । ऋतुमती कन्या तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करे इसके पश्चात् अपने सदृश वर से स्वयं विवाह कर ले । (कन्या) दान न होने पर भी यदि कन्या किसी को पति रूप में वरण कर ले तो उसे अथवा पति को बिलकुल पाप नहीं लगेगा।" अन्य ग्रन्थों ने भी [१२२] ऋतुमती होने के पश्चात् तीन वर्ष तक कन्या को राह देखने का नियम बताया है । गान्धर्व विवाह (प्रेम-विवाह) तो होना ही तब सम्भव है जब कन्या युवती हो और स्वयंवर ऐसी ही कन्याओं का हो सकता है जो यौवन-प्राप्ता हों । ऐसे उदाहरण इतिहास-पुराण ग्रन्थों में पर्याप्त मिलते हैं जहाँ बड़ी अवस्था में कन्याओं का विवाह हुआ हो (यथा सावित्री, दमयन्ती, शकुन्तला, कुन्ती, रुक्मिणी) । ऐसी अवस्था में जैसा मनु ने कहा है और जैसा सावित्री, दमयन्ती, देवयानी और शकुन्तला आदि के उदाहरणों में सिद्ध होता है। कन्याओं की इच्छा का ध्यान देना ही श्रेष्ठ है । ऐसे उदाहरण होने पर भी धर्मशास्त्रों के इस आदेश की ओर दुर्लक्ष्य नहीं किया जा सकता कि कन्या का विवाह ऋतुमती होने के पूर्व हो जाना चाहिये ।

विवाह की आयु के पश्चात् दूसरा प्रश्न है एक वर्ण में ही विवाह होने का । लगभग प्रत्येक धर्मग्रन्थ में, जहाँ विवाह का वर्णन है, यह कहा गया है कि सवर्णा कन्या से ही विवाह करना चाहिये । इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि असवर्णा से विवाह धर्मशास्त्रों को मान्य नहीं था । परन्तु इसमें यदि व्यवधान हो तो नीचे के वर्ण की कन्या से विवाह मान्य था, ऊपर के वर्ण की कन्या से नहीं । मनुस्मृति में इसे स्पष्ट किया है "द्विजों को, विवाह में, सबसे प्रथम सवर्ण विवाह करना ही श्रेष्ठ है परन्तु काम में प्रवृत्ति होने पर इस क्रम से स्त्रियाँ की जा सकती हैं। शूद्र की भार्या शूद्रा ही हो, वैश्य की शूद्रा तथा वैश्या हो, क्षत्रिय की यह दोनों तथा क्षत्रिया हो और ब्राह्मण की इन तीनों के अतिरिक्त ब्राह्मणी हो सकती है।"[१२३] फिर भी हो सकता है कि कोई उच्च वर्ण की स्त्री निम्न वर्ण के पुरुष के साथ स्थायी रूप से रहने लगे अथवा उसके साथ अनुचित सम्बन्ध रखे । इस प्रकार के विवाह को उचित नहीं माना गया

यद्यपि इससे उत्पन्न सन्तति को समाज में स्थान दिया गया। अनुलोम विवाह क्यों मान्य है और प्रतिलोम क्यों मान्य नहीं है, इसका कारण पीछे बताया गया है [१२४] जिसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं। ऐसे प्रतिलोम सम्बन्धों के विषय में तो दण्ड का भी विधान है।[१२५] अनुलोम विवाहों में भी सबसे गर्हित माना गया है द्विजों का शूद्र स्त्री से सम्बन्ध। यद्यपि ब्राह्मण को शूद्रा से भी विवाह करने की अनुमति है[१२६] फिर भी यह सम्बन्ध समाज-व्यवस्थापकों को ठीक नहीं लगा क्योंकि कि अति हीन स्त्री से विवाह करने पर हीन सन्तान ही उत्पन्न होगी। विष्णुधर्मसूत्र में कहा है कि [१२७] "द्विजों का शूद्रा को भार्या बनाना कभी भी धर्मोत्पादक नहीं हो सकता। राग से अन्धा हो कर व्यक्ति कामपूर्ति के लिए ही उससे विवाह करता है। जो द्विजाति हीन जाति की (शूद्र) स्त्रियों से विवाह करते हैं वे अपने कुलों और सन्तति को शीघ्र ही शूद्र बना लेते हैं।" याज्ञवल्क्य का कथन है[१२८] "द्विजों द्वारा शूद्रा को पत्नी बनाने के विषय में जो कहा जाता है, मेरा वैसा मत नहीं है क्योंकि उसके (पत्नी के) द्वारा व्यक्ति स्वयं ही जन्म लेता है" अर्थात् शूद्रा के गर्भ से योग्य गुणों का व्यक्ति उत्पन्न होना ही कठिन है।

विवाह सम्बन्धी एक नियम यह भी है कि सपिण्ड कन्या के साथ विवाह नहीं होना चाहिये। पिण्ड शब्द का अर्थ है शरीर।[१२९] अतः ऐसे व्यक्ति जिनके शरीरों में एकता न हो उन्हीं के पारस्परिक विवाहों की अनुमति है। इसके पीछे शारीरिक कारण भी हो सकते हैं परन्तु यह कारण तो है ही कि यदि निकट सम्बन्धियों में विवाह की अनुमति दी गयी तो निकटता के कारण और साथ-साथ में कोई प्रतिबन्ध न होने के कारण उनके सम्बन्धों में काम-भावना उत्पन्न होनी स्वाभाविक है। निकट सम्बन्धियों में विवाह को वर्जित कर काम-भावना को कम करने का प्रयत्न, यह भी एक कारण अवश्य है। सात पीढ़ी तक पिता की ओर से और पाँच पीढ़ी तक माता की ओर से सम्बन्धित स्त्री से विवाह-सम्बन्ध वर्जित है।[१३०]

दहेज की प्रथा का उल्लेख विवाह-नियमों के अन्तर्गत लगभग कहीं नहीं है। केवल ब्राह्म और दैव विवाहों में कन्या को वस्त्रों और अलङ्कारों से आभूषित करके देने का विधान है।[१३१] इसी को जिस मात्रा में दहेज कहा जा सकता है उसी मात्रा में दहेज है, परन्तु याज्ञवल्क्य ने बहुत स्पष्ट कहा है कि अपनी शक्ति-भर ऐसा करना चाहिए। वधू को उसका पिता क्या दे यह उसकी स्वेच्छा पर ही निर्भर है, इसमें वर पक्ष का कहीं भी उल्लेख नहीं है। यह पूजा की दक्षिणा के रूप में है जिसमें मोलभाव का कोई प्रश्न नहीं

है। कन्या के अभिभावकों द्वारा वस्त्र और आभूषण देने का विधान और आग्रह इसलिए है कि एक प्रकार से कन्या का सम्पत्ति में अंश है।

विवाह-विच्छेद और पुनर्विवाह का प्रश्न साथ-साथ जुड़ा है, अतः इन पर साथ-साथ ही विचार किया जायेगा। स्त्री और पुरुषों के लिए विवाह-विच्छेद धर्मशास्त्रों में लगभग कहीं भी नहीं कहा गया है। इतना ही नहीं, दोनों का परस्पर सहयोगपूर्वक रहना वताया गया है।[१३२] मनुस्मृति में यह भी कहा है कि,[१३३] "स्त्री, स्वयं तथा सन्तान, यह तीनों मिल कर पुरुष है, ऐसा विप्रों ने कहा है। स्मृतियों का कथन है, जो भर्ता है वही भार्या है। विक्रय अथवा त्याग से स्त्री, पति से अलग नहीं हो सकती। प्रजापति द्वारा पूर्व काल में निर्मित धर्म को हम इस प्रकार जानते हैं।" अतः विवाह होते ही धर्म, अर्थ, काम में एकता उत्पन्न होने के कारण विवाह-सम्बन्ध साधारणतया अविच्छेद माना गया है।[१३४] फिर भी कुछ स्थितियाँ ऐसी हैं जिसमें पति द्वारा पत्नी के और पत्नी द्वारा पति के त्यागने का विधान है, यद्यपि उसे पूर्णतया विवाह-विच्छेद नहीं कहा जा सकता। वसिष्ठ का कथन है कि[१३५] "चार प्रकार की स्त्रियाँ त्याज्य हैं—जो (पति के) गुरु अथवा शिष्य से सम्बन्ध रखे, पति को मारने का प्रयत्न करे अथवा निम्नजाति के पुरुष से संसर्ग रखे।" याज्ञवल्क्य ने [१३६] अन्य महापातक तथा भ्रूण-हत्या भी उपरोक्त प्रकार के पापों में सम्मिलित किये हैं। इसी प्रकार महापातकी पुरुषों से भी स्त्रियों द्वारा सम्बन्ध-विच्छेद का विधान है यदि वह प्रायश्चित्त न करें। इस सम्बन्ध में यह वताया गया है कि प्रायश्चित्त न करनेवाले महापातकी को मरा मान कर उसके सम्बन्धी एक रात्रि का सूतक मना लें और फिर उसके साथ वोलना, वैठना आदि वन्द कर दें।[१३७] इस व्यवस्था के वर्णन में यह तो स्पष्ट नहीं कहा गया है कि उस व्यक्ति की स्त्री भी उस महापातकी को छोड़ देगी परन्तु यह अवश्य कहा है कि महापातकी जव तक प्रायश्चित्त करता है तव तक उसकी स्त्री उसके साथ कोई सम्बन्ध न रखे।[१३८] इसका अर्थ स्पष्ट है कि यदि महापातकी प्रायश्चित्त न करे तो भी स्त्री को तत्पश्चात् उससे सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। सभी सम्बन्धियों द्वारा उसे मरा समझ कर उसके वहिष्कार करने का अर्थ भी यही है कि उसकी पत्नी और पुत्रों का भी उसके साथ सम्बन्ध नहीं रहता है, परन्तु एक वात ध्यान देने योग्य है कि इस सम्बन्ध-विच्छेद में विवाह-विच्छेद नहीं होता। वह दोनों पूर्ववत् स्त्री-पुरुष रहते हैं। जब भी महापातकी प्रायश्चित्त कर लेगा तभी वह फिर समाज में स्वीकार कर लिया जायेगा और तव तक उसकी स्त्री को उसकी प्रतीक्षा करनी है। व्यासस्मृति का कथन है[१३९] कि "महापातकी दुष्ट पति की पत्नी उससे दूर रह कर, उसका चिन्तन करती

हुई, उसकी अशुद्धि दूर हो तब तक उसकी प्रतीक्षा करे।" इसी प्रकार महापातक से दूषित स्त्री को भी त्याग करने का अर्थ विवाह-विच्छेद नहीं है। उस स्त्री से सभी प्रकार का सम्बन्ध-विच्छेद (बोलना आदि वर्जित) है परन्तु फिर भी उसे घर के अन्दर निवास देकर अन्न, वस्त्र आदि देना कहा गया है।[१४०]

यद्यपि ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट हो गया है कि स्त्री-पुरुष का पारस्परिक विवाह अविच्छेद्य है परन्तु जहाँ तक परस्पर एक-दूसरे को छोड़ने का प्रश्न है, उसमें भी यह आग्रह है कि अदूषित स्त्री अथवा पुरुष का त्याग तक न किया जाये। पुरुष के लिये यह आदेश है कि वह साध्वी पत्नी को न छोड़े। व्यास स्मृति में कहा है,[१४१] "जो दुष्ट नहीं है उस स्त्री का त्याग करनेवाले और जो दूषित नहीं है उसे दोष लगानेवाले ये दोनों दण्ड के योग्य हैं।" फिर आगे कहा है कि "अच्छा आचरण करनेवाली स्त्री को त्याग कर पुरुष धर्म से पतित होता है।" दत्तस्मृति का कथन है,[१४२] "अदुष्ट और अपतित पत्नी का जो पुरुष यौवनकाल में त्याग करता है उसे मरने पर स्त्रीत्व और बाँझपना प्राप्त होता है। जो स्त्री रोगी अथवा दरिद्र पति की अवमानना करती है वह स्त्री बार-बार कुत्ती, गधी और मकरी होती है।"

पुरुष के लिये कुछ अवस्था में बिना स्त्री का त्याग किये पुनर्विवाह का विधान है। मनुस्मृति में कहा है,[१४३] "मद्य पीनेवाली, प्रतिकूल, दुष्ट, हिंस्र, धन नष्ट करनेवाली, रोग से पीड़ित स्त्री होते हुए दूसरा विवाह कर ले। स्त्री के वन्ध्या होने पर आठवें वर्ष में, सन्तान मर जाती हो तो दसवें वर्ष में और यदि कन्या ही उत्पन्न होती हों तो ग्यारहवें वर्ष में और यदि अप्रिय वचन बोलनेवाली स्त्री हो तो तुरन्त ही, दूसरा विवाह कर ले। जो स्त्री रोगिणी हो परन्तु पति के हित में रत हो और सुशील हो उसकी अनुमति ले कर ही दूसरा विवाह करे और उसकी कभी अवमानना न करे।" याज्ञवल्क्य ने भी इसी नियम को स्वीकार किया है।[१४४] परन्तु साथ-साथ इस बात का भी आग्रह किया है कि "उस स्त्री का पोषण करना चाहिये अन्यथा पाप होगा।" स्त्री के लिये भी कुछ अवस्थाओं में पुनर्विवाह बताया गया है अर्थात् पूर्व पति से सम्बन्ध-विच्छेद भी बताया है। मनुस्मृति का कथन है कि "पति धर्मकार्य के लिए विदेश जाये तो आठ वर्ष तक, यश-प्राप्ति के लिये अथवा विद्या पढ़ने जाये तो छः वर्ष तक और आवश्यकता-पूर्ति के लिये जाये तो तीन वर्ष तक स्त्री पति की राह देखे।"[१४५] इसका स्पष्ट अर्थ है कि अन्यथा वह दूसरा विवाह कर सकती है और यह भी कहा है कि[१४६] "जो स्त्री उन्मत्त, पतित, नपुंसक, अबीज (जिसके द्वारा सन्तान न हो), पापरोगी (कोढ़ी) होने के कारण पति से द्वेष करती है वह परित्याग के तथा भूषण छीने जाने के योग्य नहीं होती।" पराशरस्मृति में कहा है कि[१४७] "नष्ट होने (पता न

चलने पर), मरने पर, संन्यासी होने पर, नपुंसक होने पर तथा पतित होने पर—इन पाँच आपत्तियों में स्त्री के अन्य पति का विधान है।" यही अग्निपुराण में कहा गया है।[१४८] धर्मशास्त्रों में कई स्थानों पर पुनर्भू की परिभाषा दी है, "जो कुमार पति को छोड़ कर अन्यों के साथ संसर्ग कर पुनः उस कुटुम्ब में आ जाती है वह पुनर्भू है। जो नपुंसक, पतित अथवा पागल पति को छोड़ कर अथवा पति के मरने पर अन्य पति ग्रहण करे वह पुनर्भू होती है।"[१४९] पुनर्भू का यह वर्णन सिद्ध करता है कि धर्मशास्त्रों को कुछ ऐसी स्त्रियों के विषय में ज्ञान है जो पुनः विवाह करती हैं और इन धर्मशास्त्रों ने इनका वर्णन करते समय इनकी भर्त्सना नहीं की है।

पुरुष अथवा स्त्री की मृत्यु हो जाने पर पति अथवा पत्नी के पुनर्विवाह के प्रश्न पर यहाँ विचार किया जा सकता है। धर्मशास्त्रों ने ऐसी स्थिति में पुरुष के लिये तो पुनर्विवाह आवश्यक बताया है[१५०] अर्थात् जब तक गृहस्थाश्रम में व्यक्ति है तब तक पत्नी रहनी ही चाहिये और यदि एक पत्नी की मृत्यु हो जाये तो दूसरा विवाह कर लेना चाहिये। यह व्यवस्था इसलिये है कि बिना पत्नी के पुरुष के नित्य कर्मों में अर्थात् धर्म में बाधा पड़ती है।[१५१] स्त्री के पति के मर जाने पर पुनर्विवाह की अनुमति के विषय में ऊपर पराशर स्मृति, अग्निपुराण, के उद्धरण दिये ही हैं।[१५२] स्त्री के लिये पुनर्विवाह के अतिरिक्त नियोग की भी प्रथा वर्णित है[१५३] जिसके अन्तर्गत यदि पति के द्वारा स्त्री में कोई पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ है तब परिवार के गुरुजन मिल कर पति के किसी भाई को अथवा सपिण्ड और सगोत्र को अथवा किसी ब्राह्मण ऋत्विज को उस पति के लिये पुत्र उत्पन्न करने के लिये नियुक्त करते हैं। इस प्रकार के सम्बन्ध के लिये कुछ नियम बनाये गये हैं जो इस दृष्टि से रखे गये हैं कि इस प्रकार के सम्बन्धों में यथा सम्भव काम-वासना का विकास न हो। इसलिये यह कहा है कि नियुक्त व्यक्ति शरीर पर घी लगा कर उस स्त्री से संसर्ग तो करे परन्तु काम-भावना के साथ नहीं अर्थात् चुम्बन, काम-क्रीड़ा आदि नहीं होनी चाहिये। वह व्यक्ति इस प्रकार से एक अथवा अधिक-से-अधिक दो पुत्र उत्पन्न कर सकता है। परन्तु तत्पश्चात् उन दोनों को अपना सम्बन्ध वैसा ही रखना चाहिये जैसा नियोग के पूर्व था। यदि इस बीच में पुरुष काम-भावनावश संसर्ग करता है अथवा यदि वह तत्पश्चात भी काम-सम्बन्ध रखता है तो वह पुत्रवधूगमन का (यदि वह बड़ा है) अथवा (यदि वह छोटा है) गुरुपत्नीगमन का दोषी होता है।[१५४]

यह तो सत्य है कि व्यावहारिक दृष्टि से स्त्रियों को पुनर्विवाह की अथवा नियोग की अनुमति है परन्तु श्रेष्ठ बात यही मानी गयी है कि विधवा-विवाह न हो अथवा नियोग भी न किया जाये। मनुस्मृति ने नियोग की प्रथा का वर्णन

करने के पश्चात् उसको बहुत निन्दनीय कहा है। मनु ने इसे स्त्रियों का आपद्धर्म बता कर[155] तत्पश्चात् कहा है, "द्विजों को विधवाओं के लिये अन्य व्यक्तियों को नियुक्त नहीं करना चाहिए क्योंकि जो व्यक्ति नियुक्त करते हैं वे सनातन धर्म को नष्ट करते हैं। विवाह के मन्त्रों में नियोग कहीं नहीं कहा गया है और विवाह-विधि में भी पुनः विधवा-विवाह नहीं कहा गया है। विद्वान् द्विजों ने इसे निन्दित पशु-धर्म कहा है और वेन राजा के राज्य में इसका मनुष्यों में प्रचार हुआ था। उस राजर्षिप्रवर ने पूर्व काल में सम्पूर्ण पृथिवी का भोग कर काम-बुद्धि से हत हो कर इस वर्णसङ्करता को फैलाया था। तब से, जिन स्त्रियों के पति मर गये हैं, उनको जो मोहवश सन्तान के लिये नियुक्त करता है, साधुजन उसकी निन्दा करते हैं।"[156] मनु के सम्पूर्ण कथन का अर्थ स्पष्ट है कि नियोग नहीं ही करना चाहिये। यह केवल स्त्रियों का आपद्धर्म होने के कारण जब किसी प्रकार भी संयम सम्भव न हो अथवा पुत्रोत्पत्ति की बहुत आवश्यकता हो तभी नियोग किया जाये, यह माना गया है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में नियोग के अन्तर्गत सन्तानोत्पादन का लाभ और इसके द्वारा धर्म की हानि, दोनों की तुलना की है।[157] कहा है कि "नियुक्त व्यक्ति का हाथ पराया हाथ है। इस व्यतिक्रम से दोनों को नरक प्राप्त होता है। नियमों के पालन से जो लाभ है वह सन्तति-प्राप्ति के लाभ से बड़ा है।" विधवा-विवाह का निषेध याज्ञवल्क्यस्मृति में भी किया है।[158] पति के जीवित रहने पर अथवा मरने पर जो अन्य पुरुष के पास नहीं जाती (संसर्ग नहीं करती) उसे कीर्ति प्राप्त होती है और वह जन्मान्तर तक पति के साथ आनन्द करती है। पराशरस्मृति में दूसरे पति का विधान बताने के पश्चात् दूसरे ही श्लोक में कहा है कि "ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाली विधवा अन्य ब्रह्मचारियों के समान स्वर्ग जाती है।"[159] स्त्री के लिए पातिव्रत्य के भी जो नियम बताये गये हैं उनमें भी यही कहा गया है कि एक पति को छोड़ कर चाहे वह कैसा ही हो दूसरा पति नहीं करना चाहिए। शतपथब्राह्मण में राजकुमारी सुकन्या की कथा है[160] जिसका कि वृद्ध तथा निर्बल च्यवन ऋषि से विवाह हुआ तथा जिसने कहा कि "जिसको मेरे पिता ने मुझे दिया है वह जब तक जीवित है मैं उसे न छोड़ूँगी।"[161] पुराणों में भी एक पतिव्रता स्त्री के सतीत्व-तेज की कथा है जिसके पति ने एक वेश्या के प्रति कामासक्त हो कर उस वेश्या से सम्बन्ध की इच्छा प्रकट की। जब वह स्त्री, पति को कन्धे पर बैठा कर उसे वेश्या के घर ले जाने लगी तो मार्ग में एक ऋषि को चोट लग जाने से उन्होंने उस पुरुष को सूर्योदय होने पर मरने का श्राप दिया। परन्तु उस स्त्री ने अपने पातिव्रत्य से सूर्य का उदय ही रोक दिया।[162]

इस प्रकार जहाँ तक पुनर्विवाह और विधवा-विवाह का प्रश्न है, उसमें पुरुष के लिए सबसे श्रेष्ठ यह माना गया है कि वह अपनी साध्वी पत्नी का कदापि न त्याग करे यद्यपि धर्म की दृष्टि से आवश्यक होने पर एक पत्नी के होते हुए भी उसे पुनर्विवाह करने की अनुमति है। पत्नी के मरने पर तो पुरुष के लिए पुनर्विवाह आवश्यक बताया ही गया है। स्त्रियों के लिए सबसे श्रेष्ठ अवस्था यह है कि वह पति के जीवित रहते हुए (चाहे वह हीन हो) अथवा मरने पर भी पुनर्विवाह कदापि न करे। यदि बहुत ही आवश्यक हो और उसके बिना रहना सम्भव न हो (आपद्धर्म) तभी नियोग का अथवा पुनर्विवाह का विधान है। स्त्रियों और पुरुषों में यह भिन्नता दोनों के स्वभाव और कार्यों को ध्यान में रख कर की गयी है जिसका विस्तृत वर्णन पीछे किया गया है। स्त्री की उन्नति की दृष्टि से भी इस प्रकार का संयम लाभप्रद माना है और यही संयम स्त्री के लिए ब्रह्मचर्य अथवा संन्यास के समान श्रेष्ठ है। "ब्रह्मचर्य में स्थित साध्वी स्त्री अपुत्र होने पर भी उन (नैष्ठिक) ब्रह्मचारियों के समान स्वर्ग जाती है।"[१६३] जो संयम पुरुष के लिए गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में बताया गया है, वही संयम निर्माण करने के लिए स्त्री को पुनर्विवाह न करने का आग्रह है।

बहु विवाह, पुरुषों और स्त्रियों दोनों के लिए वर्जित है। आपस्तम्ब ने कहा है कि [१६४] "धर्म पालन करनेवाली और सन्तान से युक्त स्त्री होने पर दूसरी शादी नहीं करनी चाहिए।" पुरुष के बहुविवाह के विषय में दक्षस्मृति में कहा है,[१६५] "जिसकी स्त्री प्रतिकूल है और जिसकी दो स्त्रियाँ हैं उसकी सब स्त्रियाँ जोंक के समान है।" कात्यायनस्मृति का कथन है,[१६६] "जो स्त्रीवान् अग्निहोत्र पुरुष किसी कारण से दूसरी पत्नी की इच्छा करे तो उसके लिए होम का विधान कहाँ है ?" पीछे स्त्री के जीवित रहते हुए पुनर्विवाह के जो उदाहरण दिये गये हैं, उनको वास्तविक अर्थ में बहु विवाह की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। भारत में विवाह का मूल उद्देश्य जब धर्मपूर्ति रखा गया तब यह ऊपर दिये उदाहरण (सन्तान न होने पर पुनर्विवाह आदि) उस दृष्टि से नवीन विवाह ही कहे जा सकते हैं, बहुविवाह नहीं। बहुविवाह का अर्थ है कि काम-भावना से प्रेरित होकर व्यक्ति एक से अधिक विवाह करे और अंग्रेजी में Polygamy शब्द में भी यही भावना निहित हैं। ऊपर बताये गये इन पुनर्विवाहों में वह भावना नहीं है। इस प्रकार के पुनर्विवाह की अनुमति तभी है जब कि पुरुष अपनी प्रथम पत्नी के द्वारा अपने सामाजिक उत्तरदायित्व धर्म, पञ्चमहायज्ञ, पुत्रोत्पत्ति आदि पूर्ण नहीं कर सकता। धर्मशास्त्रों का यह नियम भी है कि ब्राह्मण चाहे तो चारों वर्णों की स्त्रियों से, क्षत्रिय तीन वर्णों की, वैश्य दो वर्णों की और शूद्र एक

वर्ण की स्त्री से विवाह करे, पर यह बहुविवाह का द्योतक नहीं है क्योंकि इसका अर्थ केवल इतना ही है कि ब्राह्मण चारों वर्णों में से किसी वर्ण की स्त्री से विवाह कर सकता है, क्षत्रिय तीनों वर्णों में से किसी भी वर्ण की स्त्री से और इसी अनुसार वैश्य आदि भी (स्पष्ट समझने के लिए देखिए ऊपर)। स्त्रियों का तो बहुविवाह सम्भव ही नहीं है और वह कई पतियों के साथ रह ही नहीं सकती, जब तक कि उसी परिवार के कई व्यक्तियों की वह सम्मिलित पत्नी न हो, क्योंकि स्त्री को पिता के घर से जा कर पति के घर रहना पड़ता है। इस प्रकार का बहुपतित्व का विधान भी भारतीय समाज-रचना का कहीं नहीं दिखायी देता है और धर्मग्रन्थों में द्रौपदी का जो एक मात्र उदाहरण है, उसमें भी द्रौपदी के पूर्वजन्म की कथा तथा अन्य कारण बता कर किसी प्रकार से इस एकमात्र उदाहरण के सम्बन्ध में यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि द्रौपदी को एक अपवाद के रूप में मानना चाहिए और साधारण अवस्था में यह बात मान्य नहीं है। इस प्रकार यही अच्छा माना गया है कि पुरुष अथवा स्त्री किसी का भी बहुविवाह नहीं होना चाहिए। फिर भी इतिहास-पुराण ग्रन्थों में कई राजाओं के बहुपत्नीत्व के उदाहरण पाये जाते हैं। क्षत्रिय में रजोगुण होने के कारण भोग का प्राबल्य स्वाभाविक है और उसके पास राज्य-सत्ता का अधिकार होने के कारण, इस भोगेच्छा को पूर्ण करने की सब सम्भव सुविधा तथा शक्ति है, यदि उसने इस भोगेच्छा को अनुचित रीति से पूर्ण करने का प्रयत्न किया तो उसका तो पतन होगा ही, साथ ही यह समाज-जीवन के लिए भी अनुपयुक्त आदर्श, दूषित वातावरण तथा राजा और प्रजा में परस्पर द्वेष उत्पन्न करनेवाला दुष्परिणामकारी होगा। इसलिए उसकी अधिकार-सत्ता द्वारा इस भोगेच्छा को पूर्ण करने की क्षमता धर्मशास्त्रों ने समझ कर उसकी भोगेच्छा की स्वाभाविक स्थिति को स्वीकार किया है। इसीलिये जैसा बताया गया, क्षत्रियों को गान्धर्व (प्रेम-विवाह) तथा राक्षस विवाह (बलपूर्वक स्त्री ग्रहण कर विवाह)—की दूसरे शब्दों में बहु-विवाह की भी अनुमति दी गयी है। फिर भी जहाँ तक सम्भव हो उन्हें संयमित करने के लिए पर-स्त्री सम्बन्ध वर्जित किया गया है और इस प्रकार उनको उनके उपयुक्त धर्म बता कर तथा उस धर्म की मर्यादा के अन्दर उन्हें प्रस्थापित कर उनकी दृष्टि से भी उन्नति का मार्ग निर्धारित किया गया है। अधिक कठोर मर्यादा लगाने का अर्थ होता है उस मर्यादा को भङ्ग करवाना और समाज-जीवन में भी विश्रृङ्खलता उत्पन्न करना। इस प्रकार का आदर्श सामने रखते हुए भी व्यावहारिकता को मान्य कर नियम बनाया गया है। फिर भी बहुविवाह की हेयता और एकपत्नीव्रत की महत्ता बताने के लिए रामायण

की कथा है जिसमें दशरथ के बहुपत्नीत्व और राम के एकपत्नीव्रत के आदर्श की तुलना की गयी है।[१६७]

पर-स्त्री अथवा पर-पुरुष सम्बन्ध तो बिल्कुल ही वर्जित है।[१६८] इसके अतिरिक्त किसी पुरुष द्वारा पर-स्त्री में उसके पति के जीवित रहते हुए अथवा पति के मरने पर उत्पन्न पुत्रों को क्रमशः कुण्ड और गोलक कहा है।[१६९] उनकी निन्दा में पराशरस्मृति में कहा है कि "जल के अथवा पवन द्वारा जिसके खेत में बीज पहुँच जाता है वह उसी क्षेत्र के स्वामी का होता है, बीजवाले को उसका भाग नहीं मिलता है। इसी प्रकार पर-स्त्री में उत्पन्न कुण्ड और गोलक नामक पुत्रों के सम्बन्ध में है।" कुण्ड और गोलक यह दान के अपात्र और पंक्तिदूषक (श्राद्ध के भोजन के अपात्र) माने गये हैं।[१७०] जिस प्रकार पुरुष के लिये पर-स्त्री सम्बन्ध वर्जित है उसी प्रकार स्त्री के लिये भी पर-पुरुष सम्बन्ध वर्जित है। पराशरस्मृति का कथन है,[१७१] "जो स्त्री अपने सजातीय बान्धवों के साथ दुष्ट आचरण करती है अथवा गर्भपात करती है, उससे पति कभी न बोले।" फिर आगे आग्रह के साथ कहा है,[१७२] "पति के मरने अथवा त्याग करने पर जो स्त्री जार (पर-पुरुष) से गर्भ धारण करती है, उस पतित और पाप कर्म करनेवाली को दूसरे राज्य में छोड़ दिया जाये। जो ब्राह्मणी पर-पुरुष के साथ चली जाये उसे नष्टा कहते हैं, उसको फिर वापिस नहीं लिया जा सकता। काम से अथवा मोह से जो नारी सम्बन्धियों, पति और पुत्र को छोड़ कर चली जाये वह परलोक में और विशेष रूप से मनुष्यलोक में नष्टा है। परन्तु मद और मोह के कारण अथवा क्रोध से दण्ड द्वारा ताड़ित होने पर जो अकेली चली जाये उसे वापिस लिया जाये और दस दिन तक उसका कोई प्रायश्चित्त नहीं है क्योंकि दस दिन तक नारी को न छोड़े परन्तु यदि वह नष्टा हो जाये तो उसे छोड़ दे।" इसके अतिरिक्त शास्त्रों में विभिन्न प्रकार की पर-स्त्रियों से सम्बन्धों के प्रायश्चित्त भी दिये हुए हैं। यमस्मृति का कथन है,[१७३] "माता, गुरुपत्नी, बहन, लड़की, पुत्रवधू इनके साथ गमन कर पुरुष अग्नि में प्रवेश कर जाये; अन्य शुद्धि (प्रायश्चित्त) का विधान नहीं है। रानी, सन्यासिनी, धाय, उत्तम वर्ण की स्त्री और अपने गोत्र की स्त्री, इनके साथ गमन कर दो कृच्छ्र करे। अन्य माता, पिता के गोत्र की स्त्रियों अथवा पर-स्त्री के साथ गमन कर सान्तपन कृच्छ्र करे। वेश्या के साथ गमन करके द्विज के, अत्यन्त तपे हुए कुशा के जल को पाँच रात तक प्रति दिन एक बार पी कर पाप नष्ट होते हैं।" स्त्रियों के लिये भी पुरुषों के समान प्रायश्चित्त बताया है।[१७४] परस्त्री-गमन और परपुरुष-गमन के लिये राज्य द्वारा दण्ड का भी विधान है।

ऊपर के विवेचन से यह ज्ञात हुआ होगा कि उपरोक्त राज्य द्वारा दण्ड का

विधान केवल दो स्थिति में है—एक तो तब जब उच्च वर्ण की स्त्री का निम्न-वर्ण के पुरुष से सम्बन्ध होता है और दूसरे परस्त्री-गमन में। अन्य स्थिति में यथा बहुविवाह, विधवा-विवाह, पुनर्विवाह, अन्य प्रकार के असवर्ण विवाह करने पर राज्य द्वारा दण्ड का कोई विधान नहीं है। इन सब स्थितियों में, जो श्रेष्ठ समाज-नियम निर्माण किये गये हैं उनके पालन का आग्रह है तथा उनका उल्लङ्घन करना हेय भी माना गया है, परन्तु उनके उल्लङ्घन पर दण्ड का विधान नहीं है। इस प्रकार के समाज-नियमों के उल्लङ्घन के कार्यों को (यथा सवर्णविवाह करने को, पुनर्विवाह न करने को) हेय मानते हुए भी, यदि किसी ने वैसा किया तो उसे भी समाज की व्यवस्था में कोई-न-कोई स्थान अवश्य दिया गया है और उसे समाज से वहिष्कृत नहीं किया गया है। व्यक्ति का पतन हो सकता है परन्तु उसकी उन्नति का मार्ग फिर भी खुला रहना चाहिये। दण्ड उसी समय दिया जा सकता है जब समाज-नियमों का इतना घोर उल्लङ्घन हो कि उसके कारण सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था के विशृङ्खल होने की सम्भावना हो। ऐसे उल्लङ्घनों में पर-स्त्री और पर-पुरुष का सम्बन्ध सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। परस्त्री-गमन के सम्बन्ध में मनु का कथन है, "राजा को चाहिये कि परायी स्त्री से संसर्ग करने पर मनुष्यों को अनेक भाँति के उद्वेगजनक शरीर-दण्ड आदि दे कर देश से निकाल दे। परायी स्त्री से विषय-भोग करने से वर्णसङ्कर उत्पन्न होता है जिसके द्वारा संसार के मूल को नष्ट करनेवाला अधर्म सबके नाश के लिये उत्पन्न होता है।"[१७५] याज्ञवल्क्यस्मृति में विस्तार के साथ दिया हुआ नियम इस प्रकार है,[१७६] जिसमें पर-स्त्री-सम्बन्ध का पूर्ण अर्थ भी स्पष्ट किया है। "परायी स्त्रियों के केश पकड़ने पर अथवा उसके शरीर पर कामपूर्ण चिह्न (नख, दन्त आदि के) अङ्कित करने पर अथवा दोनों की परस्पर प्रीतियुक्त चेष्टाओं पर पुरुष को व्यभिचार के दोष में पकड़ लेना चाहिये। जो पुरुष स्त्री की नीवी (कमर), स्तन के आवरण (चोली आदि), जंघा और केशों को स्पर्श करे अथवा अनुपयुक्त समय और स्थान पर उसके साथ बातचीत करे अथवा उसके साथ एक आसन (शैय्या आदि) पर बैठे (उसको भी)। यदि मना करने पर भी स्त्री ऐसी चेष्टाएँ करे तो उसे सौ-पण और पुरुष को दो-सौ पण दण्ड हो और दोनों को मना करने पर यदि दोनों वैसा करें तो संग्रहण (व्यभिचार) का दण्ड देना चाहिये। अपने वर्ण की स्त्री से व्यभिचार पर उत्तम साहस का दण्ड (१००० पण), नीच वर्ण कीं स्त्री से व्यभिचार पर मध्यम साहस का दण्ड (५००० पण) और उत्तम वर्ण की स्त्री से भोग करने पर पुरुष को वध दण्ड दिया जाये और स्त्री के नाक-कान कटवा लिये जायें।" मनुस्मृति में भी इसी प्रकार से विस्तार के साथ स्त्री-संग्रहण (व्यभिचार) के नियम दिये हैं[१७७]

परन्तु इस पाप की गुरुता बताने के लिये कहा है,[१७८] "जो स्त्री जाति और गुण के गर्व से पति का उल्लङ्घन करती है (परपुरुष-गमन करती है), उसे राजा बहुत से व्यक्तियों के सामने कुत्तों द्वारा नुचवा ले तथा पापी पुरुष को तपे लोहे की शैय्या पर सुला कर और उसके ऊपर लकड़ी रख कर उस पापी को जला दे।" व्यभिचार-सम्बन्धी नियम कौटिल्य में भी दिये हुए हैं।[१७९]

सातवाँ अध्याय

अन्य सामाजिक प्रश्न

समाज की व्यवस्था करने के पश्चात् भी प्रत्येक समाज में अन्य समस्याएँ भी होती हैं। सबसे प्रथम समाज के योग्य नागरिक तैयार करने के लिए समाज में शिक्षा की व्यवस्था करनी होती है। समाज का जीवन चलाने के लिए सुव्यवस्थित आर्थिक रचना की भी आवश्यकता होती है। साथ-ही-साथ समाज के अन्दर नैतिकता की धारणा निर्माण करने की भी आवश्यकता होती है। इन सब विषयों का धर्मशास्त्रों ने समाज-व्यवस्था से पृथक् विचार नहीं किया है, अपितु, समाज-व्यवस्था का विश्लेषण करते हुए इन प्रश्नों का उसी के अन्तर्गत विचार हो गया है। ब्रह्मचर्याश्रम के वर्णन में मूल रीति से शिक्षापद्धति का विचार आ जाता है; नैतिक नियम पाप और पुण्य के नाम से समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत दिये गये हैं; आर्थिक जीवन के सम्बन्ध में यद्यपि 'वार्ता' के नाम से विचार किया गया है परन्तु प्रमुख नियम धर्मशास्त्रों में भी मिलते हैं। इस कारण इन सब विषयों का ज्ञान भी धर्मशास्त्रों और अर्थशास्त्रों से ही उपलब्ध होता है।

शिक्षा-पद्धति

विद्या का भारतीय जीवन-दर्शन में बहुत महत्त्व है। अथर्ववेद में जो ब्रह्मचर्य सूक्त है, उसमें यह बताया गया है कि ब्रह्मचारी का समाज-जीवन में कितना महत्त्व है।[1] पिछले अध्याय में यह दिखाया ही गया है कि भारतीय विचारकों ने शिक्षा को समाज-रचना में इतना महत्त्व दिया कि व्यक्ति द्वारा शिक्षा का प्रारम्भ उसके लिए मानो एक नया ही जन्म माना गया। यह भी पहले बताया जा चुका है कि जिनकी शिक्षा नहीं होती उन्हें सावित्री-पतित अथवा व्रात्य कहा गया है और उनसे सम्बन्ध रखना अच्छा नहीं माना गया। संस्कारों का महत्त्व दिखाते हुए भी बताया गया है कि जन्म से तो व्यक्ति शूद्र होता है परन्तु संस्कार

से ही द्विज होता है और जिस संस्कार का मुख्य रीति से यहाँ सन्दर्भ है, वह उपनयन-संस्कार है।[2] विद्या का इतना महत्त्व माना गया है कि विद्यादान सब दानों में श्रेष्ठ है।[3] अग्निपुराण में[4] विद्या का महत्त्व बताते हुए कहा है, "विद्या कामधेनु है (तत्समान सभी कुछ देनेवाली) तथा यह उत्तम चक्षु है" (अर्थात् इससे सभी बातों को ठीक रीति से देखने की दृष्टि आ जाती है)। उपनिषदों में भी विद्या का बहुत महत्त्व वर्णित है।[5]

शिक्षा प्राप्त करने की अर्थात् अध्ययन प्रारम्भ करने की अवस्था निर्धारित कर दी गयी है। यह अवस्था ब्राह्मणों के लिए आठ वर्ष, क्षत्रियों के लिए ग्यारह वर्ष और वैश्यों के लिए बारह वर्ष है। परन्तु इससे पूर्व भी शिक्षा प्रारम्भ की जा सकती है और वह अधिक गुणकारी मानी गयी है। हो सकता है कि किसी विशेष कारण से अथवा असावधानी से शिक्षा का प्रारम्भ देर से किया जाये। इसके लिए भी व्यवस्था है। परन्तु एक आयु निर्धारित कर दी गयी है जिसके पश्चात् शिक्षा देने का कोई विशेष लाभ नहीं माना गया है। मनुस्मृति में यह नियम इस प्रकार दिया हुआ है,[6] "ब्राह्मण का उपनयन गर्भ से आठवें वर्ष में करे, क्षत्रिय का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य का गर्भ से बारहवें वर्ष में। ब्रह्मतेज की इच्छा करनेवाले ब्राह्मण का पाँचवें वर्ष में, बल के चाहनेवाले क्षत्रिय का छठे वर्ष में और धन चाहनेवाले वैश्य का आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करना चाहिए। सोलह वर्ष तक ब्राह्मण की, बाईस वर्ष तक क्षत्रिय की और चौबीस वर्ष तक वैश्य की सरस्वती का अतिक्रमण नहीं होता (अर्थात् इस अवस्था तक उनका उपनयन हो सकता है)।" उपनयन का अर्थात् विद्यारम्भ का यही नियम गृह्यसूत्रों ने तथा अन्य स्मृतियों और पुराणों ने दिया है।[7] इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति ने यदि अवधि-विशेष तक शिक्षा नहीं प्राप्त की तो ऐसा समझना चाहिए कि उसको शिक्षा प्राप्त कर उन्नत जीवन व्यतीत करने की इच्छा ही नहीं, वह हीन जीवन ही व्यतीत करना चाहता है और ऐसे असंस्कृत व्यक्ति के साथ सम्बन्ध रखना अन्य लोगों को भी पतित करेगा तथा ऐसे पतित व्यक्ति को समाज में उत्तरदायित्वपूर्ण अथवा प्रतिष्ठापूर्ण स्थान पर बिलकुल नहीं रखा जा सकता। ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि अर्थात् अध्ययन-काल पूर्णतया निश्चित नहीं है। परन्तु साधारणतया १२ वर्ष का कम-से-कम अध्ययन-काल निर्धारित किया गया है। ऐसी आशा थी कि बारह वर्ष में एक वेद का अध्ययन समाप्त हो जायेगा, इस कारण अध्ययन का साधारणतया वही काल रखा गया है। परन्तु यदि व्यक्ति को अधिक अध्ययन करने की इच्छा हो तो चारों वेदों के अध्ययन के लिए ४८ वर्ष तक का काल व्यतीत किया जा सकता है और यह भी हो सकता है कि कोई व्यक्ति मेधावी होने के कारण अपना अध्ययन शीघ्र ही समाप्त कर ले। गोपथ-ब्राह्मण

में कहा है[8] कि "(सभी) वेदों (के अध्ययन) के लिए ब्रह्मचर्य का काल ४८ वर्ष बताया गया है और वेदों को चार भागों में बाँट कर बारह वर्ष का ब्रह्मचर्य का काल है। यह बारह वर्ष का काल अल्पतम है और समावर्तन संस्कार के पूर्व यथाशक्ति (वेद का) अध्ययन कर लेना चाहिए।" छान्दोग्योपनिषद्[9] में कथा है कि अरुण के पौत्र (उद्दालक के पुत्र) श्वेतकेतु को उसके पिता ने ब्रह्मचर्यवास के लिए भेजा। उसने बारह वर्ष की अवस्था में उपनयन कराया और चौवीसवें वर्ष में (अर्थात् बारह वर्ष के पश्चात्) सभी वेदों का अध्ययन करके वह वापिस लौट आया। उपरोक्त उद्धरण में तथा कथा में अध्ययन का काल तो निर्दिष्ट है ही, साथ-ही-साथ यह भी इङ्गित किया गया है कि अधिक योग्य व्यक्ति बारह वर्ष में एक से अधिक वेद भी समाप्त कर सकता था। मनुस्मृति में तीन वेद के पठन का काल छत्तीस वर्ष बताया गया है,[10] परन्तु उससे भी कम काल का विधान है। मनु और याज्ञवल्क्य[11] का यह भी कहना है कि शिक्षाक्रम के बीच में व्यवधान नहीं पड़ना चाहिए अर्थात् ब्रह्मचर्य अखण्डित रहना चाहिए।

शिक्षा के पीछे यह दृष्टि थी कि व्यक्ति शिक्षा प्राप्त कर समाज-जीवन का भार वहन करने के लिए तैयार हो तथा शिक्षा के द्वारा व्यक्तियों को निःस्वार्थ जीवन व्यतीत करने की, समाज-सेवा की और इस प्रकार अपने व्यक्तित्व को समष्टि में लीन कर ब्रह्म-प्राप्ति की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा प्राप्त हो, अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करते हुए उसको ब्रह्मज्ञान की ओर अग्रसर होने योग्य और भौतिक दृष्टि से समाज-जीवन का उत्तरदायित्व निबाहने के योग्य व्यक्ति को तैयार करना शिक्षा का उद्देश्य था। सम्पूर्ण शिक्षापद्धति का निर्माण इसी एक प्रमुख दृष्टिकोण से किया गया था। पाठ्यक्रम भी इसी दृष्टि से निर्धारित था। इसी कारण शिक्षा के पाठ्यक्रम में सबसे प्रमुख वेद हैं। ऊपर हम देख ही चुके हैं कि वेदों के अध्ययन के अनुसार ही शिक्षा का काल निर्धारित किया गया है। वेद को धर्म का मूल माना ही गया है (जैसा पहले अध्याय में बताया गया है) और इस कारण वेदाध्ययन के द्वारा ही धर्म का ज्ञान भी अच्छी प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है। यदि व्यक्ति को धर्म का ज्ञान न होगा और तदनुसार जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा न होगी तो वह समाज-जीवन में सहायक तो हो ही नहीं सकता, प्रत्युत् बहुत अंशों में यही सम्भव है कि वह समाज-जीवन में बाधा और विशृङ्खलता उत्पन्न करेगा। विद्यार्थी-जीवन व्यक्ति के विकास की प्रारम्भिक अवस्था है और इस काल में ही व्यक्ति का निर्माण किया जा सकता है, परन्तु यदि इसी काल में किसी व्यक्ति के आगे के सम्पूर्ण जीवन की उचित नींव न पड़ी तो वह स्वयं तो गिरेगा ही, साथ-ही-साथ वह समाज-जीवन को भी नष्ट करेगा। यह धारणा

भारतीय समाजशास्त्रियों की थी और इस कारण जीवन में अन्य संयमों की शिक्षा के साथ (जिनका आगे वर्णन किया गया है) धर्म की शिक्षा भी अनिवार्य बतायी गयी थी। इसके अतिरिक्त वेद ब्रह्मज्ञान के भी प्रदर्शक माने गये थे।[१२] महाभारत में कहा है,[१३] "श्रद्धा और विश्वासपूर्वक निश्चयात्मक बोध ही मोक्ष का स्वरूप है। यदि तुम एक अविनाशी (ब्रह्म) से सम्बन्धित तत्त्व को जानना चाहते हो तो कोरा तर्कवाद छोड़ कर श्रुतियों और स्मृतियों का आश्रय लो। उनमें आत्मा का बोध करानेवाली बहुत ही उत्तम युक्तियाँ उपलब्ध हैं। जो शुष्क तर्क का आश्रय लेता है उसे साधन की विपरीतता के कारण बुद्धि की सिद्धि नहीं होती। अतः आत्मा को वेदों के द्वारा ही जानना चाहिए, क्योंकि आत्मा वेदस्वरूप है, वेद ही उसका शरीर है। वेद से ही तत्त्व (ब्रह्मज्ञान) का बोध होता है। आत्मा में ही वेदों का उपसंहार या लय होता है।" अथर्ववेद को तो ब्रह्मवेद बताया ही गया है।[१४] इन ग्रन्थों की उक्तियों के अतिरिक्त भी यदि हम देखें तो वेदों में विभिन्न देवताओं की उपासना है और सभी देवता भिन्न-भिन्न रूपों में ब्रह्म के ही प्रतीक है,[१५] अतः देवताओं की स्तुति ब्रह्मोपासना ही है। इस कारण वेदाध्ययन का महत्त्व धर्मग्रन्थों में वर्णित है। मनुस्मृति में ब्रह्मचर्यधर्म के अन्तर्गत कहा गया, "इस क्रम-योग से संस्कार-प्राप्त आत्मावाला द्विज गुरु के पास रहता हुआ धीरे-धीरे ब्रह्म के पास ले जानेवाले तप का सञ्चय करे। विधिपूर्ण तपों और विविध व्रतों के माध्यम से द्विज को सरहस्य (उपनिषद्युक्त) वेद पढ़ना चाहिए। तप करता हुआ द्विज सदा वेद का ही अभ्यास करता रहे। वेदाभ्यास ही ब्राह्मण का श्रेष्ठ तप कहा गया है। जो ब्राह्मण नित्यप्रति शक्ति के अनुसार वेद पढ़ता है, वह चरण से नखों तक (सर्वदेहव्यापी) बड़ा भारी तप करता है। जो ब्राह्मण वेद न पढ़ कर अन्यत्र श्रम करता है वह जीते जी कुटुम्ब-सहित शूद्र हो जाता है।"[१६] नारदपुराण, विष्णुपुराण, मार्कण्डेयपुराण आदि सभी पुराणों में[१७] जहाँ ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन है, वहीं पर प्रमुख रीति से वेदाध्ययन पर बल दिया गया है। केवल वेदाध्ययन का ही महत्त्व नहीं बताया है, वेदार्थ को हृदयङ्गम कर उसके अनुसार आचरण करना भी आवश्यक है। दक्षस्मृति ने वेदाभ्यास पाँच प्रकार का बताया है—वेद का स्वीकार (स्मरण), विचार (अर्थ-विचार), अभ्यास, जप तथा शिष्यों को दान (पढ़ाना)।[१८] मनुस्मृति[१९] में पहिले वेद-शास्त्र के तत्त्व को जाननेवालों का महत्त्व बता कर फिर कहा है कि अज्ञ लोगों से ग्रन्थ पढ़नेवाले श्रेष्ठ हैं, ग्रन्थ को केवल पढ़नेवालों से उसे धारण करनेवाले (स्मरण रखनेवाले) श्रेष्ठ हैं, धारण करनेवालों से ज्ञानी (अर्थ जाननेवाले) श्रेष्ठ हैं और ज्ञानियों से उनके अनुसार आचरण करनेवाले श्रेष्ठ हैं।

पाठ्यक्रम में वेद तो थे ही इसके अतिरिक्त भी अन्य धर्मग्रन्थ थे। सांसारिक दृष्टि से भी व्यक्ति को तैयार करना आवश्यक था जिससे वह अपना जीवन सुचारुरूप से चला सके। इसके लिए अन्य विषय भी थे। अतः धर्मशास्त्रों में अन्य भी विद्याओं का उल्लेख आता है। शतपथ ब्राह्मण में स्वाध्याय के अन्तर्गत चारों वेद, इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी आदि का पाठ बताया गया है।[२०] गोपथ ब्राह्मण में कहा है कि वेदों के साथ कला, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास, उपाख्यान, पुराण, अनुशासन, वाकोवाक्य आदि का भी निर्माण हुआ है। चार वेद और वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष) आदि का उल्लेख मुण्डकोपनिषद् में है,[२१] जहाँ चारों वेदों के साथ उपनिषद् और इतिहास-पुराण का उल्लेख अपरा-विद्या के नाम से किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में बहुत बड़ी सूची है। नारद सनत्कुमार से कहते हैं[२२] कि, "मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद जानता हूँ। इतिहास-पुराण रूप पाँचवाँ वेद, वेदों का वेद (व्याकरण), पित्र्य (श्राद्धकल्प), राशि (गणित), दैव (शकुन-विद्या), निधिशास्त्र, (अर्थशास्त्र), वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र), एकायन (नीति), देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, पशुज्ञान शास्त्र-विद्या (धनुर्वेद), नक्षत्रविद्या (ज्योतिप), सर्पविद्या, देवजनविद्या (नृत्य, सङ्गीत आदि) सब कुछ जानता हूँ।" याज्ञवल्क्यस्मृति में, मत्स्यपुराण में तथा वायुपुराण में विद्या के चौदह स्थान गिनाये हैं[२३-४] वेद, ६ वेदाङ्ग, कम स्थान पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र। वायुपुराण तथा गरुड़पुराण में चौदह विद्याओं के साथ चार और विद्याओं का भी उल्लेख है[२४]—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद तथा अर्थशास्त्र जो कि क्रमशः चारों वेदों के उपवेद हैं। शुक्रनीति में[२५] बत्तीस विद्याओं और चौसठ कलाओं का वर्णन है। बत्तीस विद्याओं के अन्तर्गत चार वेद, छः वेदाङ्ग, चार उपवेद, मीमांसा, न्याय, सांख्य, वेदान्त, योग, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र (स्मृति), नास्तिकों का मत, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, शिल्पशास्त्र, अलङ्कार, काव्य, देशभाषा, अवसरोक्ति, यवनों का मत, देशादि के धर्म हैं तथा ६४ कलाओं में गान्धर्ववेद की अर्थात् (संगीत तथा कामशास्त्र की) सात कलाओं का), आयुर्वेद की (औषधियों और प्राकृतिक वस्तुओं सम्बन्धी) दस कलाओं का, धनुर्वेद की (युद्धशास्त्र की) पाँच कलाओं का, तथा इसके अतिरिक्त संसार के और बहुत-से व्यवसायों सम्बन्धी बयालीस कलाओं का उल्लेख है।

धर्मशास्त्रों में शुक्रनीति द्वारा उल्लिखित इन विद्याओं और कलाओं का विस्तार से जो उल्लेख नहीं है, वह यही सिद्ध करता है कि इन सब विद्याओं और कलाओं का प्राचीन भारत में ज्ञान तो था ही, शिक्षण की भी व्यवस्था थी,

परन्तु शिक्षा की जो मूल पद्धति थी उसमें प्रमुख रीति से ऐसी ही शिक्षा के अध्ययन पर वल था जिससे व्यक्ति में धर्म में रुचि बढ़े तथा जिससे वह ब्रह्म-प्राप्ति की ओर अग्रसर हो। आपस्तम्बधर्मसूत्र में आचार्य की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि[२६] जिसके द्वारा आचार (धर्मकृत्यों) का ज्ञान शिष्य को होता हैं वह आचार्य है और यह भी यही सिद्ध करता है कि शिक्षा मूलतया धर्म और मोक्ष की दृष्टि से थी। यह धारणा भी थी कि संसार में लौकिक ज्ञान की तो कोई सीमा नहीं और जीवन में व्यक्ति कितना ही अध्ययन करे परन्तु उसका अल्पांश भी पढ़ने में वह समर्थ न होगा। तैत्तिरीय ब्राह्मण में[२७] भारद्वाज की कथा वता कर यह सिद्धान्त प्रदर्शित किया गया है। भारद्वाज ने तीन आयु (जीवन के तीन भाग अथवा तीन जन्म) ब्रह्मचारी रह कर वितायी। जब भारद्वाज ने चौथी आयु भी इसी प्रकार विताने का निश्चय किया तब इन्द्र ने तीन पर्वतों से तीन मुट्ठियाँ धूल ले कर कहा कि वेद (बौद्धिक ज्ञान) अनन्त है तथा भारद्वाज ने इन तीन मुट्ठियों के समान ही केवल ज्ञान अभी तक प्राप्त किया है। इस प्रकार इन्द्र ने केवल-मात्र बौद्धिक ज्ञानार्जन की निस्सारता सिद्ध की। छान्दोग्योपनिषद् में भी इन्द्र की कथा है[२८] जिन्होंने प्रजापति के यहाँ सौ वर्ष ब्रह्मचर्यवास किया तथा इतने समय शिक्षा अर्जन करने पर भी जिन्हें वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ। तब इन्द्र को प्रजापति ने वास्तविक ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) दिया। गरुड़पुराण[२९] में लौकिक विद्या-प्राप्ति की अन्ततः निरर्थकता बहुत विस्तार के साथ बतायी गयी है और कहा है कि विना मूल तत्त्व के ज्ञान के अन्य शास्त्रों का अध्ययन निरर्थक है। अतः यह धारणा मान्य थी कि व्यक्ति को ऐसा ही ज्ञान मिलना चाहिए जो कि उस व्यक्ति की धर्म में और मोक्ष में वृत्ति निर्माण कर सके।[३०] सांसारिक जीवन की दृष्टि से तो केवल जीविकोपार्जन का ज्ञान ही महत्त्वपूर्ण था और जीविकोपार्जन का ज्ञान तो वर्णधर्म के अनुसार व्यक्ति को स्वाभाविक रीति से प्राप्त होता ही था तथा उसकी शिक्षा उसे अपने परिवार और कुल अथवा जाति-वन्धुओं के द्वारा प्राप्त होती थी। भारतीय विचार में इस प्रकार उतनी ही लौकिक-शिक्षा पर्याप्त मानी गयी है जितनी व्यक्ति के जीवन में अर्थ और काम के लिए सहायक हो और शुक्रनीति की वत्तीस विद्याओं और चौसठ कलाओं में ऐसी ही विद्याओं और कलाओं का उल्लेख है। परन्तु धर्मशास्त्रों ने इस वात पर अधिक वल न देकर उसी शिक्षा पर वल दिया है जो व्यक्ति को आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत करनेवाली है। इस कारण याज्ञवल्क्यस्मृति के 'ब्रह्मचारि प्रकरण' में भी विभिन्न धर्मग्रन्थों के अध्ययन का ही महत्त्व बताया गया है।[३१] यज्ञ करने, तप करने और शुभ कर्म करने के लिए द्विजों को वेद ही अत्यन्त कल्याणकारी है।"

फिर चारों वेदों के पाठ का फल बता कर आगे कहा है, "जो द्विज शक्ति भर वाकोवाक्य, पुराण, नाराशंसी, गाथा, इतिहास आदि विद्या का अध्ययन करता है, वह दुग्ध, भात और मधु के तर्पण से मानो देवताओं को और मधु तथा घी से पितरों को तृप्त करता है।" इन धर्मग्रन्थों के अध्ययन को ही याज्ञवल्क्य ने अन्य धर्मग्रन्थों के समान स्वाध्याय कहा है और फिर कहा है, "तीन बार पृथ्वी दान करने का अथवा उग्र तप का फल नित्य स्वाध्याय करनेवाला द्विज प्राप्त करता है।"

शिक्षा के पीछे यह दृष्टि होने के कारण कि वह व्यक्ति को तथा समाज-जीवन को उन्नत करनेवाली सिद्ध हो, आचार्य का आदर्श भी ऐसा ही रखा गया। अतः ब्राह्मण को ही, जिसे समाज के सामने आदर्श प्रस्तुत करने का काम है, अध्यापन का कार्य दिया गया है। यह भी कहा गया है[३२] कि यदि गुरु, धर्म के पथ से विमुख और पापी हो तो उसे छोड़ देना चाहिए। गुरु अपना आदर्श रखे, इस दृष्टि से यह भी आवश्यक था कि गुरु विना धन की कामना के पढ़ाये (देखिए पीछे)। विद्या का दान ही श्रेष्ठ है, उसके विक्रय की वहुत निन्दा की गयी है। व्यासस्मृति में वेद-विक्रेता को ब्रह्महत्यारा बताया गया है तथा नारद-पुराण में भी।[३३] विभिन्न स्मृतियों और पुराणों में[३४] दान और श्राद्ध के जो अपात्र बताये हैं उनमें वेद-विक्रयी (शिक्षा बेचनेवाले) तथा धन लेकर शिक्षा देनेवालों का उल्लेख है। नारदपुराण में[३५] गुरु के लिए यह भी आवश्यक बताया है कि वह शिक्षा में पक्षपात न करे। "न्याय में और धर्म-शिक्षा में जो पक्षपात करते हैं, उनकी करोड़ों प्रायश्चित्त करने पर भी निष्कृति नहीं है।" गुरु के लिए यह भी आवश्यक बताया गया था कि जो भी योग्य व्यक्ति (पात्र) उसके पास विद्या पढ़ने के लिए आये, उसे वह मना न करे। प्रश्नोपनिषद् में कहा है[३६] कि यदि गुरु कुछ विद्या को छिपा लेता है तो अमृत वचन से उसका ज्ञान नष्ट हो जाता है। छान्दोग्योपनिषद् की[३७] एक कथा में बताया है कि उपकौशल नामक एक शिष्य के द्वारा बारह वर्ष तक गुरु की अग्नि की परिचर्या किये जाने पर भी गुरु ने जब उसे नहीं पढ़ाया तब गुरुपत्नी ने गुरु (सत्यकाम जाबाल) से कहा, "कहीं अग्नि तुम्हारी निन्दा न करे।" आपस्तम्बधर्मसूत्र में कहा है[३८] कि अध्यापक को चाहिए कि वह शिष्य को पुत्र के समान समझ कर उसको चिन्तापूर्वक ज्ञान दे तथा शिष्य से कुछ न छिपाये। आगे यह भी कहा है[३९] कि अध्ययन की जो इच्छा करे उसमें यदि कोई दोष न हो तो उसे मना न करना चाहिए।

शिक्षा का समाज-जीवन के लिए इतना महत्त्व होने के कारण यह भी आवश्यक था कि वह योग्य पात्र को ही दी जाये (जैसा ऊपर के विवेचन से

स्पष्ट है)। भारतीय जीवन में अधिकारी-अनधिकारी के विषय में बहुत सूक्ष्म विवेचना होने के कारण यह स्वाभाविक ही था कि शिक्षा के विषय में भी यह धारणा हो कि अनधिकारी को शिक्षा न दी जाये। योग्य व्यक्ति शिक्षा का उपयोग करेगा परन्तु अयोग्य व्यक्ति को यदि शिक्षा मिली तो वह उसका दुरुपयोग करेगा। अतः यह मानना उचित ही था कि अपात्र अथवा कुपात्र की समाज में प्रतिष्ठा न हो। इसलिए छान्दोग्योपनिषद् में कहा है[४०] कि ज्ञान का उपदेश योग्य शिष्य को ही दिया जाये। मनुस्मृति में कहा है,[४१] "गुरु न बिना पूछे और न अन्याय से पूछनेवाले को बताये" (अर्थात् न पढ़ाये)। वह बुद्धिमान् (गुरु) होने पर भी (उस स्थिति में) जड़वत् बना रहे। जो अधर्म से पूछता है अथवा अधर्म से बताता है (पढ़ाता है) उनमें से कोई एक नष्ट हो जाता है अथवा विद्वेषी हो जाता है। जिस शिष्य में धर्म और अर्थ न हो और विधि अनुसार सेवा भी न हो, उसे विद्या नहीं पढ़ानी चाहिए क्योंकि वह ऊसर भूमि में अच्छे बीज बोने के समान है। वेदपाठी का विद्या के साथ ही मर जाना भला है परन्तु घोर आपत्ति में भी ऊसर में बीज न बोये। विद्या ने ब्राह्मण से आ कर कहा "मैं तेरा कोष हूँ, तू मेरी रक्षा कर, मुझे निन्दा करनेवाले को मत दे, इससे ही मैं वीर्यवती होऊँगी (मुझे शक्ति मिलेगी)। जिस ब्रह्मचारी को तू नियन्त्रित और शुद्ध जाने उसी अप्रमादी, निधि (विद्या) की रक्षा करनेवाले को मुझे दे।" मनु के अन्तिम दो श्लोकों के ही समान निरुक्त में भी[४२] श्लोक दिये हुए हैं। प्रश्नोपनिषद् में[४३] जब छः ऋषि, पिप्पलाद मुनि के पास जा कर ज्ञान की याचना करते हैं तो पिप्पलाद मुनि उनसे एक वर्ष तक और अधिक तप (अर्थात् संयम की शिक्षा प्राप्त) करने का आग्रह करते हैं और तब वह उन्हें शिक्षा देते हैं। शिष्य के गुण याज्ञवल्क्यस्मृति में भी दिये गये हैं कि वह कृतज्ञ हो, द्रोह न करनेवाला हो, बुद्धिमान् हो, पवित्र हो, रोगी न हो और दोष निकालने वाला न हो।[४४]

शिक्षा की दृष्टि से यह भी आवश्यक माना गया है कि शिष्य गुरु के प्रति श्रद्धालु हो, गुरु का आदर करने वाला हो तथा गुरु का आज्ञाकारी हो क्योंकि यदि शिक्षार्थी को गुरु के प्रति श्रद्धा न रही हो तो वह स्वाभाविक रीति से शिक्षा के आन्तरिक भाव को ग्रहण करने में असमर्थ होगा। इसके अतिरिक्त गुरु उसके जीवन में परिवर्तन लाने का, उसके अन्दर गुण निर्माण करने का अथवा उसे उन्नत करने का प्रयत्न करना चाहें तो यह भी सम्भव नहीं होगा। फिर यदि शिष्य, गुरु का आज्ञाकारी न रहा तब तो शिष्य गुरु के यहाँ कुछ भी प्राप्त न कर सकेगा। इसलिए उसे गुरु की आज्ञा का पालन, गुरु का सब कार्य करना तथा गुरु के प्रति द्रोह न करना आवश्यक बताया गया है[४५]। गुरु-सेवा का फल बताते हुए मनु ने

कहा है,[४६] जिस भाँति मनुष्य फावड़े से खोदता हुआ जल को पाता है उसी प्रकार सेवा करनेवाला शिष्य गुरु के पास की विद्या पाता है। गुरु के प्रति ही नहीं, गुरु से जो भी सम्बन्धित हैं उनके प्रति भी वही आदर का भाव होना चाहिए। इसलिए गुरु के गुरु, गुरु-पत्नी, गुरु पुत्र, सबके प्रति आदर की भावना रखने का निर्देश किया गया है। केवल व्यावहारिक अपवाद यह रखा गया है कि यदि गुरु पाप में लिप्त हो तो शिष्य को उसे छोड़ देना चाहिए (यद्यपि जब तक उसका गुरुत्व स्वीकार करता है तब तक उसके सम्बन्ध में उपरोक्त नियमों का पालन करना ही चाहिए), गुरुपत्नी के प्रति आदर रखना चाहिए परन्तु उसके शरीर दबाने, चरण दबाने, उच्छिष्ट खाने, नहलाने का अर्थात् शरीर-सेवा का कार्य नहीं करना चाहिए और यदि गुरुपत्नी युवती हो तो उसका चरण भी स्पर्श नहीं करना चाहिए। मनु ने इस अन्तिम नियम का यही कारण बताया है[४७] कि बलवान् इन्द्रियों का समूह पण्डितों (ज्ञानियों) को भी खींच लेता है।" गुरु-सेवा का यह महत्त्व श्रुति-ग्रन्थों में भी वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण में कहा है,[४८] "ब्रह्मचारी गुरु की, उसके घर की (परिवार की), पशुओं की (वस्तुओं की) रक्षा करता है अन्यथा कहीं उसका उनके पास से अपहरण न हो जाये" अर्थात् कहीं वह विद्या और उसके वातावरण से दूर न हट जाये। छान्दोग्योपनिषद् में दो कथाओं में गुरु की गायों के चराने का तथा गुरु की अग्नि की परिचर्या करने का (गृह-सेवा करने का) फल बताया है।[४९] गुरु की आज्ञा-पालन का तथा गुरु-सेवा का महत्त्व बताने के लिए महाभारत के प्रारम्भ में ही[५०] तीन अत्यन्त शिक्षापूर्ण कथाएँ दी गयी हैं जिनमें शिष्यों ने अपने कष्टों की चिन्ता न करते हुए गुरु की आज्ञा का पालन किया है। गुरु को पिता से भी श्रेष्ठ माना गया है[५१] क्योंकि व्यक्ति का ब्रह्मजन्म (वह ज्ञान-प्राप्ति जिसके द्वारा ब्रह्म-प्राप्ति की जा सके) तो इस लोक और परलोक में शाश्वत है, अर्थात् जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह तो जन्म-जन्मान्तर तक साथ रहता है परन्तु जो शरीर पिता द्वारा मिलता है वह मृत्यु के साथ नष्ट हो जाता है। गुरु का किसी प्रकार से उल्लङ्घन करने-वाला, उनका अपमान करने वाला, उनकी आज्ञा न माननेवाला, इन सबकी भर्त्सना की गयी है। वामनपुराण में गुरु को मारना मना किया है तथा बताया है कि गुरु की निन्दा करनेवाले नरक में जाते हैं।[५२] शान्तिपर्व में कहा है[५३] "जो मनुष्य आचार्य से विद्या पढ़ कर, मन, कर्म, वचन से उनका यथोचित सम्मान नहीं करता उसे भ्रूणहत्या (गर्भपात) का पाप लगता है। संसार में उससे बढ़ कर पापी कहीं नहीं है। गुरु शिष्यों के साथ जिस तरह स्नेह करते हैं, उस तरह शिष्यों को भी अपने धर्म के अनुसार, उनका सम्मान करना चाहिए। पिता

के प्रसन्न होने पर प्रजापति, माता के प्रसन्न होने पर पृथिवी और गुरु के प्रसन्न होने पर ब्रह्म प्रसन्न होते हैं। अतएव माता-पिता से बढ़ कर गुरु पूज्य है। गुरु का सम्मान करने से देवता, ऋषि और पितर सभी प्रसन्न होते हैं। अतएव पिता और माता से बढ़ कर गुरु पूज्य है। इसलिए गुरु की अवज्ञा न करें। गुरु के कामों में दोष लगाना उचित नहीं है...। मित्रद्रोही, कृतघ्नी, स्त्री की हत्या करनेवाला और गुरुघाती—इन चारों के पाप का प्रायश्चित्त नहीं है।"

जैसा की ऊपर के नियमों से स्पष्ट होता है, जहाँ गुरु और शिष्य के सम्बन्धों के विषय में अनुशासन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण श्रद्धा की भावना निर्माण करने का प्रयत्न किया गया, वहाँ दूसरी ओर विद्यार्थी के जीवन के नियम बनाते समय भी अनुशासन का एक विस्तृत रूप रखा गया। अनुशासन का केवल इतना ही अर्थ नहीं है कि गुरु की आज्ञा का पालन किया जाये अथवा गुरु का आदर किया जाये, अनुशासन के अन्तर्गत यह भी था कि प्रत्येक विद्यार्थी अपने जीवन को संयमित रखे। विद्यार्थी के जीवन को संयमित रखने की दृष्टि से संक्षेप में शतपथब्राह्मण तथा गृह्यसूत्रों में, और विस्तार से मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, आपस्तम्बधर्मसूत्र, गौतमधर्मसूत्र तथा अन्य स्मृतियों और पुराणों में नियम दिये गये हैं।[५४] ये नियम व्यक्ति को दुर्गुणों से दूर रखने, उसमें गुण निर्माण करने तथा व्यक्ति को ऐसी बातों के सम्पर्क से दूर रखने की दृष्टि से हैं जो पतन की ओर ले जानेवाली हैं, अथवा ऐश्वर्योपभोग की इच्छा उत्पन्न करनेवाली है। गौतमधर्मसूत्र का कथन है कि "ब्रह्मचारी सत्य बोले, सूर्य की ओर न देखे, मधु, मांस, गन्ध, फूलमाला, दिन में सोना, उबटना, अञ्जन, यान (सवारी), जूता, छत्र, काम, क्रोध, लोभ, मोह, व्यर्थ विवाद, बाजा बजाना, अति स्नान, दातुन, हर्ष, नाचना, गाना, निन्दा, भय, स्त्रियों को देखना अथवा स्पर्श, जूआ, नीच की सेवा, बिना दिये लेना (चोरी), मैथुन, शङ्का, हिंसा, रूखी वाणी और मदिरा—इन सब को पूर्णतया त्याग दे।" शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि "जो ब्रह्मचर्याश्रम में रहता है वह मानों दीर्घकालीन यज्ञ करता है।"[५५] इससे स्पष्ट होता है कि विद्यार्थी-काल में व्यक्ति को पूर्ण संयमित जीवन व्यतीत करना आवश्यक था जिससे उसमें अर्थ और कामोपभोग की प्रवृत्ति कम हो और वह संयमित हो तथा अधर्म से हट कर छात्र की प्रवृत्ति धर्म की ओर लगे। इन नियमों का उद्देश्य यह भी था कि शिक्षा के काल में व्यक्ति को अपना उद्देश्य शिक्षा ही रखना चाहिए, विभिन्न रङ्गीनियों अथवा आराम और उपभोग के जीवन में फँसने से शिक्षा में बाधा पड़ेगी। ब्रह्म में व्यक्ति का चित्त लगे, इस दृष्टि से ब्रह्मचारी के दैनिक-कार्यक्रम में सन्ध्योपासना है[५६] (जिसके अन्तर्गत गायत्री-जप है)। अग्नि-परिचर्या अर्थात

देवोपासना प्रतिदिन करनी है[५७]। प्रतिदिन का पाठ भी ओङ्कार के उच्चारण से प्रारम्भ तथा समाप्त करने का विधान है। ब्रह्मचारी के नियमों में सबसे महत्त्वपूर्ण है स्त्री-सम्बन्ध न रखना। गुरुपत्नी का स्पर्श न करना तथा आँख में अञ्जन न लगाना आदि नियम इसीलिए हैं कि व्यक्ति इस ओर उन्मुख न हो कर अपने कार्य के प्रति एकाग्रता रखे।

शिक्षा की आर्थिक व्यवस्था का प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है। भारतीय समाज-व्यवस्था में सम्पूर्ण समाज के ऊपर शिक्षा का भार डाला गया है। विद्यार्थी अपने घर से आ कर गुरुकुल में रहता है जहाँ उसके पोषण की व्यवस्था समाज पर है। उसका जीवन बहुत आडम्बरहीन होने के कारण उसकी आवश्यकताएँ भी बहुत कम हैं—न तो तेल डालना है, न जूता पहिनना है और न सुख के अन्य साधनों का ही उपभोग करना है। रहने की व्यवस्था गुरु के घर में रहती है। सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यकता प्रतिदिन के भोजन की है। उसके लिए दैनिक भिक्षा माँगने का विधान है। सभी श्रुति, स्मृति और पुराण-ग्रन्थों ने भिक्षा माँगना ब्रह्मचारी का कर्तव्य बताया है। जहाँ ब्रह्मचारी के लिए यह अनिवार्य है कि वह भिक्षा माँगे, वहाँ गृहस्थ के लिए भी यह आवश्यक बताया गया है कि वह भिक्षा दे। पीछे बताये गये सन्दर्भों के अतिरिक्त[५८] गोपथ-ब्राह्मण तथा आपस्तम्बधर्मसूत्र में भी[५९] यह बताया गया है कि गृहिणी को चाहिए कि वह ब्रह्मचारी को प्रतिदिन भोजन दे जिससे ब्रह्मचारी उसका धन और इष्टापूर्त (धर्म) नष्ट न कर दे। इस पद्धति से शिक्षा की आर्थिक व्यवस्था का भार सम्पूर्ण समाज पर डाल दिया गया। भिक्षा का उल्लेख करते समय यहाँ भिक्षा-सम्बन्धी अन्य नियमों का उल्लेख करना भी आवश्यक है। भोजन शुद्ध व्यक्तियों का ही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि तभी बुद्धि और मन शुद्ध रह सकते हैं। यह आवश्यक बताया गया है कि जो अभिशस्त हैं (महापातकी) और अपात्र हैं (चाण्डाल आदि) उनके यहाँ से भिक्षा न लेनी चाहिए।[६०] मनुस्मृति में कहा है, "जो वेद और यज्ञों से रहित नहीं है तथा अपने कर्तव्यपालन की दृष्टि से विख्यात है, उन्हीं के घर से भिक्षा लाये। यदि ऐसे घर से भिक्षा न मिले तो वाणी पर संयम कर तथा नियन्त्रित चित्त हो अभिशस्तों का घर छोड़ कर सम्पूर्ण ग्राम में भिक्षार्थ घूमे।"[६१] गौतमधर्मसूत्र में यह भी कहा है कि[६२] भिक्षा न्याय से प्राप्त धन की ही लेनी चाहिए। भिक्षा की दृष्टि से यह भी आवश्यक था कि भिक्षा ला कर पहले गुरु के सामने अथवा यदि गुरु न हो तो गुरु के परिवार के व्यक्तियों के सामने रख दी जाये और फिर उनकी अनुमति से भोजन किया जाये[६३] अर्थात् केवल अपने ही खाने के लिए प्रयत्न करना अनुचित है, अन्य लोगों की भी चिन्ता रखनी आवश्यक है।

प्रारम्भ से ही यह प्रयत्न था कि ब्रह्मचारी एक ही घर से भिक्षा लेने का अभ्यासी न हो[६४] जिससे कहीं सुरुचिपूर्ण भोजन मिले तो उसी में उसका चित्त लिप्त न हो जाये अथवा कहीं एक ही परिवार पर अधिक आर्थिक भार न पड़ जाये। स्कन्दपुराण का कथन है[६५] कि ब्रह्मचारी अधिक भोजन न करे अर्थात् ब्रह्मचारी को भोजन में भी संयम रखना और आलस्य से दूर रहना चाहिए।

विद्यार्थियों के पोषण के साथ-ही-साथ ब्राह्मणों (अध्यापकों) के पोषण का उत्तरदायित्व भी समाज पर था।[६६] ब्राह्मणों के प्रमुख दो कार्य थे—अध्यापन और यज्ञ कराना। दोनो कर्मों से दक्षिणा प्राप्त होना तथा समाज द्वारा उनके पोषण के लिए धन दिया जाना अर्थात् दान भी ब्राह्मणों की जीविका का एक साधन था। अध्यापन की दक्षिणा को गुरुदक्षिणा कहा गया है, यद्यपि अध्यापन के द्वारा गुरुदक्षिणा का धन पहले से निश्चित करना मना था फिर भी प्रत्येक शिष्य का यह कर्तव्य था कि वह गुरु को दक्षिणा दे। गौतम तथा आश्वलायनगृह्यसूत्र[६७] का कथन है कि दक्षिणा या तो स्वयं की सामर्थ्य के अनुसार दी जाये अथवा गुरु से पूछ कर कि वह क्या चाहते हैं। आपस्तम्ब[६८] का कथन है कि यदि गुरु की इच्छानुसार भी दक्षिणा दी अर्थात् यदि गुरु के लिए कोई विशेष उपकार भी किया तो भी उसके विषय में न तो स्वयं स्मरण करना चाहिए और न इसका दूसरों से उल्लेख करना चाहिए। महाभारत में कई कथाएँ हैं जिनमें गुरु की इच्छानुसार शिष्यों ने मुँह माँगी दक्षिणाएँ दी हैं। उत्तङ्क ने गुरुपत्नी के लिए इन्द्र के कुण्डल ला कर दिये, कौरवों और पाण्डवों ने द्रोणाचार्य के समक्ष द्रुपद को बन्दी बना कर उपस्थित किया, एकलव्य ने अपना अँगूठा काट कर द्रोणाचार्य को दे दिया तथा श्रीकृष्ण ने अपने गुरु के मृत पुत्र को जीवित किया। इस प्रकार की दक्षिणाओं में कितनी भी कठिनाई हो परन्तु इसे इन शिष्यों ने सहर्ष स्वीकार कर अपनी दक्षिणा पूर्ण की। शिष्यों द्वारा गुरुदक्षिणा देने की यह व्यवस्था रख कर अध्यापकों के पोषण का भार भी समाज के ऊपर डाला गया है।

इस प्रकार समाज के ऊपर शिष्यों और अध्यापकों के जीवन का भार था, परन्तु साथ-ही-साथ अध्यापक वर्ग और शिष्यों से भी अपनी आवश्यकताएँ कम करने का आग्रह था (देखिये, पीछे ब्राह्मण के अन्दर सन्तोष-वृत्ति की आवश्यकता[६९] तथा ब्रह्मचारी का संयमित जीवन), जिससे वे अल्पतम साधनों में अपना जीवनयापन कर सकें। समाज के सामने शिक्षा का यही आदर्श उपस्थित किया गया था। गुरु अपना जीवन आदर्शपूर्ण रखता था और शिष्य अपने भावी जीवन के लिए संयमपूर्ण आदर्श उपस्थित करने की शिक्षा प्राप्त

करता था। सम्पूर्ण समाज में निःस्वार्थता का आदर्श रखते हुए निःस्वार्थ की भावना भरने का उपभोग-प्रवृत्ति को कम करने का और इस प्रकार समाज-जीवन के अन्दर सङ्घर्षों को कम करने का इससे उत्तम और कोई मार्ग नहीं माना गया। शिक्षा का बोझ व्यक्ति से हटा कर समाज पर रखने के कारण शिक्षा-प्राप्ति में धनी-निर्धन का भेद भी समाप्त कर दिया गया। यह भेद समाप्त होना आवश्यक भी था, क्योंकि जिस वर्ग के लिए शिक्षा सबसे अधिक आवश्यक बतायी गयी (अर्थात् ब्राह्मण वर्ग), यही वर्ग सबसे निर्धन भी रखा गया था।

भारतीय शिक्षापद्धति पीछे बताये गये भारतीय आदर्शों के अनुकूल थी। यह पद्धति गुरुकुल-पद्धति थी जिसकी, पूर्ण रीति से तो नहीं परन्तु कुछ सीमा तक, वर्तमान काल की Residential Education System से तुलना की जा सकती है। प्रत्येक शिष्य के लिए यह आवश्यक होता था कि यदि उसका पिता ही स्वयं अध्यापन-कार्य न करता हो तो वह किसी गुरु के पास जा कर विद्याध्ययन करे। इसी कारण कई स्थानों पर ब्रह्मचारी के लिए 'अन्तेवासी' शब्द का प्रयोग किया गया है[७०]। गुरु के घर काम करने का नियम भी यही सिद्ध करता है कि शिष्य, गुरु के यहाँ जा कर ही विद्या सीखता था। केवल इतना ही पर्याप्त नहीं कि गुरु के यहाँ जा कर शिष्य विद्या ग्रहण करता हो, परन्तु यह भी आवश्यक था कि शिष्य, गुरु से ही विद्या प्राप्त करें। उपनिषद् में इसके कई उदाहरण हैं। छान्दोग्योपनिषद् में[७१] कहा है, "जो इस आत्मा को शास्त्र और आचार्य के उपदेशानुसार जान कर साक्षात् रूप में अनुभव करता है, वह सम्पूर्ण लोक और समस्त भोगों को प्राप्त कर लेता है।" सत्यकाम जाबाल जब गुरु की गायों को बाहर ले गया तब उसे वहाँ कई स्थानों से शिक्षा प्राप्त हुई। जब वह लौटा तब गुरु ने पूछा, "सौम्य तू ब्रह्मवेत्ता-सा दिखलायी दे रहा है, तुझे किसने उपदेश दिया है।" तब उसने उत्तर दिया, "मनुष्यों से भिन्न ने मुझे उपदेश दिया है, अब मेरी इच्छा के अनुसार आप पूज्यपाद ही मुझे विद्या का उपदेश करें। मैंने श्रीमान् जैसे ऋषियों से सुना है कि आचार्य से जानी गयी विद्या ही अतिशय साधुता को प्राप्त होती है।"[७२] महाभारत में यवक्रीत की कथा है[७] जो बड़ा योगाभ्यासी तथा तपस्वी है तथा जिसने गुरु के बिना वेदाभ्यास किया और फलस्वरूप जिसकी मृत्यु हो गयी। मनुस्मृति में कहा है, "जो मनुष्य अभ्यास के लिए पढ़ते या किसी को पढ़ाते हुए गुरु से बिना आज्ञा के वेद को प्राप्त करता है वह वेद की चोरी से युक्त नरक को जाता है।"[७४]

भारत में व्यक्ति को उन्नत करने की जो दृष्टि थी, उसके अनुकूल ही यह गुरुकुल-पद्धति थी। केवल बौद्धिक ज्ञान तो पुस्तकों से भी प्राप्त किया जा सकता है परन्तु यदि व्यक्ति के जीवन में परिवर्तन करना हो तो फिर व्यक्तिगत सम्पर्क

आवश्यक होता है। गुरुकुल-पद्धति में गुरु के यहाँ उनके व्यक्तिगत सम्पर्क में शिष्य रहता था, उनके प्रति श्रद्धालु रहता था और गुरु भी शिष्य को पुत्रवत् समझ कर व्यवहार करता था। गुरु का भी आदर्श जीवन था जिसमें लालसा नहीं थी—ऐश्वर्योपभोग की भावना नहीं थी—केवल सरस्वती की अखण्ड उपासना और उसी उपासना में सर्वस्व का होम करने की वृत्ति, तथा चरित्र-सम्पन्नता थी। इन सब कारणों से यह धारणा होनी स्वाभाविक थी कि जो शिष्य ऐसे केन्द्रों से विद्या ग्रहण कर निकलेंगे वह समाज के मार्गदर्शक होंगे। इसी कारण स्नातकों (शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों) को बहुत सम्मान का स्थान दिया गया था। मनुस्मृति में कहा है,[७५] "रथारूढ़ को, नब्बे वर्ष से अधिक आयुवाले को, रोगी को, बोझवाले को, स्त्री को, स्नातकों को, राजा को और वर को मार्ग देना चाहिए। यह यदि एकत्रित हों तो इनमें भी स्नातक और राजा माननीय हैं तथा राजा और स्नातक में राजा से स्नातक अधिक मान्य है।"

भारतीय शिक्षापद्धति की दूसरी विशेषता यह थी कि वह सामूहिक शिक्षा-पद्धति नहीं थी। उपनयन-संस्कार अथवा शिक्षा-समाप्ति के पश्चात् समावर्तन-संस्कार भी सामूहिक रीति से होने का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। इसका अर्थ यह है कि यह मान्य था कि जिस समय भी कोई शिष्य गुरु के यहाँ अध्ययन के लिए आये उसी समय उसका उपनयन-संस्कार कर दिया जाये। यह भी सम्भव माना गया था (जैसा कि पीछे उल्लेख है) कि कोई व्यक्ति बारह वर्ष से पूर्व ही बुद्धि की तीव्रता के कारण अपना अध्ययन समाप्त कर ले। इससे भी यही अर्थ निकलता है कि वर्तमान काल के समान सामूहिक कक्षाओं में पढ़ने की पद्धति भी मान्य नहीं थी अपितु प्रत्येक शिष्य अपना-अपना अध्ययन गुरु के पास पृथक् रीति से करता हुआ अपनी योग्यतानुसार अध्ययन में आगे अथवा पीछे रह सकता था। उपनयन की प्रणाली से, जो ऊपर वर्णित है तथा समावर्तन की प्रणाली से भी यही प्रतीत होता है कि प्रत्येक शिष्य का पृथक् अध्ययन और पृथक् समावर्तन-संस्कार किया जाता था। सामूहिक शिक्षापद्धति इसीलिए अमान्य थी कि वह भारतीय सिद्धान्त के प्रतिकूल है। जब व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक के विकास और उसकी उन्नति पर बल है और जब बौद्धिक शिक्षा की तुलना में चारित्रिक विकास पर महत्त्व है तो स्वाभाविक ही है कि सामूहिक शिक्षापद्धति मान्य नहीं की जा सकती थी। इसी प्रकार भारतीय शिक्षापद्धति में परीक्षा की भी पद्धति नहीं थी; जब कि शिक्षा का उद्देश्य है व्यक्ति की चारित्रिक उन्नति करना, तब बौद्धिक परीक्षा इस प्रकार की उन्नति का मापदण्ड कैसे हो सकती है ? यदि बारह वर्ष के सहवास में गुरु को शिष्य की पात्रता में विश्वास हो जाये कि उसने योग्यता प्राप्त कर ली तो, वह समाज में शिक्षा प्राप्त (स्नातक) के रूप में भेजा जा सकता है।

विद्याभ्यास समाप्त होने के पश्चात् घर लौटने के पूर्व समावर्तन-संस्कार का अथवा स्नान का उल्लेख है।[७६] समावर्तन-संस्कार की जो प्रथा दी हुई है, उसके पीछे मुख्य दृष्टि यह है कि विद्यार्थी अब गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करने के योग्य हो गया और अब वह अर्थ और काम का उपभोग भी करेगा तो धर्मानुसार ही करेगा। अतः अब ब्रह्मचर्याश्रम के अत्यधिक संयम को छोड़कर समाज-जीवन चलाने के लिए साधारण व्यक्ति के नाते उसमें प्रवेश करेगा। इस कारण वह एक रत्न, दो कान की वालियाँ, वस्त्रों का एक जोड़ा, एक छाता, एक जूतों का जोड़ा, एक दण्ड, एक माला, उबटन, इत्र, अञ्जन, पगड़ी तैयार करता था और विभिन्न शब्दों का उच्चारण करता हुआ उन्हें ग्रहण करता था। घर जाते समय गुरु द्वारा शिष्य को किस प्रकार की शिक्षा दी जानी योग्य है, यह तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली में [७७] दिया हुआ है कि "वेद को पढ़ा कर आचार्य ब्रह्मचारी को उपदेश देता है, सत्य बोलो, धर्मानुसार आचरण करो, स्वाध्याय में प्रमाद न करो। आचार्य के लिए प्रिय धन (दक्षिणा) ला कर तत्पश्चात् प्रजातन्तु का विच्छेद न करो अर्थात् सन्तान उत्पन्न करो। सत्य में प्रमाद न करो, धर्म में प्रमाद मत करो, (संसार में) कुशलता लाने की दृष्टि से प्रमाद न करो। माता को, पिता को, आचार्य को, अतिथि को देवता मानो। जो हमारे अच्छे आचरण हैं, उन्हीं का तुम पालन करो अन्य का नहीं। जो कोई हमसे श्रेष्ठ ब्राह्मण (विद्वान्) आये उनका तुम्हें आसन आदि से सत्कार करना चाहिए। श्रद्धा के साथ दान करना चाहिए, अश्रद्धा के साथ नहीं। सम्पत्ति का दान करना चाहिए, लज्जापूर्वक दान देना चाहिए, भयपूर्वक दान देना चाहिए, विवेकपूर्वक देना चाहिए। यदि तुम्हें कर्तव्याकर्तव्य के विषय में अथवा सदाचार के विषय में शङ्का हो तो उत्तम विचारवाले, परामर्श देने में कुशल, कर्म और सदाचार में पूर्णतया लगे हुए, स्निग्ध स्वभाववाले, तथा धर्म के अभिलाषी ब्राह्मण उस दिशा में जैसा व्यवहार करें, वैसा ही तुम्हें भी व्यवहार करना चाहिए। किसी दोष से लाञ्छित व्यक्तियों के साथ व्यवहार करने में उपर्युक्त गुणों वाले ब्राह्मणों जैसा ही व्यवहार करना चाहिए। यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेद और उपनिषद् में है, यही अनुशासन है, इसी की उपासना करनी चाहिए, और यही उपासना के योग्य है।" ऊपर के इस अन्तिम निर्देश में गृहस्थाश्रम में किन कर्तव्यों का पालन करना चाहिए, इसका संक्षेप में वर्णन है—(१) विवाह करके सन्तान उत्पन्न करना चाहिए, (२) अपनी और सबकी कुशलता का ध्यान रखना चाहिए और उन्नति का (आध्यात्मिक भी) प्रयत्न करना चाहिए, (३) पञ्चमहायज्ञ करना चाहिए अर्थात् स्वाध्याय, अतिथि-सेवा, होम और श्राद्ध, (४) दान देना चाहिए, (५) धर्मानुसार आचरण

करना चाहिए, (६) श्रेष्ठ पुरुषों का सम्मान करना चाहिए, (७) यदि शास्त्र के आदेश के पश्चात् भी शङ्का-कुशङ्का हो तो श्रेष्ठ ब्राह्मणों के अनुसार आचरण करना चाहिए।

सम्पूर्ण शिक्षापद्धति का विचार करने के पश्चात् शिक्षापद्धति के उद्देश्यों को सुविधा से समझा जा सकता है। व्यक्ति में ब्रह्म-प्राप्ति की लालसा जागृत करना, इसका यह एक उद्देश्य था। मनुस्मृति में[७८] यज्ञोपवीत-संस्कार को ब्रह्मजन्म कहा है। सन्ध्योपासना पर आग्रह, ओंकार से दैनिक वैदिक पाठ आरम्भ करना तथा आरम्भ से ही गायत्री की उपासना, इसी दृष्टि से है। ब्रह्मचारी का अर्थ ही ब्रह्म की ओर बढ़नेवाला है। मुण्डकोपनिषद् में विद्या को दो प्रकार की बताया गया है[७९]—अपरा अर्थात् लौकिक विद्या तथा परा विद्या अर्थात् ब्रह्म तक पहुँचानेवाली विद्या और इस दूसरी विद्या को पहली प्रकार की विद्या से श्रेष्ठ बताया गया है। इसका विस्तृत विवेचन दूसरे अध्याय में 'विद्या' और 'ज्ञान' शब्द का तथा ब्रह्मचर्य का विवेचन करते समय किया गया है[८०]। दूसरा उद्देश्य था, विद्यार्थी को योग्य गृहस्थ के रूप में तैयार करना—ऐसा गृहस्थ जो समाज-जीवन को ठीक प्रकार से वहन और उन्नत करने में समर्थ हो, समाज के अन्दर आदर्श जीवन स्थापित कर सके तथा सामाजिक उत्तरदायित्व को ठीक से निभा सके। इसके लिए विद्यार्थी के चरित्र का ध्यान रखा जाता था। विद्यार्थी को किसी भी प्रकार का काम करने में छोटापन न अनुभव हो, इसका प्रयत्न था, तथा विद्यार्थी की शारीरिक उन्नति और शारीरिक श्रम की क्षमता की वृद्धि करने का प्रयत्न था। इसी कारण गुरुकुल के अन्दर रह कर गुरु की सब प्रकार से सेवा करने पर बल दिया गया था। गुरुकुल-पद्धति अन्य भी बहुत-सी दृष्टियों से लाभप्रद थी। प्रथमतः विद्यार्थी पारिवारिक वातावरण के अन्दर रहते हुए भी परिवार के वातावरण के बिगाड़नेवाले लाड़-चाव से दूर रहता था। दूसरे, वहाँ शिक्षा का तथा ऐसे आदर्श जीवन का वातावरण रहता था जिसमें व्यक्ति स्वतः उन्नति करे। तीसरे, इसमें सामूहिक पद्धति से शिक्षा न होने के कारण प्रत्येक विद्यार्थी पर पृथक्-पृथक् ध्यान दिया जाता था और प्रत्येक को उसके अनुकूल पद्धति से शिक्षा दी जाती थी। चतुर्थ, गुरु के व्यक्तिगत सम्पर्क में रह कर तथा श्रद्धा की भावना रख कर व्यक्ति शिक्षा की आन्तरिक भावना को ग्रहण करता था। पाँचवें, इसी शिक्षापद्धति के द्वारा भारत की सांस्कृतिक परम्परा गुरु-शिष्य के मार्ग से अक्षुण्ण रखी गयी थी।

अर्थ-व्यवस्था

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारतीय जीवन

के सभी क्षेत्रों के समान वह क्षेत्र भी भारतीय जीवन-दर्शन और समाज-व्यवस्था पर आधारित है। इसका यह अर्थ नहीं है कि इसे जीवन का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र नहीं माना गया है अपितु इसे भी जीवन का एक पृथक् क्षेत्र मान कर इस क्षेत्र के लिए प्राचीन ग्रन्थों में 'वार्ता' नाम दिया गया है और इसके अन्तर्गत कृषि, वाणिज्य तथा पशुपालन रखा है। वन की व्यवस्था स्वाभाविक रीति से कृषि के अन्तर्गत आ जाती है तथा खनिज पदार्थों के विषय मे विचार वाणिज्य के साथ हो जाता है और इस प्रकार अर्थ के उत्पादन, विनिमय तथा बहुअंशों में वितरण का भी विचार 'वार्ता' के अन्तर्गत हो जाता है। यद्यपि 'वार्ता' के नियम जीवन के नियमों पर आधारित हैं परन्तु उसे जीवन का एक विशेष और बहुत महत्त्वपूर्ण क्षेत्र माना गया है। केवल उपभोग का और कुछ अंशों में वितरण का भी विचार धर्मशास्त्रों में किया गया था। भारतीय जीवन में 'वार्ता' को कितना महत्व दिया गया था, यह इसी से समझा जा सकता है कि महाभारत तथा रामायण दोनों ही ग्रन्थों में कहा गया है कि[८१] "वार्ता पर आश्रित रहने से यह संसार सुख पाता है" तथा कौटिल्य ने इसे उपकार करनेवाली विद्या बताया है।[८२] इनके अतिरिक्त वार्ता का महत्त्व शुक्रनीति में, कामन्दकीय नीतिसार में तथा कई स्थानों पर महाभारत में भी बताया गया है।[८३] इसका समाज के जीवन में महत्त्व इससे भी समझा जा सकता है कि राजा के शिक्षा-पाठ्यक्रम में इसे एक आवश्यक विषय बताया गया है[८४] क्योंकि समाज की योग्य व्यवस्था करनेवाले राजा को यदि इसका ज्ञान न रहा तो वह समाज का समुचित पालन नहीं कर सकता। इस निबन्ध में हम केवल 'वार्ता' (कृषि, वाणिज्य, पशुपालन) का ही विचार नहीं करेंगे अपितु आर्थिक जीवन से सम्बन्धित अन्य विषयों का भी विचार करेंगे जिनका 'वार्ता' के अन्तर्गत विचार नहीं किया गया है।

वार्ता का जो महत्त्व ऊपर बताया गया है उसके अतिरिक्त 'अर्थ' भी चार पुरुषार्थों में एक महत्त्व का पुरुषार्थ है। 'अर्थ' का अर्थ केवल धन ही नहीं अपितु इसका अर्थ सब प्रकार की सत्ता है जिससे समाज के ऐहिक जीवन में सुख रह सकता है[८५] फिर भी कई स्थानों पर 'अर्थ' शब्द का उपयोग 'धन' के ही अर्थ में किया गया है। 'अर्थ' के उसी अर्थ को ध्यान में रख कर इसका महत्त्व बताते हुए अर्जुन कहता है कि[८६] "यह कर्मभूमि है। यहाँ जीविका के साधनभूत कर्मों की ही प्रशंसा होती है। खेती, व्यापार, गोपालन तथा भाँति-भाँति के शिल्प—ये सब अर्थ-प्राप्ति के ही साधन है। अर्थ ही समस्त कर्मो की मर्यादा है। अर्थ के बिना धर्म और काम भी सिद्ध नहीं होते। धनवान् मनुष्य धन के द्वारा उत्तम धर्म का पालन तथा कामनाओं की प्राप्ति भी कर सकता है। सब प्रकार के संग्रह

से रहित, सङ्कोचशील, शान्त, एवं गेरुआ वस्त्र पहने, डाढ़ी-मूँछ बढ़ाये विद्वान् पुरुष भी धन की अभिलाषा करते पाये जाते है।" परन्तु इससे आगे नकुल और सहदेव ने समाज-जीवन में अर्थ को कितना तुलनात्मक स्थान प्राप्त होना चाहिए इसका भी वर्णन किया है,[८७] "राजन्! मनुष्य को बैठते, सोते, उठते, चलते, फिरते समय भी छोटे-बड़े हर प्रकार के उपायों से दृढ़तापूर्वक धन कमाने का उद्योग करना चाहिए। धन दुर्लभ और अत्यन्त प्रिय वस्तु है, इसकी प्राप्ति हो जाने पर मनुष्य संसार में अपनी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण कर सकता है। धर्मयुक्त अर्थ और अर्थयुक्त धर्म ये अमृत के समान फलदायक हैं, इसलिए हम धर्म और अर्थ दोनों को आदर देते हैं। निर्धन मनुष्य की कामनापूर्ण नहीं हो सकती और धर्महीन मनुष्य को धन भी कैसे मिल सकता है। अतः पहले धर्म का आचरण करें और फिर धर्म के अनुसार अर्थ का संग्रह करें। इसके बाद काम का सेवन करना चाहिए।" इस वर्णन का अर्थ यह है कि अर्थ, जीवन में बहुत महत्त्व का है—एक पुरुषार्थ है—और अर्थ के बिना संसार का जीवन नहीं चल सकता, अतः अर्थ-प्राप्ति का प्रयत्न तो अवश्य करना चाहिए। परन्तु यह प्रयत्न धर्मपूर्वक ही अर्थात् नैतिकता के साथ तथा समाज के विविध नियमों के अनुसार ही करना चाहिए, अर्थात् अर्थ का समाज में जो उचित स्थान होना चाहिए वह यहाँ बताया गया है। अर्थ के अतिरिक्त धन की भी प्रशस्ति स्थान-स्थान पर की गयी है परन्तु साथ-साथ में धन की निन्दा भी की है।[८८] धन की प्रशंसा इस रूप में की गयी है कि धन न होने से व्यक्ति, जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता, धन न रहने से व्यक्ति को अपमान प्राप्त होता है, धन न रहने से व्यक्ति धर्म का पालन भी नहीं कर सकता, धन न रहने से बन्धु-बान्धव भी व्यक्ति को छोड़ देते हैं तथा धन से विहीन पुरुष को पुत्र, गुण तथा बन्धु-बान्धव भी शोभा नहीं देते। नारदपुराण में कहा है कि[८९] "बहुत पुत्र होने पर भी ऐश्चर्यविहीन का जन्म व्यर्थ है। सौम्यता, विद्वत्ता तथा सत्कुल में जन्म आदि गुण उस व्यक्ति को शोभा नहीं देते जो दारिद्र्यरूपी समुद्र में निमग्न है। ऐश्वर्यविहीन व्यक्ति को प्रिय पुत्र, पत्नी, बान्धव, भ्राता और शिष्य आदि सब छोड़ देते हैं। दरिद्र पुरुष इस संसार में मुर्दे के समान निन्दित होता है परन्तु यदि व्यक्ति सम्पत्ति से युक्त हो तो वह निष्ठुर हो अथवा अनिष्ठुर हो, गुणहीन हो अथवा गुणवान् हो, मूर्ख हो अथवा पण्डित हो, वही पूज्य होता है इसमें कोई संशय नहीं है।" इसके साथ-साथ धन की जो निन्दा की गयी है उसके कारण यह बताये हैं—धन रहने से व्यक्ति का सन्तोष नष्ट हो कर लोभ तथा तृष्णा उत्पन्न होती हैं और धन रहने से राजा को, चोर एवं बन्धु-बान्धवों का भय बना रहता है। संक्षेप में धन प्राणों का घातक और पापों का साधक है। इन सब कारणों में

धन की निन्दा का प्रमुख कारण है कि यह मनुष्य को संसार में लिप्त करनेवाला है तथा उसे आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग से रोकता है। यद्यपि इस प्रकार धन की निन्दा तथा प्रशंसा दोनों की गयी है फिर भी यह परस्पर विरोधी बातें नहीं हैं अपितु भारतीय जीवन-दर्शन पर आधारित जीवन के दो पहलू-मात्र हैं। इस संसार में जीवन चलाने के लिए धन की आवश्यकता है और इस संसार में धन के बिना किसी प्रकार जीवन नहीं चल सकता, अतः इस संसार के व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से धन की प्रशंसा की गयी है और आवश्यकता बतायी गयी है। परन्तु इस सांसारिक जीवन से यदि आगे बढ़ कर देखा जाये तो मनुष्य के सामने संसार-त्याग का महान् लक्ष्य रखा गया है जिसमें धन मनुष्य को अपने ध्येय से विचलित करता है, इसलिए धन की निन्दा की गयी है। इस प्रकार समाज के तथा जीवन के एक अङ्ग (क्षत्रिय-वैश्य तथा गृहस्थ) के लिए जिन्हें सांसारिक जीवन सफलतापूर्वक बिताना है धन की (आवश्यकता है और उसके महत्त्व का वर्णन है तथा समाज और जीवन के दूसरे अङ्ग के लिए जो धीरे-धीरे संसार से निवृत्त होना चाहते हैं धन की इच्छा की, उसके मोह की तथा सबके लिए धन-प्राप्ति की लालसा में ही लिप्त रहने की निन्दा की गयी है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार मोक्ष को सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य बताते हुए भी तथा संसार की सब कामनाओं और लिप्साओं से तथा भौतिक जीवन के मायाजाल से मुक्त होने की अनिवार्य आवश्यकता बताते हुए भी 'अर्थ' और 'काम' को चार पुरुषार्थों में स्थान दिया गया है। यह भारत के समन्वयात्मक जीवन की विशेषता है। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि भारतीय विचार में 'धन' का भी वही अर्थ है जो वर्तमान काल के पश्चिमी अर्थशास्त्र में है। शुक्र ने 'धन' और 'द्रव्य' के अन्दर भेद करते हुए बताया है कि जो वस्तुएँ विक्रय के लिए प्रयोग होती हैं वह तो द्रव्य हैं तथा अन्य सभी वस्तुएँ जो मनुष्य-जीवन के उपयोग की हैं अर्थात् जिनमें उपयोगिता है, जिनको मोल लिया और बेचा जा सकता है तथा जिन्हें प्राप्त करने की मनुष्य इच्छा करता है, वह सब धन है।[१०]

जैसा 'वार्ता' के विषय-वर्णन (कृषि, वाणिज्य, पशुपालन) से स्पष्ट है कि भारतीय विचार में अर्थ-व्यवस्था का भी वर्णन अन्य विषयों के समान पूर्णतया व्यावहारिक है। केवल आर्थिक सिद्धान्तों और तत्त्वज्ञान का वर्णन भारतीय अर्थ-व्यवस्था में नहीं मिलता। यह भारत की सम्पूर्ण विचार-पद्धति के ही अनुसार है। यहाँ तो केवल इतना ही बताया गया है कि भारतीय आर्थिक विचार में विविध प्रकार के आर्थिक सिद्धान्तों की विवेचना ढूँढ़ने का प्रयत्न व्यर्थ होगा यद्यपि उन्हें निष्कर्ष रूप में प्राप्त किया जा सकता है।

वर्तमानकाल के अर्थशास्त्र में आर्थिक जीवन के नियमों के अन्तर्गत पहला

विचार उपभोग का है। भारतीय विचारकों ने भी मनुष्य जीवन में उपभोग और उसकी आवश्यकता का महत्त्व समझा था। उनकी धारणा थी कि मनुष्य की जो आवश्यकताएँ हैं उनकी (कम-से-कम न्यूनतम आवश्यकताओं की) अवश्य पूर्ति होनी चाहिए, क्योंकि एक तो यदि इन आवश्यकताओं की पूर्ति न हुई और मनुष्य का मन इन्हीं में लिप्त रहा तो वह आध्यात्मिक उन्नति न कर सकेगा, और दूसरे, यदि मनुष्य की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति न हुई तो एक बार उसकी इच्छा होने पर भी वह धर्मपालन नहीं कर सकेगा। उपभोग का यह महत्त्व समझने के ही कारण सभी वर्णों और आश्रमों के व्यक्तियों की जीविका की व्यवस्था की गयी है और अन्य लोगों से आग्रह किया गया है कि वह इस आवश्यकता की पूर्ति में यथासाध्य सहायता करें। उदाहरण के लिए ब्राह्मणों के जीवनयापन के लिए दान देने का आग्रह है तथा शूद्रों के विषय में यह नियम है कि वह जिनका कार्य करते हैं उन्हें उनकी आवश्यकताओं की चिन्ता करनी चाहिए और उनके वृद्ध होने पर तथा कार्य के योग्य न रहने पर भी उनका पालन करना चाहिए।[९१] इसी प्रकार ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) तथा संन्यासी को भिक्षा देने का आग्रह है। सबसे अन्त में, राजा के लिए, जो सबका संरक्षक है, यह नियम है कि वह सबका विभाग कर तब स्वयं उपभोग करे अर्थात् जब तक वह यह न देख ले कि सब लोग सन्तुष्ट हैं तब तक वह स्वयं उपभोग न करे और न उसे वैसा करने का अधिकार ही है।[९२] उपभोग का महत्त्व समझने के ही कारण भारतीय व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को, उसके जीविकोपार्जन का जो मार्ग बताया गया है, उस मार्ग का अनुसरण कर जीविकोपार्जन करना आवश्यक है और इसलिए गृहस्थाश्रम को — जिसमें उपभोग कर व्यक्ति उससे तृप्ति प्राप्त करता है—अनिवार्य बताया गया है। उपभोग का महत्त्व समझने के ही कारण यह नियम बताया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने आश्रितों का पोषण करना चाहिए[९३] तथा कौटिल्य ने यह नियम बनाया है कि[९४] "जो पुरुष स्त्री-पुत्र की व्यवस्था किये बिना संन्यासी होता है, उसे पूर्वसाहस का दण्ड होना चाहिए।" उपभोग के महत्त्व के ही कारण दान का आग्रह करने पर भी दान की सीमाएँ बतायी गयी हैं और मनु का कहना है कि[९५] "जो दान देने में समर्थ मनुष्य स्वजनों को दुख देता है उसका दान प्रारम्भ में मधु के समान परन्तु विष-रूप है और वह धर्म का पाखण्ड है।" उपभोग का महत्त्व समझने के कारण ही यह नियम है कि यदि किसी व्यक्ति को तीन दिन का उपवास हो गया है और वह चौथे दिन किसी स्थान से—चाहे घर हो, चाहे खलिहान हो, चाहे खेत हो—एक दिन का अन्न चोरी कर ले तो उसे चोर नहीं मानना चाहिए।[९६] इसी प्रकार से यदि किसी

व्यक्ति का भोजन समाप्त हो जाये और यदि वह दो गन्ने अथवा मूली किसी खेत में से ले ले तो वह दण्ड का भागी नहीं माना गया है।[९७] ऊपर धन की प्रशंसा के जो सन्दर्भ बताये गये हैं वह भी उपभोग की आवश्यकता और उसका महत्त्व सिद्ध करनेवाले हैं। शुक्रनीति में कहा है, "मैं सौ वर्ष तक जिऊँगा और धन से आनन्द करूँगा ऐसा विचार कर धन, विद्या आदि का सदैव सञ्चय करना चाहिए।"[९८]

धनार्जन का महत्त्व है और जीवन में आवश्यकताओं की पूर्ति की आवश्यकता है, अर्थात् उपभोग का महत्त्व है, इसका यह अर्थ नहीं है कि धन का अपव्यय करने की, ऐश्वर्योपभोग की (Luxury) अथवा धन को संग्रह कर रखने की धारणा भारतीय विचार में मान्य है। इसके विपरीत शुक्रनीति में अधिक व्यय करनेवाले व्यक्ति को राज्य से बाहर निर्वासित करने योग्य व्यक्तियों की सूची में रखा गया है[९९] तथा यह आग्रह किया गया है कि "बुद्धिमान् व्यक्ति अधिक व्ययवाले कार्य को न करे।"[१००] कौटिल्य ने सब धन का स्वयं उपभोग करनेवाले (ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करनेवाले) तथा धन को अनुचित व्यय करनेवाले व्यक्ति को ऐसा करने से रोकना, राजा का एक कार्य बताया है[१०१]। उपभोग को सीमित करने के लिए एक तो यह नियम बनाया गया है कि धन का उपभोग जीवन के एक चतुर्थ भाग में ही करना चाहिए अर्थात् केवल गृहस्थाश्रम में ही व्यक्ति पर्याप्त धनोपयोग कर सकता है, अन्य कालों में तो उसे केवल शरीर का निर्वाह ही करना है। परन्तु गृहस्थाश्रम में भी धनोपभोग को मर्यादित करने के लिए यह नियम है कि व्यक्ति को यज्ञशेष का ही उपभोग करना चाहिए अर्थात् समाज के प्रति तथा समाज के अन्य व्यक्तियों के प्रति जो कर्तव्य है अर्थात् जो लोकसंग्राहक कर्म हैं (यज्ञ), उनकी पूर्ति करके ही जो कुछ शेष बच सके उसमें ही व्यक्ति को निर्वाह करना चाहिए।[१०२] धन का उपभोग अथवा धन का अनावश्यक संग्रह कम करने के लिए धन की तीन गति भी बतायी गयी हैं जिनमें से दान को सबसे श्रेष्ठ कहा गया है, भोग को उससे निम्न बताया गया है तथा दान और भोग न करने पर उसकी सबसे अन्तिम गति, उसका नाश है। नारदपुराण के अनुसार[१०३] "दान, भोग और विनाश धन की ये तीन गति है। जो दान नहीं देता तथा भोग भी नहीं करता उनका धन नाश का कारण है।" व्यासस्मृति में भी कहा है,[१०४] "जो विशिष्ट व्यक्तियों को प्रतिदिन दान दिया जाता है तथा जो प्रतिदिन भोग किया जाता है उसी को धन कहना, शेष धन में तो व्यक्ति अन्य किसी के ही धन की रक्षा करता हैं।" यह कह कर इस स्मृति में दान और भोग इन दो भागों में भी दान की प्रशंसा की गयी है। इसका अर्थ यह है कि भारतीय विचार में यद्यपि उपभोग का महत्त्व और उसकी आवश्यकता

बतायी गयी है परन्तु उपभोग को मर्यादित कर धन के दान का तथा उसके द्वारा अन्य व्यक्तियों के पोषण का अधिक महत्त्व बताया गया है और धन के सञ्चय, धन के अपव्यय तथा धन के स्वार्थपूर्ण उपभोग (ऐश्वर्योपभोग) की निन्दा की गयी है। उपभोग को इतना तो मर्यादित किया ही गया था परन्तु इस सबके पश्चात् भी आग्रह इस बात का था कि उपभोग की भावना धीरे-धीरे कम होनी चाहिए और व्यक्ति को सांसारिक जीवन से ऊपर उठना चाहिए। व्यक्ति जैसे-जैसे प्रत्येक जन्म में ऊपर उठता जाता है वैसे-ही-वैसे जीवन में काम का महत्त्व कम होता जाता है तथा धर्मपालन का महत्त्व बढ़ता जाता है। जीवन के जितने भी अनुशासन हैं, खान-पान और काम-वासना सम्बन्धी नियम हैं वे शूद्रों के लिए नहीं है, अन्य दो वर्णों के लिए अधिक है तथा ब्राह्मण के सम्बन्ध में तो इन नियमों से बहुत अधिक कड़ाई है[१०५]। विभिन्न आश्रमों में भी प्रयत्न इसी बात का है कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन में इच्छाओं को कम करना सीखे और आवश्यकताओं का धर्मानुसार उपभोग करता हुआ जीवन के अन्त में पूर्णतया विरक्त हो जाये। तृष्णा की भी बहुत निन्दा की गयी है तथा सन्तोष की प्रशंसा की गयी है। पद्मपुराण में कहा है,[१०६] "असन्तोष ही सबसे बढ़कर दुःख है और सन्तोष सबसे बड़ा सुख है। अतः सुख चाहनेवाले पुरुष को सदा सन्तुष्ट रहना चाहिए।... तृष्णा का आदि-अन्त नहीं है वह सदा शरीर के भीतर व्याप्त रहती है। दुष्ट बुद्धि-वाले पुरुषों के लिए जिसका त्याग करना कठिन है, जो शरीर के जीर्ण होने पर जीर्ण नहीं होती तथा जो प्राणान्त रोग के समान है, उस तृष्णा के त्याग करनेवाले को ही सुख मिलता है।" भारतीय विचार का सार यह है कि यद्यपि शरीर की बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति सांसारिक जीवन व्यतीत करने के लिए आवश्यक है और इसलिए उनकी पूर्ति होनी ही चाहिए परन्तु उनकी वह पूर्ति भी मर्यादित होनी चाहिए तथा इसके अतिरिक्त मनुष्य का मन धीरे-धीरे सांसारिक सुखोपभोगों और सांसारिक कामनाओं से विरक्त हो जाना चाहिए क्योंकि इच्छाओं की वृद्धि में और उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्न करते रहने में (असन्तोष में) सुख नहीं है। वास्तव में सुख तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य सब कामनाओं से निवृत्त हो 'आप्तकाम' हो जाता है।

समाज में उपभोगों के नियम बहुत-कुछ वर्णाश्रम धर्म से प्रभावित हैं और उसके अनुसार ही उपभोग की मर्यादाएँ लगायी गयी हैं। इस अनुसार सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ वर्ण ब्राह्मणों से इस बात का आग्रह है कि वे सन्तोषपूर्ण और भोगेच्छारहित जीवन व्यतीत करें। यद्यपि सम्पूर्ण समाज से भी दूसरी ओर इस बात का आग्रह था कि वह इस बात की चिन्ता करे कि ब्राह्मणों को किसी प्रकार का आर्थिक कष्ट न हो। क्षत्रियों को भी यद्यपि पर्याप्त त्यागपूर्ण जीवन

व्यतीत करने का आग्रह था, फिर भी उनकी विशेष-स्थिति के अनुसार कामोपभोग की उन्हें, तुलनात्मक, अधिक सुविधा थी। "अपने पार्थिव शरीर के बारे में पूरी बेफिक्री, साहस का चाव तथा अपमान को सहन न करने की तेजस्वी मनोवृत्ति आदि गुणों का जिन लोगों में प्रकट या अप्रकट रूप में निवास होता है ऐसे लोग समाज में मर्यादित संख्या में ही रहते हैं। और यदि इन गुणों के साथ उनमें थोड़ी-सी भोग-लालसा एवं कुछ सीमा तक स्वच्छन्द वृत्ति भी हो, तो उस बात को समर्थनीय न कहा जाने पर भी उसे क्षम्य तो मानना ही होगा।"[१०७] इतने पर भी उनकी धन प्राप्त करने की मर्यादाएँ निश्चित थीं और इसके अतिरिक्त उनके लिए भी पहले सबकी चिन्ता कर तब शेष बचे धन का उपभोग करने का नियम था।[१०८] धन की सत्ता का प्रमुख अधिकार तो वैश्य के पास ही था परन्तु, जैसा पीछे बताया गया है[१०९], उसके द्वारा भी धनोपार्जन अपने स्वयं के उपभोग के लिए नहीं समाज के उपभोग के लिए था जैसा कि कौटिल्य के उद्धरण में अभी बताया गया था कि केवल स्वयं के उपभोग के लिए ही धन का अर्जन करनेवालों से उनका धन छीन लेने का नियम था। शूद्र को भी, जैसा कि बताया गया है, आर्थिक आवश्यकताओं के पूर्ण होने की पूरी व्यवस्था थी, यद्यपि वह धन का अधिकारी नहीं था।[११०] परन्तु इन चारों वर्णों में से प्रथम तीन वर्णों के जीवन के उपभोग के जो भी नियम यहाँ बताये गये हैं, वे इनके जीवन के एक-चतुर्थ भाग के गृहस्थाश्रम के ही नियम हैं और गृहस्थाश्रम के अतिरिक्त अन्य आश्रमों में व्यक्ति को बहुत ही संयमित जीवन व्यतीत करना आवश्यक था। इसके अनुसार यदि हम ऊपर के उपभोग-सम्बन्धी सभी नियमों को संक्षेप में देखें तो व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए इस बात का तो आग्रह था, परन्तु यह उपभोग उसे मर्यादित अर्थात् स्वधर्मानुसार करना चाहिए, यह नियम था और उसमें भी यह नियम था कि चाहे व्यक्ति किसी वर्ण में हो, चाहे किसी आश्रम में, उसे अपनी आवश्यकताओं को धीरे-धीरे कम करना चाहिए और इसी में सुख की वास्तविक उपलब्धि है। अतः उपभोग के नियमों के दो पहलू हैं—एक ओर तो व्यक्ति से आग्रह था कि वह अपना उपभोग कम-से-कम करे और दूसरी ओर समाज से आग्रह था कि वह व्यक्ति की प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति की चिन्ता करे। यह आग्रह प्रत्येक व्यक्ति के सम्बन्ध में था, चाहे वह किसी भी वर्ण का और किसी भी आश्रम का हो।

उपभोग के सम्बन्ध में विचार करते समय यह भी बताना आवश्यक है कि भारतीय विचार में व्यक्तिगत सम्पत्ति को भी मान्यता थी। गौतम ने वस्तु के स्वामित्व प्राप्त होने के पाँच मार्ग बताये हैं—(१) उत्तराधिकार, (२) क्रय, (३)

सम्पत्ति का विभाजन, (४) किसी वस्तु को जिसका कोई स्वामी न हो ग्रहण कर लेना (परिग्रह) तथा (५) किसी वस्तु को कहीं प्राप्त कर लेना। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों के लिए दान, क्षत्रियों के लिए विजय तथा वैश्यों और शूद्रों के लिए लाभ (व्यापार तथा सेवा द्वारा) भी स्वामित्व के अन्य साधन हैं।[१११] वसिष्ठ ने भी[११२] इसी प्रकार स्वामित्व के आठ साधन बताये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्राप्ति भारतीय विचार में मान्य था। वैसे संसार में उपभोग की वस्तुओं के सम्बन्ध में व्यक्तिगत सम्पत्ति का होना कहीं भी अमान्य नहीं है और न हो सकता है, परन्तु वर्तमान काल के समाजवादी देश उत्पादन के साधन और धन के वितरण पर राज्य का और अन्ततः समाज का स्वामित्व चाहते हैं। भारतीय विचार में समाज का अधिकार तो प्रत्येक प्रकार की सम्पत्ति पर स्वीकार किया गया था और वह इस दृष्टि से था कि चाहे किसी भी श्रेणी का व्यक्ति हो उसके द्वारा सम्पत्ति का प्रयोग सामाजिक हित के लिए ही होना चाहिए तथा एक मात्र व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए सम्पत्ति का प्रयोग वर्जित था।[११३] राज्य के सम्बन्ध में, उत्पादन के प्राकृतिक साधनों पर राज्य का इतना अधिकार तो माना जाता था कि वह उनकी आय का एक अंश स्वयं ग्रहण करे (देखिए आगे,[११४]) परन्तु उनका सञ्चालन, यथा कृषि का, खानों का, जल से प्राप्त होने-वाली वस्तुओं का, व्यक्तिगत हाथों में ही रखा गया था।[११५] इसके अतिरिक्त श्रम, पूँजी और सङ्गठन (organisation) पर साधारणतया तो राज्य का कोई अधिकार नहीं था। इसके विपरीत यदि आर्थिक उद्देश्य को लेकर कोई सङ्गठन निर्माण होते थे तो उन सङ्गठनों के नियमों को मान्यता देना और उनके कार्यान्वित होने में यदि बाधा हो तो उसे दूर करना तथा उन्हें सहायता देना ही राज्य का कर्तव्य था।[११६]

जहाँ तक उत्पादन का सम्बन्ध है, उसमें सबसे पहला विषय 'भूमि' है। वर्तमान काल में 'भूमि' की परिभाषा में केवल भूमि ही नहीं अपितु सभी प्रकार की प्राकृतिक वस्तुएँ सम्मिलित की जाती हैं। इन प्राकृतिक वस्तुओं में प्रमुख हैं—कृषि द्वारा उत्पादित वस्तुएँ, वन्य पदार्थ, खनिज पदार्थ तथा पशुओं से प्राप्त वस्तुएँ। इनके विषय में कौटिलीय अर्थशास्त्र में (अध्याय १२, १७, २४, २६) पर्याप्त विस्तृत विवेचन किया गया है। यद्यपि अन्यत्र भी थोड़े-बहुत नियम हैं। इनमें से कृषि-सम्बन्धी बहुत-से नियमों को विस्तार से देने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु उनके सम्बन्ध में संक्षेप में इतना बता देना पर्याप्त है कि सिंचाई के विभिन्न साधनों का, इन साधनों में से (नहर, तालाब, कुआँ। किस साधन द्वारा कौन-सी वस्तु की सिंचाई होनी चाहिए, कौन-सी वस्तु के लिए कौन-सी खाद देनी चाहिए, फसलों को किस क्रम से बोना चाहिए जिससे अधिक-से-अधिक फसलें एक भूमि में

हो सकें (Rotation of Crops), कृषि के रोगों को तथा विभिन्न बाधाओं–यथा टिड्डी, चूहे, पक्षी आदि को किस प्रकार दूर करना चाहिए, धान्य का संग्रह कहाँ और किस प्रकार होना चाहिए, किस प्रकार की खेती अधिक लाभप्रद है, बीज किस-किस समय बोने चाहिए, किस स्थान में खेती में कितना पानी पर्याप्त होता है तथा बीजों का आवश्यक संग्रह होना चाहिए, इस सबका वर्णन कौटिलीय अर्थशास्त्र में किया गया है।[११७] कौटिलीय अर्थशास्त्र में उपरोक्त विषयों के अतिरिक्त कर्षणयन्त्र का भी उल्लेख है, यद्यपि इस कर्षणयन्त्र का क्या अर्थ है, यह स्पष्ट नहीं होता। कौटिलीय अर्थशास्त्र में कृषितन्त्र, वृक्ष-आयुर्वेद तथा शुल्कतन्त्र (भूमि-सम्बन्धी शास्त्र) का भी सन्दर्भ आता है।[११८] अन्य भी नियम उस पुस्तक में दिये हैं जो कृषि की व्यवस्था का वर्णन करते हैं। यदि खेत का स्वामी अन्यत्र रहने के कारण बीज न बोये तो उसे दण्ड होना चाहिए परन्तु यदि खेत में कोई दोष हो अथवा कोई बीमारी आ गयी हो अथवा वह स्वयं असमर्थ हो तो उसका कोई दोष नहीं है। ऐसी स्थिति में वह खेती अन्य को भी बोने के लिए दे सकता है। यह भी नियम है कि यदि एक व्यक्ति खेत न जोते और दूसरा व्यक्ति उसे ठीक कर ले तो वह पाँच वर्ष तक उसका प्रयोग कर सकता है।[११९] यदि कोई व्यक्ति ग्राम में रहता हुआ भी खेती न करे तो उस पर ग्रामवासी दण्ड लागू कर सकते हैं।[१२०] शुक्र ने कृषि के नियमों में यह भी बताया है कि जो कृषक खेती कर सकने में असमर्थ हो उन्हें राज्य की ओर से धन की सहायता मिलनी चाहिए।[१२१] कौटिल्य का यह भी कथन है कि दण्ड, बेगार, कर आदि की बाधाओं से तथा चोर, हिंसक प्राणी, रोग आदि से कृषि की रक्षा राज्य को करनी चाहिए।[१२२] अग्निपुराण और कामन्दक दोनों ने[१२३] कृषि की रक्षा का कार्य राज्य के लिए बताया है। इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने खेती के विषय में सम्पूर्ण जानकारी रखने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति भी बतायी है।[१२४] खेती का महत्त्व समझने के कारण ग्रामों में विहार के साधन तथा नट-नर्तक का प्रवेश होने देना वर्जित है,[१२५] क्योंकि इससे फिर कृषि का कार्य व्यवस्थित चलने में बाधा उत्पन्न होती है। खेती की पशुओं से रक्षा के नियम भी विस्तार से दिये हुए हैं।[१२६] सिंचाई का महत्त्व भी भारतीय अर्थशास्त्र में बहुत अधिक समझाया गया है। कौटिल्य का कहना है कि राजा स्वयं सिंचाई के साधन तथा बाँध आदि बनवाये और यदि अन्य लोग बनवाते हों तो उन्हें भूमि, मार्ग, उपकरण आदि से सहायता दे।[१२७] यदि कोई नया तालाब बनवाये तो उसे पाँच वर्ष तक, पुराना ठीक करवाये तो चार वर्ष तक और पुराने पर नया कुछ और बनवाये तो उससे तीन वर्ष तक शुल्क न ले परन्तु जो इन साधनों को ठीक न कराये उनसे राजा दुगुना दण्ड ले।[१२८]

खानों का किस प्रकार पता लगाना चाहिए, खानों से वस्तुओं को किस प्रकार निकाला जाये, इसका विस्तृत वर्णन कौटिलीय अर्थशास्त्र में है।[१२९] खानों के विषय में यह भी नियम है कि उनकी सम्पूर्ण व्यवस्था राज्य की ही अनुमति से होनी चाहिए अर्थात् खानों को राज्य की सम्पत्ति माना गया है[१३०] और मनु ने यह नियम बताया है कि खानों का सञ्चालन व्यक्तिगत हाथों में दे कर उसके उत्पादन में राज्य का आधा भाग होना चाहिए।[१३१] यह भी नियम है कि "जो खनिज वस्तुओं का अपहरण करे उसे अपहृत हुई वस्तु से आठ गुना दण्ड देना चाहिए।...जो चोरी से खनिज पदार्थ निकाले उसे बन्धन में डाल कर काम कराना चाहिए तथा जो अपराधी की सहायता करे उसे दण्ड भी दिया जाना चाहिए।"[१३२] वन भी राज्य के अधिकार के अन्तर्गत बताये गये हैं तथा विभिन्न वनस्पतियों के उपयुक्त विभाग किये गये हैं और वन में उत्पन्न हुई वस्तुओं के संग्रह का भी आग्रह है।[१३३] वनों का महत्त्व इससे भी समझा जा सकता है कि भारतीय विचार में वनों की रक्षा का आग्रह है तथा जहाँ-जहाँ हिंसा-सम्बन्धी दण्ड अथवा प्रायश्चित्त का उल्लेख है वहाँ वृक्षों का काटना, उनकी डालों को काटना, उनके फल-फूलों को नष्ट करने का भी उल्लेख है।[१३४] भूमि के अन्तर्गत जल से प्राप्त वस्तुएँ भी आती हैं। कौटिल्य ने इनका भी वर्णन किया है तथा इनसे राज्य को प्राप्त होनेवाली आय का भी उल्लेख किया है।[१३५]

श्रम की दृष्टि से भारत में मनुष्य-शक्ति को एक बहुत बड़ी शक्ति माना गया है। यद्यपि भारतीय विचार में जनसंख्या के सम्बन्ध में कोई सैद्धान्तिक विवेचना नहीं है, फिर भी इतना अवश्य है कि जनसंख्या को सीमित करने का कोई प्रयत्न उचित नहीं माना गया। इस बात का आग्रह है कि सन्तान-निरोध का किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं होना चाहिए। इसके लिए यह तो नियम है ही कि प्रत्येक व्यक्ति को विवाह करना चाहिए और गृहस्थाश्रम की अनिवार्यता बतायी गयी है परन्तु इसके साथ-साथ यह भी नियम है कि प्रत्येक ऋतुकाल में पुरुष को अपनी पत्नी से सम्बन्ध अवश्य स्थापित करना चाहिए।[१३६] यह सब नियम भारतीय दर्शन पर आधारित हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार शिशु पहले वीर्य के रूप में पुरुष के शरीर में ही वास करता है और पुरुष-स्त्री-संसर्ग के आधार पर ही वह शरीर धारण कर सकता है। ऐसी अवस्था में सन्तति-निरोध का प्रयत्न उसका उसके स्वाभाविक जन्म से वञ्चित करता है अर्थात् उसकी भ्रूण-हत्या करता है तथा उसके विकास के प्रयत्नों में बाधा पहुँचाता है। इसलिए केवल भ्रूणहत्या ही पाप नहीं है, प्रत्येक मास स्त्री से सन्तानोत्पादन की दृष्टि से सम्बन्ध न करना भी भ्रूणहत्या ही के समान पाप है।

भारतीय व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को कार्य मिलना चाहिए और प्रत्येक कार्य के लिये व्यक्ति मिलने चाहिए, इस बात का भी आग्रह है। इसलिए समाज का विभिन्न वर्गों में विभाजन कर प्रत्येक वर्ग के लिए कार्य निश्चित कर दिया गया है। अतः व्यक्ति को, यद्यपि मनचाहा कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं है (इसे भारतीय विचार में न तो कार्य कुशलता की दृष्टि से उचित माना गया है और न व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से) परन्तु वर्तमान काल के समान व्यक्ति के जीवन में यह अनिश्चितता तथा भय भी नहीं है कि वह आगे चलकर क्या करेगा। इस प्रकार व्यक्ति के जीवन में (भारतीय समाज-व्यवस्था में) जीविका की सुरक्षा निर्माण की गयी है। व्यक्ति को मनचाहा कार्य करने की स्वतन्त्रता तो इसीलिए नहीं है कि भारतीय धारणा के अनुसार व्यक्ति जिस कुल में जन्म लेता है उसमें पैतृक संस्कार के रूप में ही कुछ-कार्यों में वह कुशलता प्राप्त कर लेता है। फिर घर के वातावरण के कारण भी उसे उस विशेष कार्य में सुविधा से कुशलता प्राप्त हो जाती है तथा उसे उस कार्य का पूर्ण ज्ञान हो जाता है और इस प्रकार प्रत्येक कार्य की कला अन्य किसी पद्धति की तुलना में सर्वोत्कृष्ट रूप में विकसित हो सकती है। आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्ति को मनचाहा कार्य करने की स्वतन्त्रता न देने के कारण वर्ण-व्यवस्था का विवेचन करते समय बता ही दिये गये हैं जिसको पुनः दुहराने की आवश्यकता नहीं है।[१३७] भारतीय विचार में कार्य-निर्धारण का मापदण्ड मानसिक स्तर नहीं है, आत्मिक स्तर है क्योंकि बहुत-से हीन, पतित और समाजघातक-कृत्य करनेवाले भी मानसिक स्तर की दृष्टि से बहुत ऊँचे हो सकते हैं। इसलिए आत्मिक अर्थात् चारित्रिक गुणों की पात्रता मानसिक स्तर से तुलनात्मक अधिक महत्त्वपूर्ण समझी गयी है यद्यपि ऐसी धारणा है कि श्रेष्ठगुणों वाले व्यक्ति का मानसिक स्तर भी साधारणतया अन्य लोगों से कम न होगा।

अतः प्रत्येक व्यक्ति को कार्य निश्चित कर देने का यह तो उपयोग है ही कि प्रत्येक व्यक्ति जीविका की दृष्टि से निश्चिन्त हो जाता है, परन्तु उसका यह भी उपयोग है कि प्रत्येक कार्य के लिए आवश्यक व्यक्ति भी प्राप्त हो जाते हैं। साथ-ही-साथ प्रत्येक श्रम का मूल्य भी ज्ञात होता है क्योंकि प्रत्येक श्रम चाहे वह कैसा हो, समान रीति से आध्यात्मिक उन्नति का साधन माना गया है (महाभारत में धर्मव्याध की कथा देखिए) और ऐसा नहीं है जैसा वर्तमान सभ्यता में होता है कि कम धन देनेवाले श्रमों को नीचा समझा जाता है और प्रत्येक व्यक्ति ऐसे कार्यों को छोड़ अन्य अधिक धन देनेवाले कार्यों की ओर दौड़ने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार भारतीय विचार में कार्यों में कोई हीनता अथवा श्रेष्ठता नहीं मानी गयी है क्योंकि सभी कार्य समाज के लिए समान रीति

से उपयोगी हैं, केवल व्यक्तियों को ही उनके गुणों के आधार पर श्रेष्ठ और निकृष्ट समझा गया है।

भारतीय व्यवस्था में श्रम-विभाजन भी अपनी परिपूर्णता में है और समाज के विभिन्न कार्य समाज के व्यक्तियों में पूर्णतया बँटे हुए हैं। इस व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति के व्यावसायिक शिक्षण की भी अच्छी तथा सुलभ व्यवस्था हो जाती है क्योंकि साधारणतया व्यक्ति अपने घर पर ही अपना व्यवसाय सीखता है। वर्ण-व्यवस्था के माध्यम से विभिन्न जातियों के स्वाभाविक सङ्घटन की (वर्तमान-कालीन परिभाषा में श्रमिक सङ्घों की), जो जाति में तो पारस्परिक सहयोग-वृत्ति निर्माण करें, सुविधा है ही, किन्तु इस प्रकार के सङ्घटन में अन्य व्यावसायिक सङ्घटन से प्रतियोगिता का भी कोई स्थान नहीं है, क्योंकि प्रत्येक के कर्तव्य, अधिकार आदि निश्चित हैं और इसीलिए वर्तमानकालीन श्रमिक सङ्घों के सङ्घर्षात्मक स्वरूप को भी कोई स्थान नहीं है।

भारतीय व्यवस्था में श्रम-विभाजन करते हुए उत्पादक और अनुत्पादक श्रमों में भी कोई अन्तर नहीं रखा गया है। क्योंकि ऐसा माना गया है कि बहुत-से ऐसे कार्य, जो बाहर से अनुत्पादक दिखते हों, समाज के लिये बहुत उपयोगी हैं, यथा ब्रह्मचारी का कार्य, सन्यासी का कार्य (जो समाज में आध्यात्मिक वातावरण उपस्थित करता है तथा आध्यात्मिक उन्नति की प्रेरणा देता हैं) तथा स्त्री का कार्य—समाज के ऐसे लोगों के लिए भी जीविका की व्यवस्था की गयी है। स्त्रियों के लिए साधारणतया गृह-कार्य ही निर्धारित किया गया है और अनाथ, वृद्ध, विधवा, कन्या और अपराधिनी स्त्रियों से तथा जिनके पति परदेश गये हों, उन स्त्रियों से ही अन्य कार्य कराने की व्यवस्था हैं।[१३८] इन स्त्रियों को भी काम की व्यवस्था इसलिये है कि इनका निर्वाह होता रहे; परन्तु अन्य गृहिणियों को जो परिवार की देखभाल करती है, अन्य कार्य करना आग्रह के साथ वर्जित है। इसका कारण यह है कि बालकों का, जो समाज के भावी घटक हैं, उनका पालन-पोषण एक महत्त्वपूर्ण कार्य समझा गया है तथा घर की सुव्यवस्था, स्वच्छता और घर के सब आवश्यक कामों की देखभाल भी इतना महत्त्वपूर्ण समझा गया है कि उसके बिना जीवन में व्यवस्था आना सम्भव नहीं है तथा उसके लिए एक पूर्णकालीन व्यक्ति की आवश्यकता है जो यह कार्य सुचारु रीति से कर ले। इससे पुरुषों को, जिन्हें धनोत्पादन का तथा बाहरी सब कार्य है, जीवन के एक क्षेत्र के विषय में निश्चिन्तता प्राप्त हो जाती है। यहाँ भी मूल भावना समुचित कार्य-विभाजन की है तथा गुणों के अनुसार प्रत्येक को कार्य देने की है। स्त्रियों के शारीरिक तथा आत्मिक गुणों का ध्यान रख कर उन्हें यह कार्य सौंपे गये है।[१३९]

श्रम के अन्तर्गत कारीगरों का भी कार्य आता है। शुक्र ने कारीगरों-सम्बन्धी नियम साधारण रीति से दिये हैं तथा कौटिल्य ने विस्तार के साथ—जुलाहा, धोबी, दर्जी, सुनार, लुहार आदि के विषय में नियम बताये हैं।[१४०] इन नियमों में इन कारीगरों का पारिश्रमिक, इनकी होनेवाली हानि तथा इनके गड़बड़ी करने पर इनको दण्ड आदि का उल्लेख है। चौथे अध्याय में यह बताया ही गया है कि बीमारी तथा वृद्धावस्था की अवस्था में सेवकों का पालन करने की आवश्यकता बतायी गयी है। यह एक प्रकार से वर्तमानकालीन श्रमिक बीमे की योजना के समान है।

पूँजी के सम्बन्ध में भारतीय धारणा यह है कि पूँजी का रहना आर्थिक जीवन के लिये बहुत आवश्यक है और इसलिए करों का वर्णन करते समय यह आदेश दिया गया है कि कर इस प्रकार नहीं लगाना चाहिये जिससे मूल पूँजी ही नष्ट हो जाये। माली का उदाहरण दे कर कहा गया है कि माली के समान फूलों को चुनना चाहिये, कलियों को छोड़ देना चाहिये तथा कोयलेवाले के समान सब जला कर नष्ट नहीं कर देना चाहिये। यह भी राजा से कहा गया है कि "तृष्णा से अपने और दूसरे के मूल को नष्ट नहीं कर देना चाहिये।"[१४१] अतः पूँजी का महत्त्व तो है अर्थात् व्यापार आदि आर्थिक कामों के लिये धन-संग्रह का तो महत्त्व है ही, कंजूसी कर धन-एकत्रीकरण भी अच्छा नहीं माना गया है। धन-संग्रह भी व्यापार के लिए हो, अर्थात् वह धन कार्य में लगा रहे तो अच्छा अन्यथा यह धारणा है कि दान तथा विभिन्न समाजोपयोगी वस्तुओं का निर्माण जैसे, उद्यान, तालाब, मन्दिर आदि (पूर्त धर्म), वैसे धन-संग्रह से अच्छा है। पूँजी का महत्त्व इससे भी समझा जा सकता है कि धर्मशास्त्रों तथा अर्थशास्त्रों में व्याज तथा धरोहर आदि के नियम बहुत विस्तार से बताये गये हैं।[१४२] यह नियम मूलतया व्यापारियों से ही सम्बन्धित हैं, यह इनके अध्ययन से ज्ञात हो जायेगा। पूँजी का महत्त्व समझने के कारण साझेदारी के भी बहुत विस्तृत नियम दिये हैं अर्थात् आर्थिक कार्यों में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा धन एकत्रित कर उन कार्यों के करने का महत्त्व समझा गया है।[१४३] फिर भी सेवा करनेवाले वर्ग को धन देने के स्थान पर उनकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करने का आग्रह था, अर्थात् आर्थिक जीवन में सेवाओं का मूल्य बहुत-कुछ वस्तुओं के द्वारा चुकाये जाने की व्यवस्था थी, इसलिए पूँजी की तुलनात्मक आवश्यकता वर्तमान काल के समान नहीं थी।

पूँजी के अन्तर्गत केवल धन ही नहीं आता, उत्पादन के साधन भी आते हैं। उत्पादन के साधनों के सम्बन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि भारतीय विचार में बड़े यन्त्रों का प्रयोग एक उपपादक माना गया है[१४४]

अर्थात् यह माना गया है कि उत्पादन के लिए यदि यन्त्रों की भी आवश्यकता हो तो छोटे यन्त्रों का ही प्रयोग करना चाहिये। बड़े यन्त्रों के प्रयोग से पूँजी थोड़े हाथों में ही सञ्चित हो जाती है, थोड़े ही व्यक्तियों के हाथों में समाज की आर्थिक सत्ता केन्द्रित होती है तथा उन थोड़े-से ही व्यक्तियों को अपनी समाज को इच्छानुसार सञ्चालन करने की शक्ति प्राप्त होती है। भारतीय सामाजिक विचारकों को यह तनिक भी इष्ट नहीं था। उन्होंने तो आर्थिक सत्ता को समाज जीवन में तीसरा स्थान दिया था तथा धन के आधार पर समाज-जीवन को चलाने का सिद्धान्त अमान्य कर उलटे वैश्य के लिये यह नियम बनाया था कि उसका धन समाज के उपभोग के ही लिए है और कहा था कि वैश्य तो दोनों वर्णों के खाने के ही लिये है[१४५] अर्थात् वैश्य का धन दोनों वर्ण और इसलिये, स्वाभाविक रीति से, चौथे वर्ण शूद्र के भी पोषण के ही लिए है। बड़े यन्त्रों के प्रयोग की एक अन्य हानि यह है कि ऐसी अवस्था से यन्त्र मनुष्यों को श्रम से हटा कर उनका स्थान ग्रहण कर लेते हैं और बड़ी संख्या में व्यक्ति जीविका के साधनों से वञ्चित हो जाता है। बड़े यन्त्रों के प्रयोग से विविध प्रकार की वस्तुएँ निर्माण होने के फलस्वरूप असन्तोष, परस्पर भेदभाव, विद्वेष तथा सङ्घर्ष में भी वृद्धि होती है। पूँजी के ही साथ लगा हुआ प्रश्न उत्पादन के सङ्गठन का है। कृषि के वर्णन में क्योंकि कहीं भी सामूहिक खेती का उल्लेख नहीं है, इस कारण कृषि के सङ्गठन का प्रश्न ही नहीं उठता। और क्योंकि बड़े यन्त्रों का प्रयोग अमान्य है इसलिए बड़े-बड़े कारखानों का भी कोई विचार नहीं है। इस कारण सामूहिक उत्पादन का अर्थात् औद्योगिक सङ्गठन का भी कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं था।

विनिमय के अन्दर सबसे प्रथम बात है वस्तु के मूल्य-निर्धारण का ढङ्ग। भारतीय विचारकों को यह ज्ञात था कि किसी वस्तु का मूल्य इस पर निर्भर करता है कि वह वस्तु प्राप्त होने में सुलभ है अथवा कठिन तथा उस वस्तु में लोगों को आकर्षित करने योग्य गुण हैं अथवा नहीं। दूसरे शब्दों में, उन्हें यह ज्ञात था कि किसी वस्तु का मूल्य उसके लाभ और आकर्षण, अर्थात् उसकी माँग और प्राप्ति की सुलभता (demand and supply) पर निर्भर करता है। शुक्र का कहना कि "चाँदी, सोने, ताँबे को व्यवहार के लिए मुद्रित करना चाहिए। कौड़ी से ले कर रत्न तक व्यवहार के काम में आनेवाली (मूल्य के लिए प्रयोग होनेवाली) वस्तुओं को द्रव्य कहते हैं तथा पशु, धान्य, वस्त्र, तृण आदि को धन कहते हैं। जितने व्यय से कोई मिले वह उसका मूल्य होता है तथा सुलभता और असुलभता (पूर्ति), अगुण और गुण (माँग) इनके आधार पर पदार्थों का कम अथवा अधिक मूल्य हो जाता

है। मणि, धातु आदि (द्रव्य) का मूल्य कभी भी कम न करना चाहिए। इनके मूल्य की हानि राजा के दोष से उत्पन्न होती है।" उसी ने अन्यत्र कहा है "जो इस संसार में दुर्लभ है वह सभी कुछ रत्न है। इसीलिए देश, काल के अनुसार सभी वस्तुओं के मूल्य की कल्पना कर लेनी चाहिए। जो गुणहीन है तथा व्यवहार के लिए आयोग्य है, उसका कोई मूल्य नहीं होता। इसलिए वस्तु का निम्न, मध्यम, उत्तम होना उसके मूल्य-निर्धारण करते समय विचार में लेना चाहिए। बुद्धिमान् व्यक्ति सदा संसार को देख कर (जैसी जिस वस्तु की आवश्यकता आदि है यह देख कर) मूल्य का विचार करे।[१४६] शुक्र के उपरोक्त उद्धरणों से यह निश्चित हो जाता है कि किसी भी वस्तु का मूल्य दो बातों पर निर्भर करता है—एक तो उसके मिलने में कितनी दुर्लभता है अथवा सुगमता है (पूर्ति अथवा supply) तथा, दूसरे, उसकी संसार में माँग कितनी है (demand)। शुक्र ने यहीं पर एक अन्य बात जो बतायी है वह है द्रव्य अर्थात् विनिमय के साधन (means of exchange) का मूल्य कम होने के सम्बन्ध में। उसका कहना यह बताता है कि कभी-कभी वस्तुओं की तुलना में विनिमय के साधनों अर्थात् द्रव्य का भी मूल्य कम हो जाता है परन्तु यह तभी होता है जब राजा का दोष होता है अर्थात् द्रव्य की मात्रा राज्य द्वारा बहुत बढ़ा दी जाये तो उस समय द्रव्य का मूल्य भी कम हो जाता है (Inflation)। वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण के विषय में कौटिल्य का कहना है कि पण्याध्यक्ष को स्थल और जल में उत्पन्न विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का तथा स्थल-मार्ग और जल-मार्ग से आनेवाली वस्तुओं की प्रियता अथवा अप्रियता (माँग की कमी अथवा आधिक्य) आदि का ज्ञान रखना चाहिए। कौटिल्य ने पण्याध्यक्ष के द्वारा चातुरी के साथ वस्तुओं के मूल्य कम कराने अथवा बढ़वाने का भी उल्लेख किया है, परन्तु इस विषय में साथ-साथ इस बात का भी आग्रह किया है कि इसमें प्रजा के (उपभोक्ताओं के) हित का ध्यान प्रमुख रूप से रहना चाहिए[१४७] और जिस वस्तु के मूल्याधिक्य से प्रजा को पीड़ा हो, उसके मूल्य का आधिक्य रोक देना चाहिए। वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण का कार्य प्रमुख रीति से राज्य को सौंपा गया है। वस्तु के आने-जाने, रखने का समय, उसकी वृद्धि और हानि इनका विचार कर राजा सभी वस्तुओं का क्रय-विक्रय कराये। पाँच दिन अथवा पन्द्रह दिन के व्यतीत हो जाने पर राजा प्रत्यक्ष रीति से वस्तुओं का मूल्य निर्धारण कराये।[१४८] निर्धारण के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य ने यह नियम भी बताया गया है कि स्वदेश की वस्तु पर पाँच प्रतिशत तथा विदेश की वस्तु पर दस प्रतिशत लाभ लगाना चाहिए।

व्यापार के विषय में भी विस्तार से नियम बताये गये हैं। मनु का कहना है कि "चोर, डाकू आदि तो गुप्तरूप से रहनेवाले वञ्चक हैं परन्तु जो विभिन्न प्रकार के व्यापार से जीवित रहनेवाले हैं वे प्रकट रीति से कार्य करनेवाले वञ्चक हैं।"[१४९] इसी बात का ध्यान में रख कर याज्ञवल्क्य ने कहा है कि "व्यापारीगण मिल कर वस्तुओं का विक्रय रोक देते हैं। ऐसे व्यापारियों पर, उनके द्वारा वस्तु का विक्रय रोक देने के लिए तथा वस्तु का मूल्य घटाने-बढ़ाने के लिए, दण्ड होना चाहिए।"[१५०] इस कारण मनुस्मृति में राज्य द्वारा मूल्य के निर्धारण करने का नियम तो बताया ही गया है, इसके साथ-साथ यह भी है कि राज्य द्वारा माँप-तौल के साधनों की भी प्रत्येक छः मास में परीक्षा होनी चाहिए।[१५१] इसके अतिरिक्त, क्योंकि व्यापार में यह भी सम्भव है कि वस्तुओं का मिश्रण हो सकता है अर्थात् अच्छी वस्तु में बुरी वस्तु मिला कर बेची जा सकती है अथवा बुरी वस्तु अच्छी के रूप में बेची जा सकती है अथवा वस्तुओं के बेचने में भेदभाव किया जा सकता है, इसलिए उस पर भी नियन्त्रण की व्यवस्था है।[१५२] व्यापारिक वस्तुओं के मूल्य पर नियन्त्रण रखने के लिए एक नियम यह भी है कि व्यापार की वस्तु का विक्रय उत्पादन के स्थान पर न होना चाहिए अपितु बाजार में ही होना चाहिए[१५३] जिससे मूल्यों की गड़बड़ी पकड़ी जा सके तथा वस्तुओं पर उचित शुल्क लिया जा सके। व्यापार तथा व्यापारियों की सम्पूर्ण जानकारी रखने के लिए कौटिल्य ने गुप्तचरों का प्रयोग भी बताया है और मनु ने भी इन्हें कण्टक कह कर इनके लिए गुप्तचरों की नियुक्ति का आग्रह किया है।[१५४] शुक्र ने व्यापार के विषय में एक नियम यह बताया है कि हाथी आदि पशुओं, चाँदी, सोना, रत्न, मादक वस्तु, आदि का क्रय-विक्रय राज्य की आज्ञा के बिना नहीं हो सकता।[१५५] उक्त बताये गये सब नियमों का अर्थ यह है कि भारतीय विचारकों का इस बात पर प्रबल आग्रह था कि व्यापार समाज-विरोधी ढङ्ग से न हो। इस बात की चिन्ता राज्य को करनी चाहिए तथा इस दृष्टि से उसे पर्याप्त नियन्त्रण भी रखना चाहिए।

राज्य द्वारा व्यापार पर नियन्त्रण रखने के साथ व्यापार को सहायता देने की भी पूर्ण व्यवस्था है। इसके लिए यह तो नियम है ही कि शुल्क निश्चित करने में अथवा मूल्य-निर्धारण में व्यापारियों के लाभ का ध्यान रखना चाहिए, साथ ही यह भी बताया गया है कि वस्तुओं का मूल्य आवश्यकतानुसार, प्रजा के हित का ध्यान रख कर बढ़ाने-घटाने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके अतिरिक्त बाजारों की स्थापना भी करनी चाहिए।[१५६] वस्तुओं के विक्रय का प्रबन्ध करना चाहिए तथा शीघ्र विक्रय के योग्य वस्तुओं (साग आदि) के विषय में ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि वह तुरन्त विक

जायें। मार्ग की रक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए और व्यापारियों को विदेश व्यापार की पूर्ण जानकारी यथा मार्ग का व्यय, मार्ग की कठिनाई, मार्ग के लिए आवश्यक व्यवस्था तथा व्यापार के स्थान के आचार-विचार का भी ज्ञान देना चाहिए।[१५७] व्यापारियों के सम्बन्ध में उनके नाम, स्थान, व्यापार का स्थान, वस्तु आदि से सम्बन्धित पूरी जानकारी राज्य के पास रहनी चाहिए।[१५८] राज्य द्वारा व्यापार के मार्ग निर्माण किये जाने का तथा मार्गों की सुरक्षा का पूरा आग्रह है।[१५९] मार्ग में यदि व्यापारियों की वस्तु खो जाये तो उन्हें राज्य की ओर से वस्तु वापिस मिलनी चाहिए। जल-मार्गों का भी सदैव निरीक्षण होना चाहिए और डाकुओं आदि से इन मार्गों की सुरक्षा करनी चाहिए तथा यहाँ भी व्यापारियों की नष्ट वस्तुएँ राज्य की ओर से वापिस मिलनी चाहिए।[१६०] उक्त नियमों के अतिरिक्त विदेश-व्यापार के सम्बन्ध में यह भी नियम है कि जो वस्तु उपयोग की हों उन्हें बिना शुल्क आने देना चाहिए तथा उपयोगी वस्तुओं को बाहर जाने देना रोक देना चाहिए।[१६१] विदेश-व्यापार को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से, जैसा ऊपर बताया गया है, स्वदेश-व्यापार की तुलना में विदेश-व्यापार पर अधिक लाभ लेने की अनुमति है (५% तथा १०%)। उपर्युक्त विवेचन से दो बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त ज्ञात होते हैं—एक तो यह कि व्यापारियों की रक्षा भी राज्य का उत्तरदायित्व माना गया था और यदि राज्य वैसी रक्षा न कर सके तो उसका यह कर्त्तव्य था कि वह हानि पूरी करे; दूसरा यह कि भारतीय विचार में निर्यात की तुलना में आयात को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया था और यह विचार था कि एक बार वस्तुएँ बाहर न जायें तो कोई आपत्ति नहीं परन्तु देश के अन्दर से वस्तुएँ बाहर जा कर यहाँ पर वस्तुओं की कमी नहीं होनी चाहिए। वस्तुओं की कमी रोकने के लिए बाहर से वस्तुओं का जितना अधिक आयात हो सके उतना अच्छा माना गया था। उसके लिए विदेश के आयात-व्यापार को केवल प्रोत्साहन ही नहीं था, अपितु, उसके लिए आवश्यक तथा उपयोगी वस्तुओं पर शुल्क न ले कर उसकी सहायता का भी प्रयत्न था। यह वर्तमान आर्थिक विचार और प्रणाली के प्रतिकूल है जिससे आयात की तुलना में निर्यात को अधिक महत्त्व है और उसे अधिक प्रोत्साहित किया जाता है जिससे कि सम्पूर्ण समाज की तुलना में एक सीमित उत्पादक वर्ग को अधिक लाभ होता है तथा क्रमशः आर्थिक साम्राज्यवाद का जन्म होता है। भारतीय विचारकों ने आत्मनिर्भरता का अर्थ यह नहीं माना था कि वस्तुओं का अभाव रहे। देश में वस्तुओं के उत्पादन के साथ-साथ उन्होंने आयात द्वारा वस्तुओं के संग्रह की ओर भी पूरा ध्यान दिया था।

यद्यपि सिक्कों के प्रयोग का प्राचीन भारतीय व्यवस्था में तुलनात्मक उल्लेख कम आता है और जैसा कि कहा गया, सेवाओं का बदला तो वस्तुओं द्वारा बताया ही गया है, फिर भी वस्तुओं के आवश्यक विनिमय के लिए मुद्रा की आवश्यकता भारतीय व्यवस्था में भी समझी गयी है। मुद्रा के लिए शुक्र ने 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग किया है। मुद्रा के सम्बन्ध में यह नियम है कि मुद्रा बनवाने की व्यवस्था राज्य को करनी चाहिये जिसमें से वह अपना आवश्यक (सिक्के के मूल्य की तुलना में कम धातु का प्रयोग कर) भाग निकाल सकता है। यदि कोई व्यक्ति बिना अधिकार के मुद्राएँ बनाता है अथवा उचित मुद्राओं को स्वीकार नहीं करता अथवा झूँठी मुद्रा को चलाता है अथवा कोप में जाली सिक्के रखता है तो उसे दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिये। बनावटी सिक्कों को काटने का भी नियम है।[१६२] मुद्रा के साथ-साथ व्यापार में सहायता के लिए उधार की भी आवश्यकता है। इस दृष्टि से ऋण, व्याज तथा धरोहर-सम्बन्धी नियम भी किसी-न-किसी प्रकार की बैंक-व्यवस्था की ओर इङ्गित करते हैं[१६३] और यह सिद्ध करते हैं कि वर्तमान काल के समान समाज का अधिकांश धन इन व्यापारियों के पास ही रहता था जो जमा करने का, उधार देने का तथा अन्य तत्सम्बन्धित काम करते थे। उधार लिये गए धन के सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण जानने योग्य बात यह है कि किसी व्यक्ति द्वारा लिए गये ऋण को उसके पौत्र-प्रपौत्र तक को लौटा देना चाहिये, यह नियम था।[१६४] यह नियम त्रिऋण के सिद्धान्त पर आधारित है कि व्यक्ति को पितृऋण चुकाना चाहिये। ऋण चुकाने के इस सिद्धान्त को श्राद्ध से सम्बन्धित किया गया है। श्राद्ध करने का कर्तव्य तीन पीढ़ी तक रहने के कारण सम्पत्ति का उत्तराधिकार भी तीन पीढ़ी तक जाता है और जिसे सम्पत्ति का उत्तराधिकार है उसको ही स्वाभाविक रीति से ऋण चुकाने का कर्तव्य भी था। इस नियम के अनुसार वर्तमान ऋण चुकाने के सीमित उत्तरदायित्व (Limited Liability) की व्यवस्था भारतीय सिद्धान्त के प्रतिकूल थी क्योंकि इस व्यवस्था में ऋण चुकाने का पूरा उत्तरदायित्व साझेदार अपने ऊपर न ले कर उन्होंने जितना साझे का धन दिया है उसी को दे कर वह अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाते हैं।

समाज के अन्दर धन के उत्पादन, उपभोग और विनिमय का विचार करने के साथ उसके 'वितरण' का विचार भी बहुत आवश्यक रहता है। यह विषय है भी बहुत महत्त्वपूर्ण, क्योंकि इसी के आधार पर समाज के सम्पूर्ण आर्थिक जीवन का सञ्चालन होता है। 'वितरण' के अन्दर सबसे प्रमुख बात है समाज के विभिन्न अवयवों में सामाजिक आय का वितरण। भारतीय समाज-व्यवस्था के

अन्दर समाज के प्रत्येक अङ्ग की आय की यथा आवश्यक व्यवस्था की गयी है। प्रत्येक वर्ण की आय के साधन निश्चित कर दिये गये हैं, यथा ब्राह्मणों को अध्यापन द्वारा गुरुदक्षिणा द्वारा, यज्ञ कराने की दक्षिणा द्वारा, तथा इसके अतिरिक्त दान द्वारा भी जीविका की व्यवस्था होती है। परन्तु इसमें यह नियम है कि ब्राह्मणों को न तो कुछ माँगना है और न कुछ अपेक्षा करनी है। उनके विषय में यह भी नियम है कि उन्हें अधिक सञ्चय न करना चाहिए।[१६५] क्षत्रियों के लिये समाज की रक्षा द्वारा प्राप्त आय से अर्थात् धर्मरक्षण के लिए शस्त्रों के द्वारा प्राप्त की गयी आय से जीविका-निर्वाह की व्यवस्था है। वैश्यों की आय के साधन हैं कृषि, वाणिज्य तथा पशुपालन और शूद्रों की जीविका की व्यवस्था करने का उत्तरदायित्व इन तीन वर्णों पर है। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के कारीगरी के काम वर्णसङ्कर जातियों के लिए बताये गये हैं और उन्हें भी अपने-अपने कार्यों के द्वारा जीविका की व्यवस्था करने का नियम है। स्त्रियों के लिये गृहकार्य है और इसलिए विधवा, अनाथ, तथा जिनके पति परदेश में गये हों, ऐसी स्त्रियों को छोड़ कर अन्य स्त्रियों के लिये स्वतन्त्र आर्थिक कार्य की व्यवस्था नहीं है। भारत में स्त्री-पुरुषों को समान स्थान दिया गया है, उन्हें एक ही शरीर के दो भागों के रूप में माना गया है। भारत में स्त्री-पुरुषों का सहयोग परस्पर कामोपभोग का ही सहयोग नहीं है, अपितु जीवन में एक-दूसरे के पूर्ण सहयोग और एकात्मक जीवन का सम्बन्ध है। अतः दोनों ही एक-दूसरे पर परतन्त्र हैं, इसलिए जिस प्रकार पुरुष अपने जीवन की सब व्यवस्था के लिए स्त्री पर आश्रित है इसी प्रकार अपने जीवन की व्यवस्था के लिए स्त्री भी पुरुष पर आश्रित है अर्थात् अन्योन्याश्रयता का सम्बन्ध है। समाज के विविध अङ्गों में धन का विभाजन इस आधार पर किया गया है कि धन की श्रेष्ठता से ही समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होनी चाहिए। इसलिए समाज में सबसे निर्धन बनाये गये वर्ग ब्राह्मण को सबसे प्रतिष्ठापूर्ण स्थान दिया गया है। जीविका की इस निश्चित और स्थायी व्यवस्था के कारण, गुणों के आधार पर कार्यों का विभाजन होने के कारण, धन की बहुलता के आधार पर प्रतिष्ठा निर्भर न करने के कारण तथा धनीवर्ग द्वारा अपने धन का उपयोग अपनी सुख-सुविधा तथा स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति की दृष्टि से न करने की व्यवस्था होने के कारण अपितु उसका प्रयोग दान, पूर्तधर्म आदि के द्वारा समाज के ही हित के लिए होने के कारण भारत में वर्ग-विद्वेष की भावना उत्पन्न होने का वैसा कोई स्थान नहीं था जैसा कि आज के आर्थिक जीवन में दिखायी देता है और न इस प्रकार की वर्ग-विद्वेष की भावना को ही कोई प्रश्रय दिया गया था।

यद्यपि 'वितरण' का अर्थ 'समाज के विभिन्न अङ्गों में आय का बँटवारा' होना

चाहिए, परन्तु वर्तमानकालीन अर्थशास्त्र में मनुष्य की तुलना में अर्थ के उत्पादन और वितरण को महत्त्व होने के कारण वितरण का अर्थ है उत्पादन के विभिन्न साधनों में आय का बँटवारा। "यह (वितरण) इस रीति या सिद्धान्त का अध्ययन है जिसके अनुसार उत्पादन के प्रत्येक साधन को उत्पादन-क्रिया में भाग लेने के बदले, मिलनेवाला प्रतिफल निर्धारित किया जाता है।"[१६६] उत्पादन के इन साधनों में 'भूमि' का जो भाग प्राप्त होता है उसे लगान अथवा भाटक (Rent) श्रम को जो भाग प्राप्त होता है उसे पारिश्रमिक तथा पूँजी को प्राप्त होने वाले भाग को व्याज एवं सङ्घटन के भाग को लाभ कहते हैं। इनका भी यद्यपि भारतीय धर्मशास्त्रों और अर्थशास्त्रों में विचार हुआ है[१६७] परन्तु उसका यहाँ विस्तारपूर्वक विचार करना आवश्यक नहीं है।

ऊपर के विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय व्यवस्था वह व्यवस्था थी जिसे वर्तमान काल में कृषिकालीन व्यवस्था कहा जाता है। यहाँ कृषि तथा घरेलू उद्योगों को ही प्रमुख स्थान था और बड़े यन्त्रों का होना वर्जित था। यह कृषिकालीन व्यवस्था जानबूझ कर रखी गयी थी। बड़े यन्त्रों की कल्पना होने पर भी उनका प्रयोग उनकी हानि के कारण ही वर्जित था। अतः भारतीय विचार में वर्तमानकालीन पूँजीवादी व्यवस्था मान्य नहीं थी जिससे क्रमशः थोड़े-थोड़े हाथों में ही धन का सञ्चय होता जाता है तथा उन थोड़े लोगों को अपने धन के कारण समाज पर स्वामित्व प्राप्त होता जाता है। परन्तु पूँजीवादी व्यवस्था के साथ-साथ वर्तमानकालीन समाजवादी व्यवस्था भी, जिसमें धन के उत्पादन और वितरण का अधिकार राज्य के पास रहता है, भारतीय विचारकों को मान्य नहीं थी। राज्य-व्यवस्था के वर्णन में इसका विस्तार से वर्णन किया जायेगा।[१६८] भारतीय विचार में समाज की व्यवस्था को ठीक से बनाये रखने का कार्य राज्य का था तथा राज्य के द्वारा समाज पर इतना नियन्त्रण आवश्यक था जिससे समाज-जीवन में और समाज की सुस्थिति तथा सुव्यवस्था में कोई गड़बड़ न हो। परन्तु इसके पश्चात् भी राज्य को इतना अधिकार नहीं दिया गया था कि समाज के सञ्चालन का कार्य उसके पास हो। इतना अधिकार राज्य को देना भारतीय विचारकों को मान्य नहीं था। इसलिए आर्थिक जीवन का सञ्चालन भी व्यक्तिगत हाथों में दिया गया था तथा उसका नियमन समाज-व्यवस्था के नियमों के अनुसार था। राज्य का आर्थिक जीवन पर केवल इतना नियन्त्रण था और इतना नियन्त्रण आवश्यक माना गया था कि कोई गड़बड़ी न हो सके। फिर भी मूल्य निर्धारित करने के समान महत्वपूर्ण कार्य तथा आयात-निर्यात को समाज के हित में नियन्त्रित करने का कार्य, उत्पादन में आवश्यक सहायता देने का कार्य तथा वितरण में

कहीं गड़बड़ हो तो उसे ठीक करने का कार्य, राज्य को सौंपा गया था क्योंकि वर्तमानकालीन समाजवाद भारतीय व्यवस्था में मान्य नहीं था। इस आधार पर वर्तमानकालीन आर्थिक नियोजन भी, जिसमें राज्य समाज के सम्पूर्ण आर्थिक जीवन पर अपना अधिकार निर्माण कर उसकी व्यवस्था करता है, भारतीय विचारकों को मान्य नहीं था। सहायता दे कर तथा गड़बड़ियाँ रोक कर समाज की आर्थिक प्रगति की योजना बनाना, इतना ही आर्थिक नियोजन भारतीय आर्थिक विचार के अन्दर मान्य था।

नैतिक नियम

अभी तक सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था का तथा उसके विभिन्न अङ्गों का वर्णन किया गया है। अब नैतिक नियमों का वर्णन करना उचित तथा अपेक्षित होगा। पीछे यह बताया गया है कि भारतीय जीवन में धर्म के आधार पर सम्पूर्ण जीवन का सञ्चालन होता था। इस कथन का यह निष्कर्ष निकालना ग़लत है कि भारत में वाह्य आचार एवं रूढ़ि प्रथाओं की ही प्रधानता थी तथा भारत में आन्तरिक नैतिकता की कोई धारणा नहीं थी। इसके विपरीत भारत में सब कार्यों का अधिष्ठान ही नैतिकता थी इसलिए भारत में मनुष्य के जीवन के लिए परिपूर्ण नैतिक लक्ष्य तो रखा ही गया था (जिसके अनुसार मनुष्य धीरे-धीरे सब स्वार्थ छोड़ कर सम्पूर्ण विश्व को आत्मवत् समझ कर विश्व कल्याण के हितार्थ प्रयत्न करे), साथ-साथ यह भी माना गया था कि इस लक्ष्य को जीवन में व्यवहार में लाना भी आवश्यक है और उसे व्यवहार में लाने के लिए मनुष्य के मन पर तदनुकूल संस्कार पड़ने की व्यवस्था चाहिए, चारों ओर का वातावरण उसके अनुकूल निर्माण होना चाहिए और मनुष्य का प्रत्येक क्षण मार्ग-निर्देशन करने के लिए उस उद्देश्य के अनुकूल व्यवहार के नियम निश्चित होने चाहिए। भारतीय विचारकों की यह धारणा थी कि जिसे अन्तरात्मा कहा जाता है (अर्थात् मन और बुद्धि का योग) उसकी पुकार उन्हीं का ठीक मार्ग-निर्देशन कर सकती है जिनकी अन्तरात्मा परिष्कृत है। परन्तु सर्वसाधारण व्यक्ति के लिए जो संसार की सुख-कामना में लिप्त है, यह विचार करना गलत होगा कि इस अन्तरात्मा की पुकार उन्हें सदा ठीक मार्ग पर ही लगायेगी। मनुष्य की यह अन्तरात्मा उसके पूर्व संस्कारों से प्रभावित रहती है, शुद्ध लक्ष्य से नहीं। इसलिए उसके अनुसार चल कर व्यक्ति निश्चित रूप से अपने उन पूर्व संस्कारों के आधार पर ही, चाहे वह पूर्व संस्कार अच्छे हों अथवा बुरे, निर्णय लेगा। अतः भारतीय विचार में नैतिकता का जीवन के व्यवहार में लाने के लिए, उद्देश्य के अतिरिक्त जीवन की सम्पूर्ण योजना और जीवन के प्रत्येक अङ्ग और क्षेत्र के कर्तव्य भी निश्चित

किये गये थे। इनके अतिरिक्त भारतीय विचार में नैतिकता निर्माण करने के लिए वाह्य आचारों, रूढ़ियों और प्रथाओं को भी आवश्यक समझा गया था। भारतीय विचारकों की यह धारणा थीं कि यह सब मनुष्य को अनुशासित कर उस नैतिकता का अभ्यास डालने में, उसके अनुसार व्यवहार कराने में सहायक होंगे और उसकी वृत्ति में धीरे-धीरे परिवर्तन कर उसे उसके लक्ष्य की ओर पहुँचाने में भी सहायक होंगे। इसलिए व्यक्ति से, उसकी दिनचर्या का, जिसमें शौच, पूजा, सन्ध्या, पञ्चमहायज्ञ आदि सभी थे, कड़ाई के साथ पालन करने का आग्रह था। भारतीय विचारकों की यह धारणा नहीं थी कि इन नियमों के पालन में व्यक्ति बँधता अथवा परतन्त्र होता है। इसके विपरीत उनकी यह धारणा थी कि व्यक्ति वास्तव में सांसारिक स्वार्थ और सांसारिक सुखोपभोग की कामना करने, उसके लिए प्रयत्न करने और उपभोग करने में ही परतन्त्र रहता है, वास्तविक स्वतन्त्रता इनसे मुक्त होने में है और इनके ऊपर उठ कर अर्थात् इन क्षुद्र और अस्थायी सुखों के बन्धनों से ऊपर उठ कर चिर आनन्द की प्राप्ति में है।

इसलिए भारतीय जीवन में नैतिकता की दृष्टि से जो लक्ष्य प्रस्तुत किया गया था, उसमें मनुष्य के पूर्ण नैतिक विकास की तो कल्पना थी ही, साथ ही यह भी माना गया था कि इस नैतिक विकास के माध्यम से व्यक्ति क्रमशः अपनी भावनाओं, इच्छाओं और स्वार्थों को छोड़ता हुआ संसार के अन्य लोगों के सुखों और दुःखों से एकरसता का अधिकाधिक अनुभव करता जायेगा औ इस कारण नैतिक विकास के साथ-साथ सामाजिक कल्याण की भी वृत्ति जागृत होगी अर्थात् इस लक्ष्य से सामाजिक कल्याण के उद्देश्य की पूर्ति होगी। फिर भारतीय विचारकों ने सुख के लिए प्रयत्न करने के अथवा मनुष्य को अमर होने के लक्ष्य को भी हेय नहीं माना था। उन्होंने तो केवल इतनी ही विचार किया था कि सांसारिक सुख अनित्य होते हैं इसलिए वह अन्त में असन्तोषकारक और दुखकारक होते हैं, विशेषतया क्योंकि उनकी कभी समाप्ति नहीं होती और उनसे कभी तृप्ति नहीं होती। अतः उनकी धारणा थी कि ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि जिसमें मनुष्य को अनन्त सुख प्राप्त हो और यह तभी हो सकता है जब मनुष्य सांसारिक स्वार्थों और कामनाओं से ऊपर उठ जाये। इसके सम्बन्ध में सबसे श्रेष्ठ उदाहरण के रूप में राजा ययाति की कथा दी गयी है जिसने भोगों से अतृप्त रहने के कारण अपने पुत्र पुरु का यौवन माँग लिया और फिर भी अतृप्त रहने पर उसने अन्त में कहा,[१६९] "कामनाओं की पूर्ति होने पर जो सुख मिलता है, दिव्य पदार्थों एवं वस्तुओं की प्राप्ति पर जो महासुख होता है वह सब सुख उस सुख की सोलहवीं कला की भी समानता नहीं कर सकता जो

तृष्णा के नाश हो जाने पर प्राप्त होता है। इसी प्रकार उनका यह भी विचार था कि मनुष्य की अमरता की कामना में कोई दोष नहीं है, यह स्वाभाविक ही है, परन्तु सांसारिक जीवन व्यतीत करने में अमरता प्राप्त नहीं हो सकती। इसके विपरीत इसमें तो जन्म-मृत्यु का ताँता लगा रहता है और कितना भी यश प्राप्त करने पर भी उससे अमरत्व प्राप्त नहीं होता। इसलिए ऐसा प्रयत्न आवश्यक है जिससे वास्तव में अमरत्व प्राप्त हो। इसलिए उन्होंने मोक्ष को केवल मनुष्य के चरित्र विकास के रूप में अथवा सामाजिक कल्याण सहायक के रूप में ही नहीं मनुष्य को अनन्त सुख देनेवाला और अमरत्व प्रदान करनेवाला समझ कर भी इसका प्रतिपादन किया था। इस प्रकार भारतीय विचारकों द्वारा प्रस्तुत मनुष्य के चरम लक्ष्य में सभी प्रमुख नैतिक उद्देश्यों का समन्वय होता था।

भारतीय विचारकों ने नैतिक जीवन के लक्ष्य के साथ-साथ उसके पालन के लिए आवश्यक बल (Sanctions) का भी विचार किया था। उनकी धारणा थी कि केवल आन्तरिक बल ही अर्थात् अन्तरात्मा के बल से ही काम नहीं चल सकता, यद्यपि धीरे-धीरे उनके निर्माण करने की आवश्यकता है क्योंकि उसके विकसित होने पर ही मनुष्य का पूर्ण विकास समझा जा सकता है, और उस शुद्ध अन्तरात्मा के विकास के पूर्व मनुष्य को नैतिक मार्ग पर बनाये रखने के लिए आवश्यक बल (Sanctions) के रूप में वाह्य साधनों का भी प्रयोग उन्होंने आवश्यक समझा था। यह वाह्य साधन ही स्वर्ग और नरक का विचार एवं कर्मफल का विचार था तथा राज्य द्वारा दण्ड था जिनके कारण मनुष्य नैतिक जीवन पर लगा रहे और जो मनुष्य को उसके नैतिक जीवन से हटने न दे।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि 'धर्म' के अन्तर्गत भारतीय विचार में मनुष्य-जीवन का लक्ष्य तो था ही, जीवन को सञ्चालन करनेवाले विविध नियम भी थे। भारतीय जीवन की नैतिक धारणा के अनुसार धर्म के अर्थात् व्यक्ति-जीवन और समाज-जीवन के उन नियमों का पालन करना ही पुण्य और उनका उल्लङ्घन करना ही अधर्म अथवा पाप माना गया है। अन्य समाजों में नैतिक-नियमों की तुलना में भारतीय जीवन के नैतिक-नियमों में एक विशेषता है। भारतीय जीवन में कुछ मूलभूल सिद्धान्त ले कर उनके आधार पर जीवन के सभी अङ्गों की सूत्रवद्ध तथा परिपूर्ण योजना स्थापित की गयी है। इस कारण भारतीय समाज में नैतिक-नियम और पाप-पुण्य की धारणा बहुत विस्तृत है। जो सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था स्थापित की गयी है उसके किसी भी भाग का उल्लङ्घन पाप है। अन्य समाजों में केवल कुछ नैतिक-गुणों के उल्लङ्घन

को ही पाप कहते हैं। ऐसा नहीं कि भारत में इन नैतिक-गुणों का विचार न किया गया हो परन्तु भारतीय विचार में एक तो विशेष धर्म है, जो प्रत्येक के लिए उसकी योग्यता के अनुसार पृथक् निर्धारित किया गया है, जैसे प्रत्येक वर्ण का और प्रत्येक आश्रम व्यतीत करनेवाले का पृथक्-पृथक् धर्म है, स्त्री-धर्म है और राजधर्म है। इसके अतिरिक्त सामान्य अथवा साधारण धर्म है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान है चाहे उसका समाज में कोई भी स्थान हो तथा उन्हीं को अन्य समाजों में नैतिक-गुणों के नाम से जाना जाता है। अभी तक इस ग्रन्थ में विशेष धर्मों का विचार किया गया है, परन्तु यहाँ इन नैतिक-गुणों का (साधारण धर्म के नियमों का) विचार किया जायेगा।

साधारण धर्म के ये नियम प्रत्येक धर्मग्रन्थ में कम अथवा अधिक मात्रा में, जैसा ग्रन्थकार को उचित लगा है, दिये गये हैं; परन्तु किसी ग्रन्थ में किसी नियम को रखने अथवा न रखने के पीछे कोई विशेष कारण नहीं है, यह आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जायगा। साधारण धर्म में बताये गये इन गुणों का विवेचन, यथा सत्य, अहिंसा आदि का, पुराणों में भी विस्तार से कथाओं के माध्यम से किया गया है। सबसे प्रथम तो नैतिक गुणों का वर्णन श्रुति-ग्रन्थों में मिलता है। उदाहरण के लिए छान्दोग्योपनिषद् में आत्मयज्ञ का वर्णन है जिसमें बताया है कि "जो तप (इन्द्रिय निग्रह), दान, आर्जव (सरलता), अहिंसा और सत्य है, ये ही उसकी दक्षिणा है।"[१७०] बृहदारण्यकोपनिषद् में[१७१] दम, दया और दान का उपदेश दिया गया है। श्रुतिग्रन्थों के अनन्तर नैतिक गुणों का वर्णन विविध रूप से किया गया है। एक तो, यम और नियमों का वर्णन है और यमों के रूप में इन नैतिक-गुणों का वर्णन है तथा नियमों के रूप में अधिकांशतः उन विषयों का उल्लेख है जिन्हें द्वितीय अध्याय में चित्तशुद्धिकारी कहा गया है। याज्ञवल्क्यस्मृति में[१७२] ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, दान, सत्य, अक्रूरता, अहिंसा, अस्तेय (चोरी न करना), माधुर्य (मधुर स्वभाव), तथा दम (इन्द्रिय दमन) को 'यम' कहा गया है और 'नियमों' के रूप में स्नान, मौन, उपवास, यज्ञ, स्वाध्याय, उपस्थनिग्रह (लिङ्ग इन्द्रिय का निग्रह), गुरुसेवा, शौच (शुद्धि), अक्रोध और अप्रमाद (चिन्ता-विहीनता का अभाव) बताये गये हैं। नारदपुराण में[१६६] तो ये यम और नियम व्याख्या के साथ दिये हुए हैं। परन्तु इस यम और नियमों में यमों अर्थात् नैतिक-गुणों का चित्त की शुद्धि करनेवाले बाह्य साधनों (नियमों) से अधिक महत्त्व है। मनुस्मृति में कहा गया है,[१७३] "बुद्धिमान् पुरुष यमों का सदा सेवन करे, नियमों का नित्य सेवन (चाहे) न करे। जो केवल नियमों को ही (अर्थात् बाह्य औपचारिक साधनों को ही) करता है और यमों का (नैतिक-गुणों का) पालन नहीं करता वह पतित होता है।" अत्रिस्मृति में

भी यही कहा गया है।[१७४] नैतिक-गुणों का दूसरा वर्णन संस्कारों के अन्तर्गत किया गया है। गौतम ने ४० संस्कार बताये हैं तथा ८ आत्मा के गुण कहे हैं। वे गुण हैं सब प्राणियों के प्रति दया, क्षमा, अनसूया, शौच, अनायास (शरीर को आत्यन्तिक कष्ट देनेवाले कर्म न करना), मङ्गल (शुभ आचरण करना तथा निन्दित आचरण का त्याग), अकार्पण्य (कृपणता का अभाव), तथा अस्पृहा (इच्छाओं का अभाव)। अग्निपुराण में भी इन्हीं आठ गुणों का उल्लेख है।[१७५] इन ४० संस्कारों तथा आठ गुणों का वर्णन करने के पश्चात् गौतम ने कहा है, "जिसमें चालीस संस्कार तथा आत्मा के आठ गुण नहीं वह ब्रह्म के सालोक्य और सायुज्य (समीपता) में नहीं जाता है और जिसके चालीस संस्कारों में से चाहे कुछ संस्कार कम ही हों परन्तु जिसके आठ गुण हों वह ब्रह्मलोक को और ब्रह्म के समीप जाता है।"[१७६] इसका भी अर्थ यही है कि नैतिक-गुणों का बाह्य संस्कारों से अधिक महत्त्व है।

नैतिक-गुणों का वर्णन यमों के नाम से तथा संस्कारों के अन्तर्गत तो किया हो गया है, इनके अतिरिक्त सभी वर्णों का सामान्य धर्म अथवा सभी आश्रमों का सामान्य धर्म इस नाम से भी इन गुणों का वर्णन किया गया है। मनुस्मृति में कहा है,[१७७] "इन चारों आश्रमों के पालन करनेवाले द्विजों को इस दश लक्षणपूर्ण धर्म का नित्य सेवन करना चाहिए। धैर्य, क्षमा, मन को वश में रखना, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध ये दस धर्म के लक्षण हैं। धर्म के इन दस लक्षणों को जो ब्राह्मण समझते हैं तथा समझ कर उनका पालन करते हैं वे परम गति पाते हैं। इन दस लक्षणयुक्त धर्म को सावधानी से पालन करके और वेदान्त को विधिवत् सुन कर द्विज संन्यास धारण करे।" इसका अर्थ यह है कि जो धर्म का पालन करता है उसे धर्मपालन के साथ-साथ इन गुणों का भी सेवन करना चाहिए क्योंकि इन गुणों के उत्पन्न होने पर ही व्यक्ति ब्रह्मप्राप्ति की ओर बढ़ सकता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में नाश करनेवाले गुणों को नष्ट करना तथा इसके विपरीत ब्रह्म में लीन करनेवाले गुणों का पालन करना बताया गया है और ऐसे गुणों की लम्बी सूची भी दी गयी हैं।[१७८] अन्य स्मृतियों तथा इतिहास-पुराण ग्रन्थों में भी साधारण धर्म का वर्णन गया किया है।[१७९] संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि नैतिक-गुण भारतीय विचार के अन्तर्गत केवल बताये ही नहीं गये हैं, अपितु उनका महत्त्व भी पूरी प्रकार से वर्णित है। उनके साधारण अथवा सामान्य धर्म का जो नाम दिया गया है जो कि आगे के विवेचन में स्पष्ट हो जायेगा, उसका यह कारण नहीं है कि इन गुणों का कोई महत्त्व नहीं है बल्कि इसलिए कि इन गुणों का तो प्रत्येक को सामान्य रीति से पालन करना ही चाहिए और इनका पालन

करने में विशेषता अनुभव करने का कोई कारण नहीं। इनका पालन न करने का अर्थ ही यह है कि व्यक्ति पतित होता है अथवा वह ब्रह्मप्राप्ति की ओर बढ़ ही नहीं सकता।[१८०] भारतीय विचार में संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों की विवेचना करते हुए भी नैतिक गुणों के महत्त्व के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि भारतीय संस्कृति में यद्यपि बाह्य उपचारों और आधारों को बहुत महत्त्व दिया गया है, फिर भी, आन्तरिक नैतिकता को उससे भी अधिक महत्त्व दिया गया है और ऐसा कहना भूल होगी कि भारतीय विचारों में नैतिक-जीवन की अथवा जीवन के नैतिक-नियमों की कोई धारणा ही नहीं है अथवा बाह्य औपचारिक साधनों के समक्ष उसका कोई महत्त्व नहीं है।

जिस प्रकार विशेष धर्मों में अपवाद हैं, उसी प्रकार साधारण धर्मों अर्थात् नैतिक-गुणों के विषय में भी अपवाद माने गये हैं। विशेष धर्म में एक अपवाद तो आपद्काल का है जिसे आपद्धर्म कहा है। ब्राह्मण आपत्तिकाल में क्षत्रिय अथवा वैश्य का कर्म कर सकता है। दूसरा अपवाद व्यक्तियों की अपनी पात्रता का है, जैसे स्त्रियों के लिए विधवा-विवाह वर्जित करने पर भी उसकी प्रच्छन्न अनुमति नियोग आदि के रूप में है यद्यपि इसकी निन्दा भी की गयी है। इसी प्रकार नैतिक गुणों के भी आवश्यकतानुसार अपवाद हैं। जैसा कि सत्य का अपवाद मत्स्यपुराण में बताया गया है तथा जिसको पहले अध्याय में उद्धृत किया गया है।[१८१] महाभारत में भी बताया है कि युद्ध के समय जब एक बार अर्जुन को धर्मराज युधिष्ठिर पर क्रोध आ गया और उसने युधिष्ठिर का सिर काटने की प्रतिज्ञा कर तलवार उठा ली, उस समय श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा, "साधुजन सत्य ही बोलते हैं, सत्य से बढ़ कर और कुछ नहीं है किन्तु उस सत्य का स्वरूप मेरी समझ में अत्यन्त सूक्ष्म और दुर्ज्ञेय है। कहीं पर सत्य न बोल कर मिथ्या बोलना ही उचित होता है। जहाँ पर सत्य मिथ्या की भाँति अधर्मजनक और मिथ्या सत्यकी भाँति धर्मजनक होता है वहाँ पर सत्य ही मिथ्या है और मिथ्या ही सत्य है। इसके अतिरिक्त विवाह के अवसर पर, रतिक्रीड़ा के समय, प्राणसंकट और सर्वस्व हर जाने के समय और ब्राह्मण के लिए इन पाँच अवसरों पर झूँठ बोलने से पाप नहीं होता।...जो कोई सत्य और मिथ्या के इस विशेष मर्म को न जान कर सत्य बोलता है वह मूढ़ है। सत्य और मिथ्या के इस तत्त्व को जाननेवाला ही यथार्थ धर्मज्ञ है।"[१८२] इसके पश्चात् श्रीकृष्ण ने कौशिक ब्राह्मण की एक कथा सुनायी जो बड़ा शास्त्रज्ञ, तपस्वी, तथा सत्य बोलने का व्रती होने के कारण सत्यवादी कहा जाता था। एक बार डाकुओं के भय से कुछ व्यक्ति वहाँ वन में आ छिपे। कुपित डाकू उन्हें खोजते हुए आये और कौशिक से उन व्यक्तियों ने के विषय में पूछा। कौशिक ने

उन्हें डाकू जानते हुए भी उन लोगों के छिपने का स्थान सत्य-सत्य कह दिया जिससे कि उन डाकुओं ने उन व्यक्तियों को मार डाला। श्रीकृष्ण ने यह कथा सुना कर कहा, "सूक्ष्म धर्म को न जाननेवाले सत्यवादी कौशिक ने मूढ़तावश सत्य बोल कर जो हत्या करायी थी उसी पाप से उसे नरक में जाना पड़ा।"[१८३] इसी प्रकार से अहिंसा के विषय में अपवाद है कि आततायी ब्राह्मण का भी, चाहे वह गुरु हो, वध किया जा सकता है[१८४] अथवा युद्ध में शत्रुओं की हिंसा ही धर्म है और उस समय यदि व्यक्ति युद्ध न करे तो वही अधर्म है (गीता भी इसी निमित्त कही गयी है)। यज्ञ में भी पशुवध किया जाये तो बुरा नहीं माना गया क्योंकि यज्ञ अर्थात् लोकसंग्राहक कार्यों के लिये किसी के जीवन का उपयोग हो तो वह उचित ही है। मनुस्मृति में कहा है,[१८५] "जो वृथा ही पशु को मारता है, उस पशु के जितने ही रोम हों उतने ही जन्म पा कर वह व्यक्ति मारा जाता है। ब्रह्माजी ने स्वयं ही यज्ञ के लिए (संसार के कल्याणार्थ) और यज्ञ की सिद्धि के लिए पशुओं को बनाया है, इसलिए यज्ञ में वध नहीं है। औषधि, पशु, वृक्ष, तिर्यक् और पक्षी यज्ञ के लिए मरने पर उत्तम गति पाते हैं। द्विज घर में, गुरु के यहाँ, तथा वन में रहता हुआ आपत्ति में भी अवेदविहित हिंसा न करे। जो वेदविहित हिंसा इस चराचर में होती है उसे अहिंसा ही जाने क्योंकि धर्म वेद से ही निकला है। जो अहिंसक पशुओं को अपने सुख की इच्छा से मारता है वह जीवित ही मरा हुआ है"। इन्द्रियनिग्रह पर बहुत बल देते हुए भी ऋतुकाल के समय पुरुष का स्त्री के पास जाना आवश्यक बताया गया है और ऐसा न करना ही पापपूर्ण है। "जो स्त्री ऋतु-स्नान करके (रजोदर्शन के पश्चात्) पति के समीप नहीं जाती वह मर कर नरक में जाती है और बार-बार विधवा होती है तथा जो पुरुष ऋतुस्नान की हुई अपनी स्त्री के पास नहीं जाता उसे भ्रूण-हत्या लगती है।"[१८६] चोरी का भी अपवाद मनुस्मृति में वर्णित है--"जिस मनुष्य ने छः समय तक भोजन नहीं किया (तीन दिन) वह सातवें भोजन के काल में हीन-कर्म करनेवाला व्यक्ति भी एक दिन के निर्वाह-योग्य धन चोरी से ले आये। खलियान से, खेत से, घर से अथवा जैसे भी उपलब्ध हो ले लेना चाहिए और यदि जिसकी चोरी हुई है) वह पूछता है तो उससे (सत्य) कह दे। उसको धार्मिक राजा दण्ड न दे क्योंकि क्षत्रिय (राजा) की ही मूर्खता से ब्राह्मण क्षुधा से पीड़ित होता है।"[१८७] शौच का अपवाद दक्षस्मृति में बताया है, "दिन में जो शौच किया जाता है उसका आधा रात्रि में कहा है और उससे भी आधा रोग में कहा है।" इसी प्रकार से अन्य नैतिक गुणों के विषय में भी यही नियम है कि स्थान, काल, पात्र आदि देख कर धर्म-निर्णय करना चाहिए अर्थात् इनके नैतिक गुणों को कहाँ तक मानना और कहाँ तक नहीं मानना चाहिए, यह

विचारपूर्वक देखना चाहिए। महाभारत के उपरोक्त उद्धरण के प्रसङ्ग में ही यह सिद्धान्त स्पष्ट रूप से दिया हुआ है।[१८८] "धर्म और अधर्म के तत्त्व का निर्णय करने के लिए उनके विशेष लक्षण शास्त्र में अवश्य बताये गये हैं परन्तु कहीं-कहीं बुद्धि और अनुमान के द्वारा भी उत्पन्न दुर्बोध सूक्ष्मधर्म का निर्णय करना पड़ता है। कुछ लोग शास्त्र को ही धर्म के सम्बन्ध में प्रमाण बताते हैं, मैं इस पर दोपारोपण नहीं करना चाहता। शास्त्र में प्रायः सब कुछ बता दिया गया है फिर भी धर्म की बहुत-सी विशेष बातें और अवस्थाएँ ऐसी हैं कि वैसा प्रसङ्ग कभी न आने के कारण उनका निर्णय शास्त्र में नहीं किया गया। वैसी अवस्थाओं में अवश्य अनुमान से काम लेना चाहिए।"

ऊपर बताये गये नैतिक-गुणों में से कुछ प्रमुख पर विचार करना आवश्यक है। सत्य के विषय में सभी धर्मग्रन्थों ने बहुत महत्त्व दिया है अतः उसका विशद विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है। हिंसा के विषय में धर्मशास्त्रों ने ब्राह्मण की हत्या, स्त्री-हत्या, भ्रूणहत्या, बाल-हत्या, आत्महत्या सब को घोर अपराध बताया है। ब्रह्महत्या को तो महापातक माना गया है जिसका विचार आगे किया जायेगा। स्त्री-हत्या के सम्बन्ध में पीछे विस्तार से बताया ही गया है। भ्रूण-हत्या का महत्त्व इसी से समझ में आ सकता है कि भ्रूण-हत्या करनेवाली स्त्री को महापातकी समझ कर उसे त्याग करने की व्यवस्था दी गयी है तथा जो ऋतुकाल में अपनी पत्नी के पास न जा कर उसके रज को नष्ट करता है वह भी भ्रूणहत्यारा माना गया है। आत्म-हत्या की निन्दा वाजसनेयीसंहिता में की गयी है कि आत्महत्या करनेवाले व्यक्ति को उत्तम लोक नहीं प्राप्त होते।[१८९] आत्महत्या करनेवाले व्यक्ति के सपिण्ड से उसका प्रेतकर्म करना मना किया गया है तथा आत्महत्यारे के लिए कोई अशौच भी नहीं बताया गया है।[१९०] परन्तु हत्या किसी भी पशु-पक्षी की क्यों न हो वह पाप है। विभिन्न स्मृतियों तथा पुराणों में ऐसी हत्याओं के प्रायश्चित्त भी दिये हुए हैं। उदाहरण के लिए संवर्तस्मृति में पहले विभिन्न वर्णों के पुरुषों का तथा गौ-वध का प्रायश्चित्त बताने के पश्चात् फिर छोटे-बड़े सभी पक्षियों के मारने का प्रायश्चित्त बताया गया है, यथा[१९१] "हाथी, घोड़ा, भैंस, ऊँट, वानर इनको मारने पर द्विज सात दिन तक भोजन न करे।" फिर इसी प्रकार से अन्य विविध पशु-पक्षियों के मारने का प्रायश्चित्त बता कर अन्त में यहाँ तक भी कहा है कि जिसमें हड्डी न हो ऐसे जीवों को मार कर ब्राह्मण प्राणायाम से शुद्ध हो जाता है और जिनमें हड्डी है ऐसे क्षुद्र जीवों को मार कर कुछ दान करे। परन्तु सभी पशुओं में सबसे अधिक अहिंसक, सरल तथा उपयोगी गौ को जीव-जगत् का प्रतीक मान कर, उसकी हिंसा को सबसे अधिक बुरा माना गया है। संवर्त-

स्मृति में ही, जब कि, सभी जीवों की हत्या का प्रायश्चित्त संक्षेप में दो श्लोकों में वर्णन किया गया है, वहाँ केवल गोहत्या का ही प्रायश्चित्त अथवा गौ को पीड़ा भी देने का प्रायश्चित्त विस्तार के साथ दस श्लोकों में वर्णित है। पाराशरस्मृति में तो आठवें अध्याय के सात श्लोक तथा पूरा ६३ श्लोकों का नवाँ अध्याय ही गोहत्या का प्रायश्चित्त बताने के लिए है जब कि अन्य पशुओं की हत्या का प्रायश्चित्त छठे अध्याय के केवल चौदह श्लोकों में ही दिया गया है। गोवध के सम्बन्ध में यह भावना श्रुति ग्रन्थों में भी मिलती है और ऋग्वेद का तो एक सम्पूर्ण सूक्त ही गो-सूक्त है।[१९२] गौ-हत्या का महत्त्व इतना अधिक है कि गौ से प्राप्त विभिन्न पदार्थों का-गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी का-बना पञ्चगव्य शुद्धिकारक है और इसे कृच्छ्र प्रायश्चित्त में खाना बताया है तथा इस निमित्त उसका उल्लेख याज्ञवल्क्यस्मृति, पराशरस्मृति, मत्स्यपुराण, अत्रिस्मृति आदि में किया है।[१९३] गौ का महत्त्व इस ढङ्ग से भी बताया है कि गौ की रक्षा के लिए प्राण देना भी पुण्यकारी है। ब्राह्मण, भारतीय समाज-व्यवस्था के प्रतीक माने जाने के कारण तथा गौ के प्राणि-मात्र एवं भारतीय नैतिक भावना की प्रतीक होने के कारण दोनों इस धर्म के अर्थात् इस संस्कृति के इस जीवन-प्रणाली के, भारतीय आध्यात्मिकता के, अतः भारतीय राष्ट्र-जीवन के प्रतीक माने गए। और इसी कारण सभी श्रुति, स्मृति तथा, पुराण ग्रन्थों में इनका इतना महत्त्व वर्णित होना और इनकी रक्षा पर इतना महत्त्व दिया जाना बहुत स्वाभाविक ही है। केवल पशु-पक्षियों की हिंसा ही नहीं, भारतीय विचार में वृक्षों की हिंसा भी एक जघन्य अपराध है क्योंकि ऐसा माना गया है कि वृक्ष में जीवन होता है, वह सुख-दुःख का अनुभव करते हैं तथा बढ़ते-घटते हैं।[१९४] इसलिए उनका पुत्रवत् पालन करने का आग्रह किया गया है।[१९५] इन्द्रियनिग्रह भी कई प्रकार से वर्णित है। इन्द्रियनिग्रह का मूल अर्थ है उपस्थ इन्द्रिय का निग्रह, यद्यपि अन्य इन्द्रियों का निग्रह भी इसके अन्दर आता है। एक प्रतिबन्ध तो यह है कि सम्बन्धिनी स्त्रियों से सम्बन्ध वर्जित है। विवाह तो सपिण्ड अर्थात् सात पीढ़ी तक पिता के सम्बन्ध में तथा पाँच पीढ़ी तक माता के सम्बन्ध में हो ही नहीं सकता है। परन्तु वैसे भी सम्बन्धिनी स्त्रियों से काम-सम्बन्ध होने पर प्रायश्चित्त बताया गया है। अग्निपुराण में कहा है,[१९६] "चाची, भाई की पत्नी, चाण्डाली, पुक्कसी, छोटे भाई की पत्नी, लड़की, बहन की सखी, माता तथा पिता की बहन, जो बाहर निकाल दी गयी हो, (असहाय) शरणागत हो, मामी, बहन, सगोत्र स्त्री, अन्य की इच्छा करनेवाली, शिष्य-भार्या, गुरुपत्नी इनके साथ (अज्ञान में) समागम कर चान्द्रायण करे।" इसी प्रकार से मनुस्मृति में, पाराशर-स्मृति में, शातातपस्मृति में तथा संवर्तस्मृति में भी यही प्रायश्चित्त बताये गये

हैं।[१९७] अधिक कड़ाई करने के लिए किसी भी पर-स्त्री से सम्बन्ध वर्जित है। इसके अतिरिक्त गाड़ी में, जल में तथा दिन में मैथुन निषेध है और रजस्वला के साथ भी सङ्ग निषेध है।[१९८] इससे भी आगे बढ़ कर स्त्री-सङ्ग के लिए दिन भी निर्धारित कर दिये गये हैं। मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति में, पूर्णिमा, प्रतिपदा, चतुर्थी, अष्टमी में संयोग वर्जित कहा गया है।[१९९] पर्व में भी मैथुन वर्जित है।[२००] इस प्रकार अपनी ही स्त्री से, वह भी ऋतुकाल में और रात्रि में तथा बहुत-से दिन छोड़ कर ही सङ्ग किया जा सकता है। इन्द्रियनिग्रह यहीं तक सीमित नहीं है। यह भी केवल गृहस्थाश्रम में सम्भव है, अन्य तीन आश्रमों में तो पूरी प्रकार से मैथुन वर्जित है। गृहस्थाश्रम में भी काम-भावना से नहीं बल्कि पुत्रोत्पत्ति की भावना से मैथुन करना चाहिए। भोजन के विषय में भी बहुत-सी वस्तुओं का खाना वर्जित है। फिर दिन में केवल दो बार ही भोजन करने का विधान है।[२०१] इसके अतिरिक्त वानप्रस्थ और संन्यास में आ कर भोजन का मोह धीरे-धीरे कम करना है।

धर्मशास्त्रों में नैतिक-गुणों का पालन तो बताया ही गया है परन्तु कुछ नैतिक-दोष भी वर्णित तथा वर्जित हैं। उन दोषों में प्रमुख काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—षड्रिपु के नाम से विख्यात हैं।[२०२] शान्तिपर्व में इनके विषय में विस्तार से कहा गया है[२०३]—"मनुष्य की हृदय-भूमि में मोहरूपी बीज से उत्पन्न हुआ एक अद्भुत वृक्ष है। उसका नाम है काम। क्रोध और अभिमान (मद) इसके स्कन्ध हैं, कर्म करने की इच्छा उसका थाला है, और अज्ञान उसकी जड़ है। प्रमाद के जल से वह सींचा जाता है, असूया (मत्सर) उसके पत्ते हैं, और पूर्व जन्म में किये हुए पाप उसके सार-भाग हैं। शोक उसकी शाखा, मोह और चिन्ता डालियाँ और भय उसका अङ्कुर है। उसमें तृष्णा-रूपी लताएँ लिपटी हुई हैं। लोभी मनुष्य लोहे की जञ्जीरों के समान वासना के बन्धनों में बँध कर उस वृक्ष को चारों ओर से घेर कर खड़े हैं और उस फल का आस्वादन करना चाहते हैं। जो वासना के बन्धन से मुक्त हो कर उस काम-वृक्ष को काट डालता है वही सांसारिक सुख-दुःखों को त्याग कर उनके घेरे से बाहर हो जाता है। शान्ति-पर्व में इन दोषों की उत्पत्ति का कारण तथा उनका निराकरण भी दिया हुआ है।[२०४] इसी प्रकार अन्य दोषों के सम्बन्ध में भी इतिहास-पुराणग्रन्थों में उक्तियाँ तथा इन दोषों की हानि का उदाहरण बताने के लिए विविध कथाएँ हैं।[२०५]

ऊपर जिन नैतिक गुणों तथा दोषों की विवेचना की गयी है, उनका पालन अथवा उनका त्याग व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों दृष्टियों से आवश्यक है। व्यक्तिगत दृष्टि से तो यह नैतिक गुण मनुष्य के मन से निःस्वार्थता,

सामाजिकता और परार्थ-चिन्तन की वृत्ति उत्पन्न करने के कारण व्यक्ति को समष्टि अर्थात् परमात्मा की ओर बढ़ाने में सहायक होते हैं तथा सामाजिक दृष्टि से यह समाज के व्यक्तिगत दोषों को दूर कर उसका स्तर ऊँचा करने में सहायक होते हैं और समाज के अन्दर पारस्परिक सङ्घर्ष तथा विद्वेष कम करनेवाले हैं। इस प्रकार समाज का वातावरण स्निग्ध तथा उन्नतिकारक बनाने में ये सहायक होते हैं। जो लाभ नैतिक गुणों के निर्माण से होता है वही लाभ नैतिक दोषों को दूर करने से होता है।

नैतिक गुणों और दोषों की विवेचना करने के पश्चात् अन्य नैतिक नियमों का तथा नैतिकता की भारतीय कल्पना अर्थात् पाप और पुण्य का भी विचार करना आवश्यक है। जैसा कि बताया गया है, भारतीय नैतिकता की कल्पना में यह नैतिक गुण तो सम्मिलित हैं ही, भारतीय समाज-व्यवस्था के अन्य नियमों का उल्लङ्घन भी पाप माना गया है। उदाहरण के लिए पाँच महा-पातकों में चोरी अथवा मदिरापान तो है ही ब्रह्महत्या अर्थात् ब्राह्मण की हत्या भी एक महापातक है और यह समाज-व्यवस्था की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर है। इसी प्रकार उपपातकों में धन ले कर पढ़ाना, अथवा केवल अपने लिए ही भोजन बनाना, अग्निहोत्र का त्याग, अपात्र से यज्ञ कराना आदि सम्मिलित हैं (देखिए आगे उपपातकों की सूची)। पाप और पुण्य की कल्पना वेदों में ऋत से सम्बन्धित है। ऋत का अर्थ है 'संसार अथवा जीवन की व्यवस्थित स्थिति'। इस व्यवस्थित स्थिति का उल्लङ्घन ही जीवन में गड़बड़ी अर्थात् अव्यवस्था उत्पन्न करनेवाला है, अतः वही पाप है। तदनुसार व्यवस्थित समाज में अव्यवस्था उत्पन्न करना अथवा इसके नियमों का उल्लङ्घन करना भी पाप है। पाप भी दो प्रकार के हैं—एक वह जो मनुष्य के अत्यन्त निम्नकोटि के कर्म हैं, जो व्यक्ति को अत्यधिक पतन की ओर ले जानेवाले हैं तथा दूसरे वे जो समाज-जीवन में बहुत विशृङ्खलता उत्पन्न करनेवाले हैं। इनको महापातक कहा गया है। इसके अतिरिक्त कुछ उपपातक गिनाये गये हैं। पापों का वर्णन अन्य रीति से है—नरक में ले जानेवाले अथवा मनुष्य को अगले जन्मों में निम्न योनियों में ले जानेवाले कर्मों के रूप में भी किया गया है। इसी प्रकार नरक और स्वर्ग के वर्णन में तथा कर्मविपाक के वर्णन में गिनाये गये दुष्कर्म भी पाप हैं। समाज-व्यवस्था का वर्णन करते समय विशेष धर्म अथवा साधारण धर्म के रूप में जो भी कर्म उल्लिखित हैं, वे सभी पुण्य हैं अतः पुण्यकर्मों को पुनः दुहराने की आवश्यकता नहीं।

महापातक पाँच माने गये हैं—ब्राह्मण का वध, गुरुस्त्री-गमन, चोरी, मदिरापान और इन चारों प्रकार के महापातकियों से संसर्ग। ऋग्वेद में कहा है,

"विद्वानों ने सात मर्यादाएँ स्थापित की हैं, जो उनमें से एक का भी उल्लङ्घन करता है वह पापी होता है।" निरुक्त (वेदों के टीका ग्रन्थ) में इन सातों मर्यादाओं जिनका उल्लङ्घन पापपूर्ण कहा हैं, वे हैं—चोरी, गुरुतल्पगमन, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरापान, दुष्कर्म करनेवाले की पुनः-पुनः सेवा (अर्थात् इनसे संसर्ग) तथा पाप के विषय में असत्य कहना। छान्दोग्योपनिषद्[२०६] में भी स्वर्णचोर, सुरापान करनेवाला, गुरुतल्पगामी, ब्रह्महा और इन चारों से सम्पर्क रखनेवाले—ये पतनीय बताये गये हैं। इसी प्रकार स्मृतियों तथा पुराणों में भी महापातकों का वर्णन है।[२०७] इन महापातकों के साथ इनके कुछ तत्सम पाप भी वर्णित हैं। इन कार्यों को महापातक मानने का कारण स्पष्ट ही समझ में आता है। यह तो अवश्य है कि ये ऐसे पाप हैं जो अति साधारण (चोरी, मदिरापान) अथवा अति असम्भव (गुरुस्त्रीगमन) समझे जा सकते हैं, यह वास्तव में ऐसे पाप होने के कारण, जिनकी हम साधारण जीवन में किसी से भी अपेक्षा नहीं करते और जिनके प्रति मन में स्वाभाविक रूप से ही वितृष्णा उत्पन्न होती है तथा जिन कर्मों के करनेवाले के प्रति भी मनमें असत् भावना उत्पन्न होती है, उन्हें महापातक मानना ही उचित है। ब्राह्मण की हत्या तो, भारतीय दृष्टि से समाज-जीवन के प्रति और घोर अपराध है। जो समाज-जीवन में धर्म की स्थापना करने वाला है, जो अत्यन्त निःस्वार्थी, गुणी, सहिष्णु, परहित का ध्यान रखता है, जो समाज-जीवन में आदर्श उपस्थित करता है, जिसके पास समाज को शिक्षित करने का कार्य है, तथा जो समाज-जीवन की व्यवस्था के लिए व्यक्तियों को तैयार कर समाज में भेजता है, ऐसे व्यक्ति की हत्या करनेवाले के प्रति समाज में घृणा उत्पन्न हो सकती हैं (जैसे वर्तमान काल में भी अध्यापक की हत्या)। अतः स्वाभाविक ही है कि ब्राह्मण-वध एक महापातक माना गया है। गुरुस्त्रीगमन (जिसका मूल अर्थ है माता के साथ अथवा तत्सम स्त्रियों के साथ काम-संसर्ग) यद्यपि असम्भव-सा दिखनेवाला कर्म है, परन्तु मनुष्य के सब प्रकार के पतन का विचार करके इस अत्यन्त घृणित, पतनीय और समाज के लिए हानिकारक कृत्य को भी भारतीय विचारकों ने महापातकों के अन्तर्गत सम्मिलित किया। चोरी बहुत साधारण दिखायी देनेवाली बात है, परन्तु व्यक्ति में धीरे-धीरे सब कुछ हड़प कर अपनाने की हीन भावना न उत्पन्न हो और इस प्रकार से सन्तोष के स्थान पर तृष्णा की वृत्ति न हो, तथा, दूसरे, यदि चोरी की अर्थात् परायी वस्तु पर दृष्टि रखने की भावना रोकी न जाये तो स्वाभाविक है धीरे-धीरे समाज के सुव्यवस्थित जीवन में भी बाधा पड़ेगी और फिर आर्थिक जीवन में कोई स्थिरता और मर्यादा ही न रह जायेगी। सर्वत्र एक असुरक्षा की

भावना उत्पन्न होगी इसलिए इस साधारण-से दुष्कर्म को भी महापातक के रूप में रखा गया है। मदिरापान यद्यपि स्वयमेव न तो कोई दुष्कर्म है और न समाज-जीवन में केवल मदिरापान से ही अव्यवस्था उत्पन्न होती है परन्तु मदिरापान से धीरे-धीरे व्यक्ति का पतन होने लगता है और समाज-जीवन में भी गड़बड़ी उत्पन्न होती है, इसलिए यह भी महापाप है। मदिरापान व्यक्ति का शारीरिक तथा सर्वसाधारण व्यक्तियों का चारित्रिक पतन करनेवाला है और क्योंकि मदिरा अपने प्रभाव से व्यक्ति में हिंसा की, हीन वचन कहने की तथा अनुचित विचार की वृत्ति उत्पन्न करती है, इसलिए मदिरापान सामाजिक दृष्टि से भी घातक है। संक्षेप में जो पापों में सबसे घृणित, पतनीय एवं निन्दित कर्म समझे गये हैं, वे ही महापातकों में रखे गये—अर्थात् ऐसे सभी कर्म जो व्यक्ति का धीरे-धीरे पतन करते हुए समाज को सबसे अधिक दूषित करनेवाले हैं, वे ही महापातक हैं। संसर्ग का प्रभाव मानने के कारण भारतीय विचार में इन चारों से ससर्ग रखनेवाला भी महापापी माना गया है क्योंकि या तो वह वैसी ही वृत्तिवाला होगा अथवा उसमें वैसी वृत्ति उत्पन्न होने की सम्भावना होगी। संसर्ग रखनेवालों को भी महापापी मानने का एक कारण यह भी है कि जो अत्यन्त पतित अथवा हीन है उनका समाज में बहिष्कार ही होना चाहिए और वहिष्कार करने के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे सभी व्यक्तियों से अन्य व्यक्तियों का सम्पर्क रोका जाये।

ब्रह्महत्या के अन्तर्गत किसी भी प्रकार से की गयी ब्राह्मण की हत्या सम्मिलित है, चाहे व्यक्ति सीधा मारे (कर्ता), अथवा दूसरे को मारने के लिए प्रेरित करे, आज्ञा दे, प्रोत्साहन दे अथवा परामर्श दे (प्रयोजक) अथवा अपनी अनुमति दे, (अनुमन्ता), अथवा उस पर क्रोध कर, उसे मार कर अथवा धन-सम्पत्ति लूट कर उसे मरने के लिए वाध्य करे (निमित्त)।[२०८] गुरुपत्नीगमन में 'गुरु' शब्द का मूल अर्थ पिता है। मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति दोनों में 'गुरु' तथा 'आचार्य' इन दोनों शब्दों में भेद किया है तथा 'गुरु' शब्द पिता के अर्थ में बताया है।[२०९] संवर्त तथा पराशर ने तो गुरुपत्नी के लिए 'पितृदारा' अर्थात् 'पिता की पत्नी' शब्द बहुत स्पष्ट रूप से प्रयुक्त किया है।[२१०] इसलिए गुरुपत्नीगमन को जब महापातक कहा है तो उसका मुख्य अर्थ यही है। मित्र की पत्नी, कुमारी, वहन, अन्त्यजा, सगोत्रा, पुत्र की स्त्री, बुआ, मौसी, मामी, भाई की पत्नी, सौतेली माँ, आचार्य-पुत्री तथा आचार्य-पत्नी, के साथ समागम भी गुरुपत्नीगमन के ही समान माना गया है।[२११] चोरी के अन्दर मुख्यतया सुवर्ण की चोरी है।[२१२] परन्तु अश्व, रत्न, मनुष्य, स्त्री, भूमि, धेनु और धरोहर, इनका हरण करना भी सुवर्ण की चोरी के समान है।[२१३] सुरापान की निन्दा

ऋग्वेद में करते हुए कहा गया है कि पाप सुरा से ही उत्पन्न होते हैं।[२१४] सोमपान और सुरापान भिन्न हैं। शतपथब्राह्मण में कहा है कि सोम, सत्य, ऐश्वर्य, प्रकाश है तथा सुरा असत्य, दुःख एवं अन्धकार है।[२१५] इन चारों से संसर्ग रखने का भी अर्थ धर्मशास्त्रों में स्पष्ट करते हुए कहा है कि[२१६] पतित अर्थात् महापातकी व्यक्तियों के साथ एक वर्ष तक संसर्ग रखने पर अन्य व्यक्ति भी पतित होता है तथा संसर्ग के अन्तर्गत अध्यापन, यजन (यज्ञ कराना), योनि अर्थात् विवाह-सम्बन्ध, एक गाड़ी में चढ़ना, साथ-साथ आसन पर बैठना तथा एक साथ भोजन करना आता है।

इन महापातकों के अतिरिक्त बहुत-से उपपातक भी हैं। यह उपपातक मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, विष्णुधर्मसूत्र, अग्निपुराण आदि में दिये हुए हैं।[२१७] अग्निपुराण की सूची यहाँ दी जाती है। "गोवध; यजन न करने के योग्य को यज्ञ कराना; परस्त्री सम्बन्ध; स्वयं को बेचना; गुरु, माता, पिता, स्वाध्याय, अग्नि तथा पुत्र का त्याग; बड़े भाई के पूर्व विवाह करना तथा छोटे भाई का पहले विवाह हो जाना; ऐसे व्यक्तियों को कन्या देना, अथवा ऐसों को यज्ञ कराना; कन्या को दूषित करना; व्याज लेना; व्रतभङ्ग; तालाब, उद्यान, पत्नी तथा पुत्र का विक्रय; व्रात्यता (उपनयन न होना); बान्धवों का त्याग करना; धन लेकर अध्यापन करना तथा धन देकर अध्ययन करना; दान न देना; विक्रय न करने योग्य वस्तु का विक्रय (जैसे मदिरा, रस आदि); खानों पर अधिकार करना; बड़े यन्त्रों को चलाना; औषधियों को नष्ट करना; स्त्री से जीविका चलाना; आवश्यक (धार्मिक) कर्म न करना, ईंधन के लिए बिना सूखे वृक्षों को काटना; किसी स्त्री को बलपूर्वक रखना; स्त्री-निन्दा करनेवाले के साथ संसर्ग करना; अपने ही लिए (समाज-दृष्टि से नहीं) कर्म करना; निदिन्त अन्न का भोजन; अनाहिताग्नि रहना; चोरी (महापातक के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की); ऋण न चुकाना (ऋण भी); असत् शास्त्रों को (चरित्रदूषक पुस्तकों को) पढ़ना; दुःशील होना तथा व्यसनी होना; धान, धातु तथा पशु की चोरी, मद्यपा स्त्री से सम्बन्ध; स्त्री, शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय का वध तथा नास्तिकता, ये उपपातक हैं।" याज्ञवल्क्यस्मृति में इसके अतिरिक्त उपपातक लिये गये हैं—शूद्र की सेवा, अपने उचित आश्रम में न रहना, हीन (शूद्र) स्त्री से सम्बन्ध, परान्न खा कर सन्तोष करना। पापों के वर्णन के अन्य भी बहुत से ढङ्ग हैं परन्तु सबमें इसी प्रकार के ही अर्थात् समाज-धर्म अथवा व्यक्तिगत धर्म को हानि पहुँचानेवाले पाप ही वर्णित हैं। उदाहरण के लिये अनुशासनपर्व में एक कथा है।[२१८] उस कथा में यह है कि अगस्त्यमुनि ने एक तालाब में से कुछ मृणाल निकाले और वह मृणाल चोरी चले गये। उस समय जो व्यक्ति उपस्थित थे

उन्होंने अपनी-अपनी निर्दोषिता प्रकट करने के लिए निम्न प्रकार से शपथ खाते हुये कहा, कि जिसने मृणाल चुराये हों वह निम्न पापों का दोपी है—"भगवान् जिसने आपके मृणाल चुराये हों वे मित्र के साथ कृतघ्नता, शूद्रा के गर्भ से सन्तान की उत्पत्ति तथा अकेला स्वादिष्ट भोजन करे; वह चिकित्सा करनेवाला हो, भार्या के पैदा किये धन से निर्वाह करे, ससुराल का अन्न खाये; वह वृथा माँस-भक्षण, दिन में सम्भोग, दूत का काम, अनध्याय में अध्ययन, शूद्र के श्राद्ध में भोजन करे तथा स्वयं भी श्राद्ध करके मित्रों को भोजन कराये; वह अग्निहोत्रहीन हो कर मरे; यज्ञ में विघ्न डाले और तपस्वियों से विरोध करे; वह जटाधारी और व्रतपरायण हो कर ऋतुकाल के अतिरिक्त भार्या के साथ भोग करे और वेदों का अनादर करे, वह संन्यासी हो कर घर में रहे, दीक्षित हो कर इच्छानुसार काम करे और वेतन लेकर विद्या पढ़ाये; वह धर्म का परित्याग और ब्रह्महत्या करे और स्त्री, सजातीय लोगों तथा गायों के साथ क्रूर व्यवहार करे; वह शरीर को ही आत्मा माने (नास्तिक हो), निन्दित गुरु से शास्त्र पढ़े, उलटे-सीधे स्वर से वेदपाठ और गुरुजनों का अपमान करे; वह सदा झूठ बोले, सज्जनों से विरोध करे और शुल्क लेकर कन्यादान करे; शरणागत का अनादर करे, गाय को लात मारे, सूर्य की ओर मुँह कर लघुशङ्का करे; वह नौकरी करके स्वामी के साथ कपट करे और राजा तथा अमान्य मनुष्य का पुरोहित हो; वह क्रूर और मिथ्वावादी हो, वह मन्दबुद्धि यथेच्छाचारी पापी राजा हो कर अधर्म के अनुसार पृथ्वी का शासन करे; वह पापी मनुष्य से बढ़ कर निन्दनीय हो, सदा सजातीय मनुष्यों से द्रोह करे, दान दे कर उसका वर्णन करे, वह अग्निहोत्र का अनादर करके सुख से सोये और संन्यासी हो कर यथेच्छाचार करे; वह स्वाध्याय से विमुख हो जाये, कुत्ता साथ ले कर शिकार खेले और गाँव-गाँव भीख माँगता फिरे; वह सब प्रकार की वस्तुओं का क्रय-विक्रय करे, किसी की धरोहर हड़प लेने का लोभ करे और झूठी गवाही दे; वह अहङ्कारी, बेईमान और अयोग्य का साथ करनेवाला हो; ईर्ष्यायुक्त हो कर जीवन व्यतीत करे, वह अपवित्र-वेद को मिथ्या बतानेवाला, ब्राह्मण-हत्यारा अपने पापों का प्रायश्चित्त न करनेवाला हो।" इसी प्रकार मार्कण्डेयपुराण में अलक्ष्मी-पुत्र दुःसह के स्थानों का वर्णन है।[२१९] उसमें भी विविध पापों का वर्णन किया गया है। नरक में जानेवाले लोगों के जहाँ वर्णन हैं वहाँ भी इसी प्रकार पापों का वर्णन है।[२२०]

जो ऊपर पाप दिये हुए हैं, उनके करने पर अर्थात् नैतिक गुणों का अथवा सामाजिक नियमों का उल्लङ्घन करने पर यह आवश्यक रखा गया कि व्यक्ति ने चाहे वे पाप इच्छापूर्वक अर्थात् जान कर और चाहे अनजान में अथवा

बाध्य हो कर किये हों, परन्तु तत्पश्चात् व्यक्ति को शुद्ध होना चाहिए। शुद्ध होने का अर्थ है कि मन के अन्दर पश्चात्ताप उत्पन्न हो कर जो भूल की है, उस भूल के परिमार्जनार्थ तत्समान ही कोई बड़ा प्रायश्चित्तपूर्ण कर्म (अर्थात् तपस्या) व्यक्ति को करना चाहिए, जिससे उसके मन में भी स्वयं वह पाप पुनः दुहराने की भावना न रहे और अन्य लोगों को भी उस पाप की भीषणता का अनुमान हो ताकि उसको करने से वे विमुख हों। सबसे अच्छा यही माना गया कि बाहर से दण्ड लागू किये जाने की अपेक्षा स्वयं के मन में पश्चात्ताप की वृत्ति उत्पन्न हो। बाहर का दण्ड यद्यपि व्यक्ति को वह कर्म दुबारा करने से रोक सकता है तथा अन्य लोगों को भी वह कर्म करने के सम्बन्ध में भय उत्पन्न कर सकता है और यह भी कभी-कभी हो सकता है कि उस दण्ड के कारण पाप करनेवाले व्यक्ति का मन भी उस पाप से विमुख हो जाये तथा समाज में उस पाप के लिए एक घृणा की भावना भी उत्पन्न हो परन्तु यह आवश्यक नहीं कि बाहरी दण्ड से सदैव मन में परिवर्तन हो ही सकेगा। भारतीय समाज-व्यवस्थापकों के मन में समाज का दूषण रोकने की भावना तो थी ही, इसीलिए दण्ड की व्यवस्था भी की गयी थी, परन्तु साथ-साथ व्यक्ति की उन्नति की दृष्टि से यह आवश्यक था कि उसमें आन्तरिक परिवर्तन हो। अतः यदि व्यक्ति स्वयं ही इच्छानुसार उस पाप का परिमार्जन करने के लिये प्रायश्चित्त करे तो सबसे अच्छा। फिर, बहुत-से समाज-जीवन के अथवा व्यक्तिगत जीवन के ऐसे भी नियम हैं जिनके उल्लङ्घन करने का राजा की ओर से कोई दण्ड नहीं हो सकता, परन्तु यह पाप है और उसका प्रायश्चित्त होना चाहिए। इस प्रकार यदि व्यक्ति साधारण जीवन में असत्य बोले अथवा दूषित भोजन कर ले तो इस पर दण्ड नहीं दिया जा सकता, प्रायश्चित्त ही हो सकता है। प्रायश्चित्त का भारतीय विचार के अनुसार यह भी एक लाभ है कि प्रायश्चित्त करने पर मनुष्य कर्मविपाक से अर्थात् दूसरे जन्म में उसके फल से तथा नरक से मुक्त हो जाता है।

प्रायश्चित्त की आवश्यकता और उसका कारण धर्मशास्त्रों में वर्णित है। यह भी कहा गया है कि अनजान में किये हुए पापों का प्रायश्चित्त होता है तथा जानबूझ कर किये कर्मो का भी प्रायश्चित्त होता है। मनुस्मृति में कहा है,[२२१] "इन्द्रियों में आसक्त होने के कारण विहित (अर्थात् उचित और शास्त्रोक्त) कर्म न कर तथा निन्दित कर्म कर मनुष्य प्रायश्चित्त के योग्य होता है। बिना इच्छा के किये हुए पाप का बुद्धिमान् प्रायश्चित्त बताते हैं परन्तु जानबूझ कर किये हुए पाप का प्रायश्चित्त भी कई लोग श्रुति को देख कर (तदनुसार) बताते हैं। बिना इच्छा के किया हुआ पाप वेदाभ्यास से शुद्ध होता है तथा मोह के कारण

इच्छापूर्वक किया पाप विविध प्रकार के प्रायश्चित्त से शुद्ध होता है। जानबूझ कर अथवा दैववश किये पाप के कारण प्रायश्चित्त करने की अवस्था को प्राप्त कर जो द्विज प्रायश्चित्त नहीं करता, उसके साथ संसर्ग नहीं रखना चाहिए।" इसी प्रकार अन्य सभी धर्मशास्त्रों ने[२२२] विचार कर के प्रायश्चित्त की आवश्यकता सिद्ध की है, क्योंकि प्रायश्चित्त पापों से मुक्त करनेवाला अर्थात् मनुष्य का चित्त शुद्ध करनेवाला होता है। उन्होंने प्रायश्चित्त की दृष्टि से सबसे पहली बात यह बतायी है कि अपना पाप प्रकट कर देना चाहिए। "प्रकट करने से, पश्चात्ताप से, तप से, अध्ययन से, और आपत्ति में दान देने से पाप करनेवाला पाप से मुक्त हो जाता है। जैसे-जैसे मनुष्य स्वयं किया हुआ पाप कहता है वैसे-वैसे वह उस अधर्म से इस प्रकार मुक्त होता है, जैसे केंचुली से साँप। जैसे-जैसे उसका मन उस पापकर्म की निन्दा करता है वैसे-ही-वैसे उसका शरीर उस अधर्म से मुक्त होता है।"[२२३] पराशरस्मृति में भी कहा है,[२२४] "वेद-वेदाङ्ग के विद्वान् और धर्मशास्त्रों को जाननेवाले अपने कर्म में रत ब्राह्मणों के सम्मुख अपना पाप निवेदन करे। किये हुए पाप को न छिपाये क्योंकि छिपाया हुआ पाप बढ़ता है।" इसके अतिरिक्त अनजान में किये हुए पाप के लिए शुद्धिकारक मार्ग भिन्न है तथा जानबूझ कर किये गये पाप के प्रायश्चित्त भिन्न हैं। जानबूझ कर किये पापों के लिए प्रायश्चित्त कृच्छ्र आदि हैं तथा बिना जाने किये गये कर्मों का प्रायश्चित्त है मन्त्र (जप), होम, तप, दान, स्वाध्याय आदि (जो द्वितीय अध्याय में शुद्धिकारक कर्म के रूप में वर्णित हैं)। प्रायश्चित्त न करने की स्थिति में राजा द्वारा दण्ड दिये जाने की आवश्यकता भी बतायी गयी है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में कहा है,[२२५] "जो शास्त्रों के अनुसार कार्य करते हैं परन्तु अपनी इन्द्रियों की दुर्बलता के कारण पथभ्रष्ट हो गये हैं उन्हें आचार्य इनके कार्य और धर्मशास्त्रों के आदेशानुसार प्रायश्चित्त बताये। यदि वह आचार्य की आज्ञा का उल्लङ्घन करे तो आचार्य उन्हें राजा के पास ले जाये। राजा धर्म और अर्थ में कुशल पुरोहित के पास उन्हें भेजेगा। पुरोहित उन ब्राह्मणों को प्रायश्चित्त पालन करने की आज्ञा दे। वह उन्हें दण्ड और दासता के अतिरिक्त अन्य मार्गों से बाध्य करेगा। मनु ने कहा है,[२२६] "जो ये चारों (महापातकी) प्रायश्चित्त न करें तो राजा इन्हें धर्मपूर्वक धन-संयुक्त नीचे लिखा शारीरिक दण्ड दे।" इसका अर्थ यह कि प्रायश्चित्त करने की अवस्था में फिर कोई दण्ड देने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि दण्ड का उद्देश्य था व्यक्ति का सुधार और समाज में अपराध के प्रति घृणा। यह दोनों प्रायश्चित्त के द्वारा ही पूरे हो जाते थे परन्तु प्रायश्चित्त न करने पर फिर राजा द्वारा उन्हें दण्ड दिया जाना

आवश्यक था। महापातकों का प्रायश्चित्त न करने की स्थिति में तो स्त्री हो अथवा पुरुष, उसका पूर्ण वहिष्कार कहा गया है।[२२७]

प्रायश्चित्त न करने के क्या-क्या परिमाण हैं, इसका भी धर्मशास्त्रों में वर्णन है। सबसे प्रथम तो प्रायश्चित्त न करने की अवस्था में महापातकी ही नहीं, अन्य पापियों का भी वहिष्कार करने का (उनके साथ संसर्ग न करने का) विधान है। अन्य पापों के सम्बन्ध में भी मनुस्मृति में कहा है,[२२८] "जिन पापियों ने प्रायश्चित्त नहीं किया है उनके साथ किञ्चित् भी सहवास न करे, परन्तु जिन्होंने प्रायश्चित्त कर लिया है उनकी निन्दा न करें।" फिर जैसा कि बताया गया, राज्य द्वारा दण्ड का भी विधान है। सबसे अन्त में प्रायश्चित्त न करने पर विभिन्न नरकों में कष्ट सहने का तथा दूसरे जन्म में विभिन्न हीन योनियों में अथवा विभिन्न रोगों के होने का वर्णन है। विष्णुधर्मसूत्र में तथा विविध पुराणों में नरकों का विस्तार से वर्णन किया गया है। हीन योनि में जन्म लेने के विषय में याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा है,[२२९] "ब्रह्महत्यारा, मृग, सुअर, ऊँट की योनि पाता है, सुरा पीनेवाला, गधा, पुल्कस आदि योनियों में जन्म लेता है। स्वर्ण चुरानेवाले कृमि, कीट, पतङ्ग की योनि प्राप्त करता है तथा गुरुस्त्रीगामी क्रमशः तृण, गुल्म, लता होता है। सुवर्ण का चोर बुरे नखवाला होता है तथा गुरुपत्नीगमन करनेवाले को चर्मरोग होता है।" पापों के फलस्वरूप अगले जन्म में होनेवाले रोगों का वर्णन करते हुए मनुस्मृति में कहा है, "कोई दुरात्मा इस जन्म के दुष्टाचरण से और कोई पूर्वजन्म के बुरे कर्मों से विरूप होते हैं। सुवर्णचोर बुरे नख, सुरापान करनेवाला काले दाँत, ब्रह्महत्यारा क्षय रोग तथा गुरुपत्नीगामी बुरे चर्म प्राप्त करता है। चुगुलखोर की नाक से दुर्गन्ध आने लगती है। जो झूठे दोष कहे उसके मुख से दुर्गन्ध आती है, धान्यचोर अङ्गहीन हो जाता है तथा वस्तुओं का मिश्रण करनेवाले का अङ्ग अधिक हो जाता है। अन्न चुरानेवाले को मन्दाग्नि हो जाती है, वाणी का हरनेवाला (अर्थात् दूसरे को वलपूर्वक चुप रहने के लिए वाध्य करनेवाला अथवा धोखे से शिक्षा ग्रहण करनेवाला) गूँगा होता है। वस्त्र हरनेवाला श्वेतकुष्ठी होता है तथा अश्वचोर लँगड़ा हो जाता है।"[२३०] अन्य धर्मग्रन्थों में भी यह रोग तथा योनियाँ जो विना प्रायश्चित्त किये पापों के फलस्वरूप प्राप्त होती हैं, विस्तार के साथ वर्णित हैं।

आठवाँ अध्याय

राज्य का महत्त्व, कार्य और स्वरूप

पिछले अध्यायों में भारतीय विचारकों द्वारा निर्दिष्ट समाज-रचना का वर्णन किया गया है। यह समाज-रचना भारतीय विचारकों ने इसलिए श्रेष्ठ मानी क्योंकि यह मनुष्य को उसके लक्ष्य मोक्ष तक पहुँचने के लिए सिद्ध करती है अर्थात् उसको इस योग्य बनाती है कि वह जितना शीघ्र सम्भव हो उतना शीघ्र क्रमशः इस जन्म में तथा अन्य जन्मों में उन्नति करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर सके। इसमें प्रत्येक व्यक्ति के लिए आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करने का अर्थात् व्यक्तिगत उन्नति करने, अपने कार्य में पूर्णता प्राप्त करने तथा उसके योग्य आदर्श प्रस्तुत करने का तो आग्रह है ही, इसके अतिरिक्त इस बात का भी प्रयत्न किया गया है कि प्रत्येक वर्ग में रहनेवाला व्यक्ति समाज-जीवन के लिए उपयोगी हो और समाज-जीवन में योगदान करे। अतः कार्य-विभाजन और पारस्परिक सहयोग के द्वारा एक सन्तुलित और समन्वयात्मक समाज-रचना तथा समाज-जीवन निर्माण करने का प्रयत्न किया गया है जिसमें अधिकार-विभाजन और शक्ति-सन्तुलन इतना श्रेष्ठ हो कि कोई भी वर्ग शेष समाज के ऊपर अपनी एकात्मक सत्ता स्थापित कर अनाचारी और अत्याचारी बनने में तथा समाज को अपने चङ्गुल में कर उसे दीन, पतित और भ्रष्ट करने में समर्थ न हो सके। इस प्रकार व्यक्तिगत और सामाजिक अथवा आध्यात्मिक और भौतिक, सभी दृष्टियों से आदर्श समाज-रचना प्रस्तुत की गयी है।

यह तो ठीक है कि यह समाज-रचना श्रेष्ठ है परन्तु केवल इतनी ही समाज-रचना मात्र से तो काम नहीं चल सकता। इसके साथ यह भी आवश्यक है कि समाज के संरक्षण की व्यवस्था हो, क्योंकि यदि समाज ही न रहा तो

फिर वह समाज-रचना किसके लिए होगी। परन्तु केवल समाज-संरक्षण भी पर्याप्त नहीं है, उसके साथ जो समाज-रचना लागू की जाये, उस समाज-रचना को अर्थात् धर्म को व्यवस्थित भी रहना चाहिए तथा उसका संरक्षण भी होना चाहिए। इसलिए समाज-जीवन के तथा इस समाज को व्यवस्थित करनेवाली इस समाज-रचना के मार्ग में जो बाधाएँ हो उन्हें भी दूर होना आवश्यक है। समाज में जो भी गड़बड़ी उत्पन्न होती है वह उन्हीं लोगों के द्वारा होती है जो निजी स्वार्थ को महत्त्व देते हैं और इस समाज के सुखी जीवन में तथा समाज की व्यवस्था में, जिस व्यवस्था के द्वारा प्रत्येक को समुचित विभाजन के आधार पर योग्य स्थान प्राप्त हो सके, बाधा पहुँचाते हैं और अपने ही लिए श्रेष्ठ स्थान, सम्पूर्ण सत्ता तथा अधिकाधिक सुखोपभोग प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। अत: समाज-जीवन के मार्ग की अथवा समाज की व्यवस्था के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को दूर करने का अर्थ है कि समाज-जीवन और समाज-व्यवस्था के मार्ग में आनेवाले दुष्टों का दमन हो तथा समाज के लिए हितकारी एवं समाज-व्यवस्था के सुचारु रीति से चलने में सहायक सज्जनों का संरक्षण किया जाये। यदि सज्जनों का संरक्षण किया और दुष्टों का दमन कर दिया तो समाज-जीवन स्वत: उत्तम रीति से चलेगा और समाज की व्यवस्था भी सुचारु रीति से चलने लगेगी। इसलिए राजधर्म के वर्णन करनेवाले सभी ग्रन्थो में दुष्टों के दमन का तथा सज्जनों के संरक्षण का बार-बार आग्रह किया गया है क्योंकि यही समाज और समाज-व्यवस्था की सुस्थिति के लिए सहायक है।[1] महाभारत में कहा गया है कि राजा को दुष्टों का दमन करने में तथा शत्रुओं से युद्ध करने में जो हिंसा होती है उस पाप से वह "राजा पापी मनुष्यों को दण्ड दे कर, सत्पुरुषों को आश्रय दे कर, यज्ञों का अनुष्ठान कर तथा दान दे कर निष्पाप और शुद्ध हो जाता है। जैसे खेत को साफ करनेवाला किसान खेत को साफ करने के लिए खेत में से घास आदि को बीन कर निकाल देता है और कमजोर धान्य को भी उखाड़ कर फैंक देता है, इससे धान्य का नाश नहीं होता है। इसी प्रकार जो शस्त्र ले कर आये हुए वध करने के योग्य अनेकों को मारता है और उससे अन्य सज्जनों की रक्षा करता है तो इसी से उसके पाप की निष्कृति हो जाती है।"[2] दुष्टों का यह दमन सर्व साधारण ढङ्ग से नहीं हो सकता क्योंकि जो स्वयं अपनी शक्ति और कुटिलता के आधार पर समाज में अपना आतङ्क और प्रभाव निर्माण करने का प्रयत्न करेगा उसका सीधे मार्ग से वश में आना कठिन है। उसके दमन के लिए तो प्रबल शक्ति की आवश्यकता होगी और इसलिए भारतीय समाज-निर्माताओं ने यह काम करने के लिए एक विशेष वर्ग—क्षत्रियों

का निर्माण किया है। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं था इसलिए इससे भी आगे बढ़ कर उन्होंने एक अन्य शक्तिपूर्ण दण्डधारी संस्था का निर्माण किया जिस संस्था को उन्होंने 'राजा' की संज्ञा दी तथा जिस संस्था का मूल काम ही यह रखा कि वह अपनी शक्ति और दण्ड के आधार पर समाज का तथा समाज-व्यवस्था का संरक्षण करे।

इस राज्य की व्यवस्था का वर्णन प्रमुख स्मृतियों में राजधर्म के नाम से किया गया है; परन्तु समाज-जीवन के लिए इसका बहुत अधिक महत्त्व होने के कारण इस पर बहुत-से ग्रन्थ पृथक् रूप से भी लिखे गये हैं। ऊपर बताया गया है कि दुष्टों के दमन और सज्जनों के संरक्षण के लिए राज्य की आवश्यकता है और राज्य करने के लिए राज्यकर्ताओं के वर्ग की भी। इस प्रकार यद्यपि राज्य के द्वारा समाज का संरक्षण तथा दुष्टों का दमन भी होगा परन्तु क्योंकि राज्य के पास भी शारीरिक शक्ति अर्थात् दण्ड-शक्ति बहुत प्रबल है, अतः दूसरी ओर यह भी भय है कि कहीं यह राज्यकर्तावर्ग ही असंयमित और अत्याचारी न हो जाये। "जब दण्डनीति नष्ट हो जाती है और राज्यधर्म का ह्रास हो जाता है तो राजा की दुष्टता के कारण सब प्राणी मोहित हो जाते हैं (अपना कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य भूल जाते हैं)।"[3] साथ-ही-साथ इस बात की भी आवश्यकता है कि राज्यकर्तावर्ग को उसके कार्य की शिक्षा प्राप्त हो जिससे वह अपना कार्य सुचारु रूप से और सफलतापूर्वक कर सके। मनुस्मृति में कहा है कि "विचारपूर्वक (सोच-समझ कर) उसको (दण्ड को) उचित रीति से धारण करने से वह सम्पूर्ण प्रजा को सुख देता है परन्तु बिना विचारे देने से वह सबका नाश करता है।"[4] इसलिए भारतीय सामाजिक विचारकों ने इस बात की आवश्यकता अनुभव की कि राज्यकर्ताओं को (उनके शब्दों में 'राजा' को) उनके कार्य का योग्य ज्ञान देने के लिए तथा उनको संयमित करने के लिए कुछ नियम बनाये जाने चाहिए। इसलिए नीति का केवल यही अर्थ लगाना भूल होगी कि राजाओं को छल-छद्म की शिक्षा देनेवाला शास्त्र नीतिशास्त्र है। राजाओं को उनके कार्य का योग्य ज्ञान देनेवाला तथा राजाओं के लिए वैसे सब नियम बतानेवाला शास्त्र, जिनसे वह ठीक से शासन कर प्रजा को सुख और धर्म के मार्ग पर लगा सके तथा स्वयं नियन्त्रित रह सके, नीतिशास्त्र है। कामन्दक ने कहा भी है कि नीतिपूर्ण रहने का अर्थ है विनयपूर्ण ढङ्ग से कार्य करना।[5]

राजनीतिशास्त्र का उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न नाम से किया गया है। राजधर्म, दण्डनीति, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और राजशास्त्र—ये नाम इसके विभिन्न ग्रन्थों में पाये जाते हैं।[6] इन विभिन्न शब्दों के प्रयोग से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि इन विविध नामों का प्रयोग करनेवाले ग्रन्थों ने भिन्न-भिन्न

विषयों का वर्णन किया है। केवल इतना ही है कि एक ही शास्त्र के विभिन्न अङ्गों को महत्त्व देनेवाले ये भिन्न-भिन्न नाम हैं। उदाहरण के लिए समाज के विभिन्न वर्गों के कर्तव्यों का वर्णन करनेवाले धर्मशास्त्रों अथवा इतिहास-पुराण ग्रन्थों में राज्य-सम्बन्धी सभी नियमों का वर्णन राजा के कर्त्तव्य के रूप में 'राजधर्म' के नाम से किया गया है। इसी प्रकार से राजा द्वारा लोगों को नियन्त्रित और संयमित कर धर्म के पथ पर रखने का तथा वाह्य शत्रुओं को वश में करने का (राजधर्म का) अर्थात् 'दम' सम्बन्धी नीति का वर्णन जिस शास्त्र में किया जाता है, उस शास्त्र का नाम 'दण्डनीति' है। राजा द्वारा अर्थोपार्जन की व्यवस्था का उचित मार्ग बतानेवाला अर्थात् राजा द्वारा अन्य भूमियों को अधिकार में लाने का प्रयत्न किस प्रकार होना चाहिए, तथा, साथ ही-साथ राजा द्वारा समाज के भौतिक जीवन की व्यवस्था कैसे ठीक रखी जाये, यह बतानेवाला अर्थात् दण्डनीति और राजधर्म का वर्णन करनेवाला शास्त्र 'अर्थशास्त्र' है।[७] 'नीतिशास्त्र' इस अर्थ का बोधक है कि राजा किन साधनों और उपायों का प्रयोग कर अपने कार्य (धर्म) में अर्थात् दण्डनीति में अथवा अर्थनीति में सफल हो सकता है। 'राजधर्म' और 'राजशास्त्र' पर्यायवाची हैं।[८] ऊपर के वर्णन से यह भी स्पष्ट है कि ये नाम राजनीतिशास्त्र के किन-किन अङ्गों के बोधक हैं। शासक के कर्त्तव्यों का (राजधर्म अथवा राजशास्त्र), समाज में अधर्म और दुष्टों को, तथा, दूसरी ओर शत्रुओं को दमन करने की नीति का (दण्डनीति), अपनी भूमि तथा समाज की भौतिक व्यवस्था ठीक बनाये रखने का (अर्थशास्त्र) तथा कौन-से उपायों का अवलम्बन करते हुए अपना कार्य ठीक प्रकार से किया जा सकता है (नीतिशास्त्र)—ये नाम बोध देते हैं। विभिन्न धर्मशास्त्रों और अर्थशास्त्रों ने भी इन नामों का पर्याय के रूप में प्रयोग किया है।[९]

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यशास्त्र समाज-जीवन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है तथा इसी के अनुसार चल कर राज्यकर्तावर्ग समाज के अन्दर सुस्थिति निर्माण करने में तथा समाज की सुव्यवस्था करने में समर्थ हो सकता है। फिर भी राजनीति को इतना अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए कि समाज-जीवन और उसके नियम (धर्मशास्त्रों के नियम) राजनीति के अधीन हो जायें। दूसरे शब्दों में धर्म के नियम अर्थशास्त्र के अनुसार नहीं चलने चाहिए अपितु अर्थशास्त्र (राजनीति) के नियम धर्मशास्त्रों के अनुसार बनाये जाने आवश्यक हैं और यदि कहीं धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र में सङ्घर्ष हो तो वहाँ धर्मशास्त्र का नियम अधिक श्रेष्ठ माना जाना चाहिए। इस बात को याज्ञवल्क्य ने सूत्ररूप में कह दिया है कि[१०] 'अर्थशास्त्र से धर्मशास्त्र बलवान है।' इसी बात को मनु ने विस्तार के साथ कहा है कि[११] "सेनापत्य (सेनापति का कार्य), राज्य,

दण्डनेतृत्व (दण्ड का प्रयोग), और सभी लोक पर आधिपत्य यह सब वेदशास्त्र के अनुसार होना चाहिए।'' परन्तु इस बात को केवल यह धर्मग्रन्थ ही नहीं कहते हैं अपितु शुक्रनीति में भी कहा गया है कि जिसमें राजा के कार्य के नियम श्रुति और स्मृति के अविरोधी हों वही अर्थशास्त्र है[१२] तथा राजा को आदेश दिया है कि वह धर्मशास्त्र के अविरोध से नीतिशास्त्र का विचार करे।[१३] कौटिल्य ने भी[१४] यही कहा है कि व्यावहारिक शास्त्र तथा धर्मशास्त्र में जहाँ अर्थ में परस्पर विरोध हो वहाँ धर्मशास्त्र के अनुसार अर्थ लगाने चाहिए। यह अवश्य है कि कौटिल्य ने एक स्थान पर यह भी अपना एक मत व्यक्त किया है कि ''कौटिल्य के अनुसार अर्थ प्रधान है तथा धर्म और काम दोनों का मूल अर्थ है।'' परन्तु कौटिल्य का यह कथन धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के नियमों के परस्पर विरोध को निवटाने के लिए मार्गदर्शक के रूप में नहीं कहा गया है और न इस वाक्य के द्वारा कौटिल्य ने धर्म और अर्थ के पुरुषार्थों की तुलना ही की है बल्कि इस नियम के द्वारा कौटिल्य ने केवल इतना बताया है कि अपने व्यवहार में राजा को तीनों पुरुषार्थों अर्थात् त्रिवर्ग में से किसे महत्त्व देना चाहिए। अर्थात् यह नियम केवल राजा अर्थात् राज्यकर्ताओं के लिए और उनके भी केवल निजी व्यवहार के लिए है क्योंकि यदि राजा अपने मूल कार्य को छोड़ कर अन्य बातों पर प्रमुख ध्यान देने लगेगा तो फिर वह स्वयं तो नष्ट होगा ही, साथ ही समाज को भी नष्ट करेगा। जिस अध्याय में कौटिल्य के ये सूत्र हैं उस अध्याय का नाम ही है 'राजर्षिवृत्तम्' अर्थात् 'राजर्षि का व्यवहार' तथा पूर्व सन्दर्भ से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। तीनों पुरुषार्थों की तुलना करते हुए कौटिल्य कहता है,[१५] ''धर्म, अर्थ के अविरोध से (राजा) काम का सेवन करे परन्तु सुखविहीन न रहे अथवा त्रिवर्ग को एक दूसरे के साथ बाँध कर सम-रीति से सेवन करे। धर्म, अर्थ, काम में से एक भी, अति सेवन करने से, स्वयं को तथा अन्य को पीड़ा देता है। अर्थ ही प्रधान है, ऐसा कौटिल्य का मत है तथा धर्म और काम का मूल अर्थ है।'' इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि यह सब कथन राजा के व्यवहार के लिए है परन्तु अन्तिम सूत्र से राजा के व्यवहार में अर्थ का महत्त्व भी स्पष्ट हो जाता है कि राजा द्वारा 'अर्थ' का ध्यान रखने से ही 'धर्म' और 'काम' का भी सेवन हो सकता है; परन्तु यदि राजा को अर्थ का ध्यान न रहा तो न तो 'धर्म' का ही पालन सम्भव होगा और न 'काम' का उपभोग। अतः यही सर्वसम्मति से मान्य है कि 'अर्थ' के नियम 'धर्म' के नियमों के अनुकूल होने चाहिए। यह केवल सिद्धान्त में ही नहीं कहा गया अपितु व्यवहार में भी यही बात दिखायी देती है। अर्थशास्त्र के ग्रन्थ, धर्मशास्त्र के सभी नियमों को मान कर

चलते हैं[१६] और उन्हीं नियमों को राज्य-व्यवस्था का आधार मान कर तत्पश्चात् फिर राज्य-सम्बन्धी अन्य नियमों का विस्तार से वर्णन करते हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र में, शुक्रनीति में तथा कामन्दकीय नीतिसार में स्मृतियों द्वारा वर्णित वर्णाश्रम-व्यवस्था का पूर्ण विवरण दिया हुआ है। कौटिल्य ने तथा कामन्दक ने सभी वर्णों, आश्रमधर्मों तथा साधारणधर्म का संक्षेप में वर्णन कर फिर वर्णसङ्करता की निन्दा करते हुए कहा है कि इसी वर्णाश्रम की स्थापना होनी चाहिए तथा राज्य को इसमें सहायक होना चाहिए। शुक्रनीति ने तो इससे भी आगे बढ़ कर स्त्रीधर्म का तथा वर्णसङ्करों का भी संक्षेप में वर्णन किया है। केवल इतना ही नहीं, राजधर्म के भी जो नियम स्मृतियों में दिये हैं वे वैसे-के-वैसे ही अर्थशास्त्रों ने मान्य किये हैं। उदाहरण के लिये मनुस्मृति में वर्णित क्रमशः राज्य की आवश्यकता, राजा के अन्दर देवताओं के गुण, राज्याज्ञा के पालन की आवश्यकता, दण्ड का महत्त्व, दण्ड का समुचित प्रयोग, राजा के गुण, मन्त्रियों की आवश्यकता, संख्या तथा गुण, अच्छे राष्ट्र का वर्णन, दुर्ग-वर्णन, ब्राह्मणों का महत्त्व और उनको दान, युद्ध करने का राजा का कर्त्तव्य, युद्ध के नियम, राज्य के चार कार्य, शत्रु के साथ व्यवहार का ढङ्ग, साम आदि चार उपायों का प्रयोग, स्थानीय शासन-व्यवस्था (नगरों तथा ग्रामों की); सेवकों से प्रजा की रक्षा, राजकर्मचारियों-सम्बन्धी नियम, कर के नियम, प्रजापालन का कर्त्तव्य, बारह राजाओं के मण्डल का वर्णन, षड्गुणों का प्रयोग (सन्धि, विग्रह आदि का), आक्रमण की पद्धति, विजय पाने का ढङ्ग, विजित राजा और देश के साथ व्यवहार तथा राजा द्वारा आत्मरक्षा, आदि सभी बातें लगभग उसी प्रकार से अर्थ-ग्रन्थों में वर्णित है, जिसकी यहाँ पूर्णरीति से तुलना करना सम्भव नहीं है (आगे के वर्णन में यह यथास्थान सिद्ध हो जायेगा)। यदि कहीं कुछ भेद भी होंगे तो वह विस्तार के और बहुत ऊपरी हैं।[१७] परन्तु स्पष्ट है कि यह भेद सैद्धान्तिक नहीं है, अपितु विस्तार-भेद है। राज्य-व्यवस्था में भी धर्मशास्त्रों के अनुसार चलने की आवश्यकता को भारतीय समाज-निर्माताओं ने कितना महत्त्वपूर्ण समझा यह इससे भी समझा जा सकता है कि उन्होंने इस बात का आग्रह किया है कि ऐसी राज्य-व्ययस्था को चलानेवाले व्यक्ति अर्थात् राजा, पुरोहित तथा मन्त्री ये सब धर्म के ज्ञाता अथवा श्रुतिवान् होने चाहिये।[१८]

राजधर्म के अथवा नीतिशास्त्र के सम्बन्ध में अब एक ही बात विचार करना शेष रह गया है। नीतिशास्त्र के भारतीय ग्रन्थों में राज्य के व्यावहारिक स्वरूप का ही विवेचन प्रमुख रीति से किया गया है, राज्य-सम्बन्धी सिद्धान्तो का दार्शनिक विवेचन तथा विभिन्न राजकीय सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन, अर्थशास्त्र के भारतीय ग्रन्थों में नहीं पाया जाता है।[१] इससे यह विचार नहीं कर लेना

चाहिए कि राज्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों का विचार भारतीय नीतिशास्त्र के ग्रन्थों में किया नहीं गया है। उदाहरण के लिए राज्य की आवश्यकता और महत्त्व (अराजकता के वर्णन द्वारा), दण्ड की (अर्थात् राज्य द्वारा दण्ड-प्रयोग की) उपयोगिता, राज्य का स्वरूप (सप्ताङ्गों के वर्णन में तथा राजा के अन्दर विभिन्न देवताओं के गुण का वर्णन करते समय), राज्य-व्यवस्था और समाज-जीवन का सम्बन्ध, राज्य और व्यक्ति का सम्बन्ध, कर के सिद्धान्त, दण्ड के सिद्धान्त, आदि बहुत-से विषयों के विचार स्मृतियों के राजधर्म-अंश में अथवा नीतिशास्त्र के ग्रन्थों में पाये जाते हैं। फिर भी अधिकांशतः सिद्धान्तों का विवेचन राज्य के व्यावहारिक स्वरूप के विवेचन में प्रसङ्गानुसार ही हुआ है। इसके अतिरिक्त वर्तमानकाल में नित्य नवीन उत्पन्न होनेवाली परिस्थितियों के प्रतिक्रियास्वरूप तथा उनका समाधान खोजने के लिए जो विभिन्न राजनीतिक विचारधाराएँ चली हैं अथवा चलती हैं, उनका स्पष्ट रीति से खण्डन-मण्डन भारतीय राजनीति-ग्रन्थों में खोजना व्यर्थ है और अनुचित भी। इतना अवश्य है कि भारतीय समाजशास्त्रियों ने भारतीय सिद्धान्तों के आधार पर राज्य-व्यवस्था का जो वर्णन किया है, उसके अध्ययन के पश्चात् यह निश्चित रीति से कहा जा सकता है कि वर्तमानकालीन कौन-कौन से राजनीतिक सिद्धान्त भारतीय विचारकों को मान्य अथवा कौन-कौन से अमान्य हैं तथा कौन से किस सीमा तक मान्य हैं।

जब नीतिशास्त्र का भारतीय विचार में बहुत महत्त्व है तब यह स्वाभाविक ही है कि नीतिशास्त्र के ग्रन्थ जिस संस्था के उपयोग के लिए लिखे गये हैं उस संस्था—राज्य का भी बहुत महत्त्व माना गया है। राज्य का महत्त्व बताने के लिए पहले अराजकता की अवस्था का वर्णन किया गया है और फिर उसकी तुलना में उस अवस्था का वर्णन किया गया है जब राज्य संस्था की स्थापना हुई। अराजकता की अवस्था का नाम भारतीय ग्रन्थों ने मत्स्यन्याय रखा है अर्थात् वह अवस्था जिसमें बलवान, दुर्बलों को इस प्रकार खा जाते हैं जैसे बड़ी मछली छोटी मछलियों को खा जाती हैं। इस अवस्था का सबसे विशद वर्णन इतिहास के दोनों ग्रन्थों में है।[१९] संक्षेप में इन ग्रन्थों में यह बताया गया है कि राज्य के न रहने पर धर्म, अर्थ, काम, तीनों का नाश हो जाता है तथा उदाहरण के लिए कहा गया है कि जहाँ राजा नहीं रहता उस देश में खेतों में बीज नहीं बोये जा सकते तथा पुत्र पिता के और स्त्री पति के वश में नहीं रह सकती। राजहीन देश में न धन अपना होता है, न स्त्री, न सत्य ही रह सकता है (अर्थ, काम, धर्म)। तुलना करने के लिए राज्यपूर्ण अवस्था का वर्णन करते हुए बताया गया है[२०] कि राजा का रक्षण होता है तो लोग निर्भय हो कर घर के द्वार खोल कर यथाकाम विचरण करते हैं। यदि राजा रक्षा करता है तो स्त्रियाँ बिना पुरुषों के

(अकेली) सब आभूषणों से सज कर निर्भय हो मार्ग में विचरण कर सकती हैं। यदि राजा रक्षा करता है तो धर्म का साम्राज्य होता है, लोग एक दूसरे की हिंसा नहीं करते हैं तथा एक दूसरे की सहायता करते हैं। यदि रक्षण करनेवाला राजा होता है तो वार्ता (कृषि, वाणिज्य, पशुपालन) पर आधारित यह जगत् धर्म को धारण कर उचित रीति से व्यवहार करता है।" पुराणों में भी यही बात कथाओं के द्वारा बतायी गयी है। वायुपुराण में कथा है[२१] कि सूर्यवंशी राजा त्रय्यारुण ने अपने पुत्र सत्यव्रत को परस्त्री-हरण के अपराध में देश से निकाल दिया। जब राजा (वानप्रस्थी हो) वन को चले गये तो वसिष्ठजी ने पुरोहितों और उपाध्यायों सहित राज्य की रक्षा की, परन्तु फिर उन्होंने बाद में विचार किया कि "इधर इन्द्र ने बारह वर्षों तक अराजकता से अधर्म बढ़ जाने के कारण वृष्टि नहीं की तथा लोगों की जीविका कष्ट साध्य हो गई है।" अतः उन्होंने सत्यव्रत को बुला कर राजा बनाया। इस कथा में भी बताया है कि अराजकता के कारण धर्म, अर्थ, काम की हानि होती है। राजा वेन के मरने पर जो अराजकता उत्पन्न हुई उसको दूर करने के लिए पृथु को राजा बनाने की कथा तो कई पुराणों में है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि अराजकता की मत्स्यन्यायपूर्ण स्थिति का वर्णन, राज्य का महत्त्व और उसकी आवश्यकता बताने के लिए किया गया।

इतना ही नहीं राज्य-उत्पत्ति की वर्णित घटनाओं में ऐसी भी एक अवस्था का वर्णन किया गया है कि जब न राज्य था, न राजा था, न दण्ड पाने योग्य था, न दण्ड देनेवाला था; परन्तु सम्पूर्ण प्रजा केवल धर्म से ही परस्पर एक दूसरे की रक्षा करती थी। यह अवस्था सतयुग की बतायी गयी है। तत्पश्चात् मोह का (स्वार्थ का) उदय होने से ज्ञान का नाश हुआ और मोह उत्पन्न होने से तथा ज्ञान का नाश होने से व्यक्तियों को लोभ सताने लगा जिसके कारण मनुष्यों में काम (वस्तुओं की इच्छा) की तथा तत्पश्चात् राग (वस्तुओं के प्रति अनुरक्ति) की उत्पत्ति हुई और इस प्रकार क्रमशः धर्म का नाश हो गया।[२२] शुक्रनीति में भी कहा है[२३] कि सतयुग में दण्ड न था। अतः इतना निश्चित है कि भारतीय विचारकों ने यह माना है कि ऐसी भी अवस्था हो सकती है जब धर्म के ही अर्थात् केवल समाज की योग्य व्यवस्था के तथा मनुष्य के चरित्र और सद्भावना के आधार पर ही समाज की सुस्थिति रखी जा सकती है। इसे ही सर्वश्रेष्ठ स्थिति (सतयुग) भी माना गया है परन्तु साथ-साथ यह भी स्वीकार किया गया है कि धीरे-धीरे जब एक बार समाज में पतन प्रारम्भ हो जाता है तो वह बढ़ता ही जाता है। उस समय व्यवस्था बनाये रखने के लिए किसी शक्तिपूर्ण ऊपरी साधन की अर्थात् राज्य की

आवश्यकता होती है। अतः जब तक समाज की ऐसी श्रेष्ठ स्थिति न निर्माण हो कि सब लोग स्वतः ही धर्म का पालन करने लगें तथा चारित्रिक दृष्टि से सम्पूर्ण समाज का स्तर बहुत उन्नत हो जाये तब तक राज्य का रहना अनिवार्य है।

राज्य की उत्पत्ति की दो कथाएँ महाभारत में दी हुई हैं।[२४] यद्यपि दोनों कथाओं में यह वर्णन है कि भगवान् द्वारा (विष्णु अथवा ब्रह्मा द्वारा) राजा की नियुक्ति की गयी और इसलिए ये राजा की उत्पत्ति की कथाएँ हैं, परन्तु यह कथाएँ राजा की उत्पत्ति के अतिरिक्त राज्य की उत्पत्ति का ही मूल रीति से वर्णन करती हैं। भारतीय राजनीतिक विचारों में 'राजा' के ही नाम से सम्पूर्ण राज्य-व्यवस्था का वर्णन किया गया है क्योंकि भारतीय राजनीतिक पद्धति प्रमुख रीति से राजतन्त्र की पद्धति है। भारतीय विचार में राजतन्त्र को प्रमुखता देने के कारण यद्यपि सर्वत्र 'राजा' शब्द का ही प्रयोग हुआ है तथापि राजा केवल एक व्यक्ति ही नहीं है, यह एक संस्था भी है और इसलिए अधिकांश स्थानों पर 'राजा' शब्द का प्रयोग 'राजा' के व्यक्तिगत रूप के लिए नहीं हुआ है अपितु राज्य अर्थात् 'राजा' संस्था के लिए प्रयुक्त हुआ है।

राज्य-उत्पत्ति की उन दोनों कथाओं में यही कहा गया है कि राज्य के न होने पर दुरवस्था होती है तथा दोनों कथाओं में यह भी बताया गया है कि प्रजा ने 'धर्म' के अर्थात् समाज-व्यवस्था के नियमों के आधार पर अपना जीवन चलाया, तत्पश्चात् समाज की स्थिति का ह्रास होने पर राज्य की आवश्यकता हुई और समाज तथा धर्म के रक्षण के लिए परमात्मा ने राजा की नियुक्ति की तथा राजा और प्रजा दोनों के पारस्परिक कर्त्तव्य और कार्य निश्चित हुए। प्रथम कथा में यह बताया गया है कि पहले धर्म से ही प्रजा शासित होती थी परन्तु धीरे-धीरे दुर्गुणों के उदय होने के कारण धर्म का ह्रास हुआ। उस समय सब लोग ब्रह्माजी की शरण में गये तथा ब्रह्माजी ने नीतिशास्त्र के एक वृहत्-ग्रन्थ की रचना की। फिर विष्णु ने विरज को उत्पन्न किया जिसका प्रपौत्र अनङ्ग प्रजा की रक्षा करनेवाला, सज्जन और दण्डनीतिकुशल था। इस अनङ्ग का पौत्र वेन राग-द्वेष के वशीभूत हो, प्रजा को धर्म से च्युत करने लगा जिसके कारण ब्रह्मवादी ऋषियों ने उसे मन्त्रपूत कुशाओं से मार डाला तथा उसके दाहिने हाथ को मथ कर उसमें से इन्द्र के समान एक रूपवान् पुरुष पृथु को उत्पन्न किया जो वेद-वेदाङ्गों में (धर्म में तथा अन्य विद्याओं में), धनुर्वेद में तथा दण्डनीति में कुशल था। उस पृथु ने ऋषियों से यह पूछा कि वह क्या काम करे। ऋषियों ने कहा कि वह स्वयं दुर्गुणों से रहित हो धर्म का रक्षण करे तथा अधर्मियों को दण्ड दे और

यह प्रतिज्ञा करे कि वह दण्डनीति के अनुसार कार्य करेगा, इन्द्रियों के वश में न होगा, जगत् की सङ्करता से रक्षा करेगा तथा ब्राह्मणों को अदण्ड्य समझेगा। पृथु ने इसको स्वीकार किया और उसे फिर राजा बनाया गया। पृथु ने फिर ऊँची-नीची पृथिवी को समतल किया, सब ओर से धन उत्पन्न किया, पृथिवी से अन्न उत्पन्न कर प्रत्येक को उसकी इच्छित वस्तु दी तथा धर्म की वृद्धि की। वह प्रजा का रञ्जन करने के कारण राजा कहलाया और ब्राह्मणों (समाज-व्यवस्था के अनुसार सज्जनों) की क्षतों से (पीड़ा से) रक्षा करने के कारण 'क्षत्रिय' कहलाया। उसने भूमि का पालन किया इसलिए भूमि को 'पृथिवी' कहा गया। पृथु की चिन्ता करने के कारण उसके राज्य में न बुढ़ापा था, न दुर्भिक्ष और न आधि-व्याधि। सर्प का, चोरों का तथा परस्पर एक-दूसरे का भय न था। दूसरी कथा जिसमें स्वायम्भुव मनु के प्रथम राजा होने का वर्णन है, इस कथा से भिन्न है परन्तु समान सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाली है। इस कथा का उल्लेख महाभारत के अतिरिक्त कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी है जहाँ बताया गया है कि लोगों को राजा की निन्दा से विमुख करने के लिए गुप्तचर यह बतायें कि मत्स्यन्याय से अभिभूत होने के कारण प्रजा ने मनु को राजा बनाया तथा सुवर्ण और व्यापार का दसवाँ भाग और धान्य का छठा भाग राजा के भाग के रूप में निश्चित किया। इस भाग को धारण कर राजा लोग प्रजा का कल्याण करते हैं। इसलिए जो रक्षा करनेवाला है उसको अरण्यवासी (वानप्रस्थी) भी अपने उञ्छ (बीने हुए नाज) का छटा भाग देते हैं। राजा, इन्द्र और यम के समान है इसलिए राजा का अपमान करने पर दैवी विपत्ति आती है।[२५] यद्यपि महाभारत की उपरोक्त दोनों कथाएँ बिल्कुल भिन्न प्रतीत होती हैं परन्तु इनमें कुछ समान तथ्यों का प्रदर्शन किया गया है, जो इन कथाओं का वर्णन करते समय प्रारम्भ में (प्रथम वाक्य में ही) दे दिये गये हैं। यह तो कहना कठिन है कि इन कथाओं में कोई ऐतिहासिक सत्यता है भी अथवा नहीं, परन्तु यह कथाएँ भी भारतीय इतिहास के प्रस्तावना में वर्णित स्वरूप के अनुकूल[२६] राज्य-व्यवस्था के कुछ सिद्धान्तों को बताने के लिए हैं जिसमें जैसा कि पीछे बताया गया, राज्य की आवश्यकता और महत्त्व तथा राजा और प्रजा के कर्तव्य बताये गये हैं। यद्यपि इन कथाओं के अन्दर पश्चिमी विचारकों द्वारा वर्णित सामाजिक समझौते का सिद्धान्त अथवा राज्य की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त अथवा राजा के दैवी अधिकारों का सिद्धान्त खोजने का प्रयत्न किया जा सकता है परन्तु, क्योंकि दोनों विचारों की (पाश्चात्य और भारतीय) भावनाओं में अन्तर है, अतः इस प्रकार की समता खोजने का प्रयत्न उचित नहीं होगा। यह तो अवश्य है कि इन कथाओं में वह वर्णन है कि ब्रह्मा ने अथवा विष्णु ने राजा की नियुक्ति की, परन्तु यह राज्य

का अथवा राजा का महत्त्व बताने के लिए एक आलङ्कारिक वर्णन मात्र है और पाश्चात्य 'राज्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त' के अनुसार इसके कारण राजा को कोई विशेष अधिकार नहीं दिये गये। यह भी अवश्य है कि इन कथाओं में राजा तथा प्रजा ने एक-दूसरे को कुछ आश्वासन दिये परन्तु इसके द्वारा भी राज्यकर्ताओं और प्रजा की पारस्परिक अन्योन्याश्रयता तथा अनुकूलता ही सिद्ध की गयी है। इसमें सामाजिक समझौते का सिद्धान्त प्रतिपादन करनेवाले पश्चिमी विचारकों के समान राजा अथवा प्रजा की श्रेष्ठता सिद्ध करने की भावना तथा प्रयत्न नहीं है। अतः यह भारतीय विचार के द्वारा राज्य-जीवन के दो पक्षों का वर्णन-मात्र है जिसमें एक पक्ष में प्रजा के राज्य के प्रति तथा दूसरे पक्ष में राज्य के प्रजा के प्रति कर्तव्यों का वर्णन किया गया है। सबसे प्रमुख अन्तर यह है कि पश्चिमी विचारकों के समान यह कथाएँ कुछ राजनीतिक उद्देश्य सामने रख कर नहीं लिखी गयीं परन्तु राज्य-व्यवस्था के वर्णन में इनका प्रसङ्गानुसार एवं राज्य-व्यवस्था के सिद्धान्त दिग्दर्शित करने के लिए आवश्यकतानुसार वर्णन किया गया है। इस प्रकार पश्चिमी विचारकों से समता खोजने का अर्थ होगा भारतीय विचारकों की भावना को ही एक परिवर्तित तथा भ्रमपूर्ण रीति से देखना।

जब राज्य की आवश्यकता सिद्ध हो गयी तो राज्य को अपना कार्य करने के लिए शक्ति की भी आवश्यकता है। राज्य द्वारा समाज का बाह्य आक्रमणों से और दुष्ट पुरुषों से संरक्षण आवश्यक है। यह काम केवल सद्भावना से अथवा सदुद्देश्यों से नहीं हो सकता। इसलिए इस प्रकार का वर्णन किया गया है कि 'राजा' की सहायता के लिए परमात्मा ने 'दण्ड' की सृष्टि की[२७] अथवा राजा इसकी ही सहायता से संसार को योग्य मार्ग पर टिकाये रखता है।[२८] यह भी कहा गया है कि यदि दण्ड न हो तो सम्पूर्ण संसार अपने-अपने धर्म पर स्थिर न रहे तथा समाज नष्ट हो जाये।[२९] अतः राजा से यह आग्रह किया गया है कि वह दण्ड का सदैव प्रयोग करे, उसके बिना न रहे तथा दण्ड के योग्य व्यक्तियों को दण्ड दे।[३०] परन्तु इस शक्ति अर्थात् 'दण्ड' का ऐसा ही प्रयोग होना चाहिए जिससे वह धर्म और परिणामस्वरूप सुख की स्थापना में सहायक हो। इसीलिए मनुस्मृति में कहा है कि[३१] "देश, काल, शक्ति और विद्या (त्रयी, दण्डनीति आदि) को भली भाँति देख कर जितना आवश्यक हो उतना, अन्याय करनेवालों के ऊपर, इसका प्रयोग किया जाये।" इसका अर्थ यह है कि दण्ड का न तो इतना अधिक प्रयोग होना चाहिए कि जनता उस दमन के कारण कुपित हो जाये और न दण्ड का बिलकुल परित्याग होना चाहिए कि जनता इतनी स्वच्छन्द हो जाये जिससे बलवानों द्वारा दुर्बलों का भक्षण

होने लगे अपितु दण्ड का योग्य प्रयोग होना चाहिए। उसी से राजा धर्म, अर्थ, काम तीनों प्राप्त करता है अर्थात् उसी से राज्य की सब प्रकार की भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति होती है, इस बात को धर्म और अर्थ के सभी विचारकों ने कहा है।[३२] यदि दण्ड का राजा ने उचित प्रयोग नहीं किया तो यह दण्ड देनेवाले राजा को ही नष्ट कर देता है[३३] क्योंकि दण्ड न देने से समाज में अव्यवस्था उत्पन्न होती है, अधर्मपूर्ण जीवन हो जाता है, राज्य पर राजा का नियन्त्रण नहीं रह जाता, राज्य दुर्बल हो जाता है और फलस्वरूप बाह्य आघातों को सहने में राजा असमर्थ रहता है[३४] और यदि अधिक दण्ड दिया गया तो प्रजा ही कुपित हो जाती है। कौटिल्य के शब्दों में यदि दण्ड को काम, क्रोध अथवा अज्ञान से प्रयोग किया गया तो वानप्रस्थी और संन्यासियों को भी कुपित कर देता है फिर गृहस्थों का तो कहना ही क्या जिसके कारण वह (प्रजा) स्वयं राजा को नष्ट कर देती है।[३५] इसलिए दण्ड का प्रयोग पक्षपातहीन हो कर होना चाहिए और इसीलिए राजा को धर्मपूर्ण हो कर दण्ड का प्रयोग करना चाहिए।[३६] यहाँ तक कि अपने माता, पिता, गुरु, भाई, बेटा, श्वसुर, मामा आदि भी अपराध करें तो उन्हें भी नहीं छोड़ना चाहिए। यह भी कहा है कि दण्ड-योग्य व्यक्तियों को ही दण्ड देना चाहिए अर्थात् जो बिना दण्ड के ठीक न हो सकें।[३७] मन्त्रियों का भी यह कर्तव्य है कि वह राजा को गलत दण्ड अथवा अधिक दण्ड देने से रोके।[३८]

ऊपर यह सिद्ध हुआ कि राजा अर्थात् राज्यकर्ता ही दण्ड का प्रयोग कर समाज को ठीक मार्ग पर रखता है। इस कारण समाज में न्याय और व्यवस्था अर्थात् धर्म रहता है अथवा नहीं, यह राज्यकर्ताओं की धर्मज्ञता और नीतिज्ञता पर बहुत-कुछ निर्भर है। यह इस ढङ्ग से कहा गया है कि राजा काल का कारण है अर्थात् समाज के अन्दर अच्छा काल रहता है अथवा बुरा, यह राजा अर्थात् राज्यकर्ताओं पर निर्भर है।[३९] शुक्रनीति में कहा है कि[४०] "आचरण का प्रेरक राजा होने से राज ही काल कारण है" तथा आगे इसी बात को स्पष्ट किया है। राजा युग-प्रवर्तक है क्योंकि जब राजा योग्य रीति से शासन करता है अर्थात् ठीक से दण्ड-धारण करता है और प्रजा सुख में तथा धर्म में रत रहती है तो उस समय सतयुग रहता है, परन्तु जब राजा दण्ड का ठीक प्रयोग नहीं करता चाहे वह अज्ञानता के कारण हो अथवा दुर्गुणों के कारण तो उस समय प्रजा कष्ट में रहती है और चारों ओर अधर्म तथा अन्याय का बोलबाला रहता है अर्थात् कलियुग रहता है। किस प्रकार के राज्यकर्त्तागण सतयुग के निर्माता होते हैं तथा किस प्रकार के राज्यकर्त्ता त्रेता, द्वापर और कलि का निर्माण करते हैं, यह मनुस्मृति में वर्णित है[४१]—"जो प्रसुप्त (चिन्ता तक नहीं

करता) है वह कलि है, जो जागृत है (अर्थात् जानकार है परन्तु कर्मशील नहीं है) वह द्वापर युग है, जो कर्म में उद्यत है वह त्रेता है तथा जो विचरण करता है (अपने राज्य के कार्य की देखभाल में चारों ओर घूमता है, चारों ओर का ज्ञान रखता है तथा निरीक्षण करता रहता है) वह सतयुग है।" वामनपुराण में यह बात वलि का उदाहरण दे कर बतायी गयी है कि उसके राज्य में संसार को धर्मयुक्त देख कर कलि भाग गया था, उसके राज्य में सदैव सतयुग रहता था और धर्म चारों पाँवों पर स्थित था क्योंकि राजा लोग प्रजापालन करते थे, यज्ञ आदि होते थे, वर्णाश्रम के लोग स्वधर्मपालन करते थे और चारों ओर तप, अहिंसा, सत्य, शौच, इन्द्रियनिग्रह, क्षमा, दान, अक्रूरता आदि गुण व्याप्त थे। राजा को केवल युग-निर्माता कहा गया है इतना ही नहीं, यह भी कहा गया है कि यदि राजा सतयुग का कारण होता है तो वह अधिक काल तक स्वर्ग भोगता है, यदि राजा त्रेता का कारण होता है तो वह थोड़े काल तक स्वर्ग भोगता है, द्वापर निर्माण करने से वह यथा भाग स्वर्ग अथवा नरक भोगता है तथा कलियुग निर्माण करने से वह अत्यन्त पापी होता है और वह दुष्कर्मा शाश्वत रूप से नरक में रहता है।[४२] ऐसा ही परिणाम शुक्रनीति में बताया गया है।[४३] राजा को काल का कारण अथवा युग-प्रवर्तक बता कर तथा उसका परिणाम प्रदर्शित कर भारतीय सामाजिक और राजनीतिक विचारकों ने राजा को अथवा राज्यकर्तावर्ग को ठीक मार्ग पर रखने का प्रयत्न किया है।

दण्ड का ऊपर जो वर्णन किया गया है वह दण्ड के आन्तरिक प्रयोग का वर्णन है परन्तु राज्य के वाह्य शत्रुओं का भी दमन होना चाहिए। दण्ड का इन दोनों अर्थों में प्रयोग मनुस्मृति में स्पष्ट रीति से वर्णित है जहाँ यह कहा गया है कि योग्य मन्त्रियों की सहायता से राजा दण्ड का प्रयोग करने में समर्थ होता है तथा अपने राष्ट्र में दण्ड का प्रयोग न्यायपूर्ण होना चाहिए और शत्रुओं पर कड़ाई के साथ दण्ड का प्रयोग किया जाये।[४४] किन्तु कहा गया है कि शत्रु के लिए भी दण्ड का प्रयोग अन्तिम अवस्था में ही किया जाये अर्थात् जब साम, दानादि के द्वारा काम न चले।[४५] इस प्रकार हम देखेंगे कि आन्तरिक सुव्यवस्था और वाह्य संरक्षण के लिए यद्यपि राज्य के हाथ में शक्ति (दण्ड) दी गयी है और आवश्यकतानुसार उसका प्रयोग भी बताया गया है परन्तु दोनों ही स्थितियों में (चाहे आन्तरिक व्यवस्था हो चाहे वाह्य आक्रमण से संरक्षण हो) इस शक्ति का प्रयोग अन्तिम अवस्था में ही होना चाहिए।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय विचारकों ने समाज

की रक्षा के लिए तथा समाज-व्यवस्था के योग्य सञ्चालन के लिए राज्य की तथा राज्य को शक्ति देने की आवश्यकता समझी। उनकी यह भी स्पष्ट धारणा थी कि राज्य का निर्माण केवल समाज के ही लिए है, अतः उन्होंने राज्य को लक्ष्य नहीं बनाया उसे केवल एक साधन-मात्र माना। इसलिए भारतीय विचारों में राज्य को समाज के ऊपर नहीं रखा गया है अपितु समाज को ही राज्य से श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। इसको दूसरे शब्दों में (वर्तमान परिभाषा में) इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारतीय विचारकों ने राज्य को प्रभुसत्ता-सम्पन्न नहीं बनाया अपितु उसे समाज के और उसकी व्यवस्था के अधीन किया। समाज को राज्य से श्रेष्ठ समझ कर उसे सर्वोपरि स्थान देने का अर्थात् राज्य को प्रभुसत्ता-सम्पन्न न बनाने का ऊपर बताये गये कारण (राज्य समाज-निर्माण में एक साधन-मात्र है) के अतिरिक्त एक कारण यह भी था कि यदि राज्यकर्तावर्ग को सर्वश्रेष्ठ स्थान दे दिया जाता तो, वह, शक्ति होने के कारण बहुत सम्भव था कि उस शक्ति से मदान्ध हो कर—समाज के ऊपर अपनी स्वार्थपूर्ण और अत्याचारपूर्ण सत्ता प्रस्थापित करने का प्रयत्न करते। परन्तु राज्यकर्ताओं को भी समाज-व्यवस्था के नियमों के अन्तर्गत बाँध कर रखा गया और समाज के अन्य श्रेष्ठ व्यक्तियों के हाथ में राज्यकर्ताओं को भी सुमार्ग पर लाने का अधिकार दिया गया वह इसलिए कि राज्यकर्ताओं को कुछ-न-कुछ मात्रा में मर्यादा के अन्दर रखा जाये।

भारतीय समाज-नियन्ताओं ने समाज को राज्य के ऊपर स्थान दिया, इस बात से सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था का वर्णन करते हुए इस समाज-व्यवस्था के ढांचे के ही अन्दर उन्होंने राज्य को भी रखा है अर्थात् जिस प्रकार समाज-व्यवस्था में उन्होंने समाज की व्यवस्था के लिए विभिन्न वर्णों और आश्रमों की स्थापना की है उसी प्रकार उन्होंने राज्य की भी एक संस्था समाज-व्यवस्था के ही अन्तर्गत समाज के लाभ के लिए अर्थात् समाज और समाज-व्यवस्था के संरक्षण के लिए निर्माण की है। इसी दृष्टि से विभिन्न धर्मशास्त्रों में राज्य-व्यवस्था का वर्णन दिया गया है। इसी बात को कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा कामन्दकीय नीतिसार ने भी स्वीकार किया है। कौटिल्य ने प्रथम अधिकरण के तृतीय अध्याय में समाज-व्यवस्था (वर्णाश्रम-व्यवस्था) का संक्षेप में वर्णन करते हुए अन्त में कहा है कि "इसलिए मनुष्यों के स्वधर्मपालन (वर्णाश्रम धर्मपालन) में राजा किसी प्रकार की अव्यवस्था न उत्पन्न करे।" इसी प्रकार से अगले अध्याय में भी जहाँ राज्य की शक्ति अर्थात् दण्ड और उस दण्ड की व्यवस्था करने वाली नीति—दण्डनीति का वर्णन किया है, वहां इस अध्याय के अन्त में भी, कौटिल्य कहता है कि[४६] "राजा के दण्ड के द्वारा पालन किये हुए चारों वर्ण और

आश्रमों से युक्त समाज अपने-अपने कार्य में रह कर अपने-अपने मार्ग पर चलता है।" इतना-ही नहीं आगे यह भी कहा है कि "केवल इसी प्रकार से व्यवहार करता हुआ (अर्थात् इस प्रकार से प्रजा की व्यवस्था करता हुआ) राजा स्वर्ग पाता है, अन्यथा नरक पाता है।" इसका स्पष्ट अर्थ है कि समाज-व्यवस्था का पालन करना तो राज्य का कर्तव्य है ही, राज्य का अस्तित्व ही मूलतया इसलिए है कि वह अपनी शक्ति द्वारा उस समाज-व्यवस्था को बनाये रखे। कामन्दकीय नीतिसार में[४७] भी द्वितीय अध्याय में समाज-व्यवस्था का वर्णन है जिसके पश्चात् कहा गया है कि "यह सभी वर्णाश्रम का धर्म अनन्त स्वर्ग के लिए है, उसके अभाव में यह संसार सङ्करता के कारण नष्ट हो जाता है। राजा ही इस सब धर्म का न्यायानुसार प्रवर्तक है (ठीक अवस्था में व्यवस्था रखता है) तथा उसके अभाव में धर्म-नाश होता है और धर्म-नाश होने से जगत् भ्रष्ट हो जाता है। वर्णाश्रम-आचार से युक्त (समाज-व्यवस्था के अनुसार उसके अन्तर्गत चलने वाला), वर्णाश्रम-विभाग को जाननेवाला (धर्मज्ञाता) तथा वर्णाश्रमों का पालक राजा सभी संसार का अधीश्वर होता है।" कामन्दक की इस उक्ति से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उसने राज्य को समाज-व्यवस्था के अन्दर माना तथा उसे उस समाज-व्यवस्था का संरक्षक ही कहा। साथ-ही-साथ जब उसने राजा को वर्णाश्रम-आचार से युक्त कहा तो उसका अर्थ था कि राज्यकर्त्तागण भी उसी समाज-व्यवस्था के नियमों के अन्तर्गत काम करें। इसी अध्याय में इसके पश्चात् दण्ड का वर्णन कर कामन्दक ने यह भी स्पष्ट कहा है कि दण्ड का प्रयोग और उपयोग इसी समाज-व्यवस्था के लिए है।[४८]

भारतीय समाज-विचारकों ने केवल इतना ही नहीं कहा, उन्होंने यह भी आग्रह किया कि समाज-व्यवस्था के वर्णन में उसके अन्तर्गत जो धर्म राजा के लिये बताया गया है अर्थात् राजा के लिए जो नियम निर्धारित कर दिये गये हैं, उन नियमों का ही पालन राज्यकर्त्ता करें यही उनका स्वधर्म है। इस प्रकार राज्यकर्त्ताओं को पूरी प्रकार से समाज-व्यवस्था के अन्दर बाँध दिया गया और उसके बाहर जाने का उन्हें कोई अधिकार भारतीय समाज-नियन्ताओं ने नहीं दिया। अतः राज्य को पूरी प्रकार से समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत और उसके आधीन उन्होंने माना है। अर्थशास्त्र के नियम धर्मशास्त्रों के आधीन हैं, जब यह कहा गया है तो इसका भी यही अर्थ है कि समाज राज्य के ऊपर है तथा समाज-व्यवस्था के जो नियम बना दिये गये हैं उनके विपरीत राज्य-व्यवस्था के कोई सिद्धान्त और नियम नहीं हो सकते।

राज्य को समाज-व्यवस्था के आधीन रखने के लिए अथवा राज्यकर्त्तागण समाज-व्यवस्था और समाज-नियमों के प्रतिकूल न जायें तथा समाज का अहित

न करें, इसके लिए एक अन्य काम यह किया गया है कि राज्यकर्ताओं से आग्र किया गया है कि समाज की व्यवस्था के संरक्षण की चिन्ता करनेवाले, समाज व्यवस्था की दृष्टि से आदर्श जीवन व्यतीत करनेवाले लोग समाज-नियमों क पालन करे तथा इसके लिये आवश्यक वातावरण उत्पन्न करनेवाले ब्राह्मणों कहने के अनुसार वह काम करें। यह बात धर्मशास्त्रों[४९] ने और अर्थशास्त्रियों दोनों ने ही मानी है। कौटिल्य ने कहा है,[५०] "ब्राह्मणों के आदेश के अनुसा चलनेवाला (अथवा ब्राह्मणों द्वारा वर्धित), मन्त्रियों के परामर्श से युक्त, शास्त्र रूपी शस्त्र से सज्जित क्षत्रिय जीतता है और वह अत्यन्त अजेय है।" शुक्रनीि में भी स्वधर्माचरण करनेवाले ब्राह्मण का तेज, क्षत्रिय के तेज से श्रेष्ठ बताय गया है।[५१] शान्तिपर्व में तो[५२] बार-बार ब्राह्मणों के कथनानुसार राज्य क चलने का आग्रह किया गया है। गरुड़पुराण में धर्मराज की सभा के वर्णं में भी कहा है[५३] कि धर्मशास्त्र के ज्ञाता ऋषि धर्मराज के पास निर्णय के लिए (अर्थात् राजा को धर्म-सम्बन्धी परामर्श के लिए) रहते थे। ब्राह्मण के अनुसार चलने का इतना महत्त्व रखा गया है कि यदि क्षत्रिय अनियन्त्रि हो, स्वेच्छानुसार काम करे अर्थात् अपनी राज्य-शक्ति के आधार पर समाज क अपनी इच्छानुसार चलाने का प्रयत्न करे तथा समाज का कल्याण का ध्या रखनेवाले और समाज-व्यवस्था के मार्गदर्शक ब्राह्मणों का अवलङ्घन करें त ब्राह्मण उन्हें दण्ड दे कर अपने वश में करने का प्रयत्न करें। शुक्रनीति में कहा है कि यदि ब्राह्मण सङ्घर्ष कर एक अत्याचारी क्षत्रिय राजा को नष्ट कर दें तो उन्हे कोई पाप नहीं लगेगा।[५४] मनुस्मृति में भी, राजा को यह आदेश दे कर, कि व ब्राह्मणों को कुपित न करे, क्योंकि उनके आधार पर ही संसार (समाज) औ देवता (धर्म) आश्रित हैं। आगे कहा है कि यदि क्षत्रिय ब्राह्मणों के प्रति विपरीत व्यवहार करें तो वह ब्राह्मणों द्वारा नियन्त्रित होने योग्य हैं।[५५] शान्तिपर्व में[५६] युधिष्ठिर के प्रश्न करने पर कि यदि सब लोग स्वधर्म छोड़ कर शस्त्र ले कर खड़े हो जायें अर्थात् किसी का कहना न माने उस समय राजा क्या करे, भीष्म ने कहा है कि उस समय सब वर्ण यहाँ तक कि राजा भी विप्रों का आश्रय ले कर इस प्रकार कार्य करे कि सब वर्ण अपने स्वधर्म का पालन करने लगें। आगे यह भी बताया है कि यदि क्षत्रिय ही विप्रों (समाज-व्यवस्था के संरक्षकों) पर अत्याचार करने लगे तो विप्र तप से, ब्रह्म से, चर्म से, शस्त्र से, बल से, माया से, अमाया से उनका नियन्त्रण करें। अमर्यादित राजाओं के ब्राह्मणों द्वारा नियन्त्रण की कथा भारतीय इतिहास-पुराण ग्रन्थों में दी हुई है। सर्वप्रथम तो राजा वेन की कथा है[५७] जिसने यह घोषणा की थी कि "तुम्हारे द्वारा एकमात्र मैं ही वन्दनीय और पूज्य हूँ", अतः जिसने स्वयं को अर्थात् राजा को समाज से श्रेष्ठ समझा था

और फलस्वरूप समाज में धर्म को नष्ट कर समाज पर अत्याचार करने का प्रयत्न किया था। जिसे ऋषियों ने मार डाला। इसी प्रकार कार्तवीर्य अर्जुन (सहस्रार्जुन) की कथा है जिसने सारी पृथ्वी को जला दिया अर्थात् सम्पूर्ण समाज को ध्वस्त कर दिया।[५६] इसी में मुनि आपव का भी आश्रम जला और उन्होंने कार्तवीर्य अर्जुन को श्राप दिया कि कोई उसके गर्व को नष्ट करेगा। इसके कारण परशुराम (ब्राह्मण) ने उसका वध किया। इसी प्रकार सगरपुत्रों की कथा है[५७] जो अपने अभिमान के मद में समाज के ऊपर भाँति-भाँति के अत्याचार करने लगे। "वे साधु वृत्ति के लोगों को मारते थे, सदाचार का नाश करते थे, मित्रों से युद्ध करते थे, लोगों के धन को छीन लाते थे तथा दूसरों की स्त्रियों को बलपूर्वक ला कर उन पर बलात्कार करते थे।" उनका नाश कपिल मुनि के क्रोध के द्वारा हुआ।

राज्य को समाज के अन्तर्गत रहना चाहिए अर्थात् समाज के अनुसार चलना चाहिए। इस बात को इस ढङ्ग से भी कहा गया है कि राजा को धर्ममय होना चाहिए अथवा राजा को धर्म का पालन करना चाहिए।[५८] दूसरे शब्दों में, समाज-जीवन के हित में समाज को प्रमुख मान कर, राज्य का कार्य चलना चाहिए। अतः हम ऐसा कह सकते हैं कि भारतीय विचारकों की ऐसी धारणा थी कि धर्मराज्य होना चाहिए। कौटिल्य ने कहा है कि उपेक्षित होने के कारण यदि धर्म, अधर्म द्वारा नष्ट किया जाता है तो वह शासनकर्ता को मार देता है।[५९] शुक्र ने भी इसी अर्थ में कहा है कि कि जो धर्मविहीन राजा हैं उन्हें धर्मवान् और बलवान् राजा चोर के समान दण्ड दें तथा प्रजा से भी कहा है कि अधर्मी राजा को प्रजा धर्मशील और बलवान् शत्रु का आश्रय ले कर कष्ट दे।[६०] जीते हुए राज्य में धर्मानुसार व्यवहार करने का भी राजा को आदेश है।[६१] धर्मपालन का इतना आग्रह है कि कामन्दक का यह कहना है[६२] कि धर्म के लिए यदि कोश क्षीण हो गया हो तो उसका क्षीणत्व ही शोभा देता है। शान्तिपर्व में विस्तार के साथ कहा है और बताया है कि[६३] "राजा धर्मपालन के लिए जन्म लेता है कामोपभोग के लिए नहीं। जो राजा उस धर्म की अच्छी प्रकार रक्षा करता है वही राजा पृथ्वीपति होता है। यदि राजा परम धर्मात्मा तथा लक्ष्मीवान् है तो उसी को 'धर्म' कहा जाता है। हे महाराज! जब मनुष्यों के पाप नहीं रोके जाते हैं तब दोनों लोकों का (अभ्युदय, निःश्रेयस) विचार कर स्वयं ऋषिगण उस महान् राजा का निर्माण करते हैं और वही 'धर्म' हो जाता है। जिसमें धर्म रहता है उसी को राजा कहते हैं परन्तु जिसके द्वारा धर्म नष्ट हो जाता है उस राजा को वृषल कहते हैं क्योंकि 'वृष' (बैल) भगवान् 'धर्म' का नाम है, उसको यह नष्ट करता है। अतः राजा को धर्म-वृद्धि करनी चाहिए। धर्म की वृद्धि होने से सभी प्राणियों की वृद्धि सदैव ही होती है और उसका ह्रास होने से उनका भी

ह्रास होता है, अतः धर्म नष्ट नहीं करना चाहिए। प्राणियों के कल्याण के लिए ब्रह्मा ने 'धर्म' का निर्माण किया है, अतः प्रजा के हित के लिए धर्म की राजा वृद्धि करे। इसलिए हे राजशार्दूल ! धर्म श्रेष्ठतर कहा गया है। जो पुरुष श्रेष्ठ सज्जन हो कर प्रजा का शासन करता है, वह राजा है। हे भरतश्रेष्ठ ! काम-क्रोध को छोड़ कर धर्म का पालन करो, राजा के लिए धर्म ही परम श्रेयस्कर है।''

भारतीय विचारकों ने राजा को धर्ममय होने का जो इतना बल दिया है उसके पीछे की उनकी भावनाएँ और धारणाएँ स्पष्ट थीं। उनके अनुसार धर्म-राज्य का सर्वप्रथम अर्थ यह था कि जो नियम समाज-नियन्ताओं ने घोषित किये हैं अथवा जिन नियमों (प्रथाओं) का विभिन्न समाजों में अथवा समाज के विभिन्न वर्गों में पालन होता है, उन्हें ही अथवा उनकी ही भावना के अनुकूल नियमों को राज्य को मान्यता देनी चाहिए तथा उन्हीं को ध्यान में रख कर शासन करना चाहिए।[६४] सभी धर्मशास्त्रकारों ने यह घोषित किया है कि देशों, जातियों अथवा कुलों की जो प्रथाएँ हैं उन्हें अधिकृत माना जाये।[६५] इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि राजा शास्त्र-नियमों का पालन करे और करवाये।[६६] इस बात को याज्ञवल्क्यस्मृति में व्यवहार (मुकदमा अथवा न्याय) की परिभाषा में स्पष्ट किया गया है कि[६७] "स्मृति और आचार (प्रथाओं) का उल्लङ्घन किये जाने के कारण जो दूसरों द्वारा पीड़ित हो और वह यदि (उस उल्लङ्घन के कारण) राज्य के पास आवेदन करे तो वह 'व्यवहार' है।" इसका अर्थ यह है कि जो नियम समाज में प्रचलित हों चाहे वह शास्त्र में कहे गये नियम हों अथवा प्रथाएँ हों, अर्थात् जो भी धर्म जहाँ माना जाता हो उनके द्वारा राज्य का शासन होना चाहिए तथा इनके विपरीत समाज-जीवन के नियन्त्रण के लिए राजा अपने स्वतन्त्र नियम न बनाये। इस कारण शान्तिपर्व में भीष्म युधिष्ठर से आग्रह करते हैं कि वह वेद-वचनों को अप्रमाण न मानें अथवा शास्त्र की आज्ञा का उल्लङ्घन न करें।[६८] नीतिग्रन्थों में भी यह बात स्पष्ट रीति से कही गयी है। श्रुति-स्मृति के धर्म को मानने का आदेश शुक्रनीति में भी है।[६९] यह भी कहा गया है कि न्याय भी धर्मशास्त्रों के अनुसार होना चाहिए[७०] तथा इसीलिए राजा से भी न्याय करने के पूर्व स्मृतियों को देखने का आग्रह किया गया है।[७१] कौटिल्य का व्यवहार-अंश (राज्य द्वारा लागू किये जानेवाले नियमों का वर्णन) भी धर्मशास्त्रों के अनुकूल है। धर्ममय राज्य होने का एक दूसरा अर्थ भारतीय विचारकों के अनुसार यह है कि जो समाज-रचना (वर्णाश्रम-व्यवस्था) समाज की दृष्टि से विचार करनेवाले ऋषियों ने निश्चित की है और जिसका धर्मशास्त्रों में वर्णन किया गया है उस व्यवस्था को राज्य द्वारा लागू किया जाये और उसका पालन होता है अथवा नहीं, इसका पूर्ण

ध्यान रखा जाये। पीछे बताया ही गया है कि अर्थशास्त्र के ग्रन्थों ने भी पहले उस समाज-व्यवस्था का वर्णन कर फिर उसके पालन का आग्रह किया है। सभी इतिहास-पुराण ग्रन्थों में भी जहाँ किसी अच्छे राज्य का वर्णन दिया गया है वहाँ यही बताया गया है कि उस राज्य में सब लोग अपने-अपने वर्णों और आश्रमों के धर्म में तत्पर रहते थे।[७२] महाभारत में केकयराज अपने राज्य के वर्णन में कहते हैं,[७३] "मेरे राज्य के ब्राह्मण अध्यापन, अध्ययन, यजन, याजन, दान देना तथा लेना—इन छः कर्मों को करते हैं। उनकी पूजा होती है, उनको योग्य भोजन मिलता है, वे मृदु हैं, सत्यभाषी हैं तथा स्वकर्म करनेवाले हैं। मेरे राज्य के क्षत्रिय भी स्वकर्मस्थ हैं। वे दान माँगते, नहीं देते हैं, अध्यापन नहीं करते, अध्ययन करते हैं, यज्ञ करते है, कराते नहीं। वे सत्य धर्म के ज्ञाता है, ब्राह्मणों की रक्षा करते हैं तथा संग्राम से विमुख नहीं होते हैं। मेरे राज्य के वैश्य बिना छल-छद्म किये कृषि, गोरक्षा तथा वाणिज्य के द्वारा जीविकोपार्जन करते हैं। वे अभिमानी नहीं है, कर्मशील हैं, अच्छे कर्म करनेवाले है, सत्यवादी हैं, सबके जीवन-यापन की योग्य व्यवस्था करते हैं, इन्द्रियदमन, शौच और सौहार्द से युक्त हैं। मेरे राज्य के शूद्र स्वकर्म में रत है, तीनों वर्णों की ईर्षारहित हो कर सेवा करते हैं।" अतः धर्ममय राज्य होने का यह अर्थ है और यह एक प्रमुख अर्थ है कि समाज-नियमों के अन्तर्गत जो समाज-व्यवस्था निर्दिष्ट है उसे राज्य लागू करे, केवल उन स्थानों और जातियों के अतिरिक्त जहाँ उनकी कुछ विशेष प्रथाएँ हों। राज्य धर्मपूर्ण हो, इसका तीसरा अर्थ यह है कि राज्य का जीवन व्यवस्थित, शान्तिपूर्ण तथा सुखी हो और समाज में किसी विशेष-वर्ग अथवा व्यक्ति का अन्य लोगों पर अत्याचार न रहे।[७४] इसका अर्थ यह है कि राज्य का यह कर्तव्य है कि वह समाज-जीवन का ठीक से सञ्चालन करने के लिए प्रजा को धर्मपालन में तत्पर कर, पाप बढ़ने से रोके।[७५] वामनपुराण में राजा कुरु के विषय में कहा है कि उसने सोने के हल (भौतिक उन्नति) से धर्मराज-रूपी वृक्ष को जोत कर राज्य के अन्दर सद्गुणों की वृद्धि की।[७६] कामन्दक ने कहा है, धर्म-संरक्षण में तत्पर तथा धर्म से अर्थ का वर्धन करता हुआ (राजा) जो-जो प्रजा उसमें बाधा दे, उन्हें शिक्षित करे।[७७] कौटिल्य जनपद के गुण बताते हुए कहता है कि जनपद (राज्य) राजा से परिचालित, भक्ति और पवित्रतापूर्ण मनुष्यों से युक्त होना चाहिए।[७८] दुष्टों के दमन और सज्जनों के संरक्षण, अधार्मिकों का दमन, धार्मिकों का रक्षण अथवा दुर्बलों की रक्षा[७९] का जो आग्रह है, वह भी इसी दृष्टि से है। इसी से राज्य का प्रमुख कार्य प्रजापालन और प्रजा-रक्षण बताया है तथा इसी दृष्टि से राज्य को न्याय करने की व्यवस्था दी गयी है जिसके माध्यम से वह समाज के अन्दर के पारस्परिक सङ्घर्षों को दूर कर शान्ति

तथा संरक्षण स्थापित करे। धर्मपूर्ण राज्य होना चाहिए इसका एक अर्थ यह भी हैं कि शासन न्यायपूर्वक होना चाहिए[८०] अर्थात् शासन के क्षेत्र में अथवा न्याय के क्षेत्र में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं होना चाहिए[८१] और राज्य द्वारा धन-संग्रह भी अन्यायपूर्वक न होना चाहिए।[८२] इस न्यायपूर्ण राज्य का उदाहरण प्रतिपादन कामन्दकीय तथा शुक्रनीति[८३] में किया गया है, "यदि राजा न्यायप्रवृत्त होता है तो वह स्वयं अपने लिए अथवा प्रजा के लिए त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) प्राप्त कराता है अन्यथा निश्चित ही वह इनका (त्रिवर्ग का) नाश करता है। धर्म (न्याय) के कारण यवन राजा ने चिरकाल तक पृथिवी का भोग किया (वलि ने), तथा अधर्म (अन्याय) से नहुष रसातल में पहुँच गया। धर्मपूर्ण राज्य का एक अन्य अर्थ यह है कि राज्यकर्त्तावर्ग चरित्रवान् हों तथा अपनी मर्यादा में रहें। राजा चरित्रवान् हो, इसका तो सभी ग्रन्थों में बहुत विशद वर्णन है।[८४] साथ-ही-साथ इस वात का भी वहुत आग्रह किया गया है कि राजा अर्थात् राज्यकर्त्तागण अपनी मर्यादा में रहें[८५] और उनके जो कर्त्तव्य निर्धारित किये गये हैं उनका पालन करें और जो अधिकार निर्धारित किये हैं उनका उलङ्घन कर प्रजा को दबायें नहीं। इसलिए शुक्रनीति में कहा है,[८६] "जो (राजा) नीति को छोड़ कर स्वतन्त्र (स्वच्छन्दतापूर्वक) मर्यादारहित व्यवहार करता है वह दुःख पाता है।" इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि राजा को अपने धर्म में तत्पर रहना चाहिए अन्यथा उसके तेज का नाश होता है।

अतः धर्मराज्य कहने के पीछे भारतीय विचारकों की स्पष्ट धारणाएँ थीं। धर्मराज्य का यह अर्थ कदापि नहीं था कि किसी सम्प्रदाय-विशेष का राज्य पर प्रभुत्व हो। ब्राह्मणों को समाज में विशेष स्थान देने के अथवा उनको राज्य द्वारा मान्यता देने के और उनकी सहायता करने के पीछे यह धारणा नहीं थी कि देश में पुजारियों का शासन प्रस्थापित किया जाये। यद्यपि ब्राह्मणों को यज्ञ कराने का कार्य था, परन्तु ब्राह्मणों को समाज में महत्त्व इसीलिए नहीं था बल्कि उनके गुण के कारण था—केवल यज्ञ करानेवाले ब्राह्मणों को तो पंक्तिदूषक तथा दान का अपात्र वताया गया है। (देखिए धर्मशास्त्रों में तत्सम्वन्धी सूचियाँ)। वह जो आदर्श समाज के सामने उपस्थित करते थे तथा जिस निस्पृह वृत्ति से रहने के उनके नियम थे, वही समाज के अन्दर आदर और श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त थे। इसीलिए इस बात को सर्वत्र कहा गया है कि योग्य ब्राह्मण का ही सम्मान हो तथा यदि ब्राह्मण कुछ अनुचित कर्म करे तो उसे दण्ड दिया जाये अथवा यदि ब्राह्मण अयोग्य हो तो उसका कोई सम्मान न किया जाये और राजा उसे शूद्र समझे।[८७] शुक्रनीति में कहा है कि आततायीपन करनेवाला ब्राह्मण शूद्रवत् है, ऐसा धर्मशास्त्रों का कहना है अतः

आततायी के वध में कोई दोष नहीं है।[८८] शान्तिपर्व में भी जिसमें बार-बार ब्राह्मणों के कथनानुसार चलने का आग्रह किया गया है, कहा है कि[८९] "यदि वेदविद् स्नातक जीविका न होने से चोरी करे तो ऐसा वेद जाननेवालों का कहना है कि राजा उसका पालन करे, परन्तु यदि जीविका की व्यवस्था होने पर भी वह कृतकृत्य न हो (अर्थात् फिर भी चोरी करे) तो वह कुटुम्ब-सहित राज्य से निकाल देने योग्य है।" आगे कहा है "अपने कर्म को छोड़नेवाले विप्र की राजा बिलकुल उपेक्षा न करे (अर्थात् उन्हें दण्ड दे)। यह राजाओं का पूर्व काल से ही चला आया व्यवहार है, ऐसा सज्जन कहते हैं।" दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार से कहा जा सकता है कि उनका सम्मान इसलिए नहीं था कि वह एक वर्ग-विशेष के थे अथवा उनके पास एक विशेष कार्य था, वरन् उनका सम्मान इसलिए था कि वे सद्गुणी थे। वह सम्मान राज्य की प्रतिष्ठा के ऊपर भी निर्भर न हो कर समाज की श्रद्धा पर आधारित था। समाज की श्रद्धा होने के कारण ही ब्राह्मणों को यह अधिकार दिया जाना भी सम्भव था कि यदि राज्य समाज-विरोधी कृत्य करे अर्थात् यदि वह अत्याचारी हो जाये तो वह (ब्राह्मण) उस पर नियन्त्रण प्रस्थापित करें। इस प्रकार ब्राह्मण का प्रभुत्व अथवा उसकी प्रतिष्ठा देने का और उसको पोषण करने का आदेश साम्प्रदायिक वृति का परिचायक न हो कर समाज के गुणी व्यक्तियों को योग्य स्थान, महत्त्व, सम्मान और अधिकार देने का प्रबल आग्रह-मात्र था।

वैसे भी राज्य के अन्दर किसी धार्मिक ग्रन्थ अथवा सम्प्रदाय को अर्थात् ईश्वर-उपासना की किसी विशेष-पद्धति के अनुयायियों को राज्य में प्रमुख स्थान देने का कहीं उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत शुक्रनीति में यही कहा है कि "जिन उत्सवों को प्रजा मनाती हो उनका पालन राज्य करे। वह प्रजा के ही आनन्द में सन्तुष्ट हो तथा प्रजा के ही दुख में दुखी हो।"[९०] इसका अर्थ स्पष्ट है कि राज्य के अन्दर के प्रत्येक सम्प्रदाय के जो भी समारोह उस सम्प्रदाय के अनुयायी मानते हों, उन सब उत्सवों को राज्य द्वारा मान्यता तथा सहायता प्राप्त होनी आवश्यक है। फिर, जब इतना भी आग्रह भारतीय सामाजिक विचारकों ने नहीं किया कि राज्य किसी विशेष-सम्प्रदाय को सहायता दे तो प्रश्न ही नहीं उठता कि राज्य के किसी सम्प्रदाय को प्रमुखता मिले अथवा किसी सम्प्रदाय का राज्य के ऊपर विशेष अधिकार हो। इसके विपरीत सभी पाखण्डी समुदायों (वेद-विरोधी सम्प्रदायों) को मान्यता देने का राज्य से आग्रह है।[९१] ऋषियों द्वारा प्रणीत समाज-व्यवस्था के पालन कराने का आदेश राज्य को अवश्य था, परन्तु वह भी किसी साम्प्रदायिक भावना से प्रेरित होकर नहीं, बल्कि इसलिए, क्योंकि वह व्यवस्था मनुष्य को सर्वोत्तम माने गये लक्ष्य—मोक्ष

तक पहुँचाने के लिए सर्वश्रेष्ठ मानी गयी थी और क्योंकि उसे मूलतः भारतीय समाज ने स्वीकार किया था और उसे व्यवहार में प्रयोग किया था तथा इसमें भी साम्प्रदायिक आग्रह इतना कम था जैसा कि बताया गया, राजा को देश, कुल, जाति के धर्मों को मानने का (अर्थात् इस समाज-व्यवस्था से भिन्न स्थानीय प्रथाओं को मानने का) और उन्हें लागू करने का भी आदेश था। इसके अतिरिक्त राजा से यह भी कहा गया था कि वह किसी विजित देश में वहीं की प्रथा को, चाहे वह कुछ भी हो, अवश्य मान्य करे[९२] अर्थात् वह इस समाज-व्यवस्था को वहाँ बलपूर्वक लागू न करे। इस प्रकार यद्यपि इस समाज-व्यवस्था के पालन कराने का आग्रह था और यह आग्रह बहुत प्रबल था तथा राज्य की व्यवस्था ही उसी समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत और उसी के संरक्षण के लिए थी, परन्तु इस समाज-व्यवस्था को पालन कराने का यह आग्रह साम्प्रदायिक भावना से तो प्रेरित नहीं ही था। इतना ही नहीं उस आग्रह में भी साम्प्रदायिकता का लेश भी शेष नहीं रखा और इसी कारण इस व्यवस्था के समक्ष स्थानीय प्रथाओं को दबाने का कोई प्रयत्न नहीं किया।

इसके पश्चात् अब यहाँ पर राज्य का उद्देश्य और उस उद्देश्य के अनुरूप राज्य के कार्यों पर विचार करना है। राज्य की आवश्यकता का विचार करते समय तथा इस अध्याय के प्रारम्भ में राज्य के उद्देश्यों का सन्दर्भ आया है। भारतीय विचार में मनुष्य-जीवन का लक्ष्य मोक्ष रखा गया है परन्तु मोक्ष की ओर तभी बढ़ना सम्भव है जब कि व्यक्ति जीवन की सांसारिक चिन्ताओं से अधिकाधिक मुक्त हो अर्थात् समाज-जीवन में कोई दुर्व्यवस्था न हो, सब लोग अर्थ और काम का धर्मानुसार अर्थात् मर्यादानुसार उपभोग करने के लिए स्वतन्त्र हों और उनके इस उपभोग में किसी प्रकार की बाधा न हो तथा उन्हें जीविकोपार्जन की चिन्ता न सताती हो। संक्षेप में यदि व्यक्ति को जीवन और उपभोग की दृष्टि से सुरक्षा का अनुभव होता है तभी व्यक्ति सांसारिक चिन्ताओं से उन्मुक्त हो अपना मन मोक्ष-प्राप्ति के लिए लगा सकता है। अतः सांसारिक चिन्ताओं से (चाहे जीवन की हो, चाहे क्षुधा की हो, चाहे अपना व्यवसाय ठीक से चलाने की हो, चाहे दूसरे द्वारा उसका धन छीन लेने की हो) व्यक्ति को मुक्त करना अर्थात् व्यक्ति और समाज का सभी आपत्तियों से संरक्षण करना और कष्टों को दूर करना अर्थात् प्रजा (समाज) का संरक्षण और पालन राज्य का एक उद्देश्य है।[९३] उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस उद्देश्य के अन्तर्गत दो बातें आती हैं—एक तो समाज और व्यक्ति-जीवन का विभिन्न आपत्तियों से तथा कष्ट देनेवालों से संरक्षण तथा दूसरे, समाज-जीवन का पोषण जिससे समाज सुखपूर्ण और समृद्ध जीवन व्यतीत कर सके। परन्तु इसके

अतिरिक्त एक दूसरा भी उद्देश्य ऊपर के सम्पूर्ण वर्णन से स्पष्ट है। क्योंकि भारतीय शास्त्रकारों ने जो समाज-व्यवस्था वर्णित की है वह व्यवस्था भी मोक्ष-प्राप्ति में सहायक है, अतः इस समाज-व्यवस्था का संरक्षण और इस बात का ध्यान कि कोई उसे भङ्ग न करे अर्थात् सब लोग स्वधर्म का पालन करें, यह भी भारतीय विचार के अनुसार राज्य का एक उद्देश्य है।[९४] इन दोनों उद्देश्यों को इस ढङ्ग से कहा जा सकता है कि समाज और व्यक्तियों के लिए धर्म, अर्थ, काम—इस त्रिवर्ग के उपभोग में तथा उसकी व्यवस्था में किसी प्रकार की कठिनाई न पड़े तथा किसी प्रकार की बाधा न आये, इसके लिए राज्य था।[९५]

राज्य के इन्हीं उद्देश्यों के अनुसार राज्य के कार्य भी निश्चित किये गये थे। यदि दूसरे उद्देश्य का पहले विचार करें तो उसके अनुसार १—कार्य है वर्णाश्रम-धर्म के पालन की ओर ध्यान देना तथा देखना कि सब लोग स्वधर्म का पालन करें, क्योंकि यह स्वधर्म स्वर्ग और मोक्ष का देनेवाला है। इसी उद्देश्य के अन्तर्गत (साथ-ही-साथ प्रथम उद्देश्य के भी अन्तर्गत) २—एक अन्य कार्य है, जिसका पीछे बहुत विस्तृत वर्णन किया गया है—अधर्मियों को दण्ड देना तथा धार्मिकों का संरक्षण करना। इसके अन्तर्गत ३—यह भी कार्य है कि समाज-व्यवस्था के पृथक् पृथक् नियमों का राज्य पालन करवाये तथा जो उनका पालन न करें उन्हें राज्य दण्ड दे। इस उद्देश्य के अन्तर्गत ४—कार्य है कि समाज-नियमों का उचित अर्थ करवा कर उनके अनुसार धर्म-निर्णय करना तथा प्रायश्चित्त का विधान बताना और यदि व्यक्ति प्रायश्चित्त न करे तो उसको दण्ड देना। ५—पाँचवाँ काम इस व्यवस्था के अन्तर्गत है व्यवहार के नियमों के अनुसार न्याय करना। इस उद्देश्य के अन्तर्गत सबसे अन्तिम ६—कार्य है समाज के आध्यात्मिक जीवन में सहायक होना जिसमें मन्दिरों का निर्माण, उत्सवों का पालन, देवपूजा तथा धार्मिक दृष्टि से काम में आनेवाली वस्तुओं से कर न लेना भी सम्मिलित हैं।[९६]

राज्य के अन्य सब कार्य प्रथम उद्देश्य के अन्तर्गत सम्मिलित किये जा सकते हैं। इसमें सबसे प्रथम कार्य है नगर और देश की रक्षा-व्यवस्था।[९७] इसका सबसे विस्तृत वर्णन कौटिल्य ने किया है। गुप्तचरों के द्वारा परदेशियों, दुष्टों तथा शत्रुओं का भी ज्ञान रहना उचित है। साथ-ही-साथ नगर की व्यवस्था में अग्नि-रक्षा, स्वच्छता, चोरी और व्यभिचार की रोकथाम का भी वर्णन है। बाहर से आनेवाले सभी व्यक्तियों की सूचना भी नगर-अधिकारियों को होनी चाहिए। यदि कोई अत्यन्त व्यय करे, अनुचित कर्म करे अथवा यदि कोई चिकित्सक किसी का गुप्त उपचार करे तो इसकी सूचना भी नगर-अधिकारी को होनी चाहिए। अपराधों की सूचना न देनेवाले व्यक्तियों अथवा रक्षा न करनेवाले

रक्षकों को दण्ड देने का उल्लेख है। कौटिल्य ने इसके आगे अग्नि, बाढ़, व्याधि (संक्रामक रोग), दुर्भिक्ष, चूहे और हिंसक जन्तुओं से रक्षा के विविध उपाय बताये हैं तथा विष देनेवालों, चोर, व्यभिचारी, लुटेरे, हत्यारे, बलात्कार करनेवाले तथा अन्य अपराधियों से रक्षा कर उन्हें दण्ड देने का विधान बताया है।[९८] मनुस्मृति में तथा शान्तिपर्व में रक्षा की यह व्यवस्था अति संक्षेप में बतायी गयी है तथा शुक्रनीति और आपस्तम्ब में भी इस प्रकार की रक्षा का वर्णन है।[९९] रक्षा की उपरोक्त व्यवस्था में एक प्रमुख कार्य यह है कि राज्य द्वारा प्रजा की धन-सम्पत्ति की सुरक्षा भी होनी चाहिए। यदि ऐसी धारणा बनी कि व्यक्ति के पास जो कुछ है यह अरक्षित है और वह उसका उपभोग न कर सकेगा तो फिर धनोत्पादन का सब भाव ही नष्ट हो जायेगा और समाज की भौतिक व आर्थिक उन्नति न हो सकेगी। राज्य की उत्पत्ति के वर्णन में धर्मग्रन्थों में बताया गया है कि अराजक अवस्था में कोई यह नहीं कह सकता कि यह वस्तु मेरी है और राज्य के होने से व्यक्ति इस प्रकार की सुरक्षा अनुभव करता है। इसलिए यह कड़ा नियम है कि यदि राज्य द्वारा चोरी का पता न लगाया जा सके तो चोरी गया हुआ (तथा लुटा हुआ) सब धन राज्य द्वारा वापिस होना चाहिए। परन्तु राज्य-अधिकारी भी प्रजा की वस्तुओं की रक्षा में सतर्क रहे, इसलिए यह भी कहा गया है कि राज्य वह धन सम्बन्धित अधिकारियों से ले ले।[१००] नाविक विभाग के अध्यक्ष को भी आज्ञा है कि यदि जीर्ण नौका तथा अरक्षित नौका के कारण किसी की हानि हो जाये तो नौकाध्यक्ष उसे अपने पास से दे।[१०१] समाज की चोरों और लुटेरों से सुरक्षा की इससे अधिक अच्छी पद्धति नहीं रखी जा सकती। चोरों से समाज की रक्षा का उल्लेख बहुत विस्तार के साथ मनुस्मृति में किया गया है तथा कौटिलीय और शुक्रनीति में भी किया गया है।[१०२] इस आर्थिक रक्षा में चोरी के उपरोक्त विधान के अतिरिक्त धनिकों की तथा व्यापारियों की अर्थात् वैश्यों की रक्षा भी बतायी गयी है क्योंकि उन्हीं के ऊपर सम्पूर्ण समाज की समृद्धि निर्भर करती है।[१०३] शुक्र ने कारीगरों की तथा वस्तु निर्माण करनेवाले धातु-यन्त्रों की भी सुरक्षा का आग्रह किया है।[१०४] व्यापारियों की रक्षा के ही लिए यह नियम है कि राजा वस्तु का मूल्य, व्यय तथा मार्ग का कष्ट आदि सब देख कर व्यापारियों पर कर लगाये और ऐसा न करे कि उससे व्यापारी नष्ट हो जाये।[१०५] व्यापारियों की ही रक्षा से संलग्न है मार्ग की रक्षा जिसमें जल-मार्ग की भी रक्षा का वर्णन है।[१०६] मार्गों को रोक लेने तथा उन्हें खेती आदि के लिए नष्ट करने पर भी दण्ड का विधान है।[१०७] मार्गों पर सेतु बनाने का भी आग्रह है।[१०८] आर्थिक सुरक्षा के अतिरिक्त दूसरी महत्त्वपूर्ण रक्षा है समाज की कण्टकों से रक्षा।[१०९]

कण्टकों के रूप में प्रमुख रीति से व्यापारी, कारीगर, प्रशासकीय कर्मचारी, चोर, लुटेरे, व्यभिचारी एवं हत्यारे आदि गिने जाते हैं। इनके अतिरिक्त कौटिल्य ने इसमें अग्नि, बाढ़, व्याधि, दुर्भिक्ष आदि को भी सम्मिलित किया है। चोर, लुटेरों तथा व्याधि, दुर्भिक्ष आदि के रक्षा के विषय में तो पहले ही बता दिया गया है। व्यापारियों से प्रजा की रक्षा के लिए यह नियम बनाये गये हैं कि राज्य द्वारा तौल और नाप के साधनों पर मुहर लगनी चाहिए तथा ऐसे मुहर लगे हुए बाट, गज आदि ही प्रयोग किये जाने चाहिए[११०] और इन साधनों की बीच-बीच में जाँच होती रहनी चाहिए, वस्तुओं में किसी प्रकार का मिश्रण न होना चाहिए[१११] तथा वस्तुओं के मूल्य सारी बातें देख कर राज्य को निश्चित कर देने चाहिए[११२] ताकि व्यापारीगण मनमाना मूल्य न ले सकें। इस पर भी यदि व्यापारी निश्चित मूल्य से अधिक लें अर्थात् मनमाना लाभ लें, तौल में घट-बढ़ करें, घटिया माल को बढ़ियाँ बता कर अथवा नकली को असली बता कर बेंचें, माल को बिकने से रोक कर बाद में बढ़े हुए मूल्य से बेचें, तौल में गड़बड़ करें अथवा अधिक लाभ लें और मिलावट करें तो उन्हें दण्ड होना चाहिए।[११३] कारीगरों के द्वारा भी जो बेईमानी होती है उसे भी रोकने का आग्रह है[११४] और कारीगरों की श्रेणी में कौटिल्य ने जुलाहा, धोबी, दर्जी सुनार, लुहार, वैद्य को सम्मिलित किया है। चरक तथा सुश्रुत[११५] का भी कहना है कि राज्य को चाहिए कि वह अयोग्य वैद्यों को काम न करने दे। सुरा पीनेवाले तथा गणिकाओं के ऊपर नियन्त्रण के भी नियम हैं जिससे वह दूसरों को कष्ट न दे सकें।[११६] सरकारी कर्मचारियों के विषय में याज्ञवल्क्य तथा अग्निपुराण[११७] का कहना है कि प्रजा की रक्षा विशेष रूप से सरकारी कर्मचारियों से होनी चाहिए जिनके लिए उन्होंने 'कायस्थ' शब्द का प्रयोग किया है। मनु ने भी ऐसा ही आग्रह किया है।[११८] शान्तिपर्व में दूषित कर्मचारियों से उत्पन्न होनेवाली हानि को बताने के लिए दो कथाएँ दी गयी हैं जिनमें बताया है कि यदि इन कर्मचारियों के कोई दोष बताये, इनकी बेईमानी को रोकने का तथा इन पर नियन्त्रण रखने का प्रयत्न करे तो ये उसे नष्ट करना चाहते हैं।[११९] कर्मचारियों का सबसे प्रमुख दोष है रिश्वत[१२०] जिससे वह प्रजा को पीड़ित करते हैं। इसलिए कौटिल्य ने इन सरकारी कर्मचारियों की गुप्तचरों द्वारा जाँच करने का ढङ्ग बताया है जिससे यह पता चले कि ये कर्मचारी रिश्वत लेते हैं अथवा नहीं।[१२१] बाद में कण्टक के रूप में अधिकारियों का वर्णन करते हुए[१२२] इनके विभिन्न अपराधों का जैसे गबन, जनता की वस्तु हड़प लेना, बलपूर्वक छीनना, स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार का वर्णन किया है। इसी अध्याय में न्यायशील के रूप में कार्य करनेवाले लोगों की

गड़बड़ियाँ भी बतायी गयी हैं।[123] कौटिल्य ने इस प्रकार का आग्रह किया है कि यदि लोग राजा को स्वयं नहीं देख पाते तो उसके निकटस्थ लोग (राज्य अधिकारी) प्रजा को कष्ट देते हैं।[124] रक्षा की ही दृष्टि से दीनों और दुर्बलों की रक्षा का आग्रह है।[125] राज्य का यह भी एक कार्य बतलाया गया है कि वह बालकों, स्त्रियों तथा अन्य अनाथों के धन की रक्षा करे और जो इनके धन को छीने, उन्हें दण्ड दे।[126] कौटिल्य ने[127] धन के अतिरिक्त इन लोगों की स्वयं की रक्षा का भी आग्रह किया है। रक्षा का एक अन्य कार्य है न्याय जिसके द्वारा व्यक्तियों के पारस्परिक सङ्घर्ष दूर होते हैं और उनकी अन्याय से तथा अन्य लोगों के आक्रमण से रक्षा होती है। सार्वजनिक जीवन की भी रक्षा का आग्रह है और इस दृष्टि से कहा गया है कि राज्य को यह देखना चाहिए कि सब लोग समाज-हित की दृष्टि से कार्य करें और जो समाज-विरोधी कार्य करें उन्हें दण्ड दिया जाये। कौटिलीय में यह नियम है कि पड़ोसी की आपत्ति आने पर सहायता न करनेवाले, बाँध अथवा पुल तोड़नेवाले, समाज-हित की कोई बात कहे तो उसे न माननेवाले, आग लगने पर न दौड़नेवाले, मार्गों को, सार्वजनिक स्थानों को मलोत्सर्ग आदि के द्वारा गन्दा करनेवाले लोगों को[128] दण्ड दिया जाये तथा जो धन का अपव्यय करते हैं अथवा कन्जूस हैं उनका धन राजा छीन ले।[129] इसके अतिरिक्त सार्वजनिक स्थान तथा देवालयों को नष्ट करने पर भी दण्ड बताया गया है और ऐसे चिकित्सकों पर भी दण्ड का आग्रह है जो गलत चिकित्सा करे। व्यभिचारी और चोर को न पकड़वानेवाले को दण्ड याज्ञवल्क्यस्मृति में भी बताया गया है।[130]

यह सब कार्य आन्तरिक सुरक्षा के हैं परन्तु आन्तरिक सुरक्षा के अतिरिक्त बाह्य आक्रमण से सुरक्षा का भी कार्य राज्य का है। भारतीय राज्य-व्यवस्था में इसे नकारात्मक रूप में बाह्य आक्रमण से सुरक्षा न कह कर शत्रु पर विजय पाने का कार्य कहा गया है[131] और वह इसलिए कि उन्होंने राजा के सामने वीरता का, युद्ध में विजयी होने का तथा सार्वभौम साम्राज्य का आदर्श उपस्थित किया है[132] यद्यपि राजा को क्रोध करना मना किया गया है परन्तु शत्रु के साथ तो क्रोध ही उचित बताया है।[133]

राज्य के इस कार्य को भारतीय राजनीति-ग्रन्थों ने इतना महत्त्वपूर्ण समझा है और कहा है कि राज्य जो कर प्राप्त करता है वह प्रजा की रक्षा के बदले में है तथा यदि वह कर लेकर भी राजा रक्षा न करे तो वह चोर है।[134] इसके अतिरिक्त यह भी कहा है कि रक्षा करने पर राजा को प्रजा के पुण्य का अंश प्राप्त होता है तथा रक्षा न करने पर राजा प्रजा के पाप का भागी होता है।[135] यहाँ जब 'रक्षा' शब्द का प्रयोग किया गया है तो उपरोक्त सभी अर्थों

में रक्षा करने का आग्रह है। राज्य के रक्षा के कार्य को यज्ञ भी बताया गया है[१३६] जिसे जीवन-पर्यन्त करना चाहिए तथा यह भी कहा गया है कि रक्षा न करनेवाले राजा का नाश हो जाता है।[१३७]

जैसा कि बताया गया है, रक्षण के कार्य के ही साथ राज्य का उद्देश्य प्रजा-पालन का भी है। प्रजापालन करने के कारण राजा को प्रजा का पिता बताया गया है अर्थात् उसे चिन्तापूर्वक और कष्ट सह कर भी प्रजा का संवर्धन और पोषण कर प्रजा के दुःखों को इस प्रकार दूर करना चाहिए जिस प्रकार पिता पुत्रों के लिए करता है।[१३८] प्रजापालन के कार्यों में सबसे प्रथम है नगर-निर्माण का कार्य।[१३९] कई स्थानों पर तो इसका संक्षेप में उल्लेख किया ही गया है, विस्तार से भी नगर-निर्माण का वर्णन कई स्थानों पर बताया गया है जिसमें कि बाजार, विभिन्न जातियों के घर, राज्य-कार्यालय, सुरक्षा के साधन आदि का उल्लेख है। नगर-निर्माण ही नहीं, बाजार, जलाशय, मार्ग, पुल आदि के निर्माण का और वृक्षारोपण का अथवा इनके निर्माण में सहायता देने का भी काम राज्य का है।[१४०] नारदपुराण में राज्य द्वारा जलाशय निर्माण करने की एक बहुत ही रुचिकर कथा दी गयी है[१४१] जिसमें बताया है कि एक राजा अपने मन्त्री के साथ मृगया के निमित्त गया। उसे एक स्थान पर बहुत प्यास लगी। मन्त्री ने बहुत खोज के बाद पानी का एक गढ़ा ढूँढ कर उसमें से राजा को पानी पिलाया। फिर मन्त्री ने राजा की अनुमति लेकर उस स्थान पर एक बड़ा पक्का तालाब बनवाया, जिस पुण्य के कारण राजा तथा मन्त्री दोनों स्वर्ग गये। समाज की विभिन्न आपत्तियों से रक्षा के लिए (जैसे दुर्भिक्ष, बाह्य आक्रमण आदि के लिए) अन्न तथा अन्य वस्तुओं के संग्रह का भी कार्य राज्य का है।[१४२] संग्रह के योग्य वस्तुओं में कौटिल्य ने धान्य, स्नेह (तेल, घी आदि), क्षार (गुड़, राब आदि), लवण, शुक्त (शहद, रस आदि), शाक, कोयले, लकड़ी, पशु आदि बताये हैं तथा शान्तिपर्व में कास, लोहा, भूसी, कोयला, सींग, हड्डी, बीस, मज्जा, स्नेह, शुक्त, औषधि, सन, राल, रस, धान्य, आयुध, बाण, चमड़ा, तांत, बेंत, मूंज, रस्सी और जल का उल्लेख है। ऐसी ही सूचियाँ मनुस्मृति तथा शुक्रनीति की हैं। इस निर्माण-कार्य के अतिरिक्त समाज के पोषण का भी कार्य है। कामन्दक का कहना है कि राजा को सबकी जीविका का विचार करना चाहिए। कौटिल्य ने कहा है कि राजा दुर्भिक्ष और व्याधि देश में न होने दे और शुक्र का कहना है कि धनहीन प्रजा की राजा रक्षा करे। शान्तिपर्व में कहा है कि जिनका भीख माँगने का कार्य नहीं है (ब्रह्मचारी, संन्यासी आदि छोड़ कर) वे यदि आपत्ति के समय याचना करें तो भय अथवा दया से नहीं परन्तु धर्म समझ कर उन्हें अन्न देना चाहिए

और यदि देश की प्रजा भिक्षा माँगने लगती है तो राजा का नाश हो जाता है।[143] इस कारण यह आग्रह है कि राजा दूसरों के भोजन की चिन्ता किये बिना भोजन न करे अर्थात् विभाग कर स्वयं भोजन करे[144] तथा सत्पुरुषों की आजीविका की राज्य व्यवस्था करे। राजा को विभिन्न देवताओं का जो अंश बताया गया है, उसमें भी इस बात का उल्लेख है तथा इसी दृष्टि से राजा की अग्नि और वरुण से तुलना भी की गयी है कि राजा अग्नि के समान योग्य वितरण करनेवाला तथा वरुण के समान अपने धन से समाज का पालन करनेवाला है। समाज में लोग धन का ठीक ढङ्ग से ही प्रयोग करें, यह देखना भी राज्य का कार्य है। इसलिए असज्जनों से धन छीन लेना चाहिए और वह धन सज्जनों को देना चाहिए तथा जो कञ्जूस हैं अथवा अपव्यय करते हैं उनका धन छीन लेना चाहिए।[145] राज्य को निर्बलों की सहायता करनी चाहिए इसलिए बालक, वृद्ध, रोगी, निर्धन अनाथ तथा स्त्रियों की सहायता करने का राजा से आग्रह है। सभापर्व में अन्धे, बहरे, लँगड़े आदि लोगों का भी, राजा के द्वारा पिता के समान पालन करने का आग्रह किया गया है।[146] कौटिल्य ने[147] धर्माधिकारियों से कहा है कि वे ऊपर बताये गये लोगों के पास जा कर उनके कार्यों की देखभाल करें। इनमें से स्त्रियों के पोषण के लिए कौटिल्य ने व्यवस्था भी की है कि विधवा, अङ्गहीन, कन्या, दासियों आदि को राज्य की ओर से कार्य दिया जाये और जो घर से बाहर नहीं निकल सकतीं उन्हें घर पर काम भिजवाया जाये।[148] शिक्षा में सहायता करना भी राज्य का कर्तव्य है। गौतम ने कहा है कि वेदपाठी ब्राह्मण तथा ब्रह्मचारी की व्यवस्था राज्य करे; शुक्रनीति में कहा है कि राजा इस प्रकार कार्य करे जिससे विद्या और कला की उन्नति हो तथा राजा से विद्वानों का सत्कार करने का भी आग्रह है।[149] ब्राह्मणों को (जिसके अन्तर्गत शुक्र ने तपस्वियों, श्रुतिस्मृति-विशारद, पौराणिक, शास्त्रों के ज्ञाता, ज्योतिषी, ऋत्विज, आयुर्वेद-ज्ञाता, कर्मकाण्ड के ज्ञाता, तन्त्रों के ज्ञाता तथा अन्य गुणवान् श्रेष्ठ, बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय ब्राह्मणों को सम्मिलित किया है) दान देने का जो आग्रह है वह भी एक प्रकार से शिक्षा की ही सहायता है। ब्राह्मणों के अतिरिक्त तपस्वियों के भी पोषण का कार्य राज्य का है जिसका उल्लेख शुक्रनीति, अग्निपुराण तथा शान्तिपर्व में है, विशेषता शान्तिपर्व में इस बात को विशेष आग्रह के साथ कहा गया है।[150]

समाज-जीवन की सहायता का यह कार्य तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक कि आर्थिक जीवन की पूर्ण सुव्यवस्था न हो। इसलिए राज्य को समाज के जीवन में पूर्ण सहयोग करना आवश्यक है। राज्य के चार कार्यों में इसका उल्लेख है कि रक्षित किये हुए राज्य को वार्ता (व्यापार आदि के) द्वारा

राजा उन्नति करे।[151] वार्ता का महत्त्व नीतिशास्त्र के सभी ग्रन्थों में वर्णित है। कौटिल्य ने इसे उपकारी विद्या बताया है[152] तथा कहा है कि इसके आधार पर कोश और दण्ड (सेना) निर्भर होने के कारण इससे अपने राज्य को तथा परराज्यों को वश में रखा जा सकता है। शुक्र तथा कामन्दक का कहना है[153] कि जो राजा वार्ता के आधार पर सम्पन्न है, उसे वृत्ति का (साधन का) भय नहीं होता। शान्तिपर्व में भी राजा को वार्ता की उन्नति का आदेश देते हुए कहा है कि यदि इसके ऊपर सङ्कट पड़ता है तो राजा की निन्दा होती है।[154] वार्ता के अन्तर्गत कृषि, वाणिज्य तथा पशुपालन आता है। पशुओं के लिए राज्य द्वारा चारागाह की व्यवस्था होनी चाहिए।[155] पशु-रक्षा के विविध नियम भी व्यवहार के 'स्वामिपाल'-अंश में बताये गये हैं।[156] कृषि के विषय में सिंचाई की दृष्टि से जलाशय बनवाने का उल्लेख तो ऊपर ही किया गया है किन्तु सभापर्व में कृषि के लिए सिंचाई के साधन बनवाने का स्पष्ट उल्लेख है जहाँ कहा गया है कि "राजा को देश के विभिन्न मार्गों में जल से भरे तालाब बनवाने चाहिए और यह देखना चाहिए कि कृषि केवल दैव पर ही निर्भर न रहे।"[157] सिंचाई के अतिरिक्त भी कृषि की उन्नति कराने का आग्रह किया गया है।[158] शुक्रनीति में तथा मनुस्मृति में[159] खेती की रक्षा का आग्रह है और पशुओं से खेती की रक्षा के नियम बताये गये हैं।[160] यह भी नियम हैं कि यदि कोई खेती न करे तो राज्य उसकी भूमि अन्य को छीन कर दे दे अथवा हर्जाना ले ले, कृषकों की धान्य, पशु, धन से सहायता करे[161] और राजा किसानों पर कर आदि का अधिक बोझा न डाले तथा खेती की चोर, हिंसक जन्तु, व्याधि, पशुओं से रक्षा करे।[162] जो समय पर बीज न बोये उसे दण्ड दिया जाये। व्यापार के सम्बन्ध में पहले ही बता दिया गया है कि व्यापारियों की रक्षा तथा व्यापारियों से रक्षा करने का राज्य से आग्रह है। व्यापारियों की रक्षा के अतिरिक्त व्यापार की वृद्धि के लिए व्यापारियों की सहायता का भी राज्य से आग्रह है।[163] वस्तुओं के आयात-निर्यात पर राज्य द्वारा आवश्यकतानुसार नियन्त्रण लगाने का नियम है और कौटिल्य ने शस्त्र, वर्म, कवच, लौह, रथ, रत्न, धान्य, पशु आदि को ऐसी वस्तुओं की सूची में रखा है। कौटिल्य और मनु ने यह भी कहा है कि यदि कोई व्यक्ति मना की हुई वस्तु का निर्यात करे तो उसका सब माल छीन लिया जाये।[164] शुक्र का भी कहना है कि कुछ विशेष वस्तुओं का विक्रय राज्य की आज्ञा के बिना नहीं होना चाहिए यथा पशु, मनुष्य, धन, विष और मादक द्रव्य।[165] खान की व्यवस्था करना भी राज्य का कार्य है, क्योंकि उस पर राज्य का ही अधिकार है।[166] परन्तु राज्य द्वारा खानों के स्वयं सञ्चालन का उल्लेख नहीं

है अपितु यही बताया गया है कि राज्य उनके सञ्चालन का कार्य दूसरों को दे कर उसमें से कुछ भाग ले ले।[१६७] इसलिए यह भी कहा है कि यदि बिना आज्ञा कोई खान में से द्रव्य ले तो राज्य द्वारा उसे दण्ड दिया जाये।[१६८] खानों के अतिरिक्त वनों की भी राज्य द्वारा व्यवस्था का कौटिल्य ने उल्लेख किया है[१६९] तथा यह कहा है कि खेती के अयोग्य भूमि में वन छोड़ दिया जाये जिसमें वृक्ष और पशु रहें, मृगया की व्यवस्था हो, हाथी रह सकें तथा यज्ञ करनेवाले और तपस्वियों के लिए तपोवन हों।[१७०] आर्थिक व्यवस्था के नियमन के लिए ऋण लेने, गिरवी अथवा धरोहर रखने, साझेदारी में व्यापार करने तथा वेतन लेने-देने पर भी राज्य का इस प्रकार नियन्त्रण बताया है जिसमें कोई गड़बड़ी न करे।[१७१] समाज की आर्थिक व्यवस्था का जो सबसे अन्तिम कार्य राज्य के पास है, वह है सिक्के बनाने का। कौटिल्य ने नियम बताया है कि "लक्षणाध्यक्ष (सिक्के बनवानेवाला अधिकारी) चार माशा ताँबा, एक माशा तीक्ष्ण त्रपु, सीसा अथवा अञ्जन और शेष चाँदी मिला कर पण बनवाये, तथा अर्धपण, चौथाई पण और १/८ पण भी बनवाये। छोटे व्यवहार के लिए ताँबे के मापक, अर्धमापक, कांकणी और अर्धकांकड़ी बनवाये। वह इन पणों को व्यवहार में डलवा दे अथवा कोश में भेज दे। सौ पण पर आठ पण रुपिक, सौ पर पांच व्याजी तथा सौ पर आठ पारीक्षिक राज्य को मिलनेवाले भाग हैं। आगे यह कहा है कि जो चलने योग्य पणों को न चलने दे तथा न चलनेवालों (जाली) को चलाये, उन पर १२ पण दण्ड हो अथवा यदि कोई जाली सिक्के बनाये, चलाये अथवा सरकारी कोश में दे उसे वध-दण्ड दिया जाये।"[१७२] मुद्रा को बनाने का यह नियम शुक्रनीति में भी है।[१७३]

राज्य के इन सभी कार्यों को संक्षेप में राज्य-व्यवस्था का वर्णन करनेवाले ग्रन्थों ने इस ढङ्ग से कहा है कि "जो प्राप्त नहीं है उसकी राजा इच्छा करे (विजय), जो प्राप्त है उसकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा करे (संरक्षण), जो है उसकी वृद्धि करे (आर्थिक जीवन की उन्नति के कार्य) और जो बढ़ा हुआ है उसे योग्य पात्रों में वितरण करे (प्रजापालन के कार्य)।"[१७४] इस व्यवस्था के अन्दर राज्य के समस्त कार्य आ जाते हैं। संक्षेप में ऐसा कहा जा सकता है कि समाज की आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति में सहायता देना तथा यह उन्नति ठीक प्रकार से हो, इसकी चिन्ता करना तथा इसके लिए प्रयत्न करना राज्य का कार्य बताया गया है। पृथु की कथा जो विभिन्न स्थानों पर दी हुई है,[१७५] उससे भी यही बात निष्पन्न होती है। उसमें यही बताया है कि आध्यात्मिक उन्नति के और आध्यात्मिक उन्नति करनेवाली समाज-व्यवस्था की स्थापना के लिए

ही वेन को मार कर पृथु को ऋषियों ने उत्पन्न किया। इसके साथ-ही-साथ यह भी बताया है कि पृथु ने पृथिवी को गौ बना कर उसके अन्दर से अन्न आदि सब भोग्य पदार्थ भी प्राप्त किये तथा भौतिक दृष्टि से भी प्रजा को सुखी किया। इस प्रकार पृथु के श्रेष्ठ राज्य में समाज की आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति होने का वर्णन है। राज्य के इस आध्यात्मिक और भौतिक स्वरूप को शान्ति-पर्व में भी स्पष्ट किया है कि "कृषि, गोरक्षा (पशुपालन) और वाणिज्य—यह इस लोक के जीवन के लिए है तथा त्रयी विद्या जो मनुष्यों को सुख देती है, परलोक के लिए हैं। इनके ठीक व्यवहार में जो दुष्ट बाधा डालें वे दस्यु हैं और उनके नाश के लिए ब्रह्मा ने क्षत्रिय (राज्य) को उत्पन्न किया है।" अग्निपुराण में श्रेष्ठ राज्य (राम-राज्य) के वर्णन में बताया है कि ऐसे राज्य में समस्त संसार धर्मपूर्ण रहता है तथा पृथिवी अन्न से भरी रहती है और राजा दुष्ट-निग्रहण कर धर्म और काम की उन्नति करता है। कौटिल्य ने भी जहाँ राजा के कार्य का वर्णन किया है वहाँ बताया है[१७६] कि अनुशासन से लोगों को स्वधर्म में स्थापित करने का तथा अर्थ-उत्पादन से लोगों की वृत्ति की व्यवस्था करने का कार्य राजा का है। ऊपर के राज्य के कार्य के वर्णन से भी यह स्पष्ट है कि समाज की आध्यात्मिक तथा भौतिक उन्नति में सहायता देनेवाले सब कार्य राज्य के पास थे।

राज्य के जो कार्य ऊपर बताये गये हैं उनमें ऐसे सब कार्य तो सम्मिलित हैं ही जिन्हें वर्तमानकाल में राज्य के लिए अनिवार्य बताया जाता है (बाह्य सुरक्षा, आन्तरिक व्यवस्था, न्याय आदि) परन्तु वर्तमानकाल में बहुत से वैकल्पिक कहे जानेवाले कार्य भी सम्मिलित हैं। इतने कार्य होने के पश्चात् भी समाजवादी अथवा साम्यवादी दृष्टिकोण से राज्य के पास जितने कार्य होने चाहिए उतना विस्तृत कार्यक्षेत्र भारतीय नियामकों ने राज्य का नहीं रखा था। फिर भी भारतीय विचारकों ने राज्य के कार्य में 'अनिवार्य' और 'वैकल्पिक' ऐसा कोई भेद नहीं माना क्योंकि उनके अनुसार तो उनके द्वारा बताये गये सभी कार्य उनकी निर्मित समाज-व्यवस्था की दृष्टि से राज्य के लिए अनिवार्य ही थे तथा उनके अनुसार राज्य के पास इससे अधिक कोई काम होना भी उचित नहीं था। यद्यपि राज्य के पास बहुत व्यापक कार्यक्षेत्र था परन्तु, फिर भी, जैसा बताया गया है, ऐसे बहुत-से महत्त्वपूर्ण कार्य थे जो राज्य के पास नहीं थे। समाज-व्यवस्था के नियम (कानून) बनाने का अधिकार राज्य को नहीं था जैसा कि वर्तमानकाल के राज्यों के पास दिखायी देता है, क्योंकि पूर्व-निर्मित समाज-व्यवस्था थी ही और राजा स्वयं उसका एक अङ्ग-मात्र था तथा उसके आधीन था। शिक्षा की व्यवस्था

करने का भी कार्य अथवा उस पर नियन्त्रण करने का अधिकार राज्य के पास नहीं था क्योंकि उसका पूरा अधिकार ब्राह्मणों के हाथ में था जिनको राजा के ऊपर श्रेष्ठ स्थान दिया गया था।[१७७] इसके अतिरिक्त राज्य को धन के उत्पादन और वितरण का भी कार्य नहीं था अपितु इतना ही कार्य था कि राज्य इस बात का ध्यान रखे कि समाज का उत्पादन और वितरण ठीक प्रकार से हो। वितरण की दृष्टि से इतना अवश्य कहा गया है कि राज्य असज्जनों से धन ले कर सज्जनों को दे।[१७८] कौटिल्य ने कहा है[१७९] कि "राज्य का अधिकारी मूलहर, तादात्विक और कदर्य को नियन्त्रण में रखे। जो पिता-पितामह के धन का अपव्यय करता है वह मूलहर है, जो व्यक्ति जो कुछ पैदा करता है उसे स्वयं ही खा लेता है, वह तादात्विक है और जो भृत्यों को तथा स्वयं को पीड़ा दे कर धन-संग्रह करता है, वह कदर्य (कन्जूस) है। इसलिए इनसे इनका धन ले लेना चाहिए।" परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि राज्य उत्पादन और वितरण का कार्य अपने हाथ में ले ले क्योंकि यह तो उस विशेष-स्थिति के लिए ही व्यवस्था है जब कि लोग धन के ठीक उपभोग में बाधा डालते हैं। यद्यपि खानों पर राज्य का अधिकार है फिर भी उनके उत्पादन का कार्य व्यक्तियों को ही सौंपने का वर्णन आया है। यही वनों के सम्बन्ध में भी है। फिर, कृषि अथवा अन्य वस्तुओं का उत्पादन अथवा व्यापार का कार्य राज्य के पास होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अतिरिक्त समाज के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करने का राज्य को कोई अधिकार नहीं दिया गया जब तक कि उसके कारण समाज-जीवन में कोई कष्ट अथवा बाधा अथवा अव्यवस्था न उत्पन्न होती हो अथवा जब तक उसके द्वारा समाज के नियमों का, जो जहाँ प्रचलित हैं, चाहे वह स्थानीय प्रथाएँ हों, चाहे वह धर्मशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था हो, भङ्ग न होता हो।

राज्य के ऊपरोक्त कार्यों का विश्लेषण करने पर न तो उन्हें व्यक्तिवादी ही कहा जा सकता है और न समाजवादी ही। यद्यपि व्यक्ति को अपना जीवन और व्यवसाय अपनी इच्छानुसार चलाने की पूरी स्वतन्त्रता दी गयी थी और साधारणतया राज्य को स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं था जैसा कि व्यक्तिवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत मान्य है, परन्तु समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्तिगत कर्मों पर इतना नियन्त्रण अवश्य रखा गया जिस नियन्त्रण के द्वारा समाज को होनेवाली तनिक-सी हानि भी रोकी जा सके (देखिए, खेती न करने पर दण्ड)। व्यक्तिवादी सिद्धान्तों के अनुकूल राज्य के पास बाह्य आक्रमण से रक्षा का, अन्दर के चोर-लुटेरों आदि से रक्षा का तथा न्याय का

कार्य तो दिया ही गया था, परन्तु समाजवादी सिद्धान्त के अनुकूल समाज-व्यवस्था के नियमों को पालन कराने का, नगरों, बाजारों के निर्माण का, समाज-हित के लिए आवश्यक वस्तुओं के संग्रह का, सार्वजनिक तथा सामाजिक जीवन की सुरक्षा का, सब लोगों की ठीक से आजीविका की व्यवस्था करने का तथा दुर्बलों के पोषण का कार्य भी राज्य के पास था। आर्थिक जीवन की दृष्टि से भी व्यापार के ऊपर पूर्ण नियन्त्रण रखने का भी, जिसमें आयात-निर्यात, वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण तथा तौल-बाँट के माप निश्चित करना आदि भी सम्मिलित हैं, खानों, वनों की व्यवस्था करने का तथा पशुपालन और रक्षण का कार्य भी राज्य को दिया गया था। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना ग़लत होगा कि भारतीय व्यवस्था में राज्य को समाजवादी स्वरूप दिया गया था। इसके विपरीत अर्थ के उत्पादन और वितरण का, समाज की व्यवस्था करने का तथा सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन पर नियन्त्रण करने का कार्य राज्य के पास नहीं था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि समाज-जीवन और समाज-व्यवस्था के (जिसमें आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन भी सम्मिलित हैं) संरक्षण का और उस समाज-जीवन में सहायता देने का कार्य तो राज्य के पास अवश्य था, परन्तु उस व्यवस्था को स्वयं निर्माण करने का अथवा उस सम्पूर्ण व्यवस्था को अपने हाथ में ले कर चलाने का कार्य राज्य के पास नहीं था। व्यवस्था बनी हुई थी, उसमें राज्य को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं था। उस व्यवस्था में कहीं त्रुटि, बाधा अथवा कठिनाई न आये, इतना-मात्र देखना राज्य का कार्य था। अतः भारतीय व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य के कार्य व्यक्तिवादी कार्यों की सीमा से बहुत आगे बढ़े हुए थे (जितना जन-कल्याण के लिए आवश्यक था) परन्तु समाजवादी कार्यों की तुलना में बहुत कम थे। अतः यही कहना उपयुक्त है कि भारतीय विचारकों ने समाज-हित का ध्यान रख कर राज्य के लिए जितने कार्य उचित और आवश्यक समझे वे उसे सौंपे।

राज्य के इन कार्यों के आधार पर व्यक्ति और राज्य का भारतीय समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत क्या सम्बन्ध था, यह भी समझा जा सकता है। व्यक्ति को अपना आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने की अर्थात् पूजा करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी, उसमें राज्य का कोई हस्तक्षेप नहीं था। इसी प्रकार व्यक्ति को अपना निर्धारित व्यवसाय करने की पूरी स्वतन्त्रता थी जब तक वह समाज-विरोधी कृत्य न करे। व्यक्ति को अपनी जाति की अथवा प्रदेश की प्रथाएँ मानने का तथा उनके अनुसार चलने का पूरा अधिकार था अर्थात् उसे यह अधिकार था कि वह यह निर्धारित कर ले कि वह किन समाज-नियमों के आधार पर जीवन व्यतीत

करना चाहता है, यद्यपि यह आवश्यक था कि वह जिन समाज-नियमों को पालन करेगा अथवा स्वीकार करेगा उनके बन्धन के अन्दर फिर उसे रहना ही पड़ेगा—उससे वह मुक्त नहीं हो सकता। व्यक्ति को सङ्घटन निर्माण करने की भी भारतीय विचार में पूरी स्वतन्त्रता थी। श्रेणी, पूग, गण, सङ्घ, व्रात तथा पाखण्डी समुदायों का उल्लेख[१८०] स्थान-स्थान पर आता है और पाणिनि ने इनका अर्थ भी स्पष्ट किया है।[१८१] कौटिल्य ने यह भी कहा है कि सदुद्देश्य रखनेवाले समुदायों को छोड़ कर अन्य समुदायों को राज्य में नहीं रहने देना चाहिए,[१८२] जिसका अर्थ स्पष्ट है कि यदि कोई समुदाय दूषित कार्य के लिए नहीं है तो ऐसे समुदाय के बनने की तथा कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता मान्य है। सङ्घटन निर्माण करने के अतिरिक्त शिक्षा के ऊपर भी राज्य का नियन्त्रण नहीं था। इसका अर्थ है कि व्यक्ति को अपना निजी विचार अथवा मत निर्माण करने की तथा उसे व्यक्त करने की भी पूर्ण स्वतन्त्रता थी। व्यक्ति को व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का तथा उसके उपयोग का पूर्ण अधिकार था। राजा को यह आदेश था कि वह अन्याय-पूर्ण धन का अर्जन न करे और ऐसा न करे जिससे प्रजा को पीड़ा का अनुभव हो। मनुस्मृति में कहा है कि "क्षीण होने पर भी जो लेने योग्य नहीं है (जो अनीतिपूर्ण है) उसे राजा न ले" और यह भी कहा है कि राजा कर ठीक प्रकार से ले।[१८३] यह बात सभी ग्रन्थों में कहीं गयी है।[१८४] इसके अतिरिक्त करों की संख्या और मात्रा निश्चित कर दी गयी है और यह कहा गया है कि आपत्ति-काल छोड़ कर अन्य समय में इसके अतिरिक्त प्रजा से धन न लेना चाहिए।[१८५] अतः सब प्रकार से ध्यान रखा गया है कि व्यक्ति की सम्पत्ति राज्य के अत्याचार से सुरक्षित रहे जब तक कि व्यक्ति स्वयं ही असामाजिक व्यवहार न करने लगे। अतः राज्य के साथ व्यवहार में व्यक्ति को बहुत प्रकार की स्वतन्त्रताएँ थीं। व्यक्ति के ऊपर मूलतः तो समाज का और समाज-व्यवस्था का नियन्त्रण था। फिर भी, क्योंकि राज्य समाज की सुस्थिति में सहायक था इसलिए राज्य की दृष्टि से यह भी आवश्यक माना गया था कि व्यक्ति राज्य की आज्ञा का पालन करे। मनुस्मृति में कहा है कि[१८६] "राजा बालक हो तो भी उसकी अवमानना मनुष्य को नहीं करनी चाहिए क्योंकि वह नररूप में एक महान् देवता ही है। अग्नि तो, अपने समीप अनुचित रीति से आनेवाले एक अकेले व्यक्ति को ही जलाती है परन्तु राजा की कोपाग्नि कुल को धन और पशु सहित नष्ट कर देती है। कार्य को देख कर तथा शक्ति, देश और काल का विचार कर धर्म की सिद्धि के लिए राजा संसार में विभिन्न रूप धारण करता है (कभी उग्र, कभी मृदु)। जिसकी प्रसन्नता में लक्ष्मी, पराक्रम में विजय और क्रोध में मृत्यु है वह सर्वतेज-पूर्ण है। उससे जो अज्ञानवश द्वेष करता है वह निश्चित नष्ट हो जाता है क्योंकि

उसके शीघ्र विनाश के लिए राजा अपना मन लगाता है। इसलिए सज्जनों के संरक्षण तथा दुष्टों के विनाश के लिए जो नियम राजा लागू करे उनका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए।" मनुस्मृति के इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि व्यक्तियों को राज्य की अवज्ञा नहीं करनी चाहिए तथा राज्य के प्रति द्वेष नहीं रखना चाहिए क्योंकि राज्य धर्म की सिद्धि के लिए तथा शिष्टों के संरक्षण और दुष्टों के विनाश के लिए है। और इसीलिए राज्य के पास शक्ति भी है जिसके आधार पर विरोधियों को सम्पूर्ण रीति से नष्ट करने का उसके पास सामर्थ्य है। इसी आधार पर राजा को देवता भी माना गया है।[१८७] कौटिल्य ने भी बिलकुल यही कहा है कि राजा प्रजा का योगक्षेम वाहन करने के कारण तथा रक्षा करने के कारण देवतुल्य है, अतः उसकी अवमानना नहीं करनी चाहिए।[१८८] उपरोक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय विचार के अनुसार व्यक्ति के राज्य के प्रति कर्तव्य का आधार क्या है। संक्षेप में व्यक्ति को राज्य के प्रति अपने कर्तव्य का पालन इसलिए करना चाहिए कि—(१) राज्य व्यक्ति के जीवन, धन, सुखोपभोग तथा मर्यादा का संरक्षण करता है, (२) राज्य व्यक्ति को कष्ट देनेवाले सभी लोगों को (कण्टकों अथवा दुष्टों को) मर्यादा में रखता है, (३) राज्य प्रजा की आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति में सहायक होता है, (४) राज्य के पास शक्ति है जिसके आधार पर वह अपनी आज्ञा पालन करा सकता है।

व्यक्ति के अतिरिक्त यदि हम समूहों और राज्य के सम्बन्ध का विचार करें तो जैसा बताया गया है, समूहों के निर्माण होने की तथा उनके कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। आगे के समूहों के सम्बन्ध के वर्णन से भी यही सिद्ध होगा। यह समूह अपनी व्यवस्था के तथा पारस्परिक कार्य करने के नियम बना सकते थे 'जिन्हें समय' अथवा 'संविद्' कहा गया है।[१८९] राज्य का इन समूहों के सम्बन्ध में यह कर्तव्य था कि वह इन समूहों के संविधान का, समूहों के सदस्यों से पालन कराये और जो इन समूहों के नियमों को भङ्ग करे उन्हें दण्ड दे। मनु ने कहा है कि[१९०] "जो व्यक्ति प्रतिज्ञापूर्वक ग्राम और देश के समूहों के समय के अन्दर सम्मिलित होता है वह यदि लोभ से उसे छोड़ दे तो उसे राज्य से निकाल दिया जाये अथवा इस समय के भङ्ग करनेवाले व्यक्ति को उसके इस कार्य से रोक कर उसे चार सुवर्ण, छः निष्क अथवा सौ रजत का दण्ड दिया जाये।" याज्ञवल्क्य ने इस विषय में अधिक विस्तार के साथ नियम दिये हैं।[१९१] इन 'समयों' अर्थात् संविधानों के लिए यह आवश्यक था कि वह उस संस्था में भाग लेनेवाले सदस्यों के धर्म (सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के नियमों) के विरोध में न हों चाहे वह धर्मशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित धर्म हो अथवा वह प्रथाओं

पर आधारित धर्म हों। इन संस्थाओं की कार्यसमिति का भी निर्माण करने का उल्लेख है जिसके सदस्य धर्म के ज्ञाता, सच्चरित्र तथा लोभविहीन होने चाहिए ताकि उस संस्था के कार्य, धर्म के विपरीत हो ही न सके और संस्था सद्मार्गों पर सञ्चालित हो तथा उसको कोई हानि न पहुँचे। किसी भी प्रकार का सङ्गठन क्यों न हो परन्तु राज्य के लिए यह आवश्यक था कि वह उनके सदस्यों के साथ सम्मान के साथ व्यवहार करे, जो धन उनके निमित्त प्राप्त हो वह धन उन्हें दे तथा उन (समूहों) के धन की रक्षा करे। पाखण्डियों के (वेद-विरोधी लोगों के) समूहों को तथा उनके नियमों को भी मान्यता देना राज्य के लिए आवश्यक बताया है तथा उन पाखण्डी समूहों की रक्षा का आग्रह है। इससे स्पष्ट है कि सभी प्रकार के धार्मिक, सैनिक (गण), आर्थिक (श्रेणी, पूग) तथा सांस्कृतिक समूहों (निगम) को राज्य को मान्यता देना आवश्यक था। समूहों को मान्यता देने का यह नियम समाज-व्यवस्था अर्थात् धर्म का एक नियम था और इस कारण राज्य के अधिकार से यह बाहर था कि वह इस नियम का उल्लङ्घन कर किसी भी सङ्गठन को दबाये। इस प्रकार प्रत्येक समूह राज्य में स्वतन्त्र रीति से अपने निजी सङ्गठन और उसके नियम बनाने को स्वतन्त्र था (यदि वह नियम धर्म-विरोधी न हो) और राज्य को उस समूह के सङ्गठन, कार्य तथा नियमों में तब तक हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था जब तक कि वह सङ्गठन समाज-व्यवस्था विरोधी न हो। परन्तु यदि वह सङ्गठन समाज-विरोधी हो अथवा समाज-विरोधी कार्य करे तो राज्य को भी यह अधिकार था कि वह उन्हें समाप्त कर दे।[१९२] केवल इतना ही नियम नहीं था कि राज्य इन समूहों को मान्यता दे, बल्कि इन समूहों को, यदि राज्य चाहे इतना भी अधिकार दे सकता था कि ये अपने पारस्परिक संघर्षों को स्वयं निपटा दे।[१९३] शुक्र ने तो कहा है कि किसान, कारीगर, ब्याज लेनेवाले, नर्तक, व्यापारी अपने नियमों के अनुसार ही निर्णय करें। और क्योंकि अन्य इनका निर्णय नहीं कर सकते, अतः इनका निर्णय स्वयं इन्हीं से कराया जाये और यदि राजा को निर्णय करना पड़े तो वह इन लोगों को साथ ले कर निर्णय करे।[१९४]

नवाँ अध्याय

राज्य का प्रशासन (कार्यपालिका)

शासन-पद्धति (Form of Government)-सम्बन्धी विविध सिद्धान्तों का पिछले अध्याय में विवेचन करने के पश्चात् इस अध्याय में राज्य-व्यवस्था—कार्यपालिका, विधायक कार्य, न्यायपालिका—का वर्णन किया जायेगा, जिसे भारतीय सामाजिक और राजनैतिक विचारकों ने श्रेष्ठ समझा। इसमें सबसे पहली विचारणीय बात यह है कि उन्होंने कौन-सी राज्य-पद्धति श्रेष्ठ समझी ? सभी भारतीय ग्रन्थों में जिस राज्य-पद्धति का वर्णन मिलता है, वह राजतन्त्र है। अन्य राजनीतिक पद्धतियों का धर्मग्रन्थों और अर्थशास्त्रों में एक दो स्थानों के अतिरिक्त लगभग कोई उल्लेख नहीं मिलता। यह स्वाभाविक भी है। अन्तिम रूप में एक व्यक्ति द्वारा नियन्त्रित और सञ्चालित शासन सबसे अधिक सुयोजित, दक्ष (efficient) और एकात्मतापूर्ण होने के कारण, भारतीय विचारकों ने केवल वैसी ही शासन-पद्धति का प्रतिपादन और वर्णन किया है। यद्यपि यह कारण प्रच्छन्न रूप से भारतीय राज्य-व्यवस्था का वर्णन करनेवाले प्रत्येक ग्रन्थ के वर्णन में प्रारम्भ से अन्त तक सर्वत्र उपस्थित दिखायी देता है, फिर भी राजतन्त्र को महत्त्व और प्रधानता देने का केवल यही एक कारण नहीं है। भारतीय दार्शनिक विचारों पर आधारित समाजशास्त्र के भारतीय सिद्धान्तों के अनुसार भी जनतन्त्र एक श्रेष्ठ राज्य-पद्धति नहीं है। भारतीय शास्त्रों में अधिकारभेद का सिद्धान्त प्रमुख रीति से मान्य है और भारतीय समाज-व्यवस्था उसी अधिकार-भेद के सिद्धान्त पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार ऐसा माना गया है कि समाज के सभी व्यक्ति एक ही स्तर के नहीं होते, अपितु गुणों की दृष्टि से उनमें (सतोगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी) भेद होते हैं और इसलिए प्रत्येक का स्थान उसके गुणों पर अर्थात् उसकी आध्यात्मिक और

चारित्रिक उन्नति के स्तर पर निर्भर करता है। इसी सिद्धान्त को मान कर राज्य का काम रजोगुणी क्षत्रिय को सौंपा गया है—उन लोगों को जो वीर हैं क्रोधी हैं तथा धर्मरक्षण की भावना से परिपूर्ण हैं।[1] रज और तम के मिश्रण वैश्य को अथवा तमोगुणी शूद्र को, यहाँ तक कि सतोगुणी ब्राह्मण को भी राज्य के कार्य के अयोग्य समझा गया है और इन तीन वर्गों (वर्णों) को इनके गुण और योग्यता के आधार पर अन्य काम सौंपे गये हैं। अतः समाज के सभी व्यक्तियों को—चाहे उनमें कैसे ही गुण हों—राज्य-व्यवस्था के नियन्त्रण का (मतदान का) तथा उसको सञ्चालित करने का (राज्य के महत्त्वपूर्ण स्थानों पर निर्वाचित होने का) अधिकार देने का विचार भारतीय जीवन-सिद्धान्त के प्रतिकूल था। इसके विपरीत वर्तमान काल के जनतन्त्रों में किसी भी प्रकार का व्यक्ति जनता को (क्योंकि जनता शासन के गूढ़ रहस्यों को समझने में अक्षम रहती है) येन-केन प्रकारेण प्रसन्न कर, राज्य के उच्चतम पदों पर पहुँच सकता है और पहुँच जाता है। इसलिए इस प्रकार की जनतान्त्रिक कही जानेवाली राज्य-रचना भारतीय समाजशास्त्रियों को मान्य नहीं थी। केवल इतना ही नहीं था कि भारतीय राज्य-व्यवस्था का कार्य केवल क्षत्रियों को सौंपा गया हो, भारतीय समाज-शास्त्रियों ने इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित किया था कि शासन की सर्वोच्च सीढ़ी पर केवल एक ही व्यक्ति रहना चाहिए, यद्यपि, उन्होंने सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था तथा राज्य-व्यवस्था के ढाँचे में उस एक व्यक्ति को इस प्रकार जकड़ दिया था कि जहाँ तक सम्भव हो वह व्यक्ति पथभ्रष्ट न हो। इस व्यक्ति (राजा) के सम्बन्ध में उनकी ऐसी भी धारणा थी कि पूर्वजन्म के तप के कारण (गुणार्जन के प्रयत्न के परिणामस्वरूप) ही साधारणतया कोई व्यक्ति राजा होता है[2] अर्थात् गुण और कर्म के अनुसार साधारणतया वही व्यक्ति राजा हो सकता है जिसने पिछले जन्म में ऐसे कर्म किये हो और ऐसे गुण सम्पादन किये हो जिससे वह राजा होने की पात्रता रखे (जहाँ उपयुक्त समाज-व्यवस्था नहीं हैं वहाँ की बात ही भिन्न है)। इसी बात को विस्तार के साथ शान्तिपर्व में कहा गया है। युधिष्ठिर राजधर्म के वर्णन के प्रारम्भ में ही राजतन्त्र के विषय में अपनी शङ्का प्रकट करते हैं कि दूसरों के समान ही बुद्धि और इन्द्रिय, सुख और दुःख, हड्डी और मज्जा, मांस और रुधिर, श्वास और उच्छ्वास, जन्म और मरण अर्थात् दूसरों के ही समान सब गुण होने पर भी एक मनुष्य क्यों दूसरों के ऊपर प्रभुता चलाता है तथा एक शूरवीर, आर्य (श्रेष्ठ) पुरुषों से भरी हुई पृथिवी पर क्यों शासन करता है ? भीष्म सबसे प्रारम्भ में तो राज्य की आवश्यकता, उसका लाभ तथा उसकी उत्पत्ति की कथा एवं राज्य का महत्त्व प्रकट करने के लिए बताते हैं पर तत्पश्चात् राज्य के अन्दर एक व्यक्ति का ही शासन क्यों होता है, इसका

कारण बताते हुए कहते हैं कि श्रेष्ठ व्यक्ति जब गुण सम्पादन कर (तप कर) मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में जाता है तो वही व्यक्ति पुण्य क्षीण होने पर पृथिवी पर दण्डनीतिविशारद राजा के रूप में अवतरित होता है। इसी कारण उसमें सब कुछ अन्य मनुष्यों के समान होने पर भी जगत् उसकी आज्ञा मानता है।[3] इसका अर्थ यह कि जहाँ भारतीय विचारकों ने जनतन्त्र को भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों के विपरीत समझा, वहाँ एकतन्त्र को भी उन्होंने कर्मफल के भारतीय दार्शनिक सिद्धान्त के आधार पर ही उचित ठहराया। दूसरे शब्दों में, उन्होंने यह विचार किया कि पूर्व जन्म के गुण और कर्म के आधार पर साधारणतया उपयुक्त व्यक्ति ही राजा के रूप में जन्म लेगा। फिर भी, क्योंकि भारतीय विचारकों ने यह भी स्पष्ट रीति से समझ लिया था कि "यौवन, धन, सम्पत्ति, अविवेकता और प्रभुत्व में से एक ही अनर्थ करने के लिए पर्याप्त हैं और फिर जहाँ चारों हों वहाँ तो कहना ही क्या"[४]। इसलिए उन्होंने एकतन्त्र को उचित समझते हुए भी इस एकव्यक्ति (राजा) की शिक्षा, नियन्त्रण आदि की सम्पूर्ण व्यवस्था निर्माण करना आवश्यक समझा, जिससे कि वह एक व्यक्ति मन के संयम के द्वारा तथा वाह्य नियन्त्रण के द्वारा योग्य मार्ग पर बना रहे। इसलिए जब भारतीय विचारकों ने राजतन्त्र को एक श्रेष्ठ पद्धति माना तो उसे समाज और राज्य की अपनी समग्र व्यवस्था के अन्दर रख कर उसे स्वीकार किया, केवल एक पृथक् सिद्धान्त के रूप में नहीं। इस कारण भारतीय विचारकों द्वारा राजतन्त्र की इस मान्यता का सम्पूर्ण समाज और राज्य-व्यवस्था से पृथक् कर एक पृथक् सिद्धान्त के रूप में देखना ठीक नहीं है। सम्पूर्ण व्यवस्था के अनुकूल और उसके अन्तर्गत विचार करते हुए ही उसकी (राजतन्त्र की) मान्यता तथा इसका औचित्य और उसकी श्रेष्ठता समझी जा सकती है।

राजतन्त्र को मान्यता देने का एक और भी कारण था। भारतीय राजनीतिक अथवा सामाजिक विचारकों ने यह निश्चित समझ लिया था कि राज्य एक ऐसी वस्तु है जिस पर सत्ता प्राप्त करने का लालच बहुत बड़ा होता है। विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का उन्होंने जहाँ विश्लेषण किया है वहाँ उनका विचार बहुत स्पष्ट दिखायी देता है कि सत्ता की प्राप्ति के लिए, उसको बनाये रखने के लिए तथा उसकी अभिवृद्धि के लिए राज्य की लालसा रखनेवाले व्यक्तियों के द्वारा सब प्रकार के उचित-अनुचित प्रयत्न किये जा सकते हैं। इसलिए इस विषय में उन्होंने कोरा आदर्शवाद न मान कर व्यावहारिक तथ्य को स्वीकार करते हुए तदनुसार अपना सम्पूर्ण विचार किया। यह तथ्य उन्होंने इतने स्पष्ट रूप में समझा और प्रकट किया कि उनका विचार था कि यदि राज्य के आन्तरिक प्रशासन में भी वैसी ही सत्ता-प्राप्ति की प्रतियोगिता स्वीकार

की जाये (चाहे वह प्रतियोगिता किसी वर्ग के व्यक्तियों में हो जैसे अभिजात्यतन्त्र में अथवा चाहे सम्पूर्ण जनता में हो जैसे कि जनतन्त्र में) तो वह प्रतियोगिता राज्य-जीवन अतः समाज-जीवन के लिए हानिकारक होगी। इतना ही नहीं, वह राज्य और समाज को नष्ट करनेवाली होगी। जब विभिन्न राज्यकर्ताओं के बीच में अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए तथा उस सत्ता की अभिवृद्धि करने के लिए विभिन्न प्रकार के छल-छद्मपूर्ण (अनीतिपूर्ण) उपाय प्रयोग किये जाते हैं तो यह बात उन्हें स्पष्ट दिखायी दी कि आन्तरिक राज्य-शासन में भी सत्ता-प्राप्ति के लिए प्रतियोगिता होने पर सत्ता ग्रहण करनेवाले विभिन्न व्यक्तियों और दलों द्वारा अनैतिक और पतित साधनों का प्रयोग अवश्य होगा। इसलिए इसका यह परिणाम समझ कर, कि सम्पूर्ण समाज को इस प्रकार की प्रतियोगिता में डालने पर सर्वसाधारण समाज का धीरे-धीरे चरित्र की दृष्टि से पतन होगा, सभी लोगों में विभिन्न प्रकार के छोटे अथवा बड़े अधिकार प्राप्ति की लालसा और प्रतियोगिता जागृत होगी, सभी लोग भौतिक सुखोपभोग और भौतिक सत्ता-प्राप्ति के प्रयत्न और संघर्ष में व्यस्त हो जायेंगे, और फलस्वरूप सर्वसाधारण मनुष्य अपने लक्ष्य अर्थात् आध्यात्मिक उन्नति की ओर से हट जायेगा—उन्होंने सम्पूर्ण समाज को राज्य-प्राप्ति का अधिकार देना अर्थात् जनतन्त्र को मान्यता देना लाभप्रद नहीं समझा। इसलिए भौतिक महत्त्वाकांक्षा का और भौतिक सत्ता-प्राप्ति की प्रतियोगिता का क्षेत्र थोड़े-से-थोड़े लोगों तक (विभिन्न राज्यों के राजाओं तक) ही सीमित कर भारतीय समाज-निर्माताओं ने सर्वसाधारण समाज को उस प्रतियोगिता में पड़ने से रोक दिया। इसके अतिरिक्त यह भी उन्हें स्वाभाविक लगा कि इस प्रकार की सत्ता-प्राप्ति की प्रतियोगिता में यदि छल-छद्मपूर्ण उपायों का प्रयोग हुआ—जो अवश्य होगा ही—तो ऐसी अवस्था में यह निश्चित है कि समाज के धार्मिक लोग तो ऐसी प्रतियोगिता से दूर रहेंगे ही, साथ-ही-समाज के अन्दर जो अनैतिक व्यक्ति हैं अर्थात् दुष्ट, स्वार्थी और कपटी हैं, उनका ही साधारणतया समाज में प्रभुत्व स्थापित होगा और इस कारण समाज में धीरे-धीरे धर्म का, सुशासन का और न्याय का लोप हो कर सामाजिक पतन, अव्यवस्था और कुव्यवस्था बढ़ती जायेगी।

भारतीय विचारकों ने जनतन्त्र में तथा आभिजात्यतन्त्र में इसके अतिरिक्त एक अन्य दोष भी स्वीकार किया था। वह यह था कि इन पद्धतियों में राज्य के अन्दर पारस्परिक सङ्घर्ष और वैमनस्य उत्पन्न होता है तथा फूट पड़ जाती है, जिससे विरोधी राज्यों को सुविधा हो जाती है कि वे सत्ता-प्राप्ति के लोभी और महत्त्वाकांक्षी लोगों को, जो किसी कारण सत्ता-प्राप्ति में असफल रहे हैं, अपनी ओर फोड़ सकें और इसके कारण राज्य के जीवन में अस्थायित्व उत्पन्न होता है।

"गणों के विनाश का मूल भेद (पारस्परिक वैमनस्य) है और बहुतों के जानने के कारण मन्त्र को भी गुप्त रखना कठिन होता है।"[५] भीष्म ने इस बात को गणों का (जनतन्त्र) तथा कुलों का (अभिजात्यतन्त्र) उल्लेख करते हुए बताया है कि "गुण भिन्न मन हो कर शत्रु के वश में हो जाते हैं और गणों में फूट पड़ जाने के कारण उनका विनाश हो जाता है तथा उसके कारण उन्हें दूसरे सरलता से जीत लेते हैं।"[६] इसके विपरीत राजतन्त्र में जहाँ एक व्यक्ति के हाथ में सम्पूर्ण सत्ता रहती है वहाँ तुलनात्मक एकता अधिक रहती है तथा अन्य राज्य-पद्धतियों की तुलना में विभेद के होने की सम्भावना कम रहती है; और, जैसा कि पीछे बताया गया है, इस एकता के कारण राज्य का प्रशासन भी अधिक दक्ष और सुगठित रहता है। इन्हीं सब कारणों से भारतीय विचारकों ने राजतन्त्र को अन्य पद्धतियों की तुलना में श्रेष्ठ पद्धति समझ कर उसी का अपने ग्रन्थों में विवेचन किया है।

परन्तु ऊपर के इस विवेचन से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि भारतीय राजतन्त्र का अर्थ था कि प्रजा के हित की अथवा उसकी इच्छा की तनिक भी चिन्ता न की जाये तथा केवल एक व्यक्ति की मन की मौज और मन की उड़ान के ही अनुसार राज्य का सब काम चलाया जाये। ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं है कि राजतन्त्र की पाश्चात्य कल्पना में और राजतन्त्र की भारतीय धारणा में मूलतः यही अन्तर है। भारतीय विचारकों ने राजतन्त्र को श्रेष्ठ शासन-पद्धति अवश्य माना था और इसलिए सम्पूर्ण जनता द्वारा शासन चलाया जाये यह उन्हें मान्य नहीं था; परन्तु राज्य की व्यवस्था अथवा राज्य की नीति-निर्धारण केवल एक व्यक्ति की ही इच्छा-मात्र के अनुसार चले, यह बात भी भारतीय विचारकों को अपनी राजतन्त्र की कल्पना में स्वीकार नहीं थी। इसलिए उन्होंने एक बात का आग्रह किया था कि प्रजा के हित का ध्यान रख कर ही राज्य का काम चलना चाहिए न कि राजा की व्यक्तिगत सुविधा का ध्यान रख कर[७] अर्थात् प्रजा को केन्द्रित कर राज्य की समस्त व्यवस्था और राज्य के सम्पूर्ण कार्य होने चाहिए। इसलिए भारतीय राजतन्त्र में राजा पर विविध प्रकार से (उसका दैनिक कार्यक्रम निर्धारण कर, उसके कर्तव्य निश्चित कर, उसके गुणों के वर्धन और दुर्गुणों से दमन का आग्रह कर, उसे मर्यादा के अन्तर्गत रहने का आदेश दे कर, उसे धर्मपालन का अर्थात् धर्मानुसार चलने का आग्रह कर, उसे समाज की व्यवस्था में हस्तक्षेप करने का अधिकार न दे कर, तथा उसको पुरोहित, मन्त्रियों के परामर्श का ध्यान देने का आग्रह कर) नियन्त्रण स्थापित किया था जिससे 'राजा की व्यक्तिगत सुख-सुविधा अथवा राजा की व्यक्तिगत इच्छा के अनुसार राज्य का काम न चले और प्रजा के हित, लाभ तथा इच्छा

के आधार पर राज्य का शासन चलाया जाये। तदनुसार कौटिल्य ने बहुत स्पष्ट कहा कि "प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है तथा प्रजा का हित ही राजा का हित है। अपना प्रिय (जो स्वयं को अच्छा लगे वह) राजा का हित नहीं है परन्तु प्रजा को जो प्रिय लगे वही राजा का हित है।"[८] शुक्र ने भी यही कहा है[९] और उसके अतिरिक्त राज्य की तुलना एक वृक्ष से देते हुए कहा है कि राज्य-रूपी वृक्ष का मूल राजा है और प्रजा उस वृक्ष के फल के रूप में है अर्थात् राज्य का सम्पूर्ण ढाँचा प्रजा को विकसित करने के लिए है उसके ही हित के लिए है। राजा-प्रजा का उपरोक्त सम्बन्ध बताने के अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि राजा, प्रजा को कष्ट न दे चाहे वह क्षुधा से सूखे हुए पेड़ के समान स्थिर हो जाये।[१०] मनुस्मृति ने इसी बात को बहुत बल देते हुए कहा है कि यदि राजा मोहवश प्रजा की चिन्ता न करके अपने राज्य को दुःख पहुँचाता है तो वह राजा, जीवित अवस्था में ही बान्धवों सहित शीघ्र राज्य से भ्रष्ट हो जाता है। जिस प्रकार शरीर को क्षीण करने से प्राणियों के प्राण नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार राष्ट्र (प्रजा) को क्षीण करने से राजा के प्राण नष्ट हो जाते हैं।[११] शान्तिपर्व, याज्ञवल्क्यस्मृति, कामन्दकीय नीतिसार तथा अग्नि-पुराण का भी यही कहना है।[१२] परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं कि प्रजा को राजा कष्ट न दे, बल्कि यह भी आवश्यक है कि राजा प्रजा के हित में ही कार्य करे[१३] तथा इस ढङ्ग से वह शासन करे जिससे प्रजा सन्तुष्ट और प्रसन्न हो[१४] और उद्वेजित न हो।[१५] इस कारण राजा का काम प्रजा का रञ्जन करना बतलाया गया है अर्थात् प्रजारञ्जन करने के ही कारण शासक को राजा कहा जाता है।[१६] यह तो पीछे बताया ही गया है कि राज्य का उद्देश्य ही प्रजा-रक्षण और प्रजापालन है और इन्हीं उद्देश्यों के अनुसार राज्य के सब कार्य निश्चित किये गये हैं। इन कार्यों की व्यवस्था करते समय भी यही ध्यान रखा गया है कि राज्य का कार्य प्रजा के हित के अनुकूल हो अर्थात् न तो राज्य के पास इतनी अधिक शक्ति (कार्य) ही हो जाये जिससे राज्य करनेवाला शासन प्रजा के साथ मनमाना व्यवहार कर सके और न राज्य को इतने कम कार्य ही दिये जायें जिससे प्रजा की आवश्यकताओं की पूर्ति न हो। राज्य की आवश्यकता बताते हुए राज्य-उत्पत्ति की कथाओं में भी यही कहा गया है कि प्रजा को कष्ट होने के कारण ही और उनके अन्दर पारस्परिक सङ्घर्ष होने के कारण ही प्रजा के रक्षण के लिए राज्य की स्थापना हुई। राज्य के कर्मचारियों के विषय में भी कहा गया है कि उनके ऊपर राजा का इस प्रकार नियन्त्रण होना चाहिए जिससे वह प्रजा को कष्ट न दे सके[१७] और राज्य द्वारा कर भी इसी प्रकार लिये जाने चाहिए जिससे प्रजा का पीड़न न हो।[१८] संक्षेप में ऐसा कह सकते

हैं कि भारतीय राजतन्त्र में राजा की व्यक्तिगत इच्छा और सुविधा का कोई महत्त्व नहीं है अपितु प्रजा के ही हित का तथा प्रजा की आवश्यकता का ही ध्यान प्रमुख है।

यहाँ तक तो इतना ही बतलाया गया है कि राजा को प्रजा के सुख-दुख का और हित-अहित का विचार कर ही सम्पूर्ण कार्य करने चाहिए, परन्तु भारतीय राज्य-व्यवस्था में प्रजा का केवल इतना ही स्थान नहीं है। व्यवस्था में यह भी आवश्यक माना गया है कि राजा, प्रजा का मत जानने का प्रयत्न कर तथा प्रजा की इच्छा का ध्यान रख तदनुसार राज्य का शासन करे। शुक्रनीति में इसे विस्तार से और उदाहरण सहित बताया गया है कि "जनता में राजा के (शासन के) कौन-कौन से दुर्गुण कहे जाते हैं यह वह (राजा) गुप्तचरों द्वारा जाने और कीर्ति के लिए उन (दुर्गुणों) को छोड़ दे तथा प्रजा की अवमानना (प्रजा के विचार की उपेक्षा) न करे। यदि गुप्तचरों द्वारा, अपने दुर्गुणों पर ध्यान न देनेवाला राजा, अपने दुर्गुणों को सुनता है और उस पर वह अपने अहङ्कार के कारण क्रोध करता है तो उसकी जनता में निन्दा होती है। लोकापवाद के कारण ही साध्वी होने पर भी राम ने सीता को छोड़ दिया और समर्थ होने पर भी धोबी को तनिक-सा दण्ड न दिया अपितु ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न राजा ने उसे अभय दिया।"[१९] शुक्र के इस सन्दर्भ का अर्थ स्पष्ट है कि यदि प्रजा किसी कार्य पर राजा की निन्दा करे तो राजा को प्रजा की इच्छानुसार अपने में योग्य परिवर्तन कर लेना चाहिए परन्तु अहङ्कार में भर कर प्रजा पर क्रोध न करना चाहिए। कौटिल्य ने भी कहा है कि "गुप्तचरों द्वारा जनता के मत को जानने का और उसे पक्ष में करने का राजा को प्रयत्न करना चाहिए।"[२०] कामन्दक का भी कहना है कि "जनता को प्रसन्न न करनेवाले कर्मों को राजा त्याग दे।"[२१] बार्हस्पत्य सूत्रों में तो यहाँ तक कहा है कि "जिस धर्म से जनता क्रुद्ध हो जाये वह धर्म भी नहीं करना चाहिए और जनता की इच्छा के विपरीत छोटा-सा भी कार्य करना उचित नहीं है।"[२२] इसके अतिरिक्त ऊपर जहाँ यह कहा है कि राजा प्रजा को दुखी न करे, उसे कष्ट न दे तथा उसे सन्तुष्ट और प्रसन्न रखे, वहाँ उसके पीछे यह भावना तो है ही कि राजा ऐसा काम करे जिससे प्रजा का लाभ हो। साथ-ही-साथ उसके पीछे यह भी भाव है कि राजा को ऐसे ही सब कार्य करना चाहिए जो प्रजा की इच्छा के अनुकूल हों तथा जिनसे प्रजा, राजा के कार्यों की प्रशंसा करे और निन्दा न करे। शान्तिपर्व में प्रजा के मत के अनुसार कार्य करने का कई स्थानों पर सन्दर्भ हैं। मन्त्री की योग्यता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसके ऊपर जनता का विश्वास होना चाहिए[२३] यद्यपि इसका ऐसा अर्थ लगाना ग़लत होगा कि यह सन्दर्भ वर्तमान-

काल के पाश्चात्य जनतन्त्रों के समान राज्य-पद्धति का वर्णन करता है। शान्ति-पर्व का शुक्र और कौटिल्य के समान यह भी कहना है कि "राजा गुप्तचरों द्वारा सम्पूर्ण राज्य के विचार जानने का यत्न करे और वह देखे कि उसके पूर्व कर्म की जनता प्रशंसा करती है या नहीं[२४]।" जनता की इच्छा इसी सीमा तक मानने का उल्लेख नहीं है, इससे भी अधिक है। यदि प्रजा राजा से असन्तुष्ट है तो ऐसी स्थिति में कौटिल्य ने राजकुमार को अनुमति दी है कि वह पिता के प्रति विद्रोह कर सकता है तथा शुक्र ने भी पुत्र को तथा पुरोहित को यह अनुमति दी है कि वह प्रजा की सहमति से (इच्छानुसार) राजा को हटा दे[२५]। शासन में जनता की इच्छा माने जाने के कुछ उदाहरण भी इतिहास-पुराण ग्रन्थों में मिलते हैं। राम द्वारा जनता के आग्रह पर सीता को बनवास देने का उल्लेख शुक के उद्धरण में दिया गया है[२६], परन्तु रामायण में ही एक दूसरा उदाहरण सगर का है जिसका पुत्र असमञ्ज लोगों के पुत्रों को नदी के अन्दर डुबा देता था। इस कारण प्रजा के लोगों ने जब सगर से इसका उल्लेख किया तब प्रजा की बात सुन कर राजा सगर ने उनका प्रिय करने की इच्छा से अपने दुष्ट पुत्र को उसकी पत्नी सहित रथ पर बैठाया और अपने सेवकों को आज्ञा दी कि उसे जीवन-भर के लिए राज्य से बाहर निकाल दें[२७] और फिर प्रजा की इच्छा से अपने प्रपौत्र अंशुमान को राज्य दिया। मत्स्यपुराण में [२८] महाभारत की एक कथा दी हुई है कि राजा प्रतीप के पुत्र देवापि कुष्ठ के रोगी थे, अतः प्रजावर्ग ने उन्हें दोषी ठहराया और शान्तनु राजा हुए। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि राज्य के सर्वसाधारण व्यवहार में तो राजा को यह देखना ही चाहिए कि प्रजा की इच्छा क्या है और इसका गुप्तचरों द्वारा पता लगाना चाहिए; परन्तु ऐसे विषयों में भी जिसमें नियम निश्चित हैं (जैसे उत्तराधिकार अथवा नये राजा का अभिषेक), प्रजा की सम्मति आवश्यक है। परन्तु जैसा इस सब वर्णन से स्पष्ट है, इसके अन्दर मतदान की पद्धति से प्रजा का अथवा इसके निर्वाचित प्रतिनिधियों का मत जानने की बात नहीं है अपितु केवल इतना ही है कि राजा को इस बात का ध्यान और ज्ञान रखना चाहिए कि प्रजा की इच्छा क्या है और उस इच्छा के अनुसार राज्य का कार्य चलाना चाहिए क्योंकि राज्य है ही प्रजा के सुख के लिए। ऊपर रामायण का उदाहरण दिया ही गया है कि प्रजा की इच्छा के अनुसार सगर ने असमञ्ज को निकाल कर अपने प्रपौत्र अंशुमान को राज्य दिया था परन्तु इसके अतिरिक्त राम के यौवराज्याभिषेक के प्रसङ्ग में भी यह बताया गया है कि दशरथ ने ब्राह्मणों को, सेना के प्रमुखों को तथा जनता के लोगों को बुला कर राम को युवराज बनाने के अपने विचार का उल्लेख किया और कहा, "यदि मेरा मत आप लोगों को

अनुकूल जान पड़े तथा यदि मैंने यह अच्छी बात सोची हो तो आप इसके लिए मुझे सहर्ष अनुमति दें।" जनता के सभी लोगों के विचार करके कहने पर कि "हम आपके ज्येष्ठ पुत्र राम को युवराज-पद पर विराजमान देखना चाहते हैं, अतः आप पराक्रमी, सम्पूर्ण लोकों के हित में संलग्न रहनेवाले और महापुरुषों द्वारा सेवित अपने पुत्र श्रीराम का जितना शीघ्र हो सके प्रसन्नतापूर्वक राज्याभिषेक कीजिए"—दशरथ ने राम के राज्याभिषेक की तैयारियाँ कीं[२९]। महाभारत में भी कहा है कि परीक्षित की मृत्यु के पश्चात् पुरवासियों ने एक स्वर से जनमेजय को राजा नियुक्त किया[३०]। उसी ग्रन्थ में यह भी बताया है कि विचित्रवीर्य के मरने के पश्चात् अराजकता की अवस्था उत्पन्न होने से प्रजा के सभी लोगों ने भीष्म के पास जा कर उनसे कहा कि "राजा के अभाव में प्रजा पीड़ित है और भाँति-भाँति की व्याधियों से ग्रसित होने के कारण क्षीण हो रही है तथा जो प्रजा शेष है उसे बचाने में भीष्म ही समर्थ हैं, अतः वे उस प्रजा का धर्मपूर्वक पालन करें"[३१] अर्थात् प्रजा ने उस समय भीष्म से राज्यग्रहण करने की प्रार्थना की। इसके पश्चात् जब पाण्डु के मरने पर धृतराष्ट्र राजा हुए तो उस समय भी प्रजा ने ही उन्हें राजा स्वीकृत किया[३२]। युधिष्ठिर के युवराज बनने के पश्चात् प्रजा जब युधिष्ठिर से प्रसन्न रहने लगी तो उस समय धृतराष्ट्र को चिन्ता हुई कि कहीं प्रजा युधिष्ठिर का पक्ष ले धृतराष्ट्र और उसके बान्धवों को मार न डाले। महाभारत-युद्ध समाप्त होने पर जब धृतराष्ट्र कुन्ती सहित वन में जाने का निश्चय करते हैं, उस समय भी वह अपना निश्चय पुर और जनपद के सभी लोगों को सुनाते है और उनकी अनुमति से युधिष्ठिर को राज्य सौंप कर फिर वन की ओर प्रस्थान करते हैं (आश्रमवासिक पर्व)। श्रुतियों के अन्दर भी ऐसा उल्लेख है जिससे ज्ञात होता है कि राजा की नियुक्ति में प्रजा की इच्छा का बहुत महत्त्व है। ऋग्वेद में राजस्तुति करते हुए कहा है कि "सारी प्रजा तुम्हारी कामना करे और तुम राज्य के स्वामित्व से च्युत न होओ"[३३] तथा फिर आगे कहा है कि "इन्द्र ने तुम्हारी प्रजा को सङ्कुटित कर कर-प्रदानोन्मुख किया है।" अथर्ववेद में भी कहा है कि "तुमको प्रजा इस राज्य के लिए चुनती है तथा यह दिशाएँ और पञ्चदेवियाँ भी।"[३४] नये राजा की नियुक्ति के अतिरिक्त राजा को हटाने के सम्बन्ध में भी प्रजा का मत जानना आवश्यक समझा गया है (देखिए ऊपर)। इन सब कथाओं और गुणों से यही सिद्ध होता है कि नये राजा को राज्य दिये जाने में अथवा राजा को राज्य से हटाने में प्रजा की इच्छा का भी महत्त्व माना गया था अर्थात् इस बात का ध्यान रखना आवश्यक था कि किसी नवनियुक्त राजा के विषय में प्रजा की भावना का ध्यान रख कर नियुक्त की जाये और पुराने राजा को भी प्रजा की इच्छा

जान कर ही हटाया जाये क्योंकि उसी पर अर्थात् राजा की नियुक्ति पर ही प्रजा का सुख-दुःख निर्भर है। राजा की नियुक्ति में प्रजा की इच्छा का ध्यान रखना इस कारण भी आवश्यक था कि राजा से प्रजा असन्तुष्ट हुई तो राजा के लिए शासन करने में कठिनाई होगी और प्रजा, राजा के पारस्परिक मनोमालिन्य के कारण दोनों को एक-दूसरे के प्रति असन्तोष हो कर यदा-कदा सङ्घर्ष की-सी भी स्थिति निर्माण हो सकती है। इसलिए राजा के लिए यह तो आवश्यक था ही कि वह दिन-प्रति-दिन के राज्यकर्म में प्रजा की इच्छा का ध्यान रखे और तदनुसार शासन करे, इसके अतिरिक्त नये राजा को राज्य देने के समय भी ऊपर बताये गये कारणों से प्रजा की इच्छा के अनुसार चलना बहुत महत्त्वपूर्ण और आवश्यक माना गया था।

यद्यपि यह सत्य है कि राजा की नियुक्ति में प्रजा के मत का ध्यान रखना आवश्यक था परन्तु इसका यह अर्थ लगाना ग़लत होगा कि प्रजा द्वारा राजा के निर्वाचित होने की पद्धति मान्य थी। यह तो प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति में वर्तमानकाल की पाश्चात्य जनतन्त्रात्मक भावना खोजने का एक अनुचित प्रयत्न ही होगा। इतिहास-पुराण ग्रन्थों में सूर्यवंश और चन्द्रवंश के राजाओं की पूरी सूचियाँ दी गयी हैं परन्तु उनमें अधिकांश स्थल ऐसे है कि जहाँ उत्तराधिकार के निश्चित नियमों के अनुसार तथा राजा स्वयमेव राज्य पर आसीन हो गया है। ऊपर के जो भी उदाहरण दिये गये हैं उनमें भी यह बात स्पष्ट होती है। यद्यपि प्रजा की इच्छा जान कर ही राम के यौवराज्याभिषेक की तैयारियाँ की गयी थीं परन्तु जब राम वनवास को गये, उस समय प्रजा की इच्छा जानने का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। इतना ही नहीं, ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण प्रजा की यह इच्छा होने पर भी कि राम वन को न जायें, राम वन को चले गये। फिर जब भरत सम्पूर्ण प्रजा को साथ ले कर भगवान राम से लौटने का आग्रह करने के लिए उनके पास वन में जाते हैं, उस सयय राम अपने न लौटने का निश्चय स्वयं बिना प्रजा से पूछे ही करते हैं और बाद में भरत के आपत्ति करने पर ही वह प्रजा से उसका मत जानने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार महाभारत में भी यद्यपि प्रजा ने भीष्म से राजा होने की प्रार्थना की थी, परन्तु भीष्म ने उसे स्वीकार नहीं किया और फिर विचित्रवीर्य के नियोग द्वारा उत्पन्न पुत्र पाण्डु को ही राजा बनाया गया। दुर्योधन और युधिष्ठिर के मध्य राज्य के पारस्परिक सङ्घर्ष में किसी भी स्थल पर प्रजा की सम्मति नहीं माँगी गयी बल्कि युद्धस्थल पर ही राज्य के उत्तराधिकारी के प्रश्न का निर्णय हुआ। स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय राज्य-पद्धति में नये राजा के निर्वाचित होने की कोई पद्धति नहीं थी और इसे सिद्ध करने का प्रयत्न ग़लत है। इतना

अवश्य ऊपर के वर्णन से प्रकट होता है कि इस विषय में जनता की भावना का जानना और यथासम्भव मानना आवश्यक था।

ऊपर के वर्णन से भारतीय राजतन्त्र अथवा भारतीय प्रजातन्त्र का (उसे चाहे जो नाम दिया जाये) स्वरूप स्पष्ट है। उसे इस प्रकार रखना उचित होगा कि भारतीय राज्य-व्यवस्था में जनता के हित के अनुसार काम करने का तथा जनता के मत के अनुसार शासन करने का आग्रह अवश्य है परन्तु जनता के द्वारा शासन चलाने की पद्धति नहीं स्वीकार की गयी। शासन की बागडोर तो राजा के हाथों में रहनी उचित और लाभप्रद है जो अपने मन्त्रियों के परामर्श, पुरोहित के उपदेश, प्रजा का हित और उनके विचार देख कर तदनुसार राज्य का कार्य चलायेगा।

भारतीय राजतन्त्र में प्रजा के हित का, प्रजा की भावना का और प्रजा की इच्छा का यद्यपि बहुत महत्त्व था परन्तु इसके अतिरिक्त राजा की स्वेच्छा-चारिता को मर्यादित करने के लिए अन्य भी बहुत से मार्गों का अवलम्बन किया गया था। सबसे प्रथम यही आवश्यक समझा गया था कि राजा की आन्तरिक वृत्ति ही ठीक बनायी जाये[३५] जिससे वह स्वार्थी तथा कामी (अपने सुखों का ही ध्यान देनेवाला) न हो, मर्यादा के अन्दर रहनेवाला हो, और परिणामस्वरूप वह ऐसा व्यवहार न करे जिससे प्रजा को तनिक भी कष्ट अथवा असुविधा हो अर्थात् उसके द्वारा प्रजा के साथ अन्याय और अत्याचार न हो। राजा को नियन्त्रित करने में सहायक जो सबसे पहली आवश्यक बात है, वह है शिक्षा अर्थात् बाल्यकाल से ही राजकुमारों को जिनको राजा होने की सम्भावना है, ठीक मार्ग पर लगाना चाहिए। मनु ने राजधर्म के वर्णन में प्रारम्भ में कहा है कि "जिस क्षत्रिय (राजा) ने संस्कार (विद्या) प्राप्त किया है उसके द्वारा यथाविधि (नीतिशास्त्र अथवा राजधर्म के नियमों के अनुसार) न्यायपूर्वक इस सम्पूर्ण संसार का रक्षण होना चाहिए[३६]" अर्थात् शिक्षा के द्वारा राजा को ठीक पद्धति से शासन करने का, मर्यादा में रहने का तथा न्यायपूर्ण शासन करने का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। राजा की शिक्षा में सर्वत्र चार विद्याओं को पढ़ना आवश्यक बताया गया है—आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति।[३७] यह बताया गया है कि आन्वीक्षकी से आत्मज्ञान (परमार्थ ज्ञान) प्राप्त होता है, त्रयी से धर्म और अधर्म का (समाज-व्यवस्था के नियमों का, उचित-अनुचित व्यवहार का) ज्ञान प्राप्त होता है, अर्थ और अर्थ-हानि (सम्पत्ति के उत्पादन और व्यय तथा आय-व्यय की गड़बड़ी) का ज्ञान वार्ता से मिलता है तथा नीति और अनीति का ज्ञान (योग्य रीति से शासन करने का, राजा को अपने कर्तव्यों का और मर्यादा का तथा शत्रु से व्यवहार का

ज्ञान) दण्डनीति से प्राप्त होता है।[३८] संक्षेप में भारतीय विचार में राजा की शिक्षा, राजा को योग्य मार्ग पर लगाने के लिए आवश्यक समझी गयी थी और इस शिक्षा के अन्तर्गत इन चार विद्याओं को रखा गया था जिससे राजा न्यायपूर्वक, नीति-अनुसार, धर्मपूर्ण रीति से, मर्यादा के अन्दर रह कर योग्य शासन करता हुआ समाज को अभ्युदय और निःश्रेयस के मार्ग पर लगा सके।

शिक्षा का उपयोग इस ढङ्ग से कहा गया है कि शिक्षा से राजा में विनय उत्पन्न होता है जो राज्य के सञ्चालन के लिए बहुत आवश्यक है। शुक्र, कामन्दक और अग्निपुराण का[३९] कहना है कि "नीति का मूल विनय है और विनय की उत्पत्ति शास्त्राध्ययन से होती है।" शुक्र का यह भी कहना है कि राजा पहले अपने में विनय उत्पन्न करे और तत्पश्चात् ही क्रमशः पुत्रों, अमात्यों, भृत्यों और प्रजा में,[४०] अर्थात् यदि राजा अन्य लोगों को ठीक मार्ग पर लगाना चाहता है (और वही उसका कार्य है) तो उसे सबसे पहले स्वयं में विनय उत्पन्न करना चाहिए।[४१] कौटिल्य और कामन्दक ने भी यह कहा है[४२] कि विद्या के कारण जो विनीत होता है, प्राणियों के हित में शासन करता है वह एकछत्र रूप से पृथिवी का शासन कर सकता है। मनु ने कहा है[४३] कि विनीत राजा कभी भी नष्ट नहीं हो सकता तथा यह भी कहा है कि अविनय के कारण बहुत-से राजा नष्ट हो गये जिनमें वेन, नहुष, सुदास, निमि आदि के उदाहरण हैं और विनय के कारण राज्य प्राप्त करनेवालों में पृथु और मनु के नाम दिये हुए हैं। अतः शिक्षा के अतिरिक्त पृथक् रीति से राजा के व्यवहार में विनयी होने पर भी बल दिया गया है जिससे वह प्रजा के साथ सहानुभूतिपूर्ण और आत्मीयतापूर्ण व्यवहार करनेवाला हो तथा उसमें अपनी सत्ता के मद में अभिमानी हो कर प्रजा के ऊपर अत्याचार करने की वृत्ति न उत्पन्न हो।

राजा में विनय निर्माण करने की दृष्टि से एक और बात सहायक है—वह है वृद्ध अर्थात् अनुभवी और आदरणीय व्यक्तियों का संसर्ग। अतः राजा से ऐसे लोगों के साथ रहने का आग्रह किया गया है।[४४] साथ-ही-साथ धर्मशास्त्रों का अध्ययन भी मन में सद्प्रवृत्ति निर्माण करता है।[४५] अतः उसका पृथक् रीति से आग्रह करने के अतिरिक्त[४६] सभी ग्रन्थकारों ने राजा के दैनिक कार्यक्रम में एक निश्चित समय राजा के शास्त्राध्ययन के लिए रखा है।[४७] राजा अपने मन को और चित्तवृत्ति को नियन्त्रण में रखे, इसलिए दैनिक कार्यक्रम में सन्ध्योपासना को भी स्थान दिया गया है।[४८] इस प्रकार भारतीय राज्य-व्यवस्था में राजा को संयमित रखने का पूरा प्रयत्न है।

राजा अपने अन्दर के सब दोषों को दूर कर आवश्यक सद्गुणों का निर्माण करे, इसके लिए राजा के गुण और दोष भी विस्तार के साथ ग्रन्थों में दिये गये हैं।[४९] यद्यपि इन गुणों को अव्यवस्थित रूप में कई स्थानों पर दिया गया है परन्तु इन गुणों की सबसे व्यवस्थित और विस्तृत सूची कौटिलीय अर्थशास्त्र और कामन्दकीय नीतिसार में है। कौटिल्य ने सब गुण बहुत ही सुबद्धरूप में दिये हैं, अतः वही सूची देना पर्याप्त होगा।

"बहुल, कुलीन, परमात्मा में विश्वास रखनेवाला, सत्त्वगुणी, वृद्धों के अनुसार चलनेवाला, धार्मिक, सत्यवादी, दृढ़प्रतिज्ञ, कृतज्ञ, उच्च लक्ष्य रखनेवाला, उत्साही, आलस्यरहित, सामन्तों को वश में रखने में समर्थ, दृढ़बुद्धि, महान् लोगों की परिषद् रखनेवाला, विनयपूर्ण—ये राजा के अभिगामिक गुण हैं अर्थात् वे गुण जिनके कारण लोग राजा के पास जाने की इच्छा रखते हैं। सुनने की, सुने हुए को ग्रहण करने की, ग्रहण किये हुए को धारण रखने की, विचार करने की, उसके ऊपर विवाद करने और विवाद के पश्चात् निश्चित किए हुए सिद्धान्तों के प्रति भक्ति रखने की इच्छा—ये बुद्धि के गुण हैं।" इसके पश्चात् फिर कौटिल्य ने अन्य भी बहुत-से गुण बताते हुए कहा है, "ठीक वचन बोलनेवाला, वाचाल, स्मृति, बुद्धि, बल से सम्पन्न, संयमी, विभिन्न कलाओं के व्यसन रखनेवाला, उपयुक्त समय पर दण्ड का उपयोग करनेवाला, उपकार और अपकार का बदला देने में समर्थ, लज्जावान, (सप्त) प्रकृतियों की आपत्ति को दूर करने की व्यवस्था करनेवाला, दीर्घदर्शी, दूरदर्शी, देश, काल, शक्ति देख कर कार्य करनेवाला, सन्धि और युद्ध को ठीक से चलानेवाला, व्यय में संयमित; शत्रु के छिद्र को जाननेवाला, अपने आकार से भाव व्यक्त न करने वाला, काम, क्रोध लोभ, मोह, चपलता, ईर्ष्या, चुगली, आदि से विहीन, प्रियभाषी, हास्य के साथ योग्य वचन बोलनेवाला, वृद्धों के उपदेश के अनुसार चलनेवाला—ये सब आत्म-सम्पद् (राजा के गुण) हैं।" जैसा पीछे बताया गया, कामन्दकीय नीतिसार, अग्निपुराण आदि ग्रन्थों में यही गुण बताये गये हैं। इन गुणों को इतना महत्त्व इसलिए दिया गया कि राजा के सम्मुख श्रेष्ठ आदर्श उपस्थित कर राजाओं में यह भावना उत्पन्न की जाये कि वह तभी सफल तथा सम्मानित हो सकेंगे जब वह इन गुणों का अपने अन्दर सम्पादन करेंगे। शुक्रनीति में भी कहा है कि राजा गुणों से पूज्य होता है, कुल से नहीं।[५०]

व्यक्तिगत जीवन की दृष्टि से भी राजा में बहुत-से गुण आवश्यक बताये गये हैं। राजा को शूर होना आवश्यक है, अतः इस दृष्टि से यह कहा गया है कि प्रजा-रक्षण में अथवा धर्म-रक्षण में युद्ध करते हुए ही राजा को अथवा क्षत्रिय को अपना प्राण त्यागना चाहिए[५१] अर्थात् उसे सदैव प्रजा तथा धर्म

के लिए सन्नद्ध ही नहीं कार्यरत रहना चाहिए। युद्ध में मरनेवाले क्षत्रिय के लिए स्वर्ग मिलने का भी उल्लेख है[५२] तथा घर में रोग से मरना क्षत्रिय के लिए निन्दाजनक कहा गया है।[५३] इन सब बातों का विस्तार से उल्लेख शान्तिपर्व में है जहाँ धर्म के लिए युद्ध करने की प्रशंसा, युद्ध में मरने का फल, युद्ध से भागने का दुष्परिणाम तथा घर में रोगी के रूप में मरने की हानि बतायी गयी है।[५४] राजा को शूर होने के साथ-साथ पुरुषार्थी भी होना आवश्यक बतलाया गया है अर्थात् उन्हें उत्थानशील होना चाहिए।[५५] भारतीय राजनीतिक ग्रन्थों में पुरुषार्थ और दैव की तुलना इस सन्दर्भ में की गयी है और बताया है कि यद्यपि दैव अर्थात् पूर्वजन्म के कर्मों के फल का महत्त्व है परन्तु राजा के लिए पुरुषार्थ ही लाभप्रद है[५६] अतः दैव भी पूर्वजन्म के कर्म के ही आधार पर निर्भर करता है[५७], क्योंकि दैव तो अज्ञात है अतः पुरुषार्थ ही उन्नति का एकमात्र साधन है[५८] और दैव भी तभी फलदायक होता है जब व्यक्ति पुरुषार्थ करता है।[५९] इसके अतिरिक्त राजा को सद्व्यवहारशील होना बताया गया है और कहा गया है कि उसे मीठी वाणी बोलना चाहिए[६०] तथा क्रोध और अभिमान न करना चाहिए।[६१] राजा को दुर्जनों की सङ्गति का त्याग तथा सज्जनों की सङ्गति करना भी आवश्यक बताया है, क्योंकि सज्जनों की सङ्गति लाभदायक है तथा दुर्जनों की सङ्गति व्यक्ति को नष्ट कर देती है और सर्पों की सङ्गति से भी अधिक कष्टदायी है।[६२] यह भी राजा के लिए आवश्यक बताया है कि वह दीन जनों का रक्षण करे, उनका अश्रुमार्जन करे, उनका पालन करे और उन्हें पीड़ा न दे।[६३] राजा के गुणों में यह भी उल्लेखनीय है कि राजा को न तो सदैव कठोर रहना चाहिए और न सदैव कोमल रहना ही चाहिए अपितु उसे आवश्यकतानुसार और समय देख कर कोमल और कठोर होना चाहिए[६४] क्योंकि जो कोमल स्वभाव का होता है उसकी लोग अवज्ञा करते हैं और जो केवल कठोर होता है उससे लोग उद्विग्न हो जाते हैं।[६५] राजा का एक गुण यह भी बताया गया है कि वह अन्य लोगों को उपभोग करा कर तब स्वयं भोग करे।[६६] राजा के अन्दर यह भी एक गुण आवश्यक कहा गया है कि वह विलासप्रिय न हो अर्थात् रागरङ्ग में मस्त न हो अथवा कामुक न हो।[६७] उपरोक्त सब गुणों के अतिरिक्त राज्य-सम्बन्धी तथा व्यक्तिगत अन्य भी बहुत-से गुण राजा के अन्दर होने आवश्यक बताये गये हैं। मनुस्मृति में दण्ड-प्रयोग के विषय में वर्णन करते हुए[६८] कहा गया है कि "यदि सत्यवादी, विचार कर, उचित काम करनेवाला, बुद्धिमान्, धर्म-अर्थ-काम का ज्ञाता, उसका (दण्ड का) ठीक प्रयोग करता है तो त्रिवर्ग की वृद्धि होती है परन्तु कामी, क्षुद्र और अन्यायी (पक्षपाती) उसी दण्ड से मारा

जाता है।...असहाय (जिसके योग्य सहायक नहीं हैं), मूर्ख, लोभी, विषयासक्त, बुद्धिभ्रष्ट राजा उसका (दण्ड का) न्यायपूर्वक प्रयोग नहीं कर सकता, परन्तु अच्छे सहायकों से युक्त, बुद्धिमान्, पवित्र, सत्यप्रतिज्ञ, शास्त्रानुसार आचरण करनेवाला राजा दण्ड का प्रयोग करने में समर्थं होता है। अपने राज्य में राजा को न्यायपूर्वक, शत्रुओं पर तीक्ष्ण दण्ड धारण किये, प्रीतियुक्त, मित्रों में स्नेहपूर्ण तथा ब्राह्मणों पर क्षमायुक्त रहना चाहिए। इस प्रकार से रहनेवाला राजा शिल और उञ्छ (खेत में पड़े वाली अथवा अन्न के दानों को बीन कर उनके) द्वारा भी यदि जिये तो भी उसका यश संसार में इस प्रकार फैलता है जैसे तेल की बूँद पानी में फैलती है। जो राजा इसके विपरीत होता है अर्थात् जो आत्मजयी नहीं होता उसका संसार में यश इस प्रकार छोटा होता है जैसे पानी में घी की बूँद।" आगे कहा है,[६९] "मर्यादा के अन्दर न रहनेवाले, नास्तिक, अधिक लम्पट, रक्षा न करनेवाले तथा प्रजा का धन खानेवाले राजा को अधोगामी जानना चाहिए।" शान्तिपर्व में कहा है,[७०] "गुणवान्, शीलवान्, संयमी, भद्र, धार्मिक, जितेन्द्रिय, प्रसन्नवदन तथा उच्च लक्ष्यवाला राजा कभी लक्ष्मी से भ्रष्ट नहीं होता है।"—"जो राजा सबके ऊपर शङ्का करनेवाला, सबका धन हरण करनेवाला, लोभी और कुटिल होता है वह शीघ्र ही सज्जनों द्वारा मारा जाता है। जो राजा पवित्र होता है, प्रजा को प्रसन्न कर अपनी ओर आकृष्ट रखने में समर्थ होता है उसका शत्रुओं से ग्रस्त होने पर भी पतन नहीं होता और यदि पतन होता है तो वह शीघ्र ही खड़ा हो जाता है। अद्रोही, अव्यसनी, मृदु दण्ड देनेवाला, जितेन्द्रिय राजा प्राणियों के लिए हिमालय के समान विश्वास के योग्य हो जाता है। जो राजा बुद्धिमान्, त्यागशील, शत्रु के छिद्र को देखनेवाला, प्रसन्नवदन, सभी वर्गों के धर्म-अधर्म को जाननेवाला, शीघ्र कार्य करनेवाला, क्रोधजयी, उचित रीति से पुरस्कृत करनेवाला, उदारचित्त, कोमल, कार्यप्रवण, अपनी प्रशंसा न करनेवाला होता है वह ही श्रेष्ठ राजा है।"—"राजा झूठ बोलना त्याग दे और बिना कहे लोगों का प्रिय करे, काम, क्रोध, द्वेष से भी धर्म का त्याग न करे, प्रश्न करने पर कठोर उत्तर न दे, कठोर वाणी से न बोले, कोई काम शीघ्रता से तथा द्वेषयुक्त हो कर न करे। ऐसा रहने पर शत्रु भी वश में हो जाता है। राजा प्रजा के हित का ध्यान रखते हुए प्रिय होने पर अधिक हर्ष न करे, अप्रिय होने पर दुखी न हो, और धन की हानि में क्रुद्ध न हो।" शुक्रनीति में बताया है कि "संयमी, शूर, शस्त्रास्त्र-कुशल, शत्रु को मारनेवाला, मर्यादा के अन्दर रहनेवाला, बुद्धिमान्, ज्ञान-विज्ञान से युक्त, नीचों को अपने पास न रखनेवाला, दूरद्रष्टा, वृद्धों का सेवक, नीतियुक्त—इन गुणों से युक्त जो राजा होता है वह देवताओं का अंश

है।" "राजा शूरता, पाण्डित्य, वक्तृत्व, दानशीलता, वल, पराक्रम और नित्य उत्थान (प्रयत्न) इनको कभी न छोड़े।"—"हिंसा, चोरी, अनुचित कामना, चुगली, कठोरता, असत्य, भेद, वृथावचन, द्रोह, चिन्ता, दृष्टि की विषमता, यह वाणी, मन और शरीर के दस पाप हैं, इन्हें छोड़ दे और वृत्तिहीन, रोगी, शोकातुर लोगों का सत्य के अनुसार पालन करे। कीड़ों और चींटीं तक को अपने समान समझे और उपकार करनेवाले शत्रु के प्रति भी उपकारी हो। सम्पद् (ऐश्वर्य) और विपत्ति में मन को एकरस रखे, कार्य करने पर फल-प्राप्ति का प्रयत्न करे। समय पर हितपूर्वक कम और मधुर वचन वोलनेवाला, कोई भी वात उचित समय पर करनेवाला, प्रसन्नवदन, सुशील, करुणावान् और मृदु हो।"[७१]

राजा के लिए आवश्यक गुण वताने के अतिरिक्त ऐसे वहुत-से दुर्गुण भी वताये गये हैं जिनसे राजा को दूर रहना चाहिए—जिन दुर्गुणों के कारण राजा में अहङ्कार, निजी सुख की अभिलाषा तथा राज्य को ठीक सञ्चालित करने के सम्वन्ध में उपेक्षा उत्पन्न होती है और फिर राजा, प्रजा का ध्यान न कर अपने ही सुख और हित की ओर अधिक ध्यान करता है। शान्तिपर्व में उतथ्य कहते हैं[७२] कि "हे मान्धाता ! तू निश्चित रूप से जान ले कि राजा (स्व) धर्मपालन के लिए है कामोपभोग के लिए नहीं।" शुक्र ने भी इसी भावना को व्यक्त करते हुए कहा है कि "देवता को आगे कर (देवपूजा के वहाने) राजा नृत्य आदि देख कर अपने उपभोग के लिए मस्त न हो।"[७३] राजा के संयमित होने के लिए जो सवसे आवश्यक वात वतायी गयी है वह यह है कि वह इन्द्रियजय करे[७४] क्योंकि उससे राजा की लक्ष्मी (वैभव) में वृद्धि होती है और उसकी कीर्ति-स्पर्शी होती है;[७५] क्योंकि उसके कारण राजा में विनय उत्पन्न होता है[७६] जिससे राजा प्रजा को वश में करने में समर्थ होता है।[७७] कामन्दक का कहना है कि "जो एक मन को संयमित करने (जीतने) में समर्थ नहीं है वह सागर-पर्यन्त पृथ्वी को कैसे जीत सकता है"[७८] अर्थात् वही राजा ठीक से शासन चला सकता है और राज्य को अपने वश में कर सकता है जो स्वयं संयमित रहे। यदि इसके विपरीत राजा की ये इन्द्रियाँ वश में न हों तो वह विक्षिप्त मन हो कर हाथी के समान इन इन्द्रियों के वन्धन में हो जाता है और फिर उसके कारण उसके ऊपर विपत्ति आती है और उसका विनाश हो जाता है।[७९] इसी के पश्चात् उदाहरण दिये गये हैं कि विभिन्न इन्द्रियों के वश में रहने के कारण किस-किस प्रकार से हानि होती है जैसे शब्द इन्द्रिय के वश में होने के कारण मृग गीत से मोहित हो पकड़ा जाता है। इस प्रकार राजा को विरक्त किया गया है कि वह इन इन्द्रियों के वश में न हो कर समय पर ही इनका सेवन करे।[८०] इन्द्रियों की आसक्ति रोकने के अतिरिक्त षड्रिपुओं (कौटिल्य के

अनुसार अरिषड्वर्ग तथा शुक्र और कामन्दक के अनुसार शत्रुषड्वर्ग) अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर का भी राजा को त्याग करना चाहिए क्योंकि इन सबके कारण धीरे-धीरे राजा के विकार बढ़ते जाते हैं और स्वाभाविकतया प्रजा-हित का ध्यान कम हो जाता है। कौटिल्य, शुक्र, कामन्दक, उद्योगपर्व तथा मार्कण्डेयपुराण ने[८१] उन राजाओं के उदाहरण दिये हैं जो इन षड्रिपुओं के वश में होने के कारण नष्ट हो गये और फिर, जिससे कि राजाओं को इन छः दुर्गुणों से दूर रहने का लाभ समझ में आये तथा उसके अनुसार भावना उत्पन्न हो इसलिए बताया है कि इस षड्वर्ग का त्याग करने से तथा जितेन्द्रिय होने से परशुराम तथा अम्बरीष ने चिरकाल तक पृथ्वी का भोग किया। शुक्र ने काम, क्रोध, लोभ का पृथक् रीति से वर्णन करते हुए बताया है कि "जय की इच्छा रखनेवाला राजा प्रजापालन में काम, शत्रु को नष्ट करने में क्रोध और सेवा के धारण करने में लोभ करे परन्तु परस्त्री के सङ्गम में काम, अन्य के धन में लोभ और अपनी प्रजा को दण्ड देने में क्रोध कभी न करे। परस्त्री-सङ्गम से व्यक्ति को कुटुम्बी, प्रजा को दण्ड देने से व्यक्ति को शूर तथा अन्य के धन के आधार पर व्यक्ति को धनी कौन कहेगा ?"[८२] मनुस्मृति में केवल काम, क्रोध, लोभ का उल्लेख करते हुए काम से उत्पन्न दस व्यसन तथा क्रोध से उत्पन्न आठ व्यसन भी बताये गये हैं और ऐसा कहा गया है कि काम से उत्पन्न व्यसनों से राजा अपने 'अर्थ' और 'धर्म' को नष्ट करता है और क्रोध से उत्पन्न व्यसनों से वह स्वयं को ही नष्ट करता है। इस प्रकार राजा को इन व्यसनों से वर्जित किया गया है। कामोत्पन्न व्यसनों में हैं मृगया, द्यूत, दिन में सोना, पराया दोष देखना, स्त्रियों से अधिक संसर्ग, मद्यपान, नाचना, गाना-बजाना और वृथा घूमना। क्रोध से उत्पन्न व्यसनों में है चुगली, हिंसा, द्रोह करना, ईर्ष्या, निन्दा, अर्थ-दूषण (धन को नष्ट करना), कठोर वचन कहना और मारना। इनमें भी मनु ने मद्यपान, द्यूत, स्त्री-संसर्ग, मृगया, दण्डपारुष्य (मारना), वाक्पारुष्य (कठोर वचन कहना) तथा अर्थदूषण को ही प्रमुख व्यसन बताया है जिनमें पहले-पहले कहे गये व्यसन बाद में बताये गये व्यसनों से अधिक कष्टदायक हैं।[८३] अन्य ग्रन्थों ने इन्हीं सात प्रमुख व्यसनों का उल्लेख किया है।[८४] शुक्र और कामन्दक ने इन दोषों से नष्ट होनेवाले राजाओं के उदाहरण भी दिये हैं।[८५] कामन्दक ने विस्तार के साथ राजा के लिए इनमें से प्रत्येक दुर्गुण की हानि बतायी है।[८६] कौटिल्य ने भी कामन्दक के समान इन व्यसनों के दोष तथा मनु के ही लगभग समान इन दोषों की गुरुता का क्रम बताया है।[८७] इस प्रकार इन दुर्गुणों से होनेवाली हानि स्पष्ट करके भारतीय राजनीतिशास्त्र के ग्रन्थों ने राजाओं को उन दुर्गुणों की ओर से उन्मुख करने का प्रयत्न किया है जिन दुर्गुणों के कारण राजा उनमें फँस कर स्वार्थ में

अवलिप्त हो तथा अभिमानी बन प्रजा का हित और अहित एवं सुख-दुःख भूल जाता है तथा जो दुर्गुण राजा का भी समाज में थोड़ा-बहुत आदर्श रहने के कारण समाज-जीवन के लिए हानिकारक, भ्रष्टकारक और अव्यवस्था निर्माण करनेवाले हैं। इन सब दोषों में भी मृगया तथा स्त्री-सहवास कुछ मात्रा में ठीक भी बताये गये हैं क्योंकि इनमें कुछ गुण हैं अतः उनका परिमित मात्रा में उपभोग करना उचित कहा गया है।[८८]

राजा को ठीक मार्ग पर पर बनाये रखने का तथा उसे विषयी न होने देने का एक और भी प्रयत्न है। राजा का दैनिक कार्यक्रम भी राज्य-व्यवस्था के वर्णन में निश्चित किया गया है।[८९] याज्ञवल्क्य में लिखा है कि राजा (प्रातःकाल) उठकर रक्षा की व्यवस्था का निरीक्षण करे और तत्पश्चात् व्यवहार (मुकदमें) को देखकर स्नान के बाद रुचि के अनुसार भोजन करे। फिर, राज्य की आय लेने में जो नियुक्त हैं, उनसे प्राप्त सभी वस्तुएँ भण्डार-गृह में रखवा दे। तत्पश्चात् गुप्तचरों से बातचीत करे और मन्त्रणा करके दूतों को (अन्ता राज्य की व्यवस्था) भेजे। फिर या तो स्वयं कुछ विहार करे या मन्त्रणा करे और सेना का निरीक्षण कर सेनापतियों के साथ विचार-विमर्श करे। तदनन्तर संध्या कर गुप्तचरों के साथ उनकी वार्त्ता सुने। तूर्यघोष के साथ सोवे और सोकर शास्त्रचिन्तन करे तथा दिनभर के अपने कर्त्तव्य का विचार करे और गुप्तचरों को अपने-अपने कार्य पर भेजे। फिर, वह ऋत्विज, आचार्य तथा पुरोहित आदि से आशीर्वचन करे और ज्योतिषियों तथा वैद्यों को देखकर फिर क्षत्रिय गौ, सुवर्ण और भूमि का गृहस्थों को दान करे। इस पूरे दैनिक कार्यक्रम से यह स्पष्ट होता है कि राजा को अपने जीवन में कितना अनुशासित रहना आवश्यक माना गया था। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि राजा के लिए यह अनिवार्य-सा था कि राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था पर वह व्यक्तिगत रूप में ध्यान दे तथा इस बात का ध्यान रखे कि उसका व्यक्तिगत जीवन सुखोपभोग के लिए नहीं राज्य की अर्थात् प्रजा की चिन्ता के लिए ही है।

इन सब बातों के अतिरिक्त राजा के मन के ऊपर उसके कर्तव्यपालन की भावना निर्माण करने के लिए यह कहा गया था कि राजा के भी ऊपर धर्म है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि चारों वर्णों का निर्माण करने के पश्चात् भी उसे लगा कि यह अभी श्रेयस्कर स्वरूप नहीं है अतः उसने धर्म का निर्माण किया। "यह जो धर्म है वह क्षत्रिय का भी क्षत्रिय (नियन्त्रण करनेवाला) है इसलिए उससे ऊपर कुछ नहीं है।"[९०] राजसूय के अभिषेक में राजा की पीठ पर धर्म का दण्ड छुवाया जाता है[९१] जिससे उसे यह स्पष्ट हो जाय कि राजा को धर्म द्वारा शासित होना चाहिए। ऐतरेयब्राह्मण

में राजा की कर्तव्यभावना प्रदर्शित करने के लिए राजा के लिए यह आवश्यक बतलाया है कि वह अभिषेक के समय पुरोहित के समक्ष शपथ ले कि "जिस रात्रि में मैं पैदा हुआ हूँ (राज्य ग्रहण किया है) और जिस रात्रि में मैं मरूँगा उन दोनों के बीच में यदि मैं द्रोह करूँ तो मेरा इष्टापूर्त (पुण्य) स्वर्ग, सुकृत्, आयु तथा प्रजा नष्ट हो जाये।" पिछले अध्याय में बताया ही गया है कि राजा के लिए धर्मपालन का कितना महत्त्व दिया गया था और यह आग्रह किया गया था कि राजा अपनी मर्यादा के अन्दर रहे तथा निष्पक्ष रहे। इस प्रकार धर्म-भावना को महत्त्व दे कर और राजा के अन्दर यह भावना निर्माण कर कि उसे अपने धर्म अर्थात् कर्तव्य का पालन करना आवश्यक है और इसी में उसकी श्रेष्ठता है, भारतीय सामाजिक विचारकों ने राजा की ऐसी वृत्ति निर्माण करने का प्रयत्न किया जिसमें राजा की मनमानी स्वेच्छाचारिता को हीन और निकृष्ट समझा जाये और राजा वैसे आचरण की ओर से विमुख हो। धर्म-भावना के ही साथ-साथ परलोक के परिणाम का भय दिखा कर भी राजा को अत्याचार और दुराचार से उन्मुख करने का प्रयत्न था। शुक्रनीति में कहा है कि "जो राजा स्वधर्म में रह कर प्रजा का पालन करनेवाला होता है, सभी यज्ञों का यजन करता है, शत्रुओं को जीतता है, दानशील, क्षमाशील, एवं शूर है, विषयों में निस्पृह है (विषयी नहीं है), विरक्त है, वह सात्त्विक राजा है और वह मोक्ष प्राप्त करता है। इसके विपरीत जो तामसिक राजा होता है वह निर्दयी, अपने घमण्ड में मस्त, हिंसक और सत्यहीन होता है तथा नरक भोगता है। रजोगुणी राजा वह होता है जो अभिमानी, लोभी, विषयी, धोखा देनेवाला, शठ तथा मन वाणी और कर्म में भिन्नता रखता है, कलहप्रिय होता है, नीचों का संसर्ग करता है, स्वतन्त्र (मर्यादारहित) होता है, नीतिहीन होता है और अन्तर में छल रखता है, और वह अधम राजा दूसरे जन्म में पक्षी की अथवा स्थावर प्राणियों की (वृक्ष आदि) योनि प्राप्त करता है।"[९२] इसी प्रकार से शान्तिपर्व में भी कहा है।[९३] राजा के सम्मुख परलोक का परिणाम दिखाने के अतिरिक्त यह भी बताया गया है कि राजा के दोष से प्राकृतिक दुष्परिणाम होते हैं।[९४] "क्षत्रिय के प्रमत्त होने पर बहुत दोष उत्पन्न हो जाते हैं—अधर्म में वृद्धि होती है, प्रजा वर्णसङ्कर होती है, ग्रीष्म में ठण्ड रहती है और शरद् में ठण्ड नहीं रहती प्रजा में अतिवृष्टि, अनावृष्टि और व्याधियाँ होती हैं, नक्षत्र और घोर ग्रह उत्पन्न होते हैं तथा राज्य के नाश करनेवाले बहुत-से उत्पात होते हैं।" राजा की वृत्ति में आन्तरिक रूप में कर्तव्यपालक की भावना उत्पन्न करने के लिए ही यह कहा गया है कि राजा अपने शासन में प्रजा द्वारा किये हुए पाप और पुण्य के कुछ अंश को भोगता है अर्थात् यदि राजा के प्रयत्नों से प्रजा के

पुण्य में वृद्धि होती है तो वह उस पुण्य का कुछ अंश प्राप्त करता है परन्तु यदि राजा के निष्क्रिय, दुर्व्यसनी, अन्यायी अथवा अत्याचारी होने से प्रजा में पाप बढ़ता है तो उस पाप का अंश भी राजा को भोगना पड़ता है। राजा को ठीक रखने के लिए यह भी कहा गया है कि जैसा राजा का आचरण होता है वैसा ही प्रजा का होता है[९५] अर्थात् यदि राजा चाहता है कि प्रजा भी ठीक मार्ग पर चले, नियमों का पालन करे, विनयी हो, धर्मपालक हो और राज्य में सुव्यवस्था तथा अनुशासन रहे तो राजा को भी वैसा ही होना चाहिए। मनु का कहना है कि जिस अपराध पर अन्य साधारण मनुष्य को एक पण दण्ड होगा वैसे ही अपराध के लिए राजा को सहस्र पण दण्ड देना चाहिए।[९६]

ऊपर बताये गये सब प्रयत्न ऐसे होते हैं जिनके द्वारा आन्तरिक भावना अथवा व्यक्तिगत परिवर्तन निर्माण करके राजा को ठीक करने का प्रयत्न किया गया था। परन्तु फिर भी ऐसा सम्भव है कि ऐसा कोई राजा हो जिसमें इन सब बातों के पश्चात् भी सद्वृत्ति निर्माण होनी सम्भव ही न हो और उसे नियन्त्रण में रखने की आवश्यकता हो। ऐसी अवस्था में नियन्त्रण के बाह्य साधन भी भारतीय राज्य-व्यवस्था में बताये गये हैं। सबसे पहले तो यह आवश्यक है कि राजा अपनी सहायता के लिए मन्त्रियों को नियुक्त करे (क्योंकि राज्य का कार्य वह अकेला नहीं चला सकता), मन्त्री जो बात कहें उसे वह माने तथा मन्त्रियों के लिए भी यह आवश्यक बताया है कि वह राजा को कुमार्ग पर जाने से रोकें। कामन्दक का कहना है कि "राजा यदि अकार्य में प्रवृत्त हो तो मन्त्रियों द्वारा उसे रोका जाना चाहिए और राजा का भी यह कर्तव्य है कि वह गुरुजनों (वेदों) ;तथा मन्त्रियों के बचनों को माने।"[९७] आगे राजा के कुमार्ग पर जाने से होनेवाली हानि का सङ्केत करते हुए वह कहता है कि "राग, मान तथा मद से अन्धे हुए तथा शत्रु के सङ्कट में गिरे हुए राजा के लिए सुदृढ़ मन्त्रियों की चेष्टा ही हाथ का सहारा होती है।"[९८] शुक्र ने नियन्त्रण करनेवाले मन्त्रियों की प्रशंसा करते हुए तथा राजा को न रोकनेवाले मन्त्रियों की निन्दा करते हुए कहा है कि "जिनसे राजा पर नियन्त्रण रहता है वे ही अच्छे मन्त्री हैं परन्तु जिन मन्त्रियों से राजा को भय नहीं होता है उनसे क्या राजा की वृद्धि हो सकती है? वे तो उन्हीं स्त्रियों के समान हैं जिन्हें वस्त्र, आभूषण आदि से केवल सुसज्जित कर दिया गया हो। उन मन्त्रियों का क्या उपयोग जिनके द्वारा राज्य, प्रजा, बल, कोश तथा राजा के गुणों की वृद्धि न हुई अथवा शत्रु का नाश न हुआ?"[९९] मन्त्रियों के अतिरिक्त दूसरा नियन्त्रण है पुरोहित का।[१००] राजा और पुरोहित का सम्बन्ध विस्तार के साथ शान्तिपर्व

में बताया है जहाँ कहा है कि धर्म और अर्थ का गूढ़ तत्त्व समझने के लिए राजा को पुरोहित नियुक्त करना चाहिए तथा राजा और पुरोहित को चाहिए कि वे पारस्परिक सौहार्द्र रखें क्योंकि ऐसा न होने पर क्षत्रिय के राज्य का नाश हो जाता है, उसमें चारों ओर डाकू लोग घूमते हैं, यज्ञ नहीं होते, वेदाध्ययन नहीं होता, राजा के राज्य की वृद्धि नहीं होती अर्थात् यदि राजा धर्म के ज्ञाता पुरोहित के अनुकूल नहीं चलता तो उसके राज्य में सुव्यवस्था रहना कठिन है।[१०१] कौटिल्य ने कहा है कि "राजा मर्यादा की स्थापना करे तथा आचार्य (पुरोहित), और अमात्यों की नियुक्ति करे जो (राजा को) अनुचित कार्य करने से रोकते हैं और समय की चाबुक से प्रमत्त अथवा पड़े हुए राजा को सचेत करते हैं।" इसके अतिरिक्त उसने यह भी कहा है कि "राजा मन्त्र और अनुष्ठान में सम्पन्न, त्रयी का ज्ञाता, कर्मतत्पर, जितेन्द्रिय, क्रोधजयी, क्रोध, लोभ और मोह से वर्जित श्रेष्ठ कुलशीलवाले, छहों वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण), वेद, दैव (भविष्य), दण्डनीति को जाननेवाले, दैवी-मानुषी आपत्तियों का अथर्व के उपायों से प्रतिकार करनेवाले व्यक्ति को पुरोहित बनाये और उसका इस प्रकार अनुगामी हो जैसे शिष्य आचार्य का, पुत्र-पिता का, तथा भृत्य-स्वामी का अनुगामी होता है। क्षत्रिय, जो ब्राह्मण (पुरोहित) द्वारा रक्षित और वर्द्धित, मन्त्रियों की मन्त्रणा से युक्त तथा शास्त्रानुसार कर्मों के शस्त्र से सुसज्जित होता है वह विजय प्राप्त करता है तथा अत्यन्त अजेय होता है।"[१०२] शुक्र ने भी पुरोहित को राजा के पिता के समान और उसी के जैसे श्रेष्ठ आसन पर बैठने योग्य बताया है[१०३] तथा पुरोहित को राजा के सभी व्यक्तियों में सबसे प्रथम और राज्य (राजा) तथा राष्ट्र (प्रजा) को धारण करनेवाला कहा है। फिर उसने पुरोहित के गुण बता कर कि "मन्त्र और अनुष्ठान में कुशल, त्रयी का ज्ञाता, कर्म तत्पर, जितेन्द्रिय, क्रोधजयी, लोभ-मोह से शून्य, छहों अङ्ग, धनुर्वेद तथा धर्म का ज्ञाता, जिसके कोप के भय से राजा भी धर्म और नीति में तत्पर रहे तथा नीतिशास्त्र और व्यूह आदि में कुशल पुरोहित होना चाहिए।" यह भी कहा है कि वही (वास्तविक) आचार्य तथा पुरोहित है जो शाप और कृपा दोनों में समर्थ हो।[१०४] सामविधान ब्राह्मण में कहा है[१०५] कि राजा अभिषेक के पश्चात् पुरोहित के अधीन रहे।[१०६] मन्त्रियों और पुरोहित के अतिरिक्त राजा के ऊपर बाह्य नियन्त्रण रखने में जिन्हें सहायक माना गया है वे थे ब्राह्मण। ऊपर इस बात का विस्तार से वर्णन किया ही गया है कि राजा को ब्राह्मणों के कहने के अनुसार चलना चाहिए तथा यह भी बताया गया है कि यदि क्षत्रिय किसी प्रकार कोई दुष्टता करे तो ब्राह्मण का यह कर्तव्य है कि वे ऐसे क्षत्रियों को दण्ड दें।[१०७] इस प्रकार

के उदाहरण भी इतिहास-पुराण ग्रन्थों से ऊपर दिये गये हैं जहाँ ब्राह्मणों ने दुराचारी राजाओं को दण्ड दिया है। चौथा वाह्य नियन्त्रण राजा के ऊपर है जनमत का और यह बार-बार कहा गया है कि राजाओं को कोई ऐसा काम न करना चाहिए जिससे प्रजा उद्वेजित हो जाये क्योंकि प्रजा के उद्विग्न होने पर राजा नष्ट हो जाता है[१०८] अर्थात् यह माना गया है कि यदि प्रजा राजा से असन्तुष्ट रहती है तो वह अन्ततः राजा के लिए हानिकारक ही रहता है क्योंकि धीरे-धीरे प्रजा का विरोध राज्य को नष्ट कर देता है। सबसे अन्तिम वाह्य नियन्त्रण राजा के ऊपर समाज-व्यवस्था का था जिसके द्वारा समाज के विभिन्न कार्यों का विभाजन कर राज्य की और इस कारण राजा की शक्ति सीमित कर दी गयी थी तथा राजा को यह अधिकार नहीं था कि वह अन्य लोगों के कार्यक्षेत्र में अथवा समाज-व्यवस्था में हस्तक्षेप करे। राज्य समाज-व्यस्था से किस प्रकार बँधा हुआ था, यह पीछे विस्तार से बताया ही गया है।

नियन्त्रण के इन सब आन्तरिक और वाह्य साधनों के पश्चात् भी जो राजा ठीक न हो उसके लिए अन्तिम मार्ग के रूप में कहा गया था कि जो राजा अधर्मशील है अर्थात् मर्यादा के अन्दर नहीं रहता, अत्याचार करता है, उसे उसके स्थान से च्युत कर देना चाहिए। शुक्रनीति में कहा है कि "यदि राजा अधर्मशील हो तो प्रजा धर्मशील, अति बलवान् शत्रु का आश्रय ले कर उसे कष्ट दे"[१०९] अनुशासनपर्व में भी कहा है[११०] कि "रक्षा न करनेवाले, मारनेवाले, धन हरण करनेवाले, दुष्ट कलयुगरूपधारी राजा को प्रजा सन्नद्ध हो कर मार दे। 'मैं रक्षा करूँगा', ऐसा कह कर भी जो राजा रक्षा नहीं करता है वह प्रजा द्वारा सङ्गठन निर्माण कर पागल कुत्ते के समान मार डालने योग्य है।" प्रजा के अतिरिक्त राजकुमार को भी अधर्मी राजा के विरुद्ध विद्रोह कर उसे हटाने की अनुमति है यदि प्रजा राजा से अप्रसन्न हो।[१११] ब्राह्मणों द्वारा दुष्ट राजा हटाने का उल्लेख ऊपर किया ही गया है तथा पुरोहित के सम्बन्ध में कहा है कि "जो कुलीन राजा भी गुण, नीति, बल को नष्ट करनेवाला तथा अधार्मिक हो तो उस राष्ट्र-विनाशक (राजा) को त्याग देना चाहिए और उसके स्थान पर पुरोहित गुणयुक्त, उसी कुल में से उत्पन्न व्यक्ति को राज्य की रक्षा के लिए प्रजा की सम्मति से बैठा दे।"[११२] इस प्रकार यद्यपि भारतीय समाज और राज्य-व्यवस्थापकों ने राजतन्त्र को ही विविध कारणों से श्रेष्ठ पद्धति माना था, परन्तु इसमें राजा से यह आग्रह था कि वह प्रजा के हित के लिए, प्रजा की इच्छा का ध्यान रख कर अपना शासन चलाये। इसके पश्चात् राजा को ठीक मार्ग पर रखने के लिए भी

बहुत-से प्रयत्न किये गये थे और अन्त में यदि राजा किसी से ठीक न हो तो यह कहा गया था कि उसे पदच्युत कर दिया जाये। इतने सब नियन्त्रण होने के पश्चात् राजा द्वारा अत्याचार होना कठिन था, अतः राजा को बलपूर्वक हटाने की स्थिति उत्पन्न होने की सम्भावना बहुत कम रह जाती है।

भारतीय विचार के अन्दर राज्य के उत्तराधिकार-सम्बन्धी जो नियम हैं, उनका वर्णन भी बहुत आवश्यक है। भारतीय समाज-व्यवस्था में वर्ण-विभाजन के और अधिकारभेद के सिद्धान्त के अनुसार क्षत्रिय को ही राज्य का काम सौंपा गया है अतः क्षत्रिय ही राजा हो सकता है। मनुस्मृति में राजधर्म का वर्णन प्रारम्भ करते समय कहा गया है कि "ब्राह्मण का चारों प्रकार (आश्रमों) का धर्म कहा जो पवित्र है और परलोक में अक्षय फलदायक है, अब राजधर्म (क्षत्रिय धर्म) कहा जाता है।"[११३] नवें अध्याय में राजधर्म समाप्त कर कहा गया है कि "यह राज्य की सम्पूर्ण और सनातन कर्म विधि कही गयी, अब क्रमशः वैश्य और शूद्र का यह कर्म जानो।" इसका स्पष्ट अर्थ है कि राजधर्म का वर्णन प्रारम्भ करते समय[११४] 'क्षत्रिय' शब्द का प्रयोग भी किया है। हारीत-स्मृति में कहा है, "राज्य पर आसीन क्षत्रिय प्रजा का धर्म से पालन करता हुआ योग्य अध्ययन तथा विधि-अनुसार यज्ञ करे।"[११५] इसी प्रकार गौतम, वसिष्ठ, आपस्तम्ब, विष्णु[११६] आदि ने क्षत्रिय के धर्मों का पृथक् वर्णन न करते हुए राजधर्म के नाम से ही वैसा किया है। इतिहास-पुराण ग्रन्थों में भी कलियुगीय राजाओं को छोड़ कर—जो पतन की अवस्था के राजा हैं—शेष सब राजा क्षत्रिय ही बताये गये हैं। अतः भारतीय विचार के अनुसार क्षत्रिय ही राजा होना चाहिए। परन्तु शान्तिपर्व में युधिष्ठिर भीष्म से पूछते हैं कि क्षत्रिय जब वर्णसङ्कर हो जायें और प्रमोहित (भ्रमित तथा निष्क्रिय) हो जायें उस समय यदि अन्य वर्ण का व्यक्ति धर्म से दण्ड को धारण करता हुआ दस्युओं से प्रजा की रक्षा करे तो उसको यह कार्य करना चाहिए अथवा न करना चाहिए अथवा उसे रोकना चाहिए? भीष्म उत्तर में कहते हैं कि "पाररहित (समुद्र) में जो पार बन जाये और नौका न होने पर जो नौका हो जाये वह शूद्र हो अथवा अन्य कोई हो, सम्मान का पात्र है। हे राजन्! जिसका आश्रय ले कर अनाथ तथा दस्युओं द्वारा पीड़ित मनुष्य बलपूर्वक जीवन व्यतीत करे उसका ही प्रेमपूर्वक अपने बान्धव के समान पूजन करना चाहिए। जो पुरुष सज्जनों का रक्षण करे और असज्जनों को रोके उसी को राजा बनाना चाहिए और उसी के द्वारा यह सब (राज्य) धारण किया जा सकता है।"[११७] यहाँ पर भी यह धारणा स्पष्ट है कि साधारणतया तो क्षत्रिय ही राजा होना चाहिए परन्तु यदि क्षत्रिय ही वर्णसङ्कर हो जायें और

कर्तव्यविमूढ़ हो जायें उस स्थिति में किसी को भी राजा मानना श्रेयस्कर है अर्थात् केवल अपवाद के रूप में और आपत्तिकाल के ही लिए क्षत्रिय के अतिरिक्त अन्य किसी को राजा बनाया जा सकता है। इसी प्रकार भारतीय समाज-व्यवस्था के अन्दर स्त्रियों के लिए जो कर्तव्य निर्धारित किये गये हैं तदनुसार साधारणतया स्त्रियों को राज्यकर्त्रियों के रूप में लाना उस व्यवस्था के अनुकूल नहीं है। परन्तु अपवाद के ही रूप में कहा गया है कि जो राज्य राजाओं से शून्य हो गये हैं वहाँ पर भाइयों, पुत्रों, पौत्रों को अभिषिक्त किया जाये और जिन राजाओं के पुत्र भी नहीं हैं वहाँ पर कन्याओं को ही राज्यासीन किया जाये।[११८]

कार्यपालिका

अभी तक राज्य-व्यवस्था में जिस राजा का वर्णन किया है वह भारतीय व्यवस्था के अनुसार राज्य का एक अङ्ग है, यद्यपि वह सबसे महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इसके अतिरिक्त राज्य के छः अन्य अङ्ग (अथवा प्रकृति) बताये गये हैं—अमात्य, दुर्ग (पुर), राष्ट्र, (जनपद), कोश, दण्ड (बल) तथा मित्र (सुहृद्)।[११९] भारतीय विचारकों ने इन सप्त प्रकृतियों का उल्लेख अथवा राज्य का इन सात अङ्गों में विभाजन, राज्य की व्यावहारिक आवश्यकता का ध्यान रख कर किया था। यह स्पष्ट है कि राज्य को एक सर्वोच्च प्रतिनिधि अथवा शासक अथवा नियन्त्रणकर्ता की आवश्यकता होती ही है (राजा) परन्तु उसके साथ उस सर्वोच्च व्यक्ति की सहायता के लिए तथा शासन के विभिन्न अङ्गों का भार सँभालने के लिए सहायक भी आवश्यक हैं (मन्त्री)। फिर जनपद (राष्ट्र) अर्थात् जनसंख्या और क्षेत्र के बिना तो राज्य का कोई अस्तित्व ही शेष नहीं रहता। इसके अतिरिक्त राज्य न तो कोष के बिना चल सकता है न सेना के ही बिना। और राज्य-शासन के लिए जो राजधानी चाहिए उसे 'पुर' कहा गया है जिसको इतना सुरक्षित होना चाहिए कि उसे 'दुर्ग' कहा जा सके। सबसे अन्त में यदि किसी राज्य के अन्तर्राज्य सम्बन्ध हैं (और वह राज्य के लिए अनिवार्य हैं) तो राजा को अन्य राजाओं में से कुछ को अपना मित्र बनाना ही पड़ेगा और उन 'मित्रों' (सुहृद्) को राज्य से पृथक् न मान कर भारतीय राजनीतिशास्त्र में व्यावहारिक विचार करने के लिए, राज्य का ही एक अङ्ग माना है। इस व्यावहारिक विश्लेषण के कारण भारतीय विचार में राज्य के इन अङ्गों अथवा प्रकृतियों का विवेचन वर्तमान-काल के शासन के अङ्गों Organs (कार्यपालिका, न्यायपालिका, विधायक-

मण्डल)अथवा प्रकृतियों elements (जनसंख्या, क्षेत्र, शासन तथा प्रभुसत्ता) के विवेचन से भिन्न है। वर्तमानकाल में पहले तो राज्य के चार तत्त्व गिने गये हैं—भूमि, जनसंख्या, शासन और सर्वप्रभुता और फिर इन चार तत्त्वों में से 'शासन' नामक तत्व के तीन अङ्ग अथवा कार्य माने गये हैं—कार्यपालिका, विधान मण्डल और न्यायपालिका। भारतीय विचार में यह दो प्रकार का वर्गीकरण न कर शासन के उन सभी अङ्गों को जिन्हें भारतीय राज्य-प्रणाली के अनुसार शासन के लिए आवश्यक समझा गया है, राज्य के ही अङ्गों के रूप में सम्मिलित किया और इसलिए उनका कोई पृथक् वर्गीकरण नहीं मिलता। भारतीय विचारकों के 'राष्ट्र' नामक अङ्ग में 'भूमि' और 'जनसंख्या' सम्मिलित हैं, परन्तु उन्होंने राज्य को सर्वप्रभुता-सम्पन्न न मान कर 'सर्वप्रभुता' नामक तत्त्व का कोई उल्लेख नहीं किया है और राज्य के शासन को पाँच अङ्गों में विभाजित कर उनका भी राज्य के ही अङ्ग के रूप में उल्लेख किया—राजा, मन्त्री, कोश, दुर्ग और सेना। जहाँ तक शासन के तीन अङ्गों—कार्यपालिका आदि का प्रश्न है, मन्त्री राजा की कार्यपालिका के रूप में कार्य करते हैं, क्योंकि योग्य न्याय का अन्तिम उत्तरदायित्व राजा का माना गया है तथा राजा इसको दूसरों पर टाल नहीं सकता इसलिए राजा के पास कार्यपालिका के साथ-साथ न्यायपालिका पर नियन्त्रण का भी कार्य है। इसलिए शासन के इन दोनों भागों (कार्यपालिका और न्यायपालिका) के प्रतिनिधि के रूप में राजा और मन्त्री भी राज्य के दो अङ्ग माने गये हैं। कार्यपालिका और न्यायपालिका के अतिरिक्त भारतीय व्यवस्था में विधान बनाने का कार्य राज्य के पास लगभग नहीं था, इसलिए शासन का वर्गीकरण भारतीय विचारकों ने कार्यपालिका, न्यायपालिका और विधानमण्डल के रूप में न कर राजा, मन्त्री आदि के रूप में ही किया है। इसका यह अर्थ नहीं कि न्यायापालिका अथवा विधायक-कार्य की कोई व्यवस्था ही न थी। शासन के इन उपरोक्त पाँच अङ्गों और 'राष्ट्र' के अतिरिक्त भारतीय विचारकों ने राज्य का एक सातवाँ अङ्ग माना है 'मित्र'। वर्तमान काल में राज्य के अन्तर्गत परराज्य-सम्बन्ध को राज्य के एक स्वतन्त्र कार्य का अस्तित्व नहीं दिया हैं, परन्तु भारतीय विचारकों ने इसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझ कर इसको भी एक स्वतन्त्र स्थान दिया है।

राज्य के इस सप्ताङ्ग-वर्णन से स्पष्ट होता है कि भारतीय विचारक समाज के ही समान राज्य को भी शरीर-रूप (Organic) मानते हैं। इसलिए उपर्युक्त सात प्रकृतियों को राज्य का अङ्ग कहा गया है। शुक्र ने तो यह स्पष्ट रूप से कहा है और राज्य की शरीर से पूर्णोपमा देते हुए बताया है कि राज्य के सिर के रूप में राजा है, अमात्य उसके नेत्र हैं, मित्र कर्ण हैं, कोश मुख है, सेना मन

है और दुर्ग तथा राष्ट्र हाथ-पैर हैं। अन्यत्र शुक्र का कहना है कि[१२०] "राज्य रूपी वृक्ष का मूल राजा है, मन्त्री तना है, सेना-अधिकारीशाखा हैं, सेना पत्ते फूल आदि हैं, प्रजा फल हैं तथा भूभाग उस वृक्ष के बीज और भूमि हैं।" शान्तिपर्व में भी[१२१] राज्य को शरीर कहा है जिसके विभिन्न अङ्ग बताये गये हैं। यह स्वाभाविक है कि जब भारतीय विचारकों ने सम्पूर्ण समाज को ही एक समग्र मान कर उसे शरीर कहा जिसके मुख ब्राह्मण, बाहु क्षत्रिय, उरू वैश्य तथा पैर क्षत्रिय हैं तब समाज के राजनीतिक सङ्घटन राज्य को भी शरीर ही कहें।

राजा के पश्चात् राज्य का दूसरा अङ्ग मन्त्री है जिसकी शुक्र ने राज्य के नेत्रों से उपमा दी है। क्योंकि राजा अकेला राज्य का कार्य नहीं चला सकता, इसलिए सहायक के रूप में अमात्यों की नियुक्ति आवश्यक है। मनु का कहना है कि यदि कोई सरल कार्य भी हो तो वह भी एक व्यक्ति के द्वारा होना कठिन होता है फिर, राज्य की उन्नति बिना सहायकों के कैसे हो सकती है।[१२२] शान्तिपर्व में तो यह भी कहा है[१२३] कि राजा को राज्य मिले भी तो वह बिना सहायकों के शीघ्र नष्ट हो जायेगा तथा वह दो-तीन दिन से अधिक नहीं चल सकता। कौटिल्य ने मन्त्रियों की नियुक्ति का यह भी कारण बताया है कि कार्य बहुत-से होते हैं और कई स्थानों पर होते हैं अतः देश-काल की त्रुटि न हो और परोक्ष के भी सब कार्य हो जायें इसके लिए अमात्य आवश्यक हैं।[१२४] इन कारणों से राजा से यह आग्रह किया गया है कि वह सहायकों (अमात्यों) की नियुक्ति करे।[१२५] केवल इनकी नियुक्ति ही नहीं, राजा के लिए यह भी आवश्यक है कि वह इनका मत जाने, उस पर विचार करे और साधारणतया उस मत के अनुसार कार्य करे।[१२६] इसलिए राजा के दैनिक कार्यक्रम में मन्त्रियों के साथ विचार करने का समय रखा गया है[१२७] तथा कामन्दक ने कहा है कि जो राजा मन्त्रियों के मत की अवमानना करता है उसका शीघ्र ही पतन होता है और यह भी कहा है कि यदि राजा के मन्त्रियों में दोष (व्यसन) उत्पन्न हो जाता है तो राजा कटे हुए पङ्खों जैसे पक्षी के समान गिर जाता है।[१२८] मन्त्रियों के मत को केवल जान कर उस पर विचार करना ही नहीं अपितु वह जो बात कहें उस बात को मानना चाहिए।[१२९] शुक्र ने यह भी कहा है कि "बुद्धिमान् राजा सभ्य, अधिकारियों, प्रजा तथा सभासद् इनके मत में स्थित रहे (इनके मत के अनुसार कार्य करे) परन्तु अपने मत में स्थित न रहे। जो राजा स्वतन्त्र होता है (अपनी ही इच्छानुसार कार्य कर दूसरों के मत की अवमानना करता है) वह अनर्थ की ओर बढ़ता है और उसके कारण राजा में और प्रजा में भेद पड़ जाता है।" मन्त्रियों का मत क्यों जानना और मानना चाहिए, इसका कारण शुक्र यह बताते हैं कि पुरुष-पुरुष में, आप्त पुरुषों के वाक्यों से, अनुभव से, शास्त्र से,

अनुमान से, प्रत्यक्ष से, सादृश्य से, साहस से, धन-बल से तथा ऊँच-नीच देखने से बुद्धि के वैभव तथा व्यवहार में विचित्रता दिखायी देती है (अर्थात् विभिन्न कारणों से मनुष्यों के विचार और व्यवहार भिन्न होते हैं) । इस कारण एक ही व्यक्ति सभी बातों के अथवा किसी बात के सभी पक्षों को समझने में समर्थ नहीं होता । इसलिए राजा राज्य की वृद्धि के लिए सहायकों का वरण करे ।[130]

मन्त्रियों के अन्दर भी दो प्रकार हैं—अमात्य अथवा सचिव तथा मन्त्री । 'अमात्य' अथवा 'सचिव' शब्द कौटिल्य, मनु, कामन्दक तथा अग्निपुराण ने पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त किये हैं[131] परन्तु अमात्य और मन्त्री शब्द स्पष्ट रूप में पृथक् अर्थों के द्योतक हैं । कौटिल्य विभिन्न आचार्यों द्वारा वर्णित अमात्यों के गुण बताने के पश्चात् कहता है कि इन सब आचार्यों के मत ठीक हैं तथा कार्य को देख कर ऐसे लोगों को विभिन्न कार्यों के लिये अमात्य बना देना चाहिए, परन्तु मन्त्री नहीं बनाना चाहिए ।[132] फिर विभिन्न प्रकार से अमात्यों की परीक्षा लेने की विधि बता कर आगे कहता है कि जो इन सभी परीक्षा में खरे उतरें, उन्हें ही मन्त्री बनाना चाहिए ।[133] मन्त्रियों की नियुक्ति परीक्षा करके[134] होनी चाहिए क्योंकि यदि योग्य पुरुष राजा के चारों ओर न रहे तो राज्य का कार्य ठीक से नहीं चलता ।[135] इन मन्त्रियों की परीक्षा का एक ढङ्ग है जिसे उपधा कहा जाता है तथा यह उपधाएँ पाँच प्रकार की होती हैं ।[136] कामन्दक ने इसका अर्थ बताया है कि समीप से (उप) जो परीक्षा (धा) की जाती है उसे उपधा कहते हैं ।[137] कौटिल्य ने इनमें से चार उपधाओं का विस्तार के साथ वर्णन किया है । व्यक्ति अपने धर्म पर तत्पर है अथवा नहीं, इस परीक्षा को धर्मोपधा कहा है । व्यक्ति लोभी हो अथवा नहीं इसकी परीक्षा अर्थोपधा है, व्यक्ति परस्त्री-संसर्ग की कितनी कामना रखता है ईसकी जाँच करना कामोपधा है तथा राजा के दण्ड का भय मन में निर्माण कर व्यक्ति को डिगाने का प्रयत्न करना, भयोपधा है । इनका वर्णन कर कौटिल्य कहता है कि धर्मोपधा से शुद्ध अमात्यों को धर्म-निर्णय (व्यवहार अर्थात् मुकदमे के निर्णय) में तथा दुष्टों को दण्ड देने में नियुक्त किया जाये; अर्थोपधा द्वारा जिनकी शुद्धता प्रमाणित है, ऐसे व्यक्तियों को समाहर्ता (कर लेने के) तथा सन्निधाता (कोष को रखवाली के काम पर) नियुक्त किया जाये; कामोपधा द्वारा परीक्षित अमात्यों को अन्त:पुर की व्यवस्था पर नियुक्त किया जाये तथा भयोपधा से शुद्ध अमात्यों को राजा अपने समीप के कार्यों पर रखे और जो उन सबसे शुद्ध हों, उन्हें राजा मन्त्री बनाये ।[138] अमात्यों की परीक्षा करने का दूसरा ढङ्ग कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार तथा अग्निपुराण में[139] दिया हुआ है । वहाँ बताया है कि अमात्यों की निम्न गुणों की परीक्षा विभिन्न प्रकार से

की जाये यथा—कुल का और सम्मान का ज्ञान तथा कलाओं में निपुणता यह उसके सम्बन्धियों से जानी जायें; दक्षता, ज्ञान, धर्म, प्रगल्भता (कार्य-निपुणता) तथा प्रीति यह उसके कार्य द्वारा देखनी चाहिए; वाणी की कुशलता तथा सत्य-वादिता, वातचीत द्वारा जानी जाये; उत्साह, प्रभाव, क्लेश-सहिष्णुता धर्म-अनुराग तथा स्थिरता आपत्ति में देखनी चाहिए; भक्ति, मित्रता और पवित्रता उसके व्यवहार में देखनी चाहिए; बल, सत्य (शरीर की आन्तरिक सहन-क्षमता) आरोग्य और शील साथ रहनेवालों से जाना जाये; गम्भीरता, शत्रुओं द्वारा बताये गये दोप, मृदुता और क्षुद्रता को प्रत्यक्ष रूप से जानने का प्रयत्न करना चाहिए तथा जो परोक्ष (प्रकट न होनेवाले) गुण हैं वे कर्मों द्वारा जानने चाहिए।

मन्त्रियों के सम्बन्ध में अन्य नियम ये हैं कि यदि राजा राज्य का कार्य देखने में अस्वस्थता अथवा अशक्तता के कारण असमर्थ हो जाये तो वह अपने स्थान पर मन्त्री अथवा मन्त्रियों को काम सौंप दे।[१४०] राजा को भी यह चाहिए कि वह मन्त्रियों से अधिक आराम से जीवन न व्यतीत करे परन्तु उसमें और मन्त्रियों में केवल आज्ञा देने का तथा छत्र-धारण का ही अन्तर हो।[१४१] दूसरी ओर यह भी कहा है कि यदि मन्त्री अनुचित कार्य करे तो उसे दण्ड दिया जाये।[१४२]

ऊपर दो प्रकार के मन्त्रियों का वर्णन है—एक तो वह जो मन्त्रणा देते हैं अर्थात् 'धी-सचिव' और दूसरे वह जो योजनाओं को कार्यान्वित कराते हैं अर्थात् 'कर्म सचिव'। धी-सचिवों के अतिरिक्त शेष अमात्यों के विषय में भी उनके आवश्यक गुण तथा परीक्षा के पश्चात् उनकी नियुक्ति का वर्णन किया है। इन कर्म सचिवों अथवा अमात्यों को ही विभिन्न विभागों के अध्यक्ष के रूप में कार्य देने का उल्लेख है। कौटिल्य का यह कथन पीछे बताया ही गया है कि चारों उपधाओं में परीक्षित होने पर जो शुद्ध प्रमाणित हो, उन्हें ही मन्त्री बनाना चाहिए तथा शेप लोगों को उनके गुणों के अनुसार धर्म-निर्णय का अथवा दुष्टों को दमन करने का अथवा कोप-रक्षण, धनसंग्रह आदि का कार्य दिया जाये। कौटिल्य ने बाद में यह बहुत स्पष्ट रूप से कहा है कि अमात्य की योग्यता रखनेवाले व्यक्तियों को उनकी योग्यता के अनुसार अध्यक्ष बनाया जाये और उनकी, उनके कार्यों में नित्य परीक्षा की जाये।[१४३] मनुस्मृति में भी पहले तो आठ मन्त्रियों की नियुक्ति का उल्लेख किया है तथा फिर कहा है कि राजा "सुपरीक्षित, पवित्र, बुद्धिमान्, वीर, उचित रीति से धन का उपार्जन करनेवाले लोगों को अमात्य बनाये।" जितनों से राज्य का कार्य ठीक प्रकार से चले उतने आलस्यरहित, दक्ष और बुद्धिमान् अमात्य नियुक्त करे। इनमें से अर्थ-प्राप्ति के स्थानों में (भूमि प्राप्त करने तथा धन सम्पादन करने के) काम पर तो वीर

दक्ष, कुलवान एवं पवित्र लोगों को नियुक्त करे और डरपोक लोगों को अन्तःपुर के काम पर नियुक्त करे अर्थात् यह अमात्य अध्यक्षों के रूप में कार्य करें।[१४४] अन्य ग्रन्थों में भी अध्यक्षों की नियुक्ति के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए उनके गुण बताये गये हैं तथा किस कार्य में कैसे व्यक्तियों की नियुक्ति की जाये, यह बताया गया है।[१४५] कौटिल्य ने इन अध्यक्षों के काम का विस्तार से उल्लेख अपने सबसे बड़े अधिकरण में ३६ अध्यायों में किया है (अधिकरण २)।

मन्त्री, अमात्य अथवा अध्यक्ष ये सब राज-कर्मचारी ही हैं परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य राज-कर्मचारी भी होते हैं इसलिए राज्य-कर्मचारियों के सम्बन्ध में ग्रन्थों में विस्तार से वर्णन है। सर्वप्रथम तो कौटिलीय अर्थशास्त्र में राज्य-कार्यालय (अक्षपटल) का उल्लेख है जहां राज्य-कार्य सम्बन्धी सभी पुस्तकें रहती हैं जिसमें आय-व्यय का हिसाब, प्रत्येक वस्तु के तथा उसके मूल्य के सम्बन्ध में पूरा विवरण, देश, ग्राम, कुल, जाति, और सङ्घों (समूहों) के धर्म, व्यवहार, चरित्र (प्रथाओं) का पूर्ण उल्लेख, कर्मचारियों के वेतन आदि का विवरण, दण्ड से प्राप्त धन का विवरण तथा मित्र और अमित्रों के साथ सन्धि और युद्धों का पूरा उल्लेख है।[१४६] इसके पश्चात् यह भी बताया गया है कि मनुष्यों का मन सदा एक-सा नहीं रहता और क्योंकि मनुष्य कई बार कार्य में गड़बड़ी करने लगते हैं इसलिए कर्मचारियों की निरन्तर परीक्षा होनी चाहिए।[१४७] इनकी परीक्षा लेने का यह ढङ्ग है कि गुप्तचरों द्वारा इनके दोषों का पता लगाना चाहिए। इनके घर की जाँच के लिए स्त्री-गुप्तचर होनी चाहिए[१४८] तथा इनके सब गुप्त धन की भी जाँच होनी चाहिए। कर्मचारियों के अन्दर जो दोष उत्पन्न होते हैं वे कौटिल्य के अनुसार हैं—उनका सङ्गठित हो कर राजा अथवा प्रजा का भक्षण करना, उनका पारस्परिक सङ्घर्ष कर राज्य कार्य को हानि पहुँचाना, बिना स्वामी की आज्ञा के कार्य करना, प्रमाद करना, राज्य के अथवा प्रजा के धन का भक्षण करना (गबन अथवा रिश्वत) तथा प्रजा का पीड़न करना।[१४९] इनमें जो कर्मचारियों का सबसे प्रमुख दोष है वह है उत्कोच (रिश्वत) अथवा दूसरे का धन हड़पना और इस दोष से प्रजा की रक्षा करने का बहुत आग्रह है।[१५०] कौटिल्य ने कर्मचारियों द्वारा राज्य के धन-अपहरण का पता लगाने का ढङ्ग, उनके गुप्त धन की जाँच, उनके द्वारा हिसाब लिखने में गड़बड़ी और इस अपराध के लिए कर्मचारियों को दण्ड तथा धन-वसूली आदि का विस्तार से उल्लेख किया है।[५१] कर्मचारियों के जिन अन्य दोषों का यत्र-तत्र उल्लेख किया गया है वे हैं अनुचित, न्याय करना[१५२], स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार करना[१५३], गलत काम करना[१५४], अपराधियों का साथ दे कर उन्हें छोड़ना[१५५], राजा की आज्ञा गलत लिखना[१५६],

मन्त्र खोलना[१५७] तथा शत्रु को सहायता देना।[१५८] निर्दोष कर्मचारियों के नियुक्त करने का इतना अधिक आग्रह है कि कौटिल्य ने विभिन्न शस्त्रधारी दलों से होनेवाली हानि से दुष्ट कर्मचारियों से होनेवाली हानि अधिक बड़ी बतायी है।[१५९] दुष्ट कर्मचारी राज्य की ही हानि नहीं करते अपितु प्रजा को भी बहुत सताते हैं इसलिए कर्मचारियों को कण्टकों के रूप में प्रमुख रीति से बताया गया है और राजा से इस बात का बहुत आग्रह किया गया है कि वह इनसे प्रजा की रक्षा करे।[१६०] दुष्ट कर्मचारियों के रहने से राज्य को होनेवाली हानि प्रदर्शित करने के लिए शान्तिपर्व में कुछ कथाएँ दी हुई हैं जिनमें बताया गया है कि दुष्ट कर्मचारी किस प्रकार से राज्य का नाश करते हैं, किस प्रकार वह प्रामाणिक व्यक्तियों के, अर्थात् जो उनके दुष्कर्मों को रोकने का प्रयत्न करते हैं उनके नाश का प्रयत्न करते हैं और किस प्रकार वह राजा को बहकाकर भ्रम में डालते हैं।[१६१]

भारतीय विचार में यद्यपि राज्य को इतना महत्त्व दिया गया है, परन्तु राज्य की सेवा करना भारतीय विचारकों के मत के अनुसार बहुत हीन है अर्थात् उनके विचार के अनुसार राजा की, (अथवा राज्य की) सेवा करना सम्मान और प्रतिष्ठा की बात नहीं यह एक निम्न श्रेणी का कार्य है। मनु का कहना है कि राजा की सेवा से अच्छे कुल भी अकुलीन हो जाते हैं और जिनका अन्न नहीं खाना चाहिए उनके श्रेणी में राजा को भी रखा है तथा कहा है कि राजा का अन्न तेज हरता है।[१६२] अत्रिस्मृति ने यहाँ तक कहा है कि यदि चारों वेदों को पढ़ कर, सभी शास्त्रों का जाननेवाला व्यक्ति राजा के भवन में भोजन करता है तो वह विष्टा के कीड़े के रूप में जन्म लेता है।[१६३] अङ्गिरास्मृति में[१६४] राजा का अन्न व्यक्ति का तेज हरनेवाला बताया गया है। राज्य-सेवा न करने का यह आग्रह इस कारण से तो किया ही गया है कि राज्य-सेवा करनेवाला कोई ही व्यक्ति सच्चरित्र रहता होगा क्योंकि साधारणतया व्यक्ति अधिकार-मद में आकर चरित्रहीन, अत्याचारी, भ्रष्ट तथा लोभी हो ही जाता है। इसके साथ यह भी एक कारण बताया है कि राजा की सेवा करने पर व्यक्ति की निर्भीक वृत्ति, सत्यवादिता और उचित बात के लिए आग्रह करने का साहस नष्ट हो जाता है। शान्तिपर्व में राज-सेवा का यह दोष स्पष्ट किया गया है। वहाँ एक कथा में उनमें घूमनेवाला एक व्यक्ति राजा से कहता है कि "दूसरे के आश्रय में रहना, चाहे वह कितना ही प्रतापी हो, मैं अच्छा नहीं समझता। राजा के आश्रय में रहनेवालों में राजा के क्रोध के भय से दोष उत्पन्न हो जाते हैं परन्तु वनवासी निर्भय, निःशङ्क (बिना किसी मोह अथवा कामना के) तथा व्रतचारी रहते हैं। राजा के साथ रहनेवाले लोगों के हृदय में राजा के बुलाने पर जो भय उत्पन्न

होता है, वह भय उन लोगों को नहीं होता जो वन के मूल-फल खाने में सन्तुष्ट रहते हैं। बिना परिश्रम के मिलनेवाला पानी तथा भय देनेवाला स्वादिष्ट अन्न इनकी विचार कर तुलना करता हूँ तो देखता हूँ जहाँ निवृत्ति है वहीं सुख है।"[१६५]

कर्मचारियों को वेतन देने और उन्हें सन्तुष्ट रखने का बहुत आग्रह है।[१६६] कामन्दक का कहना है कि जो राजा आजीविका नहीं देता उसे लोग इस प्रकार त्याग देते हैं जैसे सूखे वृक्ष को पक्षी; लोग धन देनेवाले दुश्चरित्र और अकुलीन राजा की भी सेवा करते हैं, परन्तु दुग्धहीन गाय को उसका बछड़ा भी छोड़ देता है।[१६७] इसलिए राजा से कहा गया है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को उसके पद और कार्य के अनुसार आजीविका दे और इसमें कभी कमी न करे।[१६८] कर्मचारियों के वेतन, छुट्टी आदि के नियम शुक्रनीति में विस्तार से दिये हुए हैं तथा कौटिल्य ने भी उनका वर्णन किया है।[१६९] शुक्र के अनुसार वेतन सौर मास (सूर्य के अनुसार अर्थात् सक्रान्ति) से लगाना चाहिए। वेतन तीन प्रकार का होता है—कार्यमान अर्थात् एक निश्चित कार्य बता कर उस कार्य का वेतन देना (Piece Wage), कालमान अर्थात् वर्ष, मास, अथवा दिन के अनुसार वेतन देना (Time Wage), तथा कार्य कालमान अर्थात् इतने काल में इतना कार्य करना आवश्यक होगा और उसका इतना वेतन दिया जायेगा। वेतन न देना अथवा वेतन देर से देना, यह कभी नहीं होना चाहिए। श्रेष्ठ वेतन वह होता है जिसमें वेतन लेनेवाले के पालन-पोषण योग्य सभी व्यक्तियों का पोषण हो जाये। जब केवल अनिवार्य लोगों का ही पोषण हो तो वह मध्यम वेतन है और जब केवल एक ही व्यक्ति का भरण-पोषण हो तो वह हीन वेतन है। इसमें कम-से-कम इतना वेतन अवश्य दे देना चाहिए जिससे आवश्यक पोषित करने योग्य व्यक्तियों का पोषण हो सके (मध्यम वेतन) क्योंकि जिन कर्मचारियों को हीन वेतन दिया जाता है वे शत्रु हो सकते हैं, दूसरे के कार्य का साधन करते हैं और कोश तथा प्रजा का धन हरण करनेवाले होते हैं। उत्सवों में राजा उनसे कार्य न कराये जब तक आवश्यक न हो और श्राद्ध-दिनों में तो बिल्कुल कार्य न कराये। रोगी होने की अवस्था में तीन-चौथाई वेतन दिया जाये परन्तु पाँच वर्ष के भृत्य को बीमारी का तीन मास का अथवा आवश्यकतानुसार कम अथवा अधिक वेतन दिया जाये। यदि कोई सदा रोगी रहता है तो उसके स्थान पर कोई प्रतिनिधि लिया जाये पर यदि कोई गुणी कर्मचारी हो तो उसे रोग की अवस्था में भी सदा आधा वेतन देना चाहिए। बिना काम किये राजा वर्ष में एक बार पन्द्रह दिन का वेतन दे (अर्थात् वर्ष में पन्द्रह दिन का अवकाश दे) और जिसने चालीस वर्ष राजा की सेवा की हो

उसके लिए विना सेवा के ही सदैव के लिए आधा वेतन देता रहे (Pension)। यदि राजा के कार्य में कर्मचारी नष्ट हो जाये तो उसका वेतन उसके पुत्र को बालक रहने तक दे और तत्पश्चात् पुत्र के गुण देख कर उसे वेतन दे। कर्मचारी के वेतन का छटा अथवा चौथा अंश रखना चाहिए (Provident Fund) तथा दो-तीन वर्ष में उसे आधा अथवा पूर्ण वेतन एक बार देना चाहिए (Bonus)। कौटिल्य ने यह नियम संक्षेप में दिये हैं तथा सभापर्व में भी [१७०] कहा है कि राजा का कर्तव्य है कि उसकी सेवा में मरे व्यक्ति की पत्नियों का वह पोषण करे। कर्मचारियों को वेचने और गिरवी रखने के अधिकार से रहित भूमि देने का नियम कौटिल्य ने वताया है तथा शुक्र का भी कहना है कि यदि भूमि कर्मचारी को दी जाये तो तभी तक के लिए जब तक वह जीवित रहता है।[१७१]

केन्द्रीय कर्मचारियों-सम्वन्धी नियमों के अतिरिक्त राज्य की शासन-व्यवस्था के पूरे ढांचे का तथा स्थानीय शासन-व्यवस्था का भी भारतीय ग्रन्थों में वर्णन किया गया है। मनुस्मृति, विष्णुधर्मसूत्र, शान्तिपर्व, अग्निपुराण में[१७२] इस सम्वन्ध में बताया है कि राज्य में एक गाँव, दस गाँव, वीस गाँव, सौ गांव तथा सहस्र गांव के अधिपति नियुक्त करने चाहिए। यदि ग्राम में कहीं दोष उत्पन्न हो तो एक गाँव का अधिकारी दस ग्राम के अधिकारी से जा कर निवेदन करे, दस ग्राम का अधिकारी वीस ग्राम के अधिकारी से और इसी प्रकार क्रमशः अपने से ऊँचे-ऊँचे अधिकारी से जा कर नीचे के अधिकारी अपने क्षेत्र की गड़बड़ी बतायें। इसके अतिरिक्त नगरों के भी अधिकारी नियुक्त करने का उल्लेख है तथा यह कहा है कि इन सब ग्रामों तथा नगरों के अधिकारियों के ऊपर एक सचिव हो जो धर्मज्ञ हो, सदैव सन्नद्ध रहने-वाला हो तथा स्निग्ध स्वभाव का हो। वह सचिव, जैसे नक्षत्रों के ऊपर ग्रह रहते हैं उसी प्रकार वह उन सबकी स्वयं देखभाल करे। इसके साथ उसके लिए यह भी आवश्यक है कि गुप्तचरों द्वारा स्थानीय अधिकारियों के हाल-चाल जानता रहे क्योंकि यदि कोई अधिकारी हिंसक, पापी, परधन को लूटनेवाला शठ हो तो उनसे प्रजा की ठीक से रक्षा की जानी चाहिए। इन सब अधिकारियों को इनके कार्य के अनुरूप वेतन आदि मिलना चाहिए अर्थात् ग्रामवासियों द्वारा राज्य के लिए उस ग्राम से प्रतिदिन जो अन्न, वस्त्र, ईंधन दिया जाने योग्य है वह उस एक ग्राम के अधिकारी को मिलना चाहिए तथा दस गांव का अधिकारी एक कुल की आय का तथा वीस ग्राम का अधिपति पांच कुलों की आय का भोग करे, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए। इसी प्रकार सौ ग्राम के अधिपति को एक ग्राम की आय, जो ग्राम बड़ा, समृद्धिशाली तथा अच्छी जनसंख्यावाला हो तथा सहस्र ग्राम के अधिकारी को एक शाखा-

नगर की आय उसके स्वयं के लिए मिलनी चाहिए। शुक्र ने यह बताया है कि दस ग्रामों का अधिपति "नायक" कहलाता है, सौ गाँवों के अधिपति को "अनुसामन्त" कहते हैं, सहस्र गाँवों के अधिपति को "सामन्त" तथा दस सहस्र गाँवों के अधिपति को "आशपाल" अथवा "विराट" कहते हैं।[१७३] कौटिल्य ने भी लगभग ऐसी ही व्यवस्था राज्य की बतायी है।[१७४] उसने इस सब स्थानीय व्यवस्था की देखरेख के लिये एक अध्यक्ष अथवा सचिव की नियुक्ति का उल्लेख किया है जिसका नाम "समाहर्त्ता" बताया है जिसके आधीन जनपद की व्यवस्था का उसने विस्तार के साथ उल्लेख भी किया है।[१७५] "समाहर्त्ता" जनपद (राज्य के क्षेत्र) को चार भागों में बाँटे जिनमें से प्रत्येक की देख-रेख के लिए "स्थानिक" नाम के अधिकारी को नियुक्त करे तथा पाँच गाँव अथवा दस गाँवों पर "गोप" नामक अधिकारी की नियुक्ति करे (शुक्र के अनुसार "नायक")। पुस्तकों में गाँवों के लिये कृषि-योग्य स्थान, बञ्जर, ऊँचे स्थल (टीले आदि), उद्यान, वन, चैत्य, देवालय, तालाब, श्मशान, सत्र (यज्ञस्थल), प्याऊ, पुण्यस्थान, मार्ग, खेत, खेतों की सीमा, वन की सीमा, मार्ग की सीमा तथा खेत को किसी को जोतने-बोने के लिए देना, खेत का विक्रय, दान तथा कर से मुक्ति आदि सब निबन्धित होना चाहिए। घर में से कितने कर देनेवाले हैं, कितने कर देनेवाले नहीं है यह भी लिखा जाना चाहिए। इन घरों में से कितने घर किस वर्ण के हैं, कितने किसान, ग्वाले, व्यापारी, कारीगर तथा सेवक हैं, कितने पशु-पक्षी हैं और यहाँ से राज्य को कितना सुवर्ण, कितनी बेगार, कितना शुल्क और कितना दण्ड प्राप्त होता है यह भी लिखा जाना चाहिए। कुलों के विषय में तथा उनके स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्धों के विषय में उनके कार्य; चरित्र (व्यक्तिगत चरित्र अथवा प्रथाएँ), आजीविका तथा व्यय के परिमाण आदि भी ज्ञात्त होने चाहिए। इसके अतिरिक्त राज्य को ज्येष्ठ, मध्यम, और कनिष्ठ, इन तीन भागों में बाँट कर कौन-से ग्राम कर देने से मुक्त हैं, कौन-से सेना के व्यय में लगे हैं यह भी लिखना चाहिए तथा यह भी लिखना चाहिए कि किस ग्राम में कितना धान्य, पशु, सुवर्ण, वृक्ष, आदि हैं और किसको कितना कर, प्रतिकर देना है। इन सब बातों का पता रखने के लिए तथा बताने के लिए गृहपति (गृहस्थ) गुप्तचरों की योजना की जाये जो ग्राम के खेतों, गृहों, कुलों का ज्ञान दें तथा गृहों के वर्ण, कर्म, उनकी आय-व्यय आदि भी बतायें तथा आनेवाले, जानेवाले, प्रवास करनेवाले तथा दुष्ट लोगों का भी ज्ञान रखें। वैदेहक (व्यापारी) गुप्तचर अपने राज्य में उत्पन्न वस्तु, राज्य की व्यापार-सम्बन्धी वस्तु, खान, सेतु, वन, कारखानों और खेतों में उत्पन्न वस्तुओं का ज्ञान रखें, वह परराज्य में उत्पन्न वस्तु, जल-स्थल के मार्गों से

लोगों और वस्तुओं का आना-जाना, व्यपार की वस्तुओं का मूल्य आदि, शुल्क (चुङ्गी), वर्तनी, (मार्ग-शुल्क), अतिवाहिक (वाहन कर), आदि का भी ज्ञान रखें। तापस, गुप्तचर, किसान, व्यापारी, अध्यक्षों आदि की ईमानदारी-बेईमानी का ज्ञान रखें। पुराने चोर, गुप्तचर, ग्राम के अन्दर, चैत्यों में, मार्गों पर, निर्जन स्थानों में, वृक्ष, नदी, तीर्थ, आश्रम, वन, पर्वत में चोरों तथा शत्रुओं के वीर पुरुषों के प्रवेश करने, ठहरने और जाने का तथा उसके प्रयोजन का ज्ञान रखे। इस प्रकार समाहर्त्ता जनपद के कल्याण का विचार करे। ऊपर राज्य के शासन की जो विस्तृत व्यवस्था वर्णित है, उससे श्रेष्ठ व्यवस्था का देश के प्रशासन के लिए निर्माण करना कठिन है।

राज्य के सम्पूर्ण व्यवस्था के वर्णन के पश्चात् ग्रामों और नगरों की व्यवस्था शेष रह जाती है। गाँवों की परिभाषा शुक्र ने दी है कि जो एक कोस में बसा हो तथा जहाँ से एक सहस्र चाँदी के पण (रुपये) की आय हो वह ग्राम है। आधे गाँव की पल्ली और पल्ली के आधे भाग (चौथाई ग्राम) को कुम्भ कहते हैं।[१७६] कौटिल्य का भी कहना है[१७७] कि कोस, दो कोस की सीमा में गाँव बसाये जायें जिनमें शूद्र और किसान अधिक हों, सौ से लेकर पाँच सौ तक कुल हों तथा जो गाँव एक-दूसरे की रक्षा करने में समर्थ हों और इन गाँवों की सीमा, नदी, पर्वत, वन, खाई अथवा गुफा, सेतु, बाँध अथवा वृक्षों से बनायी जाये। शुक्र ने प्रत्येक ग्राम तथा पुर में छः राज्य-कर्मचारी रखने की व्यवस्था निर्दिष्ट की है—१. ग्राम का अधिपति, २. साहस-अधिपति अर्थात् सुरक्षा-अधिकारी, ३. भागहार अर्थात् राज्य की कृषि-सम्बन्धी आय लेनेवाला, ४. लेखक, ५. प्रतिहार, ६. शुल्कग्राह अर्थात् व्यापारिक वस्तुओं पर शुल्क लेनेवाला।[१७८] इन सबके कामों को विस्तार से बताते हुए शुक्र ने कहा है कि ग्राम का अधिपति माता-पिता के समान, लुटेरों, चोर और अधिकारीगणों से प्रजा की रक्षा करने में दक्ष होना चाहिए। साहसाधिपति न बहुत क्रूर, न बहुत मृदु होना चाहिए और उसे दण्ड का विधान इस प्रकार करना चाहिए कि प्रजा नष्ट न हो। भागहार इस प्रकार से काम करनेवाला हो जो माली के समान वृक्षों को पुष्ट कर उनसे फल और फूल बीने अर्थात् वह इस बात की भी व्यवस्था करे कि लोगों की खेती आदि उत्तम हो तथा वह उतना ही भाग उसमें से ले जिसमें लोग नष्ट न हो जायें। लेखक अर्थात् ग्राम की पुस्तकों आदि की देखभाल करनेवाला पटवारी अथवा लेखपाल ऐसा व्यक्ति हो जो अपना लेख असन्दिग्ध और बिना गूढार्थ के लिखे, गणित में कुशल तथा देश की भाषा को अच्छी प्रकार जानने वाला होना चाहिए। प्रतिहार (चौकीदार) शास्त्र में कुशल, दृढ़ शरीरवाला, निरालसी, विनम्र

और ठीक प्रकार से पुकारनेवाला (पुकार लगानेवाला तथा बुलानेवाला) होना चाहिए। शुल्कग्राह अथवा शौल्किक ऐसा होना चाहिए जो इस प्रकार शुल्क ले जिससे कि व्यापारियों का मूलधन नष्ट न हो।[१७९] कौटिल्य ने भी ग्राम की व्यवस्था का उल्लेख किया है जिसमें ग्राम-अधिकारी तथा ग्रामवासियों द्वारा अपराधियों को दण्ड देने का तथा ग्राम के सामाजिक जीवन की रक्षा का पूर्ण उल्लेख है।[१८०] ग्राम की आन्तरिक व्यवस्था की ही दृष्टि से सीमा-सम्बन्धी झगड़ा निपटाने का अधिकार ग्रामवासियों को बताया गया है।[१८१] विभिन्न जातियों को भी अपने पारस्परिक झगड़े निपटाने का अधिकार है।[१८२] इन सब वर्णनों से प्रतीत होता है कि यद्यपि स्थानीय शासन-व्यवस्था पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण होना आवश्यक माना गया था फिर भी स्थानीय-व्यवस्था बहुत अंशों में स्थानीय व्यक्तियों के हाथों छोड़ दी गयी थी।

नगर की व्यवस्था की दृष्टि से नगर-निर्माण का वर्णन कौटिलीय अर्थशास्त्र, शुक्रनीति, शान्तिपर्व, मत्स्यपुराण और वायुपुराण में है।[१८३] इन सभी वर्णनों में यह बताया गया है कि नगर-निर्माण में नगर की सुरक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए, राजप्रासाद, राज्य-सभा, विभिन्न कार्यालय, नगर की सुविधा की समस्त वस्तुएँ जैसे तालाव-उद्यान आदि, मन्दिर, बाजार, कर्मचारियों के घर, मार्ग, जनता के व्यक्तियों के वर्णानुसार तथा व्यवस्थानुसार घर, धर्मशाला, श्मशान होने चाहिए तथा नगर की आवश्यकता की पूर्ति के लिए विविध वस्तुओं का संग्रह होना चाहिए। नगर कैसा होना चाहिए, इसका शान्तिपर्व में वर्णन करते हुए बताया है कि "जो पुर ऐसा हो जो दुर्ग, धान्य और शस्त्रों से पूर्ण, दृढ़ प्राकारवाला (चारों ओर की दीवाल और परिखा वाला) हो, हाथी, घोड़े, रथों से भरा हुआ, जिसमें विद्वान् और शिल्पी हों, तेजस्वी व्यक्तियों से भरपूर हो, ठीक से सञ्चित किये हुए भण्डार हों, सभी व्यापारिक वस्तुओं से युक्त हो, जिसके लोगों का व्यवहार प्रसिद्ध हो, जो शान्त हो तथा जहाँ भय न हो, जो दमकता हुआ, गाने-बजाने से निनादित, जिसमें बहुत बढ़िया घर हों, शूर और धनवान व्यक्तियों से सम्पन्न हो, वेदध्वनि से गूँजता हुआ हो, जिसमें सामाजिक उत्सव होते हों, सदा देवता की पूजा होती हो ऐसे पुर में अपने अमात्य और सेना को वश में रखनेवाला राजा निवास करे।"[१८४] जनपद के समान नगर के भी पूर्ण प्रबन्ध का कौटिलीय अर्थशास्त्र में वर्णन मिलता है। कौटिल्य ने लिखा है कि 'नागरिक' (नगर का अधिकारी) समाहर्त्ता के समान ही नगर की व्यवस्था करे तथा वह भी नगर को चार भागों में बाँट कर प्रत्येक को एक स्थानिक के आधीन करे तथा दस से ले कर चालीस कुलों पर एक गोप नियुक्त करे। गोप अपनी व्यवस्था में आनेवाले स्त्री-पुरुषों के नाम, गोत्र, जाति, कर्म तथा आय-व्यय जाने, बाहर से आनेवालों पर

ध्यान रखे, और घर के लोग वाहर से आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति की सूचना गोप अथवा स्थानिक को दें अन्यथा उन पर दण्ड हो और यदि वाहर से आनेवाला व्यक्ति कोई अपराध करे तो जहाँ वह ठहरा है उसका गृहस्वामी उस अपराध का दोषी माना जाये। यदि कोई अधिक व्यय करता हो अथवा अनुचित कर्म करता हो अथवा छिपे ढङ्ग से अपने घाव का उपचार कराता हो तो प्रत्येक जानकार को उसकी सूचना भी नगर-अधिकारियों को दे देनी चाहिए। इन नियमों के अतिरिक्त कौटिल्य ने आग से सुरक्षा का, नगर की स्वच्छता का, मृत पशु और मनुष्यों की व्यवस्था का तथा चोरी से सुरक्षा का भी नगर-व्यवस्था के अन्दर विस्तृत उल्लेख किया है।[१८५]

दसवाँ अध्याय

विधि, न्याय और दण्ड

राज्य के शासन में वर्तमान काल में तीन अङ्ग माने जाते हैं – कार्यपालिका, विधायक संस्था और न्यायपालिका। यहाँ तक भारतीय शासन-व्यवस्था के अनुसार कार्यपालिका का तथा उस कार्यपालिका के द्वारा राज्य के प्रशासन का वर्णन किया गया है। अब विधायक संस्था तथा न्यायपालिका का वर्णन अपेक्षित है।

विधि

वर्तमान काल में विधि-निर्माण का कार्य राज्य को करना पड़ता है। समाज के अन्दर जिस समय जैसी स्थिति होती है उस समय उस स्थिति के अनुसार विधि की आवश्यकता पड़ती है। विशेष रूप से उन राज्यों में, जहाँ विधि के अनुसार ही राज्य चलता है (Rule of law), वहाँ तो कोई भी कार्य बिना विधि बनाये किया ही नहीं जा सकता, इसलिए राज्य को प्रत्येक समय विधि बनाना पड़ता है। जनतान्त्रिक राज्यों में यह विधि बनाने का कार्य जनता द्वारा निर्वाचित एक पृथक् संस्था के पास होता है अर्थात् वर्तमानकाल में विधि बनाने के लिए राज्य के अन्दर साधारणतया पृथक् व्यवस्था रहती है, कम-से-कम राज्य-व्यवस्था का वर्णन करनेवाले ग्रन्थों में उसका पृथक् उल्लेख अवश्य किया जाता है। परन्तु, भारत में यद्यपि विधि के अनुसार राज्य का सिद्धान्त मान्य था, फिर भी यहाँ विधि बनाने का कार्य राज्य को उस प्रकार नहीं दिया गया था, जैसा वर्तमानकाल में है। प्राचीन भारतीय राज्य-व्यवस्था का और वर्तमानकालीन (पश्चिमी देशों की पद्धति पर आधारित) राज्य-व्यवस्था के अन्तर का प्रमुख कारण यह है कि जब वर्तमानकाल में राज्य प्रभुसत्ताधारी है और उसे समाज के अन्दर के सभी नियम निर्माण कर समाज-जीवन की

व्यवस्था करने का भी अधिकार है, अर्थात् जब कि वर्तमानकाल में राज्य का समाज के ऊपर प्रभुत्व है--ऐसा कहना चाहिए कि राज्य सर्वग्रासी है--तब भारतीय व्यवस्था में राज्य को स्वयं समाज-नियमों के और समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत रहना आवश्यक माना गया। यह समाज-व्यवस्था उन लोगों द्वारा निर्मित की गयी थी जो समान-जीवन का अनुभव प्राप्त किये हुए, मनुष्य की चरम अवस्था को प्राप्त तथा सांसारिक जीवन के स्वार्थों से निर्लिप्त थे अत: जो समाज की व्यवस्था निर्माण करने के लिए सबसे अधिक योग्य थे, और यह व्यवस्था आप्त वाक्यों के रूप में श्रुति (वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्) में दी गयी थी तथा इसका स्पष्टीकरण नियमों के रूप में स्मृतियों में (जिसके अन्तर्गत धर्मसूत्र, षड्दर्शन के ग्रन्थ, वेदाङ्ग के ग्रन्थ आदि भी आते हैं) तथा कथाओं के रूप में इतिहास-पुराण ग्रन्थों में किया हुआ था, यह व्यवस्था सनातन मानी गयी थी (देखिए पीछे पहिला अध्याय) अर्थात् यह समझा गया था कि यह व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ है और इसी को स्थापित करने का सदैव प्रयत्न करना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह माना गया था कि जिस मात्रा में यह व्यवस्था नहीं रहती उतनी ही मात्रा में समाज की व्यवस्था गड़बड़ रहती है, इसीलिए इस व्यवस्था को अपरिवर्तनीय भी समझा गया था। इस कारण भी समाज की नयी व्यवस्था निर्माण करने का अर्थात् समाज-व्यवस्था के नये नियम बनाने का कोई प्रश्न नहीं था। इसलिए स्वाभाविक ही विधि बनाने का अधिकार राज्य को नहीं दिया गया था और न उसकी कोई आवश्यकता ही समझी गयी थी। फिर, राज्य के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय विचारकों की यह धारणा थी (और यह वर्तमान काल में भी सत्य है) कि राज्य का अधिकार जिन लोगों के पास रहता है—चाहे राजतन्त्र हो, चाहे आभिजात्यतन्त्र (कुलीनतन्त्र) हो, चाहे जनतन्त्र अथवा गणतन्त्र हो—वे सांसारिक दृष्टि से महत्त्वाकांक्षी होते हैं। वे अपने उद्देश्य की सिद्धि में अर्थात् अपने महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति करने के लिए सब प्रकार के छल-छद्मपूर्ण उपाय भी करने में तत्पर रहते हैं। वे निष्पक्ष और निर्लिप्त रूप से तथा साँसारिक जीवन के सङ्घर्षों और स्वार्थों से ऊपर उठ कर विचार कर ही नहीं सकते इसीलिए समाज-व्यवस्था के नियमों का निर्माण करने में वे अयोग्य होते हैं। ऐसे लोगों के हाथ में समाज-नियम बनाने का अधिकार देना भारतीय समाज-व्यवस्थापकों को मान्य नहीं था। इसलिए केवल समाज-व्यवस्था के नियम बनाने का अधिकार ही नहीं, अपितु उन नियमों के स्पष्टीकरण का अधिकार भी राज्य को नहीं दिया गया था तथा उसके स्पष्टीकरण के लिए 'परिषद्' नाम की एक संस्था निर्माण की गयी थी, जिसका नीचे विचार किया जायेगा।

यद्यपि भारतीय समाज-व्यवस्था में समाज-जीवन के नियम बनाने का अधिकार राज्य को नहीं था, परन्तु जैसा बताया गया, समाज-व्यवस्था के नियम तो थे ही। सबसे प्रथम, यह नियम धर्मशास्त्रों में (श्रुति, स्मृति, इतिहास-पुराण) में दिये हुए थे जिनमें सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक तथा वैयक्तिक, शिक्षा, विवाह तथा स्त्री-पुरुष सम्बन्धी आदि सभी प्रकार के नियम थे। इसलिए इस दृष्टि से धर्मशास्त्रों के नियम भी विधि (कानून) के रूप में हैं। भारतीय विचार के अनुसार, इनके सम्बन्ध में राज्य के लिए यह आवश्यक था कि वह देखे कि इन्हीं नियमों के अनुसार समाज का जीवन चले। परन्तु यह नियम इस दृष्टि से विधि अर्थात् कानून नहीं थे कि इनका राज्य द्वारा निर्माण किया गया हो अथवा इन नियमों के आधार पर न्यायालय में विवाद उपस्थित किया जा सके क्योंकि धर्मशास्त्रों के इन नियमों में ऐसे बहुत से नियम हैं जो केवल व्यक्तिगत जीवन के ही हैं जैसे विभिन्न आश्रमों के दैनिक आचार के नियम। ऐसे और भी बहुत-से नियम हैं जो यद्यपि समाज-जीवन से सम्बन्धित हैं और जिनके विषय में यह आग्रह किया गया है कि व्यक्ति को इन्हें पालन करने का प्रयत्न अवश्य करना ही चाहिए परन्तु इनके पालन न करनेवाले के लिए दण्ड का कोई विधान नहीं किया गया है (जैसे ब्राह्मणों को दान देने का, अथवा क्षत्रिय द्वारा गौ, ब्राह्मण, स्त्री, बालकों के लिए लड़ने का नियम)। संक्षेप में, यद्यपि यह नियम राज्य द्वारा लागू किये जाने के लिए हैं, और इस दृष्टि से कानून हैं, परन्तु यह पारस्परिक विवाद के नियम नहीं है। इसलिए धर्मशास्त्रों तथा अर्थशास्त्रों में पारस्परिक विवाद के नियम 'व्यवहार' के नाम से दिये हुये हैं। 'व्यवहार' का अर्थ है पारस्परिक विवाद के विविध (वि) सन्देहों (अव) को हरण (हर) करनेवाला साधन। व्यवहार के यह नियम धर्मशास्त्रों के अन्य नियमों (आचार) के ही अनुसार हैं और इसलिए याज्ञवल्क्य, शुक्रनीति तथा अग्निपुराण में कहा है,[1] "स्मृति और आचार के उल्लङ्घन से जो दूसरों द्वारा पीड़ित हो वह यदि राजा के यहाँ (न्यायालय) में आवेदन करे तो वह व्यवहारपद है।" अतः क्योंकि धर्मशास्त्रों के नियमों के द्वारा पारस्परिक विवादों का निर्णय नहीं होता, इसलिए उन नियमों को, जिनके द्वारा व्यक्तियों के पारस्परिक विवादों के निर्णय हो सके, धर्मशास्त्रों ने 'व्यवहार' के नियमों के रूप में दिया है। मनु ने तथा अन्य धर्मशास्त्रकारों ने इन नियमों को अठारह भागों में विभाजित किया है और इन अठारह भागों को व्यवहार के अठारह पद कहा है (देखिए विस्तार से आगे) जिन पदों में अपराध-सम्बन्धी (Criminal) तथा अन्य अर्थ और काम से सम्बन्धित (Civil) नियमों की व्यवस्था दी हुई है। इसलिए

धर्मशास्त्रों के आचार- सम्बन्धी नियमों के अतिरिक्त, यह (व्यवहार के नियम) दूसरे प्रकार की विधि है। परन्तु, समाज के अन्दर रहनेवाले ऐसे भी बहुत-से अङ्ग हैं जिनकी कुछ अपनी अलग प्रथाएँ हैं। समाज के उन अङ्गों को बाध्य करना कि वह अपनी प्रथाएँ छोड़ कर धर्मशास्त्रों के आचार अथवा व्यवहार सम्बन्धी नियमों को माने, अनुचित होगा क्योंकि एक तो, इससे उनमें विरोध करने की प्रतिक्रियात्मक भावना उत्पन्न हो सकती है तथा दूसरे, वे अपने परम्परागत नैतिक आचारों से भ्रष्ट होंगे, और इस कारण, उनकी नैतिक उन्नति न हो कर उनका नैतिक पतन होगा। इसलिए विभिन्न जातियों, जनपदों, कुलों तथा संस्थाओं के नियमों को अर्थात् स्थानीय अथवा जातीय प्रथाओं को मानने का आग्रह है। कौटिल्य ने इन प्रथाओं को राज्य की पुस्तकों में लिखने का आदेश भी दिया है।[२] इसका अर्थ यह है कि भारतीय समाज-व्यवस्था में तीसरे प्रकार की विधि के रूप में प्रथाओं को मान्य किया गया है। उपरोक्त तीन प्रकार की विधियाँ राज्य द्वारा निर्मित नहीं होती हैं परन्तु इन्हें राज्य को मानना पड़ता है तथा न्यायालयों द्वारा निर्णय भी अधिकांश इनके द्वारा होता है। समाज-जीवन को नियमित और संयमित करनेवाली लगभग सभी विधियाँ उपरोक्त तीन प्रकार की विधियों के अन्तर्गत आ जाती हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि राज्य कोई नियम बना ही नहीं सकता अथवा आज्ञा दे ही नहीं सकता। राज्य की आज्ञा द्वारा जो नियम लागू होंगे उन्हें 'राजशासन' कहा गया है।[३] परन्तु राजा की आज्ञा द्वारा या तो वही नियम लागू होने चाहिए जो धर्मशास्त्रों के अन्तर्गत अथवा प्रथाओं द्वारा मान्य हैं जिनके उदाहरण शुक्रनीति[४] में दिये हुए हैं अथवा वे ऐसे नियम होने चाहिए जो तत्कालीन परिस्थिति की दृष्टि से लगाये गये हों। राज्य द्वारा लागू किये इन नियमों को मानना भी आवश्यक है।[५] कानून के इन चार प्रकारों में, जीवन में व्यवहार करने के लिए धर्म के नियम अर्थात् धर्मशास्त्र के नियम सबसे श्रेष्ठ हैं। उनके अनुसार यदि व्यक्ति व्यवहार न कर सके तो 'व्यवहार' के नियमों के अनुसार तो चलना ही चाहिए। परन्तु उन जातियों अथवा कुलों में, जिनकी अपनी प्रथाएँ हैं, और जो इस कारण 'व्यवहार' के नियमों को भी नहीं मानते, उनको अपनी उन प्रथाओं के अनुसार ही व्यवहार करने की अनुमति है, और जो इनको भी मान कर नहीं चलता उसे राजा की आज्ञा तो बाध्य हो कर माननी ही पड़ेगी। इस प्रकार जीवन में व्यवहार में लाने की दृष्टि से यदि तुलना की जाये तो 'धर्म' सबसे श्रेष्ठ है, इसके पश्चात् 'व्यवहार' के नियम हैं, फिर 'चरित्र' (प्रथाएँ) है और फिर 'राजशासन' है, परन्तु न्यायालयों में निर्णय की दृष्टि से इसके विपरीत स्थिति

है। न्यायालयों द्वारा धर्म, व्यवहार तथा चरित्र की तुलना में प्रमुखता राज-शासन को दी जायेगी क्योंकि वह तत्कालीन परिस्थिति के लिए बनाये हुए नियम हैं और इसलिए धर्म, व्यवहार तथा चरित्र के होते हुए भी उनके अनुसार ही निर्णय होगा। विधि (कानून) के शेष तीन स्रोतों में 'धर्म' और 'व्यवहार' के नियमों की श्रेष्ठता मानने पर भी किसी व्यक्ति के विषय में उन्हीं प्रथाओं के अनुसार निर्णय होगा जिन प्रथाओं के अनुसार वह जीवन व्यतीत करता है।[६] इसी प्रकार धर्म और व्यवहार में तुलना करते हुए न्यायालयों द्वारा निर्णय 'व्यवहार' के नियमों के अनुसार दिया जायेगा। न्यायालयों द्वारा विधियों के इन स्रोतों को इस क्रम में माने जाने का यह प्रमुख कारण है। यद्यपि धर्म, व्यवहार, चरित्र, राजशासन में पहली-पहली विधियाँ अधिक श्रेष्ठ हैं परन्तु इसी कारण वे व्यवहार में लाने के लिए अधिक कड़े भी हैं, इस कारण उनका पालन करना भी कठिन है। अतः जो व्यक्ति जिस प्रकार के नियमों का पालन करता है अथवा कर सकता है, उसके सम्बन्ध में वैसे नियमों से अधिक कड़े नियमों के अनुसार निर्णय करना न तो सम्भव ही होगा, न यह उचित ही होगा। यद्यपि विधि (समाज-नियमों) की दृष्टि से धर्म, व्यवहार से और व्यवहार, चरित्र से तथा चरित्र, राजशासन से श्रेष्ठ है अर्थात् पहले-पहले बतायी गयी विधियाँ मनुष्य के जीवन में पालन करने के लिए तुलनात्मक अधिक उन्नत समझी गयी हैं परन्तु विवादों में लागू करने के लिए पीछे कही हुई विधियाँ पहले कही हुई विधियों की तुलना में पहिले लागू की जायेंगी। यही उचित भी है। इसी बात को कौटिल्य ने विधि के इन चार स्रोतों का वर्णन करते हुए कहा है कि "धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन—यह व्यवहार के चार पद हैं और इनमें बादवाले पद पूर्व के व्यवहारवादों की तुलना में पहले लागू किये जाने योग्य हैं। धर्म, सत्य में स्थित है तथा व्यवहार, साक्षियों पर, चरित्र मनुष्यों के संग्रह में स्थित है और शासन, राजा की आज्ञा में।"[७]

यह जितने भी नियम अथवा विधियाँ हैं, उनका विशेष परिस्थिति में अर्थ करने की भी आवश्यकता है। धर्मशास्त्रों के नियमों का अर्थ करने के लिए भारतीय व्यवस्था में एक संस्था निर्माण की गयी है जिसका नाम है 'परिषद्'। परिषद् के विषय में मनुस्मृति में कहा गया है,[८] इस "स्मृति में बताये गये धर्म के विषय में यदि कभी शङ्का हो तो जिसे शिष्ट ब्राह्मण कहें उसी को शङ्कारहित हो कर धर्म समझना चाहिए। जिन्होंने धर्मानुसार (विधि के अनुसार गुरु से ब्रह्मचर्याश्रम में रह कर) वेद को अङ्गों आदि के सहित पढ़ा है उनको ही, श्रुति का प्रत्यक्ष भाव बतानेवाले शिष्ट ब्राह्मण समझना चाहिए अथवा दस अथवा तीन श्रेष्ठ व्यक्तियों की परिषद् में धर्म का निर्णय होना चाहिए और वह व्यक्ति जिसे

धर्म बतायें उससे विचलित नहीं होना चाहिए (अर्थात् उसे मानना चाहिए)। दस श्रेष्ठ व्यक्तियों की परिषद् में तीन व्यक्ति तीन वेदों को जाननेवाले, एक नैयायिक, एक तार्किक, एक निरुक्त का ज्ञाता, एक धर्मशास्त्र जाननेवाला तथा तीन व्यक्ति तीन आश्रमों के रहने चाहिए। धर्म-संशय के निर्णय के लिए तीन व्यक्तियों की परिषद् में ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद के ज्ञाता रहने चाहिए। एक भी श्रेष्ठ वेदज्ञाता ब्राह्मण जिसे धर्म कहे, उसे ही श्रेष्ठ धर्म समझना चाहिए और सहस्रों अज्ञानियों द्वारा कहे हुए को नहीं। व्रतों का पालन न करनेवाले, मन्त्रों को (वेद को) न जाननेवाले, केवल जाति के ब्राह्मण के रूप में जीवित रहनेवाले सहस्र व्यक्ति भी यदि एकत्रित हो जायें तो उसे 'परिषद्' नहीं कहते। तमोगुणी, धर्म न जाननेवाले मूर्ख यदि किसी बात को धर्म कहते हैं (अर्थात् यदि परिषद् में ऐसे लोग हों) तो उस धर्म के नाम से कहे हुए (अधर्म) का पाप शतगुणित हो कर उन धर्मकर्ताओं को लगता है।" गौतमधर्मसूत्र, वसिष्ठधर्मसूत्र, याज्ञवल्क्यस्मृति, तथा पराशरस्मृति में भी परिषद् के सम्बन्ध में ऐसे ही नियम दिये हुए हैं।[१] इन नियमों को यदि सुसूत्र रूप में देखा जाये तो उनके अनुसार परिषद् साधारणतया दस धार्मिक (धर्मशील और धर्मज्ञाता) व्यक्तियों की होनी चाहिए और यदि दस व्यक्तियों की परिषद् निर्माण करना सम्भव न हो तो उससे कम परन्तु योग्य व्यक्तियों से धर्म-निर्णय कराया जा सकता है और एक भी योग्य व्यक्ति का निर्णय माना जा सकता है परन्तु कई निर्गुणी और अयोग्य लोगों का नहीं अर्थात् परिषद् की संख्या पूरी करने के लिए दुर्गुणी अथवा अवगुणी ब्राह्मणों को नहीं रखना चाहिए। यह नियम तो धर्मशास्त्रों द्वारा बताये गये नियमों का अर्थ करने के लिए हैं और उसके लिए 'परिषद्' नाम की संस्था निर्माण की गयी है अतः इन नियमों के अन्तर्गत आचार और व्यवहार दोनों के नियम सम्मिलित हैं। यह 'परिषद्' ही एक प्रकार से विधायक संस्था भी कही जा सकती है क्योंकि धर्मशास्त्रों के नियमों को तत्कालीन परिस्थिति में लागू करने का अधिकार इसी को है। परन्तु यह विधायक संस्था भी धर्मशास्त्रों के नियमों में परिवर्तन नहीं कर सकती, केवल इतना ही कर सकती है कि यह निर्णय करे कि उन नियमों को प्रत्येक नयी समस्या में किस अनुसार लागू किया जाये। अतः इस संस्था को भी सीमित विधायक अधिकार है। वर्तमानकालीन विधायक संस्थाओं में और इस विधायक संस्था में एक अन्तर यह भी है कि यह विधायक संस्था राज्य का अङ्ग नहीं है और न राज्य-व्यवस्था के आधीन। इस अनुसार भारतीय विचारकों ने विधि बनाने के कार्य से राज्य को तो बिलकुल अलग रखा ही है, साथ-ही-साथ उन्होंने धर्मनियमों के अर्थ (interpretation) के माध्यम से भी समाज-नियमों का परिवर्तन अमान्य किया है। अतः विधि के परिवर्तन अथवा विकास

की धारणा भारतीय विचारकों को मान्य नहीं है। व्यवहार के नियमों के अर्थ करने के सम्बन्ध में यह भी एक नियम है कि जहाँ भी धर्मशास्त्रों के व्यवहार-सम्बन्धी नियमों में पारस्परिक विरोध होगा वहाँ तर्क के आधार पर यह निर्णय करना चाहिए कि वहाँ किसे ठीक माना जाये।[10] जहाँ तक प्रथाओं के अर्थ का प्रश्न है, विभिन्न जातियों के निर्णय के लिए उनके अपने पृथक् न्यायालय होने की व्यवस्था है[11] अतः प्रथाओं के अर्थ उन्हीं वर्गों के द्वारा होंगे जिन वर्गों में वह प्रथाएँ मान्य होंगी। राजाज्ञाओं का अर्थात् राजशासनों का अर्थ राज्य के न्यायालय द्वारा तथा अन्तिम रूप में राजा के द्वारा होगा ही। इस प्रकार भारतीय राज्य-रचना तथा समाज-रचना में विभिन्न प्रकार की विधियों (समाज-जीवन सम्बन्धी नियमों) के निर्णय की ऐसी व्यवस्था निर्माण की गयी कि सभी प्रकार की विधियों का निर्णय उपयुक्त व्यक्तियों द्वारा हो जो उन नियमों की भावनाओं को ठीक से समझ सकें तथा जो उन नियमों के प्रयोग के सम्बन्ध में अधिकृत रीति से बोल सकते हों।

न्याय-व्यवस्था

इन विधियों के अनुसार समाज का जीवन चलना चाहिए। इन विधियों का उल्लङ्घन करने के कारण कुछ ऐसे कृत्य होते हैं जिनसे समाज-जीवन में अव्यवस्था बढ़ती है। ऐसी स्थितियों में व्यक्तियों के इन पारस्परिक सङ्घर्षों को दूर करना और इन सङ्घर्षों को उत्पन्न करने में जो व्यक्ति कारणस्वरूप हैं उनको, तथा समाज में जो अव्यवस्था उत्पन्न करनेवाले व्यक्ति हैं उन्हें, दण्ड देना राज्य का कार्य है। इसलिए इस बात पर बहुत आग्रह किया गया है कि राजा को 'व्यवहार' के द्वारा दुर्बलों का रक्षण,[12] प्रजा-पालन और दुष्ट-निग्रहण[13] करना चाहिए, इसी से राजा के पाप नष्ट होते हैं[14]। इसलिए धर्मपूर्वक दण्ड का प्रयोग करने का अर्थ ही 'व्यवहार' है[15]। न्याय का कार्य राज्य के लिए इतने महत्त्व का है कि न्याय करने के कार्य को राजा के लिए यज्ञ के समान फलदायक कहा है[16] तथा इसीलिए राज्य में न्याय होना राजा का व्यक्तिगत उत्तरदायित्व माना गया है।[17] इस बात का भी आग्रह किया गया है कि यदि राजा व्यक्तिगत सुख-भावना के कारण प्रजा के न्याय की चिन्ता नहीं करता तो वह नष्ट हो जायेगा।[18] इसलिए राजा नृग का उदाहरण दिया गया है कि दो ब्राह्मण जब पारस्परिक विवाद का न्याय कराने के लिए कई दिन राजा नृग से भेट ही न कर सके तो उनके श्राप के कारण राजा गिरगिट हो गया।[19] कौटिल्य ने भी इस बात पर आग्रह किया है कि राजा अपने स्थान पर आने के बाद, विवाद पर उपस्थित व्यक्तियों को द्वार पर बहुत समय न रोके क्योंकि वैसा होने पर राजा

के निकटवर्ती पुरुष राजा से कार्य में गड़बड़ करवा लेंगे जिसके कारण प्रजा क्रुद्ध हो शत्रु के वश में चली जायेगी।[२०]

न्यायालयों में कुल, श्रेणी, पूग के न्यायालयों का उल्लेख याज्ञवल्क्य ने किया है[२१] और उनका क्रम शुक्र ने बताया है कि "राजा को जिन योग्य कुल, श्रेणी और गणों का ज्ञान हो वे (कुल आदि) साहस (हत्या, डाके आदि) और चोरी के अतिरिक्त (अर्थात् प्रमुख अपराध-सम्बन्धी विषयों को छोड़ कर) शेष विषयों पर मनुष्यों के पारस्परिक विवादों का निर्णय करें। जिस विवाद का निर्णय कुल द्वारा नहीं हुआ (अथवा ठीक से नहीं हुआ), उनका विचार श्रेणी करे, श्रेणी से अज्ञात विवादों का निर्णय गण करे और गणों से अविज्ञात विवादों का निर्णय राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधीश करे। कुल आदि (अर्थात कुल, श्रेणी, गणों के न्यायालयों) से अधिक श्रेष्ठ सभासद् हैं, उनसे बड़ा अध्यक्ष (न्यायाधीश) हैं और सबसे बड़ा धर्माधर्म की योजना करनेवाला राजा है।"[२२] इस विवरण में विभिन्न प्रकार के न्यायालय और उनका क्रम दिया हुआ है अर्थात् सबसे पहले कुल है, फिर उससे श्रेष्ठ श्रेणी है, फिर गण है, फिर सभासद् हैं, फिर न्यायाधीश है, और सबसे अन्त में तथा सबसे ऊपर स्वयं राजा है। इसके अतिरिक्त विभिन्न व्यावसायिक वर्गों के जैसे किसान, कारीगर, नर्तक आदि के न्यायालय होने का भी उल्लेख है जो उन वर्गों के पारस्परिक विवादों का निर्णय करेंगे।[२] ग्रामों के सम्बन्ध में वहाँ के स्थानीय लोगों द्वारा निर्णय करने का[२४] तथा ग्राम के छोटे-बड़े समूहों के लिए (जैसे संग्रहण अर्थात् दस ग्रामों के समूह, द्रोणमुखों चार सौ ग्रामों के समूह तथा स्थानीय आठ सौ ग्रामों के समूह के लिए) भी न्यायालय होने का[२५] अर्थात् स्थानीय न्यायालयों की परम्परा का भी उल्लेख है। राज्य के प्रमुख न्यायालय के रूप में सभा का सभी ग्रन्थों में उल्लेख है। उस सभा का प्रमुख प्रधान न्यायाधीश तथा प्राड्विवाक है और फिर, जिसका उचित न्याय का, सबसे अन्तिम उत्तरदायित्व है वह राजा है। परन्तु इस बात का आग्रह है कि राजा अकेला व्यवहार के प्रश्नों पर निर्णय न दे।[२६] उसके साथ न्याय करनेवाला मन्त्री अथवा प्राड्विवाक अथवा ब्राह्मण अथवा सभ्य होने ही चाहिए जो धर्म के ज्ञाता हों और जिनके व्यवहार के आधार पर राजा ठीक से निर्णय कर सके।[२७] अग्निपुराण ने तो[२८] यह स्पष्ट रीति से कहा है कि राजा को व्यवहार (मुकदमे), ज्ञानी विप्रों के द्वारा देखना चाहिए, अर्थात् जो निर्णय राजा के साथ रहनेवाले ज्ञानी ब्राह्मण दें, उन्हें ही राजा को कार्यान्वित करना चाहिए। राजा को धर्म-निर्णयों में सहायता देने के लिए प्राड्विवाक नाम के जिस मन्त्री का भी उल्लेख है वह साधारणतया ब्राह्मण होना चाहिए तथा शास्त्र का, लोकप्रथाओं का और नीतिशास्त्र का ज्ञाता होना चाहिए।[२९] उपरोक्त

मन्त्री (प्रमुख न्यायाधीश) को विवादियों से प्रश्न करने के कारण (प्राड्) तथा विवेक के अनुसार निर्णय करने के कारण (विवाक) ही प्राड्विवाक कहा गया है। प्राड्विवाक अर्थात् मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों का इसके मुख्य न्यायालय का, जिसमें राजा बहुत बार आ कर निर्णयों को घोषित करता है, का नाम 'सभा' है और इसके जो सदस्य हैं वह 'सभ्य' कहे गये हैं। इस सभा के न्यायाधीशों अथवा सभ्यों की संख्या के विषय में कहा गया है कि मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त कम-से-कम तीन और विद्वान् ब्राह्मण होने चाहिए[३०] परन्तु इससे अधिक अर्थात् पाँच अथवा सात सभ्य भी हो सकते हैं। कौटिल्य ने विभिन्न छोटे-बड़े सभी न्यायालयों के लिए भी न्यायाधीशों की संख्या तीन बतायी है।[३१] ऐसी सभा को, जिसमें वेद के और धर्मशास्त्र तथा स्थानीय आचारों (प्रथाओं) के ज्ञाता ब्राह्मण विद्वान् सदस्य हों, शुक्र ने यज्ञ के समान तथा मनु ने ब्रह्म-सभा कहा है[३२] क्योंकि ऐसे ही ब्राह्मण ठीक से न्याय कर प्रजा को सुखी कर सकते हैं। मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य सब सभ्यों के विषय में यह नियम है कि वह यथासम्भव ब्राह्मण होने चाहिए क्योंकि न्यायकर्ता धार्मिक, निःस्वार्थी तथा चरित्रवान् ही होना चाहिए[३३] परन्तु यदि योग्य ब्राह्मण न उपलब्ध हों तो वह क्षत्रिय अथवा वैश्य भी हो सकते हैं।[३४] वह किसी भी जाति के हों उनके अन्दर वह गुण होने ही चाहिए जो न्याय के लिए आवश्यक हैं। न्यायाधीश के गुण आपस्तम्ब ने संक्षेप में बताये हैं[३५] कि "विद्या और योग्य कुल से सम्पन्न, वृद्ध, मेधावी (बुद्धिमान् और चतुर) तथा धर्म के विषय में भूल न करनेवाला (जानबूझ कर अथवा अज्ञान से) व्यक्ति विवाद में नियुक्त करना चाहिए।" शुक्र ने कहा है कि न्यायाधीशों को वेद का ज्ञाता, इन्द्रियदमन करनेवाला, कुलीन, मध्यस्थ (पक्षपातरहित), अनुद्वेगकारी, स्थिर (शान्तचित्त), परलोक से डरनेवाला, धार्मिक, उद्योगी तथा क्रोध न करनेवाला होना चाहिए।[३६] सभासदों अर्थात् सभ्यों के ये गुण बताये हैं[३७] कि वे व्यवहार के नियमों के ज्ञाता, शुद्ध, आचार शील और गुणों से युक्त, शत्रु और मित्र में समान (पक्षपात न करनेवाले), धर्मज्ञाता, सत्यवादी, निरालसी, काम, क्रोध और लोभ को जीते हुए, प्रियवादी होने चाहिए। इन न्यायाधीशों के अतिरिक्त अन्य भी धर्म के ज्ञाता व्यक्ति सभा के अन्दर अपने विचार प्रकट कर सकते हैं क्योंकि जो शास्त्र को जानता है वह दैवी वाणी ही बोलता है।[३८]

जैसा ऊपर बताया गया है, व्यवहार का निर्णय धर्मशास्त्रों के अनुसार (अर्थात् धर्मशास्त्रों में दिये गये आचार और व्यवहार के नियमों के अनुसार)[३९] अथवा प्रथाओं के अनुसार[४०] होना चाहिए। यह पहले ही बता दिया गया है कि इस बात पर बहुत आग्रह है कि राजा प्रथाओं का उन-

उन लोगों से पालन कराये जो उन प्रथाओं को मानते हैं तथा उनके अतिरिक्त अन्य सब लोगों का अर्थात् शेष समाज का धर्मशास्त्रों द्वारा नियमन करे।[४१] इसका अर्थ यह कि विधि के रूप में समाज के जीवन को सञ्चालित करने के लिए तथा समाज के लोगों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करने के लिए धर्मशास्त्र के नियम तथा प्रथाएँ ही प्रमुख हैं तथा, जैसा बताया गया है, राजा की आज्ञा उन्हीं नियमों को लागू करने के लिए अथवा विशेष परिस्थितियों के लिए ही कुछ नियम बनाने के लिए हैं और इसी कारण न्याय की व्यवस्था का वर्णन करते समय राजा की आज्ञा को मानने का बहुत अधिक उल्लेख नहीं हैं, यद्यपि यह भी कहा गया है कि शिष्टों के संरक्षण तथा दुष्टों के दमन के लिए राजा जो नियम लागू करे (चाहे वह शास्त्रों के हों अथवा स्वयं के लागू किये हुए), उनका पालन अवश्य करना चाहिए।[४२] इसका स्पष्ट अर्थ है कि न्यायालयों द्वारा विधि के रूप में धर्मशास्त्रों तथा प्रथाओं को ही लागू करने का प्रमुख रीति से आग्रह है। शास्त्र के अनुसार निर्णय करने का इतना अधिक आग्रह है कि राजा को मनमानी ढङ्ग से अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार निर्णय नहीं करना चाहिए अथवा जो समझ में आये वैसे नियम नहीं बनाने चाहिए। शुक्र का कहना है,[४३] "स्वयं किये हुए वाक्यों के अनुसार राजा की दी हुई आज्ञा (नियम अथवा निर्णय) राजा को नरक में ले जानेवाली, समाज का नाश करनेवाली, शत्रु की सेना का (राजा के लिए) भय उत्पन्न करनेवाली (प्रजा के असन्तोष के कारण) तथा राजा की आयु और बीज (पुत्र अथवा समूल राज्य) को नष्ट करनेवाली होती है।" धर्मशास्त्रों अथवा प्रथाओं के अनुसार निर्णय करने पर आग्रह होने के कारण इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय व्यवस्था में विधि का राज्य (Rule of Law) अपनी परिपूर्णता में था। यह सिद्धान्त तो लगभग सभी अच्छी, समाज की तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का ध्यान रखनेवाली और राज्यकर्ताओं के अधिकारों को मर्यादित करनेवाली राज्य-व्यवस्थाओं में मान्य है कि राज्य का शासन किसी एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों की इच्छा के ही आधार पर नहीं चलना चलना चाहिए अपितु कुछ निश्चित नियम होने चाहिए जिनके अनुसार शासन का तथा न्याय का सम्पूर्ण कार्य चलाया जाये और व्यक्ति की तथा समाज की स्वतन्त्रताओं को यदि मर्यादित किया जाये तो वह भी कानूनों के ही आधार पर होना चाहिए। इसलिए अन्य मर्यादित राज्य-व्यवस्थाओं में राज्य द्वारा कुछ कानून बनाये जाते हैं और घोषित किये जाते हैं तथा उनके अनुसार राज्य का सारा काम चलता है। परन्तु इसमें एक ओर तो राज्यकर्ताओं को यह सुविधा रहती है कि वह अपनी इच्छानुसार जो चाहे

वह कानून बना सकते हैं तथा, दूसरी ओर, उन्हें यह कठिनाई रहती है कि यदि कहीं कोई गड़बड़ी हो तो उन्हें ठीक करने के लिए पहले कानून बनाने पड़ते हैं और इसके बाद ही वह उस गड़बड़ी को ठीक कर सकते हैं; परन्तु इसमें भी बहुत बार उन कानूनों में छिद्र रह जाने के कारण (और बहुत बार उन कानूनों में प्रयत्नपूर्वक छिद्र खोजने के कारण) उन कानूनों के बनने पर भी गड़बड़ी ठीक नहीं हो पाती। अतः एक ओर तो यदि राज्यकर्ता अन्यायी और स्वार्थी हों तो वह अपने मनमाने कानून बना सकते हैं और इस प्रकार अपनी इच्छा की पूर्ति अथवा स्वार्थ का साधन कर सकते हैं और, दूसरी ओर, यदि वह ईमानदार हैं तो समाज के जो दुष्ट और समाजघातक लोग हैं, उनको वह उनके स्वार्थपूर्ण और घातक कार्यों से रोक नहीं सकते क्योंकि राज्यकर्ताओं को तो कानून की मर्यादाओं के अन्दर चलना ही पड़ेगा। परन्तु यह कानून भङ्ग करनेवाले लोग कानूनों में छिद्र निकालते हुए अपना मनमाना कार्य कर सकते हैं। संक्षेप में, इस राज्य-पद्धति में एक ओर तो आवश्यकता से अधिक ढिलाई है, कि राज्यकर्तागण जो उनकी इच्छा हो वही कानून बना सकते हैं और दूसरी ओर, प्रत्येक छोटी-सी बात के लिए भी कानून बनाने के सम्बन्ध में इतनी अधिक कड़ाई है कि कितनी भी आवश्यकता हो बिना कानून के राज्यकर्तागण अथवा राज्य के अधिकारी कुछ कर ही नहीं सकते। दूसरे शब्दों में, एक ओर तो राज्यकर्ताओं को आवश्यकता से अधिक समाज का नियमन करने की छूट है, और, दूसरी ओर, उन पर आवश्यकता से अधिक अविश्वास है कि वह बिना कानून के एक पग भी आगे न बढ़ें। इसके अतिरिक्त, (जैसा वर्तमान काल में दिखायी देता है) नयी आवश्यकताओं के उत्पन्न होने के कारण नित्य नये कानून बनाने पड़ते हैं और कानूनों की संख्या इतनी अधिक हो जाती है कि सर्वसाधारण व्यक्ति को उन कानूनों का ज्ञान रखना अथवा उन कानूनों के अनुसार अपने जीवन को व्यवस्थित करना कठिन हो जाता है। इसलिए भारतीय विचारकों ने ऐसा मार्ग निकाला जिसमें यह सब कठिनाइयाँ न हों और राज्यकर्ताओं को मर्यादित करते हुए भी उनको इतनी स्वतन्त्रता रहे कि वह उसके अनुसार दुष्टों का दमन कर सके। राज्यकर्ताओं को मर्यादित करने के लिए भारतीय समाज-निर्माताओं ने समाज-व्यवस्था का और राज्य-व्यवस्था का सम्पूर्ण ढाँचा निर्माण कर दिया जिसमें राज्यकर्ताओं के अधिकार तथा उनकी मर्यादाएँ भी स्पष्ट कर दी गयीं और व्यवस्था के इस ढाँचे के अन्दर राज्यकर्ताओं को इतना अधिक कस दिया गया कि वे इस व्यवस्था में कोई भी परिवर्तन न कर सके। इस दृष्टि से कानून का पूरी प्रकार से निर्माण किया गया और भारतीय समाज और राज्य-व्यवस्था में इसी दृष्टि से यह कहा गया

कि धर्म (कानून) राज्कर्ताओं के भी ऊपर है परन्तु राज्यकर्ताओं को इतना मर्यादित करने के पश्चात् तथा राज्यकर्ताओं के ऊपर विभिन्न नियन्त्रण स्थापित करने पर भी (पुरोहित, मन्त्रियों आदि के द्वारा) इस व्यवस्था के अनुसार राज्यकर्ताओं को शेष बातों में स्वतन्त्र छोड़ा गया जिससे वह राज्य का प्रबन्ध अर्थात् समाज का शासन बिना किसी कठिनाई के तथा पूर्ण सुगमता के साथ कर सकें और दुष्ट लोगों को नियन्त्रित करने में उन्हें कोई कठिनाई न उत्पन्न हो तथा वह अबाध रूप से नियमों का पालन करा सकें। इस प्रकार उन्होंने अकारण कानून निर्माण कर, तभी कार्य कर सकने की आवश्यकता, तथा राज्य में बहुत-से कानून निर्माण होने की कठिनाई भी समाप्त कर दी।

इसी प्रसङ्ग में एक अन्य भी प्रश्न उठता है, कार्यपालिका, विधायक-संस्था तथा न्यायपालिका के पृथक्करण का। यह तो समाज-व्यवस्था के वर्णन में सिद्ध किया ही गया है कि भारतीय समाज-व्यवस्था में समाजसत्ता, राज्यसत्ता और अर्थसत्ता को पूर्ण रीति से पृथक् पृथक् किया गया था और जिनके पास इनमें से कोई एक सत्ता थी, उन्हें अन्य सत्ता के ऊपर अधिकार न था। इस प्रकार समाज की व्यवस्था के द्वारा समाज और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का संरक्षण किया गया था। परन्तु भारतीय राज्या-व्यवस्था में इन तीनों कार्यों (कार्यपालिका, विधायक संस्था तथा न्यायपालिका) का पृथक्करण किया गया था जिससे राज्यकर्ता समाज पर मनमाना अत्याचार न कर सकें। विधायक कार्य अर्थात् कानून बनाने का कार्य तो राज्य के पास लगभग था ही नहीं और धर्म के नियमों का परिस्थिति के अनुसार अर्थ करने के लिए भी एक पृथक् संस्था 'परिषद्' थी जो राज्य के अधिकार से स्वतन्त्र थी। प्रथाएँ केवल कुछ विशेष जातियों और स्थानों के नियमन के लिए थीं तथा अधिकांश समाज की व्यवस्था धर्मशास्त्रों के अनुसार ही करने की भावना थी। समाज से सम्बन्धित अधिकांश विधायक कार्य जो परिषद् द्वारा दिया जाता था, वह तो राज्य से पृथक् था ही परन्तु प्रथाओं पर भी राज्य के नियन्त्रण होने का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि प्रथाओं के अन्तर्गत उन्हीं नियमों का समावेश होता है जो किसी विशेष वर्ग अथवा समुदाय में उस समाज के, उस समाज के व्यक्तियों के, तथा उन व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों के नियमन के लिए व्यवहार में स्वतः ही स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाते हैं। विधायक कार्य के इस पूर्ण पृथक्करण के अतिरिक्त कार्यपालिका और न्यायपालिका का भी पृथक्करण भारतीय राज्य-व्यवस्था में था। राज्य का प्रतीक होने के कारण यद्यपि राजा राज्य के इन दोनों अङ्गों पर अधिकार रखता था, परन्तु जैसा अभी विचार किया गया है, राजा जो भी न्याय का कार्य करता था वह उसे न्यायाधीश तथा

अन्य ब्राह्मणों की सहमति से करना होता था जो धर्म के ज्ञाता थे और जो साथ-ही-साथ अपना कार्य करने में स्वतन्त्र भी थे। इस प्रकार यद्यपि राज्य का प्रतीक होने के कारण राजा के पास कार्यपालिका और न्यायपालिका दोनों का उत्तरदायित्व था परन्तु न्याय के कार्य में उसे अन्य स्वतन्त्र व्यक्तियों (सभ्यों आदि के) द्वारा ही सञ्चालित होने का नियम था। एक प्रकार से ऐसा कहा जा सकता है कि राज्य का प्रमुख होने के नाते राजा का यह उत्तरदायित्व अवश्य था कि राज्य में ठीक से न्याय हो, परन्तु निर्णय करना राजा का कार्य न था। पर राजा के अतिरिक्त राज्य की जो शेष व्यवस्था थी, उसमें कार्यपालिका और न्यायपालिका का इससे भी अधिक पूर्ण पृथक्करण था और राज्य के शासन का कार्य करनेवाले तथा न्याय की व्यवस्था करनेवाले व्यक्ति बिलकुल पृथक्-पृथक् थे (जैसा पिछले वर्णन से सिद्ध होता है)। कौटिल्य का स्पष्ट कहना है कि तीन धर्मस्थ और तीन अमात्य राज्य के विभिन्न भागों में व्यवहारों के कार्य करें।[४४] स्पष्ट ही है कि तीन धर्मस्थ न्याय का कार्य करने के लिए हैं और तीन अमात्य इस सम्बन्ध में शासन की व्यवस्था देखने के लिए हैं। इसी प्रकार न्याय की व्यवस्था करने के लिए पृथक् संस्थाएँ हैं (ग्राम, कुल, श्रेणी आदि की) और शासन का प्रबन्ध करने के लिए पृथक् व्यक्ति हैं (राज्य-कर्मचारी)। इस प्रकार भारतीय राज्य-व्यवस्था में कार्यपालिका और न्यायपालिका का भी पूर्ण पृथक्करण किया गया है। कार्यपालिका, न्यायपालिका और विधायक मण्डल का पृथक्करण इस ढङ्ग से स्पष्ट रीति से समझा जा सकता है कि भारतीय व्यवस्था में कार्यपालिका का कार्य 'मन्त्रि-परिषद्' द्वारा, न्यायापालिका का कार्य 'सभा' द्वारा तथा विधायक कार्य 'परिषद्' द्वारा होने का नियम था और यह तीनों संस्थाएँ पृथक् और एक-दूसरे से पूर्ण स्वतन्त्र थीं। इन सबका सम्बन्ध करनेवाला राज्य का प्रतीक राजा था, जो कार्यपालिका का कार्य तो प्रत्यक्ष देखता ही था, साथ ही सभा के परामर्श से विवादों के निर्णय घोषित करने का भी उसे कार्य था और विधायक 'परिषद्' द्वारा निश्चित किये हुए धर्म को भी लागू करने का उसे काम था।

भारतीय न्याय-व्यवस्था में ठीक न्याय होने पर तथा निर्णयकर्ताओं के पक्षपातरहित होने पर बहुत आग्रह किया गया है अर्थात् चाहे मूल से हो चाहे पक्षपात से अन्याय न होना चाहिये।[४५] वसिष्ठ ने तो यह भी एक नियम बताया है[४६] कि यदि किसी दण्डनीय व्यक्ति को दण्ड न मिले अर्थात् यदि वह छूट जाय तो राजा को एक दिन का और पुरोहित को तीन दिन का उपवास करना चाहिये तथा यदि किसी निर्दोष व्यक्ति को दन्ड मिल जाय तो राजा को तीन दिन का उपवास करना चाहिये तथा पुरोहित को कृच्छ्र व्रत करना चाहिये।

इसका अर्थ यह है कि भारतीय विचार के अनुसार यद्यपि किसी पापी का छूटना भी बड़ा भारी दोप है परन्तु निर्दोष व्यक्ति को दन्डित होना उससे भी भयङ्कर बात है। उचित न्याय की दृष्टि से यह भी आग्रह था कि राजा अथवा सभासद क्रोध, लोभ, मोह रहित होकर ही विवादों को सुनें[४७] क्योंकि ऐसा करने पर ही प्रजा उनसे सन्तुष्ट रहती है और ऐसा होने पर ही प्रजा राजा का अनुगमन करती है। मोहादि से राजा को इतने दूर रहना चाहिये कि स्वयं के पुत्रादि भी हों तो भी उनके प्रेम से प्रभावित न होना चाहिये।[४८] न्याय में पक्षपात न करने का स्पष्ट उल्लेख भी है।[४९] शुक्र ने कहा है कि सभ्यों के लिये अपक्षपात भी भूषण है।[५०] शातातप का कहना है[५१] कि सभा में पक्षपात करने वाले को उसके इस कर्म के परिणाम स्वरूप (कर्मफल के रूप में) पक्षाघात (लकवा) हो जाता है तथा अग्निपुराण में गलत निर्णय देने को ब्राह्मण वध के समान महापातक माना गया है।[५२] पक्षपात न हो, इसके लिये लोभ, भय, वैर आदि को तो मना किया ही गया है साथ-साथ यह भी अन्य नियम बताये हैं कि गुप्त रूप से विवाद न सुनने चाहिये, पक्ष और उत्तर दोनों ही वादियों के समक्ष सुने जाने चाहिये[५३] तथा निर्णय दोनों वादियों को सुनने के पश्चात् ही होना चाहिये।[५४] पक्षपात रोकने के लिये इस बात का भी आग्रह है कि राजा और सभासदों को एक-दूसरे के ऊपर रोक रखनी चाहिये अर्थात् यदि सभासदों की कोई बात अनुचित हो तो राजा को चाहिए कि वह उसे न माने। उसे स्वयं भी कोई अनुचित बात न करनी चाहिये और यदि वह ऐसा करे भी तो सभासदों को चाहिये कि वे उसकी उपेक्षा न करें और निर्भयतापूर्वक उसका विरोध करें।[५५] यह तो ऊपर बताया ही गया है कि सभासदों से सभा में सत्य ही बोलने का आग्रह है (मनु का उद्धरण) परन्तु सभासद् अन्याय न करे, इसके लिये भी यह नियम है कि यदि सभासद रिश्वत ले अथवा गलत न्याय करे अथवा राग, लोभ, भय के आधार पर विवादों का निर्णय करें अथवा धमकी देकर वादी से कुछ लिखवा ले अथवा गुप्त रूप से पक्ष और उत्तर को सुने तो उन्हें दण्ड देना चाहिये।[५६] कौटिल्य ने न्यायाधीशों के विभिन्न अपराधों का उल्लेख किया हैं जिनमें वादी को धमकाना, फटकारना, निकाल देना, रिश्वत लेना, न पूछने योग्य बात को पूछना अथवा पूछने योग्य बात को न पूछना, पूछी हुई बात की उपेक्षा करना आदि सम्मिलित किये हैं और यह भी कहा है कि यदि न्यायाधीश गलत सुवर्ण दण्ड देता है तो उससे उसका दुगुना दण्ड लेना चाहिये अथवा यदि वह गलत शारीरिक दण्ड देता है तो उस पर भी शारीरिक दण्ड होना चाहिये।[५७] न्याय ठीक से हो, इसके लिये लेखक (पेशकार) के सम्बन्ध में भी कहा है कि यदि वह गलत लिखे अर्थात् न कही हुई बात

लिख ले, कही हुई बात न लिखे, गलत बात को ठीक से बनाकर और ठीक बात को बुरे ढङ्ग से लिखे अथवा अर्थ में गोलमाल कर दे तो उसे भी दण्ड होना चाहिये।[५८] न्याय ठीक से हो इसके लिये कहा है कि जो भी व्यक्ति विवाद में उपस्थित हो उससे राजा को इस प्रकार बात करनी चाहिये कि वह अपना विवाद अथवा अपनी बात निर्भयता के साथ कह सके[५९] क्योंकि अन्यथा राजा के पास न्याय के लिये उपस्थित होने में ही लोगों को भय रहेगा। विवादों में राजा और सभासदों से तो सत्य बोलने का आग्रह है ही, न्याय ठीक से हो इसलिये वादियों से भी सत्य बोलने का आग्रह किया गया है[६०] तथा यह कहा गया है कि यदि वह असत्य बोले तो उन्हें दण्ड दिया जाय।[६१] इसी प्रकार साक्षियों के सत्य बोलने पर भी आग्रह है।

जहाँ तक न्याय-पद्धति में व्यय का प्रश्न है, भारतीय न्याय-पद्धति में अपना पक्ष उपस्थित करते समय अथवा न्यायालय के समक्ष कोई प्रार्थनापत्र देते समय शुल्क आदि का कोई उल्लेख नहीं है। केवल इतना ही कहा गया है कि अर्थ-सम्बन्धी विवादों में निर्णय होने के पश्चात् राज्य को धन दिया जाये और यह धन वह दे जो न्याय में पराजित हो।[६२] उधार देनेवाला यदि जीता भी तो भी उसे विवाद के लिए उपस्थित धन का कुछ अंश देना पड़ेगा।[६३] पहले प्रकार का धन (पराजित व्यक्ति द्वारा दिया जाने वाला धन) तो दण्ड-रूप है। केवल दूसरे प्रकार का धन ही फीस के रूप में कहा जा सकता है और वह इसलिए है कि वादी ने राज्य के प्रबन्ध का जो प्रयोग किया है उस प्रयोग के बदले में वह राज्य को कुछ धन देता है। परन्तु यह धन भी विवाद के प्रारम्भ में नहीं अपितु न्याय हो जाने पर दिया जाता है। यह तो धन-सम्वन्धी विवादों का नियम है, परन्तु अपराध-सम्बन्धी विवाद में तो किसी भी प्रकार का शुल्क बिलकुल ही नहीं है, केवल पराजित व्यक्ति को दण्ड देने का उल्लेख है।

उपरोक्त विवरण से पता चलता है कि भारतीय न्याय-व्यवस्था में अपराध-सम्बन्धी (Criminal) और धन-सम्बन्धी (Civil) विवादों में भेद किया गया है। इस भेद को स्पष्ट करने के लिए सबसे प्रथम तो इस बात का उल्लेख है कि राजा को अथवा राजा के कर्मचारियों को, केवल छल और अपराधों के विवाद तथा राज्य-विरोधी अपराधों को छोड़ कर, अन्य विवाद स्वयं नहीं प्रारम्भ करने चाहिए।[६४] इस नियम में अपराध-सम्बन्धी विवादों तथा अन्य विवादों का स्पष्ट पृथक्करण है। याज्ञवल्क्य ने भी अर्थ-विवादों का (Civil) स्पष्ट उल्लेख किया है और इस प्रकार उन्हें अपराध-सम्बन्धी विवादों से भिन्न किया है।[६५] मनुस्मृति में भी अपराध-सम्बन्धी विवादों का पृथक् और स्पष्ट उल्लेख है और कहा गया है कि "जिस राजा के पुर में चोर, परस्त्रीगामी,

दुष्ट वचन बोलनेवाला, साहसिक अथवा कठोर वचन बोलनेवाला (विभिन्न प्रकार के अपराधी) नहीं है, वह इन्द्रलोक को जाता है। अपने राज्य में इन पाँचों का निग्रह करनेवाले राजा को सजातियों में (अन्य राजाओं में) साम्राज्य मिलता है तथा संसार में यश प्राप्त होता है।"[६६] कौटिल्य ने भी तीसरे प्रकरण में वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, साहस आदि का उल्लेख किया है, परन्तु यहाँ पर उसने अपराध-सम्बन्धी ऐसे ही विवादों का उल्लेख किया है जिनके विषय में व्यक्ति स्वयं आवेदन करके न्याय पा सकता है, तथा, ऐसे अन्य सभी अपराधों का, जिनको रोकने का प्रयत्न राज्य को ही करना चाहिए, चौथे प्रकरण में 'कण्टकशोधन' के नाम से उल्लेख किया है। इस प्रकार कौटिल्य ने व्यक्तियों के पारस्परिक विवाद तथा राज्य द्वारा उठाये जानेवाले विवादों में स्पष्ट रीति से भेद किया है तथा इसमें अपराध-सम्बन्धी विवादों का और अर्थ-सम्बन्धी विवादों का भी अन्तर बहुत-कुछ मात्रा में स्पष्ट किया है, क्योंकि राज्य द्वारा उठाये जानेवाले विवाद केवल अपराध-सम्बन्धी ही हैं। अपराध-सम्बन्धी और अर्थ-सम्बन्धी विवादों का अन्तर इस प्रकार से भी स्पष्ट होता है कि व्यवहार को जिन अठारह भागों में विभाजित किया गया है उनमें से छः भाग (वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, स्तेय, साहस, स्त्रीसंग्रहण तथा द्यूतसमाह्वय) तो अपराध-सम्बन्धी हैं और शेष भाग अर्थ-सम्बन्धी हैं। इन दोनों प्रकार के विवादों में इस प्रकार से भी भेद है कि यह आग्रह किया गया है कि साहस (डाका, हत्या आदि), स्तेय (चोरी), स्त्री-संग्रहण (परस्त्री-सम्बन्ध, बलात्कार आदि), वाक्पारुष्य (गाली देना, हँसी उड़ाना आदि), दण्डपारुष्य (मारपीट) आदि के विवाद जिस समय उपस्थित हों उन्हें उसी समय सुनना चाहिए और तुरन्त ही उनका निर्णय करना चाहिए परन्तु अन्य विवादों में इतनी शीघ्रता से न्याय करना आवश्यक नहीं है,[६७] यद्यपि यह भी नियम है कि राजा अन्य विवादों के निर्णय में भी विलम्ब न करे 'क्योंकि समय व्यतीत होने से धर्म का नाश करनेवाला महान् दोष उत्पन्न होता है'।[६८] निर्णय शीघ्र हो, इसके लिए यह कहा गया है कि प्रतिवादी को यथाशीघ्र उत्तर देना चाहिए और यदि वह शीघ्र उत्तर न दे तो उसे दण्ड होना चाहिए[६९] तथा वादी को भी अपने साधन तुरन्त प्रस्तुत करने चाहिए अन्यथा वह भी दण्डनीय है। अपराध-सम्बन्धी विवादों और अन्य विवादों में यह भेद बता ही दिया गया है कि अपराध-सम्बन्धी विवाद में वादी को कोई शुल्क नहीं देना पड़ता है, न अन्य कोई भी (टिकिट आदि का) व्यय करना पड़ता है और केवल पराजित व्यक्ति को दण्ड ही मिलता है परन्तु अर्थ-सम्बन्धी विवाद में यदि वादी (ऋणी) जीत भी जाये तो भी उसे अपने जीते धन का कुछ अंश राज्य को देना पड़ता है। एक अन्य भेद यह है कि

अर्थ-सम्बन्धी विवादों में व्यक्ति असमर्थ होने पर (काम में फँसे होने पर) किसी अन्य को अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर सकता है परन्तु अपराध-सम्बन्धी विवादों में यह नहीं किया जा सकता। एक भेद यह भी अर्थ-सम्बन्धी तथा अपराध-सम्बन्धी विवादों में है कि अर्थ-सम्बन्धी विवादों में तो उन्हीं साक्षियों को लिया जायेगा जो वर्जित नहीं है परन्तु अपराध-सम्बन्धी विवादों में कोई भी साक्षी स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि अपराध साधारणतया गुप्त रूप से होने के कारण उनमें जो भी साक्षी हों उन्हें साधारणतया स्वीकार करना आवश्यक ही हो जाता है अन्यथा बहुत बार ऐसे अपराधों में साक्षी ही नहीं मिलेगा।[७०] एक अन्य भेद यह भी है कि कुल, श्रेणी तथा गणों के न्यायालय मूल रीति से अर्थ-सम्बन्धी विवाद सुनने के लिए है, परन्तु अपराध-सम्बन्धी विवादों का निर्णय मूलतया राजकीय न्यायालयों द्वारा होने का ही नियम है। अर्थ-सम्बन्धी विवाद में प्रतिवादी, वादी के ऊपर कोई प्रत्यभियोग नहीं लगा सकता, परन्तु अपराध-सम्बन्धी विवाद में इसकी अनुमति है।[७१] इन दोनों प्रकार के विवादों में अन्य भेद यह है कि अपराध-सम्बन्धी विवादों में प्रतिवादी को तुरन्त ही उत्तर देना होगा अर्थात् उसे उत्तर देने के लिए कोई समय नहीं दिया जा सकता जब कि अर्थ-सम्बन्धी विवादों में कुछ समय दिया जा सकता है।[७२]

भारतीय न्याय-व्यवस्था में अपराध और धन-सम्बन्धी विवादों में तो भेद है ही, निर्णय करने के कानून (Substantive Law) तथा 'व्यवहार' की पद्धति के नियमों (Adjective or Procedural Law) में भी भेद है। व्यवहार के जो अठारह भाग किये गये हैं (अष्टादश पाद) उनमें विभिन्न प्रकार के विवादों के निर्णय के नियम बताये गये हैं और इसके अतिरिक्त, व्यवहार की पद्धति भिन्न रूप से दी हुयी है।[७३] शुक्रनीति में यह व्यवहार-पद्धति विस्तार से दी हुई है, यद्यपि उसका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है।

जो मुकदमे के विषय में अनभिज्ञ हो अथवा अन्य कार्य में व्यस्त हो, उनके विषय में इस नियम का उल्लेख है[७४] कि वह अपने स्थान में अपना कोई 'व्यवहार' का ज्ञाता प्रतिनिधि नियुक्त कर दे और जो जड़, पागल, वृद्ध, स्त्री, बालक, रोगी और मूर्ख हैं, उनके पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के विषय में भी इनके पिता, माता, मित्र, भाई, सम्बन्धी अथवा नियुक्त व्यक्ति इनका कार्य करे। नियुक्त व्यक्ति (प्रतिनिधि) जो कार्य करे, वह उसी व्यक्ति का किया हुआ समझना चाहिए जिसकी ओर से वह कार्य किया जाता है और उसको विवाद के लिए उपस्थित धन का सोलहवाँ, बीसवाँ, चालीसवाँ, अस्सीवाँ अथवा इसका भी आधा वेतन मिलना चाहिए। जितना अधिक धन विवाद के लिये उपस्थित हो, प्रतिनिधि को उतना ही कम प्रतिशत वेतन मिलना चाहिए और जहाँ पर कई व्यक्ति मिल कर एक प्रतिनिधि नियुक्त

करें उसके वेतन की व्यवस्था भिन्न होनी चाहिए। नियुक्त व्यक्ति धर्मज्ञ (धर्म अर्थात् विधि का ज्ञाता) और व्यवहारज्ञ (व्यवहार की पद्धति जाननेवाला) होना चाहिए। यदि नियुक्त व्यक्ति लोभ आदि से गलती करे अथवा दूसरे के हित की बात कहे अथवा निर्धारित से अधिक वेतन ले तो उसे दण्ड देना चाहिए। मनुष्य के मारने में, चोरी में, परस्त्री-सम्बन्ध में, अभक्ष्य-भक्षण में, कन्या-हरण में, कन्या-दूषण में, दण्डपारुष्य अथवा वाक्पारुष्य में, राज्यद्रोह में अथवा साहस (लूट, डाका आदि) में अर्थात् अपराध-सम्बन्धी सभी विवादों में प्रतिनिधि नहीं किया जा सकता और स्वयं को ही विवाद करना आवश्यक है। इन नियमों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह नियुक्त व्यक्ति वर्तमान काल के वकीलों की श्रेणी में नहीं आ सकते क्योंकि साधारणतया यह उन्हीं के द्वारा नियुक्त किये जा सकते हैं जो असमर्थ हैं अथवा कार्य-व्यस्त हैं। अन्य लोगों को प्रतिनिधि नियुक्त करने का अधिकार नहीं है। इसके विपरीत वर्तमान काल में तो यह नियम है कि समर्थ व्यक्ति भी अपनी ओर से वकील कर सकते हैं और वकीलों के साथ-साथ मुकदमों के सुनने में, साधारणतया वादियों को भी उपस्थित रहना ही पड़ता है। अर्थात् वर्तमानकाल में वकील व्यक्ति को मुख्यतया कानूनी सहायता देने के लिए हैं जबकि भारतीय व्यवस्था में प्रतिनिधि की नियुक्ति केवल इसीलिए है कि वह व्यक्ति की असमर्थता में उसे सहायक हो। एक अन्तर यह भी है कि वर्तमानकाल में अपराध-सम्बन्धी विवाद में भी वकील किया जा सकता है जब कि भारतीय पद्धति में ऐसे विवादों में प्रतिनिधि पूर्णतया वर्जित है क्योंकि ऐसे विषयों में तो व्यक्ति को स्वयं ही अपनी निर्दोषिता सिद्ध करनी चाहिए, प्रतिनिधि के माध्यम से नहीं। इसके अतिरिक्त भारतीय व्यवस्था में किसी भी धर्मज्ञ तथा व्यवहारज्ञ व्यक्ति को प्रतिनिधि नियुक्त किया जा सकता है अर्थात् यद्यपि प्रतिनिधि के नाते कार्य करने के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता है परन्तु, क्योंकि सभी ब्राह्मण तथा अन्य व्यक्ति भी धर्मज्ञ और व्यवहारज्ञ हो सकते हैं और क्योंकि राज्य द्वारा ऐसे लोगों के पञ्जीकरण (registration) का कोई उल्लेख नहीं है, इसलिए वर्तमानकाल के समान वकीलों के किसी सीमित वर्ग का उल्लेख भारतीय व्यवस्था में नहीं है। फिर, जब कि धर्म और व्यवहार के नियम स्थायी रूप से निश्चित हैं और उनमें नित्यप्रति वृद्धि अथवा परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं है, वहाँ कानूनों की कोई दुरूहता न होने के कारण ऐसे वकीलों की कोई आवश्यकता भी नहीं उत्पन्न होती और यत्किञ्चित् ही कोई व्यक्ति इस उद्देश्य से अपना प्रतिनिधि नियुक्त करेगा। इसलिए यह निश्चित है कि इन नियमों के अनुसार वकीलों का कोई वर्ग अथवा व्यवसाय होने का कोई प्रश्न नहीं उठता।

न्याय होने पर निर्णय में जो व्यक्ति हार जाता है उसे, चाहे अर्थ-सम्बन्धी

विवाद हो चाहे अपराध-सम्बन्धी विवाद हो, दण्ड मिलने का नियम है। इसके पीछे यह भावना है कि जिस व्यक्ति ने ऐसा काम किया हो जिससे कि समाज में अव्यवस्था हुई हो और जिससे व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में विद्वेष उत्पन्न हुआ हो, उस व्यक्ति को दण्ड मिलना ही चाहिए। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति झूँठ आरोप लगाता है (अर्थात् यदि वादी हारता है) तो इसका अर्थ है कि उसने भी समाज-जीवन में गड़बड़ी उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। इसलिए उसके द्वारा उपस्थित विवाद तो अस्वीकृत होगा ही, झूँठा विवाद उपस्थित करने का उसे दण्ड भी दिया जायेगा। यह दण्ड कई प्रकार का हो सकता है। शुक्रनीति में विस्तार के साथ दण्ड के प्रकार वर्णित हैं[७५] जिनमें भर्त्सना, अपमान करना, नाश करना (व्यक्ति का सब कुछ नष्ट कर देना) बन्धन में डालना, मारना, द्रव्य-हरण करना, निर्वासन करना, अपराधी के ऊपर चिह्न बनाना, बुरी सवारी पर चढ़ना (गधे आदि पर), अङ्ग काटना तथा मृत्यु-दण्ड देना सम्मिलित है। इन सब दण्डों को छः श्रेणियों में इस क्रम से बाँटा गया है—वाग्दण्ड अर्थात् उपहास, धिग्दण्ड अर्थात् भर्त्सना, अर्थदण्ड, बन्धन, शरीरदण्ड तथा वध।[७६] इन दण्डों में धिग्दण्ड और वाग्दण्ड तो सभासद ही दे सकते हैं क्योंकि इनके द्वारा वास्तव में कोई दण्ड नहीं दिया जाता अपितु अपराधी को केवल कड़े शब्द कह कर भविष्य में अपराध से रोकने का प्रयत्न किया जाता है, जो सभासदों द्वारा ही सम्भव है। परन्तु, क्योंकि निर्णयों को घोषित करने का कार्य राजा का है, अतः अन्य दण्डों की घोषणा राजा द्वारा ही (अथवा उसके प्रतिनिधि प्राड्विवाक द्वारा) हो सकती है।[७७] इन छः दण्डों में से भी वाग्दण्ड, धिग्दण्ड, तथा बन्धन का उल्लेख विविध अपराधों के निर्धारित किये गये दण्डों के वर्णन में नहीं है। धर्मशास्त्रों ने तथा अर्थशास्त्रों ने जहाँ भिन्न-भिन्न अपराधों का वर्णन किया है और उनके दण्ड बताये हैं वहाँ अर्थदण्ड, शरीरदण्ड और वध का ही उल्लेख है। अग्निपुराण, कौटिलीय अर्थशास्त्र, याज्ञवल्क्यस्मृति तथा मनुस्मृति में[७८] दण्डों के रूप में प्रमुख रीति से इन्हीं का उल्लेख किया गया है। वाग्दण्ड और धिग्दण्ड तो वास्तव में उस व्यक्ति के ही लिए हैं जो साधारणतया अच्छा है, जो बिना दण्ड के ही ठीक हो सकता है तथा जिसने परिस्थिति के कारण अथवा संसर्ग के कारण अथवा भावावेश में अथवा परिणाम का बिना विचार किये ही कोई अपराध प्रारम्भिक रूप में किया है और इसलिए विभिन्न अपराधों के दण्ड के रूप में उन्हें मानने का कोई कारण नहीं है। जहाँ तक बन्धन का प्रश्न है, बन्धन को भी विभिन्न अपराधों के दण्ड के रूप में उल्लेख न करने का यह कारण है कि भारतीय राजनीतिक विचारकों की यह धारणा थी कि साधारणतया अपराध

के लिए बन्धन के दण्ड का प्रयोग नहीं ही करना चाहिए और जब किसी व्यक्ति को रोक रखने (निरोध करने) के लिए बन्धन में डालना ही बहुत आवश्यक हो जाये तभी उसे बन्धन का दण्ड देना चाहिए। छोटे-मोटे अपराधों के लिए तो व्यक्ति को बन्धन में डालने का कोई लाभ नहीं है, उसके लिए तो अर्थदण्ड पर्याप्त है और जो इतने निर्धन हों कि अर्थदण्ड नहीं दे सकते उनसे उसके बदले में काम ले कर अर्थदण्ड पूरा किया जा सकता है।[७९] छोटे अपराधों में अर्थदण्ड अन्य व्यक्तियों के समक्ष उदाहरण के रूप में भी पर्याप्त है। इसलिए बन्धन की आवश्यकता तो विशेष रूप से ऐसे बड़े अपराधों तथा ऐसी अवस्था में ही उचित समझी जा सकती है जहाँ अपराध करनेवाले व्यक्ति को समाज से अलग हटाना आवश्यक होता है जिससे कि समाज को हानि करनेवाले उस अपराध को वह दुबारा न कर सके और उस बीच में वह ठीक भी हो जाये। फिर भी, बन्धन के द्वारा ऐसे गुरुतर अपराध करनेवाले व्यक्ति को दुबारा अपराध करने से पूर्णतया तभी रोकना सम्भव है जब उसे स्थायी रूप से बन्धन में ही रखा जाये अर्थात् उसे आजीवन कारावास दिया जाये जो कि मृत्यु के ही सदृश है।[८०] इसके विपरीत यदि आजीवन कारावास न दिया तो फिर व्यक्ति तब तक तो शान्त रहेगा जब तक वह बन्धन में रहेगा परन्तु उसके बन्धन से मुक्त होते ही, क्योंकि उसका बन्धन का भी भय समाप्त हो जायेगा, उसे फिर अपराध से रोकना बहुत दुष्कर हो जायेगा। दूसरे, क्योंकि बन्धनागार, जहाँ विभिन्न अपराधी आ कर एक साथ रहते हैं, संसर्ग के कारण, जिसको भारतीय समाजशास्त्रियों ने बहुत प्रभावकारी माना है, मनुष्य की वृत्ति को सुधारने में सहायक नहीं होते अपितु मनुष्य को पतन की ओर ले जाने में ही अधिक सहायक होते हैं, इसलिए भारतीय समाज-व्यवस्थापकों ने विभिन्न अपराधों के दण्डों के वर्णन में बन्धन का लगभग उल्लेख ही नहीं किया है। फिर भी केवल ऐसे लोगों के लिए जो अर्थदण्ड न दे सकें और इसके बदले के रूप में काम न कर सकें[८१] और जिनके अपराध ऐसे भी भीषण नहीं हो कि उन्हें शरीर-क्लेश (अङ्ग-भङ्ग), निर्वासन आदि) अथवा वधदण्ड दिया जा सके, उनके लिए, तथा ऐसे लोगों के लिए जिनको किसी प्रकार रोक रखना आवश्यक ही है—विशेष रूप से राजद्वेष करनेवाले लोग रखे जा सकते हैं, बन्धन की व्यवस्था की गयी है। बन्धन के दण्ड का उल्लेख कई स्थान पर है।[८२] बन्धनागार के विषय में मनु ने कहा है कि उसे राजमार्ग में बनवाना चाहिए जिससे लोग पापियों को देख सकें।[८३] बन्धन का दण्ड उल्लेख करने के बाद भी कौटिल्य का आग्रह है कि एक दिन में अथवा पाँच दिन में बन्धनागार से काम करा कर, शरीर दण्ड दे कर, अर्थ-

दण्ड ले कर, अथवा कृपा कर वैसे ही, उसमें रखे गये व्यक्तियों में से, जिन्हें सम्भव हो, उन्हें उसमें से हटा देना चाहिए[८४] जिसका अर्थ है कि यह प्रयत्न करना चाहिए कि बन्धनागार में कम-से-कम व्यक्ति रहें। बन्धनागार के सम्बन्ध में विस्तार से कौटिल्य ने नियम दिये हैं। बन्धनागार में स्त्री-पुरुषों का पृथक् स्थान होना चाहिए तथा उसमें गुप्त कक्ष भी होने चाहिए।[८५] शुक्र ने कहा है कि आजीवन बन्धन का दण्ड तो वधदण्ड के समान कम ही दिया जाना चाहिए और एक मास, तीन मास, छः मास अथवा वर्ष भर के बन्धन का ही दण्ड देना चाहिए।[८६] बन्धन में रखे गये व्यक्तियों से काम कराने का भी उल्लेख है।[८७] शुक्र ने[८८] इनके लिए मार्ग ठीक करने का काम बताया है। कौटिल्य ने कहा है कि जिनका अल्प अपराध हो, जो बालक, वृद्ध, रोगी, मत्त, उन्मत्त, भूख-प्यास से पीड़ित, थके हुए त्रस्त, अजीर्ण रोगी, दुबल, तथा गर्भिणी और प्रसूतिका स्त्रियाँ हो अथवा जो ऐसी स्त्रियाँ हों जिनके बालक उत्पन्न हुए एक मास ही हुआ हो, उनसे काम न कराना चाहिए।[८९]

शेष दण्डों में जो सबसे बड़ा दण्ड है वह है वधदण्ड। इस वधदण्ड के विषय में यह कहा है कि वधदण्ड अल्प कारण से नहीं होना चाहिए।[९०] वधदण्ड देना चाहिए अथवा नहीं, इसके पक्ष और विपक्ष में तर्क दे कर वधदण्ड देने की आवश्यकता शान्तिपर्व में बतायी गयी है। इसमें एक कथा है कि एक बार राजा द्युमत्सेन के राज्य में कुछ अपराधी वधदण्ड के लिए ले जाये जा रहे थे। उस समय उस राजा के पुत्र सत्यवान ने राजा के पास जा कर कहा कि यद्यपि बहुत-से कार्यों में ऊपर से अधर्म दिखायी देता है फिर भी वह अन्दर से धर्मपूर्ण होते हैं, परन्तु किसी का प्राण हरण करना तो किसी प्रकार धर्मपूर्ण नहीं कहा जा सकता। सत्यवान ने वधदण्ड के विरुद्ध तर्क देते हुए कहा कि जब कुछ लोगों का वध होता है तो जो लोग उन पर निर्भर हैं, वे भी निराश्रित हो कर नष्ट हो जाते हैं। यह भी हो सकता है कि दुष्ट पुरुष यदि जीवित रहें तो उनकी आगे आनेवाली सन्तान अच्छी निकल जाये, परन्तु उन व्यक्तियों को मार कर तो उनका वंशोच्छेद कर दिया जाता है। उसने अन्तिम तर्क के रूप में कहा कि अच्छी सङ्गति में पड़ कर बुरा व्यक्ति भी सुधर जाता है इसलिए वधदण्ड के योग्य लोगों को भी यदि अच्छी सङ्गति में रखा जाय तो वे सुधर जायेंगे। इसलिए उसका आग्रह था कि सब लोगों को ब्राह्मणों के आधीन कर देना चाहिए क्योंकि जब सब लोग ब्राह्मणों को धर्माचरण करते देखेंगे तो स्वयं भी धार्मिक हो जायेंगे। उसके उत्तर में उसके पिता ने बताया कि एक समय था जब वाग्दण्ड से काम चलता था फिर कटु वचन कहने की आवश्यकता हुई, परन्तु अपराध की प्रवृत्ति फिर इतनी बढ़ी कि अर्थदण्ड प्रारम्भ हुआ और फिर भी लोगों को मर्यादा के अन्दर

रखना कठिन हो गया । अपराध की प्रवृत्ति फिर इतनी अधिक बढ़ गयी है कि कुछ लोगों का सुधार तो किया हो नहीं जा सकता इसलिए उनके लिए वधदण्ड ही उत्तम और आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार समाज के पतन के कारण ही वधदण्ड आवश्यक है। जहाँ तक शरीरदण्ड का सम्बन्ध है, उसके विषय में भी शान्तिपर्व में कहा है कि शरीर का अङ्ग-भङ्ग भी अल्प कारण से नहीं होना चाहिए। शरीर के दण्ड के अन्तर्गत अङ्ग-भङ्ग तो है ही, परन्तु चिह्न बना देना अथवा निर्वासन भी है। शरीरदण्डों के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा मनुस्मृति में किया गया है।[११] इन दोनों से हल्का दण्ड अर्थदण्ड है जिसका प्रयोग अधिक किया जा सकता है।[१२] अर्थ-दण्ड तीन प्रकार का है जिसे प्रथम साहस (२५० से २७० पण तक), मध्यम साहस (५०० से ५४० पण तक) तथा उत्तम साहस (१००० से १०८० पण तक) कहा है। अर्थदण्ड के विषय में यह नियम है कि धन के लोभ से कभी अर्थदण्ड नहीं लगाना चाहिए।[१३] इसके विषय में यह भी नियम है कि जो उसे न दे सके उससे काम करा कर उतना अर्थदण्ड पूरा कर लिया जाये और यदि निर्धन ब्राह्मण न दे सके तो उससे धीरे-धीरे वसूल कर लिया जाये। किस-किस अपराध में इनमें से कौनसा दण्ड देना चाहिए अर्थात् कौनसे अपराधों के लिए वधदण्ड बताया गया है, कौनसे अपराधों के लिए शरीरदण्ड का उल्लेख है तथा कौनसे अपराधों में अर्थदण्ड पर्याप्त है, इसका विस्तृत वर्णन धर्मशास्त्रों और अर्थ-शास्त्रों में दिया है जिसका यहाँ उल्लेख अनावश्यक है।

अर्थशास्त्रों और धर्मशास्त्रों में दण्ड की जो व्यवस्था दी हुई है, उससे दण्ड के भारतीय सिद्धान्त भी स्पष्ट हो जाते हैं। एक तो यह बात स्वीकार की गयी कि व्यक्ति जो अपराध करते हैं उनमें से कुछ तो परिस्थितिवश करते हैं तथा कुछ अपनी आन्तरिक दुष्प्रवृत्तियों के कारण करते हैं। जब यह बताया गया है कि सभी बातों का अर्थात् देश, काल आदि का विचार कर दण्ड देना चाहिए[१४] तो उसके पीछे यह भावना है कि कई बार मनुष्य परिस्थितिवश अपराध करता है (विश्वामित्र द्वारा चाण्डाल के कुत्ते का माँस चोरी कर लाना अथवा सप्तर्षियों द्वारा मृत व्यक्ति का माँस पका कर खाना[१५]) और उन परिस्थितियों का विचार कर ही दण्ड देना चाहिए, परन्तु जब यह कहा गया है कि कुछ लोग दुष्ट होते हैं और यदि उनका दमन न किया जाये तो समाज में सुस्थिति ही नहीं रहती तो इसका अर्थ यह है कि कई मनुष्यों की प्रवृत्तियाँ ही बुरी होती हैं और उन्हें केवल दण्ड के द्वारा ही ठीक किया जा सकता है। इसलिए भारतीय विचारकों ने न तो केवल यही माना था कि सब मनुष्य केवल परिस्थिति के कारण ही अर्थात् सामाजिक, आर्थिक, शारीरिक अवस्था के आधार पर ही अपराध करते हैं और

न उन्होंने यही स्वीकार किया था कि अपराध में परिस्थितियों का कोई हाथ होता ही नहीं है। इसके अतिरिक्त दण्ड के उद्देश्य भी उनकी व्यवस्था में स्पष्ट हो जाते हैं। भारतीय विचारकों ने सबसे पहले तो यह माना था कि समाज की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें मनुष्य को न तो अपराध करने की आवश्यकता हो और न उसकी वैसी प्रवृत्ति बने। अर्थात् व्यक्तियों की सभी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए। इसके लिए उन्होंने ऐसी समाज-रचना प्रस्तुत की थी जिसमें सभी व्यक्तियों की आवश्यकता की यथासम्भव पूर्ति हो सके (देखिए, वर्णाश्रम-व्यवस्था का वर्णन) और अन्त में राजा से आग्रह किया था कि वह इस बात का ध्यान दे कि उसके राज्य में कोई व्यक्ति भूखा न रहे अर्थात् वह विभाग करके ही स्वयं उपभोग करे।[९६] दूसरे, उन्होंने यह माना था कि समाज का ऐसा वातावरण और आदर्श होना चाहिए जिससे व्यक्तियों की अपराध की ओर प्रवृत्ति ही न हो और उन्होंने अपनी समाज-रचना के द्वारा वैसा वातावरण निर्माण करने का प्रयत्न भी किया था। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी आवश्यक समझी गयी थी कि समाज के अतिरिक्त मनुष्य को भी इतना शुद्ध बनाया जाये कि वह स्वयं अपराध के प्रति घृणा करे। इसके लिए सभी नैतिक नियमों पर आग्रह था, पाप-पुण्य की, स्वर्ग-नरक की, पुनर्जन्म और कर्मविपाक की कल्पनाएँ थीं तथा आश्रम-व्यवस्था और संस्कारों के द्वारा व्यक्ति को इस जीवन में क्रमशः शुद्ध करने का प्रयत्न था। सबसे अन्त में व्यक्ति को ठीक करने के लिए यदि उसको अपने अपराध करने पर पश्चात्ताप हो तो उसके लिए प्रायश्चित्त थे। इतनी सब व्यवस्था होने के पश्चात् भी यदि कोई व्यक्ति अपराध करे और प्रायश्चित्त न करना चाहे तो, ऐसा माना गया था कि वह अपकी आन्तरिक दुष्प्रवृत्ति के कारण ही अपराध करता है, जिस दुष्प्रवृत्ति को समझा कर ठीक करना सम्भव नहीं है, और उसे ठीक करने के लिए भी दण्ड ही देना पड़ेगा। इसलिए मनु तथा वशिष्ठ का कहना है कि अपराध करनेवाले राजा द्वारा दण्ड पा कर पवित्र हो जाते हैं और पुण्यात्माओं के समान स्वर्ग जाते हैं।[९७] शुक्र ने भी इसी भाव को व्यक्त करने के लिए राजा के सम्बन्ध में कहा है, "असज्जनों को तथा संसर्ग के कारण दूषित लोगों को राजा दण्ड दे कर सदैव सन्मार्ग की शिक्षा दे।"[९८] इसलिए भारतीय विचारकों ने दण्ड को सुधारात्मक माना था, परन्तु दण्ड को सुधारात्मक उन्होंने इसी रूप में माना था कि दण्ड के कारण लोग बुरे मार्ग से हट कर सन्मार्ग में आ जाते हैं।[९९] दण्ड को सुधारात्मक मानने के पीछे उनका यह भाव नहीं था कि अपराधियों के लिये पृथक् सुधारात्मक विद्यालय प्रारम्भ किये जायें। जब उन्होंने सम्पूर्ण समाज की योजना ही सुधार-विद्यालय के रूप में निर्माण की

थी। तब फिर उसके पश्चात् भी अपराध करनेवालों के लिए अन्य किसी सुधार-विद्यालय की न तो आवश्यकता थी और न लाभ, और ऐसा माना गया था कि ऐसे व्यक्तियों के सुधार का तो दण्ड ही एकमात्र साधन हैं। परन्तु दण्ड द्वारा अपराधी के सुधार के साथ-साथ यह भी उनकी धारणा थी कि दण्ड अन्य व्यक्तियों के सामने उदाहरण उपस्थित कर उन्हें भी ठीक मार्ग में रखने में सहायक होता है अर्थात् उन्होंने दण्ड को निवृत्तात्मक (Deterrent) भी माना था। दण्ड शब्द ही 'दम' से बना है, अतः लोगों को दमन करके रखना दण्ड के पीछे का एक भाव है[१००] और इसलिए दण्ड के द्वारा लोगों की दुष्प्रवृत्तियाँ दमन करने की धारणा भारतीय विचारकों की थी। दण्ड की व्याख्या करते हुए भी उन्होंने स्पष्ट कहा था[१०१] कि दण्ड के भय से ही सब लोग अपनी मर्यादा में लगे रहते हैं अन्यथा ऐसा व्यक्ति मिलना कठिन है जो पाप न करे अर्थात् दण्ड के द्वारा व्यक्ति अपराध करने से रोके जाते हैं। बन्धन के दण्ड का जहाँ वर्णन किया गया है उससे यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि दण्ड का संरोधात्मक (Preventive) उपयोग भारतीय विचारकों ने बहुत अधिक स्वीकार नहीं किया था, यद्यपि उसे भी आवश्यक मान्यता दी थी। दण्ड के प्रतिशोधात्मक उपयोग का तो भारतीय विचार में कहीं उल्लेख ही नहीं मिलता है चाहे वह प्रतिशोध व्यक्ति ले अथवा समाज। यह नियम, कि यदि निम्न वर्ण का व्यक्ति ब्राह्मण के किसी अङ्ग पर आघात करे तो आघातकारी का वही अङ्ग काट लेना चाहिए[१०२] प्रतिशोधात्मक भावना पर आधारित नहीं है परन्तु सबके पीछे यही भाव है कि समाज के आदर्श व्यक्ति पर आघात करने का जो दुष्कर्म करता है, उसे समुचित दण्ड अवश्य ही मिलना चाहिए जिससे कि लोगों को ऐसे अपराध करने का फिर साहस न हो। यहाँ भी मूल भाव निवृत्तात्मक ही अधिक है। वैसे तो जितने भी दण्ड होते हैं सभी कुछ अंशों में प्रतिशोधात्मक होते हैं। उतने ही अंश में भारतीय दण्ड-नियम भी प्रतिशोधात्मक थे। व्यक्तियों द्वारा प्रतिशोध लेना तो वर्जित था ही[१०३] समाज के द्वारा प्रतिशोध लिये जाने का भी प्रश्न नहीं उठता क्योंकि जब यह धारणा थी कि समग्र समाज एक इकाई है तो कौन किसके विरुद्ध प्रतिशोध ले। इसलिए भारतीय दण्ड-विधान में निरोधात्मक और सुधारात्मक भाव ही प्रमुख है जिससे मनुष्य धीरे-धीरे अपनी निम्न प्रवृत्तियाँ छोड़ दे और ऊपर उठने का प्रयत्न करे।

ग्यारहवाँ अध्याय

राज्य के अन्य अङ्ग

राज्य की कार्यपालिका, विधायकव्यवस्था तथा न्यायपालिका का वर्णन करने के पश्चात् राज्य के सम्बन्ध में अन्य भी कुछ महत्त्वपूर्ण विषय (अङ्ग) शेष रहते है और वे हैं—कोष, राज्य की सुरक्षा-व्यवस्था (सेना) तथा पर-राज्य-सम्बन्ध (मित्र)। राज्य के अङ्गों में पुर और जनपद की व्यवस्था का पीछे वर्णन कर ही दिया गया है।

कोष

राज्य का शासन चलाने के लिए कोष की बहुत ही आवश्यकता है, इसलिए कोष को राज्य का एक अङ्ग माना गया है। इसीलिए राजा से कोष-संग्रह का आग्रह है।[१] कोष का महत्त्व इसलिए है कि उस पर ही राज्य का अस्तित्व निर्भर रहता है और राज्य द्वारा जितने भी कार्य किये जाते हैं वे कोष पर ही आधारित रहते हैं।[२] जब तक प्रजा, राज्य को कर देकर कोष-वृद्धि न करेगी तब तक यह अपेक्षा करना कि राजा, प्रजा की रक्षा कर सकेगा अथवा सहायता कर सकेगा, अनुचित है। अतः प्रजा के लिए यह आवश्यक है कि वह राज्य को कर दे। मनु को राजा बनाने के सम्बन्ध में जो कथा शान्तिपर्व में तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र में दी हुई है उसमें यही बताया गया है कि प्रजा ने रक्षा करने के बदले में मनु को अपने धनोत्पादन का कुछ अंश देने का आश्वासन दिया।[3] परन्तु एक ओर जहाँ प्रजा को कर देने का कर्तव्य है वहाँ यह भी आवश्यक है यदि राजा कर लेता है तो वह उस कर के बदले में प्रजा की रक्षा करे क्योंकि, यदि राजाओं ने अथवा राज्यकर्ताओं ने प्रजा से कर लिया और कर ले कर प्रजा की रक्षा अथवा सहायता का कम ध्यान दिया और बहुत अधिक धन

स्वयं के उपभोग में व्यय किया तो प्रजा से वह कर लेना अनुचित है। इसीलिए कर अथवा शुल्क, प्रजा द्वारा रक्षा के बदले में राज्य को दिया हुआ धन है जिसे 'वेतन' की संज्ञा दी गयी है[४] और जिसको लेने के कारण राजा प्रजा का दास हो जाता है।[५] इस कारण यह भी नियम है कि कोष राजा के व्यक्तिगत उपयोग के लिए नहीं है[६] और जो राज्य-रक्षा, वेतन, सेना आदि के व्यय के पश्चात् शेष बचे उसे राजा को स्वयं अपने लिए व्यय करना चाहिए।[७] यदि राजा ऐसा न कर प्रजा से कर लेता है और उसकी रक्षा नहीं करता, वह राजा चोर के समान है।[८] धन के रूप में कर प्रजा का वह भाग ही दे सकेगा जो धनोत्पादन के कार्य में लगा हो।[९] शेष लोग जो स्वयं धनोत्पादन का कार्य नहीं करते वह धन के रूप में कर नहीं दे सकते। परन्तु, क्योंकि रक्षा के बदले में प्रत्येक को कुछ-न-कुछ न राज्य को अवश्य देना चाहिए, इसलिए जो केवल धर्म-स्थापना अथवा आत्मोन्नति (आध्यात्मिक) के कार्य में व्यस्त हैं उन लोगों का पुण्य राजा को प्राप्त होता है[१०] और जो व्यक्ति शारीरिक अथवा कारीगरी के कार्यं में लगे हुए हैं उन्हें श्रम के रूप में राज्य को कर देना चाहिए।[११]

धन के रूप में अथवा शारीरिक श्रम के रूप में राज्य को जो कर लेना चाहिए वह भारतीय व्यवस्था के अन्तर्गत निश्चित है अर्थात् राजा इच्छानुसार कर नहीं लगा सकता अपितु जो कर शास्त्रों में (धर्मशास्त्र अथवा अर्थशास्त्र) बताये गये हैं वही कर राजा को लेने चाहिए[१२] और उससे अधिक कर राजा न ले, इसका आग्रह है। यह नियम इसलिए है कि भारतीय समाज-व्यवस्था के निर्माता समाज पर राजा को (अथवा राज्य को) असीमित अधिकार नहीं देना चाहते थे जिससे कि वह मनमाना और उच्छृङ्खल हो कर स्वयं के हित और सुख-सुविधा के लिए प्रजा के ऊपर मनमाना अत्याचार कर सके। धन की सत्ता एक बहुत बड़ी सत्ता है और यदि राजा के अर्थात् राज्यकर्ताओं के पास प्रबल राजनैतिक शक्ति के साथ-साथ, जो स्वयं ही मदकारक है, मनमाना धन लेने का भी अधिकार हो जायेगा तो उनके लिए यह अधिक सरल हो जायेगा कि वे कर्तव्य-भ्रष्ट हो कर सुखोपभोग में लिप्त हो जायें परन्तु यदि धन लेने की मर्यादा रही और यदि उनके पास सीमित धन रहा तो उनकी कर्तव्य-प्रवणता तुलनात्मक अधिक स्थिर रह सकती है। यह नियम इसलिए भी था कि सुख-सुविधा के लिए, धनोत्पादन के लिए (व्यापार के लिए), सामाजिक जीवन के हित के लिए और दान आदि देने के लिए प्रजा के पास आवश्यक धन शेष रहना चाहिए और राज्य अपनी आवश्यकता बता कर अथवा बढ़ा कर प्रजा से धन का उतना अधिक अंश न ले ले जिससे प्रजा को कष्ट हो, उसे आवश्यक कामों को करने में कठिनाई अनुभव होने लगे अथवा

उसे खलने लगे। इसका यह अर्थ नहीं कि धनिक लोग अपने ऐश्वर्य के लिए मनमाना व्यय कर सकते थे और उनका वह ऐश्वर्योपभोग राज्य की अर्थात् समाज अथवा प्रजा की आवश्यकताओं से बढ़ कर था और इन करों को सीमित कर उन्हें राज्य से सुरक्षा प्रदान की गयी थी। इसके विपरीत यह आग्रह था कि जो अपव्यय करते हैं उनसे सब धन छीन लेना चाहिए। कौटिल्य का यह कहना है कि जो मूलहर अर्थात् धन को अनुचित रूप से व्यय करता है, जो तादात्विक है अर्थात् जो स्वयं पैदा करता है उसका स्वयं ही उपभोग कर लेता है और जो कदर्य (कंजूस) है उनसे राज्य, उनकी सम्पत्ति ले ले और यदि वे अपना वैसा ढङ्ग छोड़ दें तभी उन्हें दे।[13] शुक्र का भी यह कहना है कि मिथ्याचारी व्यक्ति का धन राजा हर ले।[14] इसके अतिरिक्त असज्जनों से उनका सब धन छीन लेने का वर्णन कई स्थानों पर आया है।[15] असज्जनों के अन्तर्गत वे धनिक भी हैं जो अपना धन केवल स्वार्थ के लिए उपभोग करते हैं, धर्मकृत्यों के लिए नहीं। "यज्ञशील और देवस्व का धन नहीं हरण करना चाहिए परन्तु निष्क्रिय लोगों का धन (जो धन का सदुपयोग नहीं करते) और दस्युओं का धन अपहरण करने के लिए है। प्रजा का धन या तो सेना (राज्य) के लिए होता है अथवा यज्ञ के लिए। जो ओषधियाँ (वनस्पतियाँ) यज्ञ के अयोग्य होती हैं उन्हें लोग काट कर पकाने (जलाने) के काम लाते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपना धन, देवता, पितर और मनुष्यों के काम में नहीं लाता उस धन को धर्मज्ञाता लोग अनर्थक कहते हैं और हे राजन्! धार्मिक राजा उस धन का हरण कर ले और उससे संसार का रञ्जन करे, उसमें कोई दोष नहीं है। जो राजा असज्जनों से धन ले कर सज्जनों को देता है और स्वयं को मर्यादित रखता है उस राजा को धर्मज्ञानी समझो।"[16] ब्राह्मणों की भी कर से जो मुक्ति है वह केवल विद्वान् धर्मरत (श्रोत्रिय) ब्राह्मणों को ही है।[17] इस सबका स्पष्ट अर्थ है कि राजा के ऊपर कर लगाने की यह मर्यादा इसलिए नहीं थी कि धनिक लोग अपने धन का मनमाना उपभोग कर ऐश्वर्य में मत्त रह सकें, परन्तु इसलिए थी कि राजा कोई भी कारण बता कर (वास्तविक अथवा अवास्तविक) प्रजा से इतना धन न ले ले कि प्रजा को अपना जीवनयापन करना अथवा जीवन के अन्य आवश्यक काम करना ही कठिन हो जाये। करों के सम्बन्ध में मर्यादा रखने का यह भी कारण था कि भारतीय समाज-निर्माताओं ने ऐसी समाज-व्यवस्था निर्माण की थी जिसमें समाज की अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति समाज स्वयं ही कर सके अर्थात् समाज राज्य की सहायता पर अवलम्बित न हो कर अधिकांश विषयों में आत्मनिर्भर रहे। उदाहरण के लिए शिक्षा में विद्यार्थियों और अध्यापकों का

व्यय समाज के ऊपर ही डाल दिया गया था, अथवा वर्णों और जाति-व्यवस्था के द्वारा अपङ्ग, निर्धन आदि लोगों की समस्या का सुलझाव उस जाति के ही द्वारा होता था अथवा सिंचाई के साधन, मार्ग, वृक्ष, पुल आदि अन्य आवश्यकताएँ स्वयं ग्रामीण निर्माण कर लें इसका आग्रह था[१८], अथवा धनिक या अन्य समर्थ लोग उन्हें पुण्यार्थ निर्माण करायें, इस प्रकार का भाव निर्माण करने का प्रयत्न था अथवा इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था थी जिसमें साधारणतया सभी लोग जीवन की अपनी अल्पतम आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें और कोई भूखा न रहे।[१९] इसके पश्चात् ऐसी बहुत कम आवश्यकताएँ शेष रह जाती थीं जो राज्य द्वारा पूर्त या पूर्ण की जायें। फिर भी शिक्षा में, आर्थिक जीवन में सहायता देने का अथवा असहाय लोगों को सहायता देने का कार्य अथवा यह देखने का कार्य कि राज्य में कोई भूखा न रहे, राजा के लिए भी बताया गया था जिससे कि यदि कहीं ऐसी स्थिति हो कि इस प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं समाज के अन्दर से होना सम्भव न हो तो राज्य सहायता के लिए प्रस्तुत रहे और यथासम्भव समाज के किसी कार्य में बाधा अथवा समाज के किसी व्यक्ति के जीवन में कोई कष्ट उत्पन्न न हो। इसलिए उतनी ही आवश्यकता के पूर्ति के लिए कर बताये गये थे। परन्तु राज्य को यह सब कार्य बताये जाने पर भी, समाज की आत्मनिर्भर-स्थिति निर्माण होने के कारण, राज्य के पास व्यवहार में इतने अधिक उत्तरदायित्व न थे जितने वर्तमानकाल में राज्यों के पास दिखायी देते हैं। वर्तमानकाल में तो राज्य के पास समाज-जीवन के सब अधिकार और उत्तरदायित्व केन्द्रित हो रहे हैं और समाज आत्मनिर्भर न हो कर राज्य-निर्भर हो रहा है और प्रत्येक बात के लिए राज्य की सहायता अपेक्षित रहती है। इस कारण वर्तमानकाल के राज्य को उतने अधिक धन की और फलतः धन प्राप्त करने के नित्य नवीन साधन खोजने की आवश्यकता भी न थी और राज्य का काम इन सीमित करों के द्वारा चल जाना सम्भव था। फिर, यह भी विचार था कि यदि राज्य की व्यवस्था उत्तम रही तो राज्य में समृद्धि भी अधिक रहेगी और उस समृद्धि के फलस्वरूप व्यापार आदि पर अथवा कृषि पर लगाया जानेवाला कर स्वतः ही बढ़ेगा अर्थात् राज्य की सुव्यवस्था जैसे-जैसे अधिक उत्तम होगी वैसे-ही-वैसे राज्य की आय भी उस व्यवस्था को ठीक रखने के लिए बढ़ेगी। यदि राज्य की व्यवस्था बिगड़ी तो राज्य की आय भी स्वतः ही कम होगी और फिर ऐसी स्थिति में कोई कारण भी नहीं कि राज्य को अथवा राज्यकर्ताओं को अधिक आय मिले क्योंकि दुर्व्यवस्थावाले राज्य में उस आय का सदुपयोग नहीं होगा, अपव्यय ही होगा। इन सब कारणों से भारतीय राज्य-व्यवस्था में राज्य की

आय के साधन निश्चित और सीमित कर दिये गये थे और नया कर लगाना वर्जित कर दिया गया था।[२०]

साथ-साथ यह भी बताया गया था कि प्रजा से इस प्रकार कर लेना चाहिए कि प्रजा को कष्ट न हो अथवा प्रजा की धन की वृद्धि करने की शक्ति नष्ट न हो जाये। शान्तिपर्व में बताया है कि "राजा युक्तिपूर्वक (वुद्धिमानी के साथ) कर ले, अयुक्तिपूर्वक न ले।"[२१] "जो अर्थ का ही विचार करता है और मोह के कारण अशास्त्रीय कर ले कर प्रजा को पीड़ित करता है वह राजा स्वयं अपनी हिंसा करता है। जो दूधवाला गाय के थनों को काट डालता है उसे दूध नहीं मिलता, उसी प्रकार जो निर्बुद्धिता से राज्य को पीड़ित करता है उसकी वृद्धि नहीं होती।"[२२] "जो राजा इस प्रकार ऊपर से अच्छा दिखता हुआ भी प्रजा को चूस लेता है उस अधिक खानेवाले (कर लेने वाले) राजा से प्रजा द्वेष करती है। जिससे प्रजा द्वेष करती है उसका कल्याण कैसे हो सकता है? जो प्रजा का अप्रिय हो जाता है उसे किसी फल का लाभ प्राप्त नहीं होता, इसलिए बुद्धिमान् राजा द्वारा राज्य को बछड़े के समान दुहा जाना चाहिए। यदि बछड़े में बल उत्पन्न हो जाता है तो हे भरतवंशी! वह कष्ट करने में समर्थ होता है परन्तु यदि उसे दूध नहीं मिलता तो वह काम नहीं करता। इसी प्रकार यदि राज्य को भी बहुत अधिक दुह लिया जाये तो वह बड़ा काम नहीं कर सकता।"[२३] "गलत स्थानों पर (उन व्यक्तियों पर जो बोझ न सह सकें) तथा गलत काल में कर न लगाया जाये। पहले सान्त्वना दे कर, फिर उचित काल देख कर और उचित ढङ्ग से कर लगाना चाहिए। यह मैं उपाय बता रहा हूँ, यह मैं छल-कपट नहीं बता रहा हूँ। गलत उपाय से यदि वश में लाने का प्रयत्न किया जाता है तो घोड़े भी क्रुद्ध हो जाते हैं।"[२४] यही उदाहरण दे कर अन्यत्र भी समझाया गया है।[२५] कामन्दक का कहना है कि "जिस प्रकार योग्य व्यक्ति डालों की रक्षा काँटों की बाड़ी से करता है और फल लेने के लिए लकड़ी का प्रयोग करता है इसी प्रकार से इस संसार की रक्षा कर इसका भोग करना चाहिए। जिस प्रकार गौ को पाल कर समय पर दुहते हैं और पुण्य फल की इच्छा करनेवाले लता को सींचते और बढ़ाते हैं इसी प्रकार राजा भी (प्रजा को सींचकर, बढ़ा कर अर्थात् पालन कर) उसे दुहे।"[२६] ऊपर दिये गये सभी उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऊपरोक्त उदाहरण यह बताने के लिए दिये गये थे कि कर किस प्रकार से लेना चाहिए। एक तो यह आग्रह था कि प्रजा की ठीक से रक्षा करते हुए तथा उसका पालन और संवर्धन करते हुए तब कर लेना चाहिए क्योंकि रक्षित और संवर्धित प्रजा अधिक कर देने में अधिक समर्थ होती है (कामन्दक के खेती की, बाड़ी के, लता के, गौ के उदाहरण

शान्तिपर्व में बछड़े को दूध से पुष्ट कर काम लेने का उदाहरण)। फिर यह कहा गया है कि इतना अधिक कर नहीं लेना चाहिए जिससे प्रजा चुस जाये अर्थात् प्रजा के सब उपायों की जड़ ही नष्ट हो जाये, जिससे राज्य की आर्थिक वृद्धि में बाधा पड़े और प्रजा असमृद्ध हो कर अधिक कर देने में असमर्थ हो जाये परन्तु इस प्रकार से कर लेना चाहिए जिससे प्रजा फिर से समृद्ध हो जाये और राज्य को सदैव अधिकाधिक कर मिल सके। इसके लिए राज्य को माली के समान होना आवश्यक बताया है जो खिले हुए पुष्पों को चुन लेता है और कलियों को आगे के लिए छोड़ देता है; परन्तु यह भी कहा है कि राजा कोयले-वाले के समान न हो जो सब जला डालता है। अतः यह कहा है कि समाज का आय-व्यय देख कर फिर कर लगाना चाहिए : यह भी बताया है कि कर इस प्रकार लगाने चाहिए जिससे प्रजा को पीड़ा न हो क्योंकि यदि प्रजा को कष्ट का अनुभव हुआ तो वह राज्य के विरुद्ध हो जायेगी। इन उद्धरणों में सबसे अन्तिम नियम यह है कि योग्य समय पर तथा उचित व्यक्तियों पर जो कर का बोझ सहने में असमर्थ हों, ठीक विधि से कर लगाना चाहिए।[२७] इन सब नियमों के आधार पर संक्षेप में यह आग्रह किया गया है कि राजा को उचित और धर्मपूर्ण कर अथवा न्यायपूर्वक कर लेना चाहिए[२८] अथवा दूसरे शब्दों में राजा को क्रूरतापूर्वक[२९] अथवा लोभ एवं तृष्णा की भावना से[३०] कर नहीं लेने चाहिए और कर इतने अधिक न लेने चाहिए कि राज्य के करों के कारण अथवा राज्यकर्ताओं के लोभ के कारण प्रजा अपना वैभव छिपा कर रखे।[३१] इसलिए कर्मचारियों से भी इस बात का आग्रह है कि वे नियमित कर से अधिक कर न लें[३२] और प्रजा को, धन ले कर, लूटे नहीं।[३३] प्रजा पर कर-भार आवश्यकता से अधिक न पड़े, इसलिए कर का यह भी एक सिद्धान्त है कि किसी वस्तु पर कोई कर दुबारा न लिया जाये।[३४] कर का एक सिद्धान्त यह भी है कि आय से व्यय कम रहना चाहिए अर्थात् प्रतिवर्ष कुछ-न-कुछ बचत होनी चाहिए। शुक्र ने राज्य के व्यय का वर्णन करते हुए उसमें १/६ प्रतिवर्ष बचत करने का नियम दिया है[३५] और फिर बाद में कहा है कि "प्रजा का रक्षण करने में समर्थ राजा इस प्रकार कोश को धारण करे कि दण्ड, भूभाग और शुल्क के कोश में आये बिना भी वह बीस वर्ष तक अपने बल का ठीक से रक्षण कर सके।"[३६] कामन्दक ने कोश का यह गुण बताया है कि उसमें आय अधिक होनी चाहिए, व्यय कम[३७] तथा कौटिल्य ने कहा है[३८] कि कोश को दीर्घकाल तक की आपत्ति सहन करने में समर्थ होना चाहिए। कौटिल्य ने अन्यत्र[३९] अनुग्रह (दान) और परिहार (ब्राह्मणों को बिना कर की भूमि के दान) के सम्बन्ध में कहा है कि वह देते समय राजा

यह ध्यान रखे कि इनसे कोश पर बोझ न पड़े क्योंकि कोश कम हो जाने पर राजा प्रजा को कष्ट देता है।

वर्तमानकालीन कर के सिद्धान्तों से तुलना—यह सब देखने से ज्ञात हो जाता है कि भारतीय शासन-व्यवस्था में कर के कौन-कौन से वर्तमानकालीन सिद्धान्त मान्य थे। इन सब सिद्धान्तों से इतना स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय विचारकों को 'सुविधा का सिद्धान्त, (Canon of Convience) मान्य था क्योंकि उनका आग्रह था कि व्यक्तियों का व्यय और उनकी आवश्यकता तथा देश और काल देखकर कर लगाया जाय। 'निश्चितता का सिद्धान्त' (Canon of Certainity) भारतीय विचार में केवल इसी सीमा तक ही मान्य नहीं था कि कर लगाने का समय और स्थान ही केवल निश्चित हों परन्तु इससे आगे बढ़कर इतनी अधिक निश्चितता थी कि आपत्ति काल छोड़कर कर भी निश्चित थे। 'मितव्ययता का सिद्धान्त' (Canon of economy) भारतीय विचार को मान्य था ही क्योंकि यह आग्रह था कि आय से व्यय कम होना चाहिये तथा लचीलेपन का सिद्धान्त (Canon of elasticity) भी इस दृष्टि से मान्य था कि (जैसे नीचे बताया जायगा) अधिकांश कर ऐसे थे जिनमें, देश की समृद्धि के साथ, स्वयमेव वृद्धि होती थी। 'समानता का सिद्धान्त' (Canon of equality) इस सीमा तक मान्य था कि जो धनी नहीं थे—ब्राह्मण, शारीरिक कर्म करने वाले, संन्यासी आदि—उन्हें धन के रूप में कर नहीं देना पड़ता था। धन के रूप में कर केवल उन्हीं लोगों से लिया जाता था जिनका प्रमुख कार्य था धनोपार्जन करना, अर्थात् वैश्यों से। यह सब सिद्धान्त तो भारतीय विचारकों को मान्य थे ही, अन्य भी बहुत से कर सम्बन्धी सिद्धान्त मान्य थे जिनका कि ऊपर उल्लेख किया गया है।

कोष का महत्त्व होने के कारण यह आग्रह है कि राजा को कोष वृद्धि का प्रयत्न करना चाहिये, उसकी चिन्ता करनी चाहिये और उसके लिये आवश्यक कर लेने चाहिये।[४०] कोष के महत्त्व के कारण, यह बताते समय कि राजा के अन्दर विभिन्न देवताओं के अंश हैं, राजा को कुबेर के अंश से भी परिपूर्ण बताया गया है अर्थात् यह कहा गया है कि वह कुबेर के समान धन-संग्रह करने में कुशल हो।[४१] कोष के ही महत्त्व के कारण यह आवश्यक है कि राजा स्वयं प्रतिदिन कोष की देख-भाल करे[४२] और कोई व्यक्ति राजा का धन नष्ट न करे।[४३]

कोष में धन लाने के प्रमुख और नियमित साधन हैं, भूमि की उपज का भाग (बलि), व्यापारियों से लिया गया शुल्क तथा अपराधियों से दण्ड-प्राप्त

धन।[४४] मनु ने पाँच प्रकार के आय के साधनों का उल्लेख किया है, किन्तु वे भी इन तीन के ही अन्तर्गत सम्मिलित किये जा सकते हैं।[४५] भूमि के कर के विषय में साधारणतया छठे भाग का उल्लेख आता है;[४६] परन्तु मनु और गौतम[४७] ने छठे भाग के अतिरिक्त आठवाँ और बारहवाँ भाग भी कहा है जिसका अर्थ है कि गेहूँ, जौ आदि अन्नों का, जो वसन्त ऋतु में उत्पन्न होते हैं छठवाँ भाग, शिम्बी, धान्य या उन अन्नों का जो वर्षा ऋतु में उत्पन्न होते हैं आठवाँ भाग तथा जो भूमि ऊसर पड़ी है उसकी उपज का दसवाँ अथवा बारहवाँ भाग। मनु का यह भी कथन है[४८] कि आपत्ति काल में राजा शुल्क का चौथा भाग ले। शुक्र ने भी[४९] किसानों से उनका लाभ देख कर तीसरा, पाँचवाँ, सातवाँ, अथवा दसवाँ भाग कर के रूप में लेने को कहा है। परन्तु कौटिल्य तथा शुक्र दोनों का कहना है[५०] कि जिन खेतों को सिंचाई की सुविधा हो उनसे अधिक कर लेना चाहिए, अर्थात् जिन खेतों की कूप, बावड़ी आदि से सिंचाई होती है उनसे चौथा भाग तथा जिनकी अन्य अच्छे साधनों से सिंचाई होती है (नहर आदि से) उनसे तीसरा भाग लिया जाये।[५१] अन्य वस्तुओं के विषय में मनु, गौतम, विष्णु, अग्निपुराण[५२] का कहना है कि राजा वृक्ष, माँस, मधु, घी, गन्ध, औषधि, रस, पुष्प, मूल, फल, पत्ते, शाक, तृण, चर्म, बाँस, मिट्टी के पात्र तथा पत्थर की वस्तुओं का छठा भाग कर ले और पशु तथा सोने (आय) का पचासवाँ भाग ले। कौटिल्य ने पशुओं की तथा अन्य वस्तुओं की पृथक्-पृथक् श्रेणियाँ बना कर उनमें से प्रत्येक के कर का अलग-अलग भाग निर्धारित किया है।[५३] इन वस्तुओं के कर के अतिरिक्त शुल्क के विषय में यह नियम है कि व्यापारियों के जीवन की आवश्यकताओं को देख कर उनसे शुल्क लेना चाहिए।[५४] शान्तिपर्व में यही शिल्पियों के विषय में भी कहा है कि वस्तुओं की उत्पत्ति, दान-वृत्ति तथा कैसा काम है, यह सब देख कर उन पर कर लगाया जाये और राजा इस प्रकार कर लगाये जिससे प्रजा के कार्य में कठिनाई न आये और इसलिए काम और फल देख कर कर की योजना करे।[५५] साधारणतया जो वस्तु राज्य में ही उत्पन्न होती है उस पर बीसवाँ भाग शुल्क लगना चाहिए[५६] परन्तु बाहर से आनेवाले माल में, जैसा कि ऊपर कौटिल्य का कथन है, सारा व्यय आदि देख कर शुल्क लगाना उचित है।[५७] शुक्र ने लाभ का बत्तीसवाँ, बीसवाँ अथवा सोलहवाँ भाग शुल्क लेने का कहा है।[५८] जो व्यापारी कर न दे अथवा बढ़िया वस्तु को घटिया बता कर, अधिक वस्तु को कम बता कर अथवा गलत मूल्य बता कर अथवा चुङ्गीघर को बचा कर सामान ले जाये उन्हें वस्तु के मूल्य से आठ गुना दण्ड लेना चाहिए।[५९] कौटिल्य का यह भी कहना है कि विवाह-सम्बन्धी माल पर, कन्यादान के माल

पर, यज्ञ, प्रसव, देवपूजा, उपनयन, गोदान, और व्रत के निमित्त वस्तुओं पर कर न लगना चाहिए,[60] परन्तु यदि कोई अन्य माल को इस निमित्त बताये तो उस पर चोरी का दण्ड हो। व्यापार के लिए वर्जित वस्तुओं को लाने-ले जाने पर भी दण्ड बताया गया है।[61] कौटिल्य ने विभिन्न वस्तुओं की भी श्रेणियाँ कर के उनके शुल्क के नियम भी विस्तार से बताये हैं।[62] भूमि का कर और वस्तुओं के शुल्क के अतिरिक्त राज्य की आय के साधनों के रूप में खानें हैं[63] जिनके विषय में मनु और कौटिल्य ने कहा है कि राज्य को उनका आधा भाग मिलना चाहिए।[64] कौटिल्य का कहना है कि कोष खानों पर निर्भर है[65] जिससे राज्य के लिए खानों के महत्त्व का पता चलता है। इनके अतिरिक्त अन्य बहुत-से छुटफुट कर हैं, जैसे शुक्र ने मार्ग में चलनेवालों से मार्ग-कर, दुकानदारों से बाजार-कर, गृह की भूमि का, कृषि की भूमि के अनुसार कर एवं ब्याज पर कर आदि बताया है।[66] कौटिल्य ने इस प्रकार के बहुत-से करों का उल्लेख किया है जिनका विस्तार से उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं है।[67] करों के ही अन्तर्गत इस नियम को भी गिना जा सकता है कि कारीगर, शिल्पी, शूद्र तथा अन्य काम करनेवालों से राजा प्रतिमास कुछ काम करा ले[68] परन्तु काम कराने के दिन उन्हें भोजन देना होगा।[69] करों से कुछ लोग मुक्त हैं—श्रोत्रिय, स्त्री, बालक, विद्यार्थी, संन्यासी अथवा यती, शूद्र, अन्धे, बहरे, गूँगे, रोगी, अपङ्ग तथा सत्तर वर्ष से ऊपर के वृद्ध।[70] इनमें से यद्यपि अन्य लोगों को तो इसलिए कर देने की आवश्यकता नहीं है कि या तो वह इसके लिए असमर्थ हैं (अपङ्ग अथवा स्त्री, बालक आदि) अथवा धनोपार्जन का कोई कार्य नहीं करते (विद्यार्थी एवं संन्यासी) परन्तु श्रोत्रिय को कुछ धनार्जन करना आवश्यक होता है उसे कर-मुक्त करने का बार-बार आग्रह इसलिए किया गया है[71] कि उनके लिए निर्धनता का जीवन व्यतीत करने का विधान है अतः उनसे भी कर लेने का नियम बनाना उनके निर्धन जीवन पर और अधिक आघात करना होगा। इसलिए बहुत अच्छे ब्राह्मणों से भी कर न लेने का नियम है।[72] यह नियम इतना कड़ा है कि उनसे आपत्ति में भी कर न लेना चाहिए।[73] कौटिल्य ने ब्राह्मण का अन्न स्पर्श करना तो मना किया ही है, यह भी आग्रह किया है कि असमर्थ ब्राह्मण की खेती की राज्य व्यवस्था करे।[74]

राज्य की आय के यह ऐसे साधन हैं जो साधारण अवस्था में राज्य को प्राप्त होते हैं परन्तु आपत्तिकाल में राजा अन्य प्रकार से भी धन ले सकता है। मनु का सन्दर्भ ऊपर दिया ही गया है कि राजा भूमि-कर षष्ठांश के स्थान पर चतुर्थांश ले सकता है।[75] शुक्र ने भी कहा है[76] कि "जब शत्रु के विनाश

के लिए राजा की सेना उद्यत हो, उस समय प्रजा से विशेष रूप से दण्ड एवं शुल्क आदि के द्वारा धन ले। आपत्तिकाल में धनिकों को केवल उनकी जीविका दे कर, उनका सब धन ले ले और आपत्ति समाप्त होने पर वह धन व्याज-सहित लौटा दे अन्यथा राज्य, प्रजा, कोष, नृप ये सब नष्ट हो जाते हैं।" इसी आशय का उल्लेख शान्तिपर्व में है।[७७] कौटिल्य ने आपत्तिकालीन धन-संग्रह के बहुत से उपाय बताये हैं जिनमें छल-छद्मपूर्ण उपाय भी हैं। परन्तु ये सब उपाय साधारण अवस्था के लिए नहीं हैं, केवल आपत्तिकाल ही के लिए हैं। इनके सम्बन्ध में कौटिल्य का कहना है कि इन उपायों को दुष्टों और अधार्मिकों पर ही प्रयोग करना चाहिए अन्य लोगों पर नहीं।[७८]

सेना

राज्य की रक्षा के लिए प्रमुख साधन है दण्ड, बल अर्थात् सेना। 'दण्ड' अर्थात् सेना के विषय में मनु ने कहा है कि जो अप्राप्त है उसको दण्ड के द्वारा प्राप्त करने की इच्छा करे और यह भी कहा है कि जो सदैव अपनी सेना को तैयार रखता है उससे जगत काँपता है।[७९] कौटिल्य के अनुसार मित्र, धन, भूमि की वृद्धि करना, जो है उसका रक्षण कर शत्रु के चक्र का नाश करना, मित्रों को वश में रखना, शत्रुओं को मित्र बनाना तथा आवश्यकता पड़ने पर उनका नाश करना, पृथ्वी का भोग करना ये सब सेना पर निर्भर हैं।[८०] शुक्र ने आग्रहपूर्वक कहा है कि "बल (सेना) ही शत्रुओं को नित्य पराजय करने का परम साधन है, इसलिए राजा अमोघ बल का प्रयत्नपूर्वक सम्पादन करे।[८१] शुक्र ने सेना के प्रकार बताते हुए कहा है कि "सेना-बल दो प्रकार का होता है—मैत्र और स्वीय। फिर इनके और भी दो-दो प्रकार के भेद होते हैं—मौल, साद्यस्क; सार, असार; शिक्षित, अशिक्षित; गुल्मीभूत, प्रगुल्मक; दत्तास्त्र, स्वशस्त्रास्त्र; स्ववाहि, दत्तवाहन। सौजन्य अर्थात् प्रेम से जिसका साधन किया जाता है वह 'मैत्र' है तथा जिसमें भृत्य पले हुए हों वह 'स्वीय' है। जो बहुत दिनों से (पूर्वजों से) चली आती है वह 'मौल' है, अन्य 'साद्यस्क' है। जो युद्ध की इच्छा रखे वह 'सार' है, इसके विपरीत 'असार' है। जो व्यूह में कुशल है वह 'शिक्षित' है, शेष 'अशिक्षित' है। जो राज्य के अधिकारियों से सञ्चालित हो वह 'गुल्मीभूत' है, जो स्वयं अपना सञ्चालन करती हो वह 'गुल्मक' है। जिसको स्वयं राजा ने अस्त्र आदि दिये हों वह 'दत्तास्त्र' है और अपने ही शस्त्रों को धारण करनेवाली 'स्वशस्त्रास्त्र' है। इसी प्रकार से 'स्ववाहि' और 'दत्तवाहन' हैं।[८२] कौटिल्य ने सेना के गुण और व्यसन भी बताये हैं। "पिता-

पितामह के समय से चली आनेवाली, सदैव वश में रहनेवाली, जिसके सैनिक तथा उनके स्त्री और बालक सन्तुष्ट हैं, प्रवास करने में समर्थ, सर्वत्र अजेय रहनेवाली, दुःखसह, बहुत युद्ध लड़ी हुई, युद्ध के सभी शस्त्रों के प्रयोग में विशारद, वृद्धि और क्षय में साथ रहनेवाली, जिसमें भेद डालना सम्भव नहीं तथा क्षत्रियों से प्रमुख रूप से संयुक्त - ये सेना के गुण हैं।"[८३] "रुकी हुई, बिखरी हुई, भर्त्सना की हुई, अपमानित, बिना वेतन के, रोग से पीड़ित, थकी हुई, दूर से आयी हुई, नयी भरती की हुई, जो क्षीण हो, नायकरहित, हतवेगवाली, जिसकी आशा बार-बार नष्ट हुई हो, जिससे असत्य बोला गया हो, जिसके साथ स्त्रियाँ हों, जो विक्षिप्त हो, जिसके अन्तर में कोई काँटा चुभा हो (कोई शिकायत हो अथवा भेदिया हो), जिसका व्यूह नष्ट हो गया हो, जो छिन्न-विच्छिन्न हो गयी हो, जो त्यक्त हो, क्रुद्ध हो, शत्रु से मिली हो, दूषित व्यक्तियों से युक्त हो, स्वयं (राजा) के अथवा मित्र के द्वारा विक्षिप्त हो, जिसका मूल नष्ट हो गया हो (सामग्री नहीं प्राप्त होती हो), जिसके साथ में स्वामी न हो अथवा धान्य न हो, बुरे पार्ष्णिग्राह (पीछे से आक्रमण करनेवाले शत्रु) से अन्ध की गयी हो—ये सेना के व्यसन हैं।"[८४] इसका अर्थ यह है कि सेना को इन दोषों से बचाना चाहिए।

शुक्र ने सेना-सम्बन्धी बहुत-से उपयोगी नियम बताये हैं। सेना, कठोर वचन कहने से, कड़ा दण्ड देने से, वेतन में ह्रास होने से तथा नित्य प्रवास से युद्ध में विमुख हो जाती है अर्थात् सेना में भेद पड़ जाता है, और जिसकी सेना का मन भिन्न हो जाता है उसकी विजय कहाँ हो सकती है? अतः राजा को यह तो चिन्ता करनी ही चाहिए कि उसकी अपनी सेना में भेद न पड़े। राजा को कुटिलता से तथा दान से, शत्रु की सेना में भेद उत्पन्न करने का तुरन्त प्रयत्न करना चाहिए। शुक्र ने यह भी कहा है कि राजा को, अच्छा वेतन दे कर अपनी सेना को बढ़ाने का यत्न करना चाहिए। जो सेना पुत्र के समान पाली हुई, दान-मान से वर्धित तथा युद्ध की सामग्रियों से सम्पन्न हो, वह सेना विजय देनेवाली होती है। सेना की योजना राज्य में सौ-सौ योजन (४०० मील) की दूरी पर करनी चाहिए, इसी से राज्य का रक्षण हो सकता है। सैनिक को धन-दण्ड से शिक्षा नहीं देनी चाहिए, ताड़ना से देनी चाहिए।[८५] अन्य नियम हैं कि सैनिकों का सदा ग्राम के बाहर पर ग्राम के समीप में ही टिकाये, ग्रामवासियों और सैनिकों का परस्पर लेन-देन का व्यवहार न होने दे, सेना को एक वर्ष तक एक स्थान में न टिकाये, सहस्रों सैनिक क्षणमात्र में ही तैयार हो जायँ, ऐसी आज्ञा उन्हें दे कर रखे, सैनिकों को प्रति आठवें दिन उनके नियम सुनावे कि वह भीषण क्रोध, आततायीपन, राज्य के कार्य में विलम्ब, राजा के

अनिष्ट की उपेक्षा, स्वधर्म का परित्याग तथा शत्रु के लोगों के साथ बातचीत करना छोड़ दें, राजा की आज्ञा के बिना कभी ग्राम में प्रवेश न करें, अपने अधिकारियों के अपराधों को कभी न बतायें, अपने शस्त्र, अस्त्र और वस्त्रों को सदैव उज्जवल रखें। जो इन नियमों को भङ्ग करेंगे उन्हें मृत्युदण्ड दिया जायेगा। सैनिकों के साथ राजा नित्य व्यूह का अभ्यास करे, तथा सैनिकों की प्रतिदिन प्रातः और सायं गिनती की जाये।"[८६]

सेना का विचार करते समय जो सबसे महत्त्वपूर्ण विषय है वह है युद्ध। युद्ध के विषय में सबसे पहला नियम यह है कि शत्रु से यथासम्भव सन्धि करने का प्रयत्न करना चाहिए, युद्ध तो अन्तिम अवस्था की ही बात होनी चाहिए। इसका कारण यह बताया है कि यदि साधारण शत्रु भी युद्ध को जीवन-मरण का प्रश्न समझ कर सब कुछ दांव पर लगा कर युद्ध करता है तो विजय सन्देहास्पद रहती है। शान्तिपर्व में कहा है कि "पहले तो साम के द्वारा प्रयत्न करना चाहिए और फिर बाद में युद्ध करना चाहिए। हे भारत! युद्ध में जो विजय मिलती है वह अधम है क्योंकि ऐसा विचार है कि वह अचानक अर्थात् दैवेच्छा से मिलती है। जिस प्रकार पानी का महावेग नहीं रोका जा सकता, त्रस्त मृगों के टोली को भागने से नहीं रोका जा सकता, उसी प्रकार नष्ट हुई बड़ी सेना को भी भागने से नहीं रोका जा सकता। मृगों की टोली के ही समान युद्ध की इच्छा रखनेवाली महान् सेना के भी भग्न होने पर विद्वान् लोग भी अकारण भागने लगते हैं। यदि (शत्रु की सेना के) पचास वीर भी जो परस्पर एक-दूसरे पर विश्वास रखते हों, प्रसन्नचित्त हो कर, निश्चित मन हो कर तथा प्राण छोड़ कर लड़ते हों तो वह दूसरी सम्पूर्ण सेना को नष्ट कर डालते हैं। यदि पांच, छः या सात कष्टसहिष्णु, कुलीन, और सबके द्वारा सम्मानित लोग लड़ने का निश्चय कर लेते हैं तो वही विजय पा लेते हैं।" इसलिए जहां तक सम्भव हो, आक्रमण का विचार नहीं करना चाहिए तथा पहले साम, दाम और भेद का ही प्रयत्न करना चाहिए। युद्ध तो सबसे बाद में कहा है।[८७] शुक्र ने भी यही कहा है तथा कौटिल्य ने भी विग्रह से सन्धि को तथा यान से आसन को श्रेष्ठ बताया है।[८८] यह सब विचार करने के बाद भी यदि सबसे अन्त में ऐसा ही दिखायी दे कि युद्ध करना ही पड़ेगा तो विजिगीषु राजा द्वारा अपने और शत्रु के बलाबल, शक्ति, देश, काल, यात्रा-काल, बल, समुत्थान-काल, बाद का क्षय, व्यय, लाभ और आपत्ति को जान कर तथा यह समझ कर कि उसका विशेष बल है, आक्रमण करना चाहिए अन्यथा 'आसन' अर्थात् शान्ति की स्थिति में ही रहना उचित है। इसका अर्थ यह कि यदि विजिगीषु को ऐसा दिखायी दे कि उसकी शक्ति और परिस्थिति

दूसरे राजा से अच्छी है तभी वह युद्ध छेड़े और जब तक यह ठीक से देख न ले कि वह स्वयं अधिक बलवान है, तब तक आक्रमण न करे। इसके अतिरिक्त यदि दूसरा राजा कठिनाइयों में फँसा हुआ हो तब भी आक्रमण अथवा युद्ध प्रारम्भ किया जा सकता है।[८९] परन्तु वह भी तभी जब कि आक्रमणकारी राजा स्वयं किसी वाह्य अथवा आन्तरिक आपत्ति में न फंसा हो। युद्ध करने में इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि अधिक क्षय एवं व्यय न हो। मनुष्य और पशुओं के नष्ट होने को क्षय तथा धन और धान्य के नाश को व्यय कहते हैं।[९०] शुक्र का यह भी कहना है कि स्त्री, ब्राह्मण की विपत्ति और गौ के विनाश में अर्थात् जब धर्म नष्ट हो रहा है उस समय युद्ध अवश्य करना चाहिए और विमुख न होना चाहिए।[९१] इसके आगे आक्रमण-काल पर विचार किया गया है। युद्ध अथवा आक्रमण करने के पूर्व राजा को इस बात का ध्यान कर लेना चाहिए कि उसके ऊपर कोई आन्तरिक अथवा वाह्य सङ्कट अथवा बाधा न हो। पुरोहित, अमात्य, राजकुमार, कुल के लोग तथा सेनापति द्वारा उठायी गयी आपत्ति आन्तरिक आपत्ति है, तथा अन्तपाल (दुर्गों के रक्षक), आटविक (बनवासी सरदार) तथा सीमा-रक्षकों द्वारा उत्पन्न आपत्ति वाह्य आपत्ति है। इनके द्वारा उत्पन्न आपत्तियों को राजा साम एवं भेद से (पारस्परिक सङ्घर्ष करा कर) शान्त करे, और इस बात का ध्यान रखे कि ये लोग शत्रु से न मिल जायें।[९२]

युद्ध दो प्रकार के बताये गये हैं—धर्म-युद्ध या प्रकाशयुद्ध और कूटयुद्ध। इनके लिए नियम यह बताया है कि जब देश, काल अनुकूल हो अर्थात् जब विजिगीषु के पास पर्याप्त साधन हों और वह शत्रु पक्ष में भेद डाल चुका हो, उस समय प्रकाशयुद्ध करना चाहिए अन्यथा कूटयुद्ध करना चाहिए। धर्मयुद्ध वह है जिसमें देश और काल निश्चित कर लिया गया हो।[९३] धर्मयुद्ध के नियम भी विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित हैं।[९४] शान्तिपर्व में धर्मयुद्ध के नियम तथा उन नियमों के अनुसार चलने का आग्रह है कि "जो मोक्ष में मन लगाये हों, भाग रहे हों, तथा भोजन आदि करते हों, पागल हो गये हों, घबड़ा गये हों, घायल हो गये हों, शरण में आये हों, जिन्होंने धर्मकृत्य प्रारम्भ किये हों, घास आदि लाने का काम करते हों, जो द्वारपाल हो, सेना-कर्मचारी हो, चाकर हो, व्यापारी हो, सोये हों, प्यासे हों, थके हों और सेना से अलग हो गये हों, उन्हें न मारा जाये। वृद्ध, बालक, स्त्री, सेना के पीछे रहनेवाले लोग तथा जो मुँह में तिनका दबा कर कहें मैं तुम्हारा दास हूँ, उन्हें भी न मारे।"—"जो कवच न पहने हों उसके साथ रण में युद्ध न करे तथा एक व्यक्ति एक ही के साथ युद्ध करे और यह कह कर युद्ध करे कि तुम बाण छोड़ो मैं भी छोड़ता हूँ। यदि दूसरा योद्धा

सन्नद्ध हो कर आये तो स्वयं भी सन्नद्ध हो कर युद्ध करे, यदि दूसरा सेना के साथ आये तो स्वयं भी सेना के साथ उसका आह्वान करे, यदि शत्रु कपट अथवा कूटयुद्ध करे तो उसके साथ भी कूटयुद्ध करे और यदि वह धर्मयुद्ध करे तो उसके साथ स्वयं भी धर्मयुद्ध करे। रथी के समक्ष अश्व पर युद्ध न करे, परन्तु रथी ही रथी के साथ युद्ध करे, जो आपत्ति में पड़ा हो, भयभीत हो तथा जीता हुआ हो, उसके साथ भी युद्ध न करे। विप-वुझे तथा कर्णी वाणों से न लड़े - यह असज्जनों के शस्त्र हैं, सीधी-सादी लड़ाई करे तथा युद्ध करनेवालों पर क्रोध न करे। जो निष्प्राण हो, घायल हो, जिसका शस्त्र टूट गया हो, जो आपत्ति में हो, जिसके धनुष की डोरी टूट गयी हो, जिसका वाहन मर गया हो, उसके ऊपर भी प्रहार न करे। जो चिकित्सा के योग्य हो, उसे अपने राज्य अथवा गढ़ में ले जा कर चिकित्सा कराये तथा जब उसके घाव ठीक हो जायें तो उसे मुक्त कर दे—यही सनातन धर्म है और स्वायम्भुव मनु के अनुसार इसी धर्म के अनुसार युद्ध करना चाहिए।" धर्मयुद्ध के यह नियम ऐसे हैं जो वर्तमानकालीन युद्ध के अन्ताराष्ट्रीय नियमों से (Geneva तथा Hague Convention से) किसी भी प्रकार कम नहीं है। इन नियमों के बनाने के साथ-साथ इस बात का भी आग्रह किया गया है कि युद्ध धर्मपूर्वक ही लड़ा जाये—"सज्जनों का यह धर्म है कि असज्जनों से धर्मयुद्ध ही करें उनके धर्म का नाश न करें। जो अधर्म से युद्ध करता है वह क्षत्रिय धर्म सङ्कर है।"[९५]

परन्तु जैसा कि बताया गया है, केवल धर्मयुद्ध ही नहीं, कभी-कभी कूटयुद्ध भी करना पड़ता है। शुक्रनीति ने धर्मयुद्ध के ऊपरोक्त नियम बताने के पश्चात् कहा है कि "ये नियम धर्मयुद्ध के हैं परन्तु कूटयुद्ध में ये नियम नहीं हैं। बलवान् शत्रु का नाश करने के लिए कूटयुद्ध के समान अन्य युद्ध नहीं है। राम, कृष्ण, इन्द्र, आदि ने भी पहले कूटयुद्ध का आदर किया और कूटयुद्ध से ही वालि, कालियावन, तथा नमुचि को मारा है।"[९६] कूटयुद्ध किन-किन प्रकारों से लड़ा जा सकता है, इसका विस्तृत वर्णन भी कौटिल्य तथा कामन्दक ने किया है[९७] परन्तु विस्तार में जाना अनावश्यक है।

युद्ध करने के लिए राजा को तीन प्रकार की शक्तियों की आवश्यकता पड़ती है—मन्त्रशक्ति, प्रभुशक्ति और उत्साहशक्ति।[९८] इन शक्तियों से सम्पन्न राजा ही विजयी हो सकता है।[९९] कौटिल्य तथा कामन्दक ने इनकी परिभाषा इस प्रकार की है कि ज्ञान का वल अर्थात् नीति का उचित प्रयोग मन्त्रशक्ति है, कोप और सेना का वल प्रभुशक्ति है तथा राजा के अन्दर शौर्य और वल उत्साहशक्ति है।[१००] अग्निपुराण में[१०१] मन्त्रशक्ति को इन तीनों शक्तियों में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है और कौटिल्य

भी विस्तार के साथ यह सिद्ध करता हुआ कहता है[१०२] कि यद्यपि राजा के अन्दर बल-विक्रम की बहुत आवश्यकता है क्योंकि यदि राजा स्वयं शूरवीर और बलवान् रहा तो उसके कारण थोड़ी सेना से भी वह विजय प्राप्त कर सकता है, और यदि इन गुणों से राजा विहीन रहा तो उसके प्रभावशाली होने पर भी उसका नाश हो जाता है। परन्तु राजा के व्यक्तिगत बल-विक्रम से राजा के पास सेना और कोष का रहना (प्रभुशक्ति) अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि वह इन्हीं के कारण अन्य राजाओं और वीर पुरुषों को अपनी ओर कर सकता है तथा धनधान्य-सम्पन्न हो सकता है। कौटिल्य का कहना है कि प्रभावशक्ति के आधार पर ही स्त्री, बालक, पंगु और अन्धे राजाओं ने उत्साही राजाओं को भी जीत लिया है। यद्यपि उत्साहशक्ति में और प्रभुशक्ति में प्रभुशक्ति का महत्त्व है और बिना सेना तथा कोष के योग्य रीति से अपनी योजना (मन्त्र) को सफल करना कठिन है फिर भी प्रभुशक्ति और मन्त्रशक्ति में मन्त्रशक्ति श्रेष्ठ है, क्योंकि जो राजा बुद्धि और शास्त्र-रूपी आँखों से काम करता है वह राजा साम, दाम, दण्ड, भेद का योग्य प्रयोग कर अपनी सब योजना अन्य साधनों की कमी में भी सफल बना सकता है।

यदि राजनीति का विचार न किया तो नैतिक दृष्टि से भी युद्ध करना चाहिए कि नहीं, यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। भारतीय विचार में आवश्यकता पड़ने पर तथा धर्मवृद्धि के लिए युद्ध करना बुरा नहीं माना गया है। महाभारत में[१०३] जब युधिष्ठिर भीष्म से कहते हैं कि "क्षत्रिय के धर्म से बढ़ कर अन्य पापी कोई दूसरा धर्म नहीं है क्योंकि आक्रमण और युद्ध के द्वारा राजा बहुत-से व्यक्तियों का संहार करता है।" तब उसके उत्तर में भीष्म कहते हैं कि "पापियों का निग्रह करने से और सज्जनों का संग्रह करने से तथा यज्ञ और दान से राजा निष्पाप और पवित्र हो जाते हैं। विजय की इच्छा रखनेवाले राजा मनुष्यों को कष्ट देते हैं, परन्तु फिर विजय पा कर वह प्रजा की वृद्धि करते हैं। वे दान, यज्ञ, और तप के बल से सब पापों का नाश कर देते हैं और प्राणियों पर अनुग्रह कर अपने पुण्य में वृद्धि करते हैं। जिस प्रकार खेत को स्वच्छ करनेवाला (किसान) खेत स्वच्छ करने में घास और इसी प्रकार के हानिकारक वृक्षों को नाश कर फेंक देता है परन्तु फिर भी धान्य नष्ट नहीं होता, इसी प्रकार शस्त्र छोड़नेवाला राजा अनेक वध-योग्य लोगों को मारता है, परन्तु इससे मनुष्यों की जो रक्षा होती है वही उसकी निष्कृति है।" इसी के अगले अध्याय में भीष्म ने एक कथा बतायी है कि राजा अम्बरीष जब स्वर्ग में गया तो उसने देखा कि उसका सेनापति सुदेव इन्द्र के साथ बैठा है तथा क्रमशः देव-रूप हो कर ऊपर-ही-ऊपर चढ़ता चला गया है। अम्बरीष

ने इन्द्र से कहा कि मैंने राजधर्म, ब्रह्मचारीधर्म, गृहस्थधर्म, क्षत्रियधर्म, सबका पालन किया है और सुदेव ने न तो यज्ञ कर देवताओं को ही तृप्त किया है और न दान दे कर ब्राह्मणों को ही, फिर यह कैसे आगे बढ़ गया ? इन्द्र ने उत्तर दिया कि इस सुदेव ने संग्राम-यज्ञ नामक एक बड़ा यज्ञ किया है। इस यज्ञ का फल उसे मिलता है, जो युद्ध में आगे बढ़ कर लड़ता है। फिर, इस रणयज्ञ का विस्तारपूर्वक वर्णन करके इन्द्र ने अन्त में कहा कि जो यह रणरूपी यज्ञ करता है वह इन्द्रलोक प्राप्त करता है और जो इससे भयभीत हो कर भाग निकलता है वह नरक प्राप्त करता है।[१०४] यह तो युद्ध-वर्णन के प्रसङ्ग में प्रारम्भ में ही बताया गया है कि युद्ध करना अन्तिम साधन के रूप में है परन्तु जब आवश्यकता हो तब युद्ध करना ही श्रेयस्कर है और फिर युद्ध से विमुख नहीं होना चाहिए। मनुस्मृति में कहा है,[१०५] "यदि सम बलवाला, अधिक बलवाला, अथवा कम बलवाला राजा किसी प्रजापालक राजा को युद्ध के लिए निमन्त्रण दे तो क्षात्रधर्म का स्मरण कर वह राजा युद्ध से न हटे। युद्ध से न हटना, प्रजा का पालन तथा ब्राह्मणों की सेवा राजा के लिए परम श्रेयस्कर है। आह्वान किये जाने पर एक-दूसरे का हनन करते हुए, यथा-शक्ति युद्ध करते हुए तथा पराङ्मुख न होनेवाले राजा स्वर्ग जाते हैं।" भारतीय विचार में शौर्य, साहस और वीरता की बहुत प्रशंसा की गयी है और साथ-साथ यह भी आवश्यक माना गया है कि धर्म के लिए सदैव युद्ध करना ही चाहिए। युद्ध को इस दृष्टि से बहुत आवश्यक और महत्त्वपूर्ण माना गया है और इसीलिए युद्ध से भागने की बहुत निन्दा भी की गई है। इतना ही नहीं, यह भी आवश्यक माना गया है कि क्षत्रिय, जिसका काम ही समाज की रक्षा करना है, कहीं अपने काम से निवृत्त न हो जाये तथा सुख, आनन्द और सङ्घर्षहीन जीवन व्यतीत करने की इच्छा न करने लगे, इसलिए क्षत्रिय की रोग से घर पर मृत्यु होने की बहुत निन्दा की गयी है और कहा गया है कि क्षत्रिय को तो सदैव युद्ध में ही मरना चाहिए। वही उसके लिए स्वर्गदायक है। यह बताया गया है कि दो व्यक्ति सूर्य-मण्डल का भेदन करते हैं—योगयुक्त संन्यासी तथा संग्राम में मरनेवाला वीर, अर्थात् क्षत्रिय-धर्मरक्षण और दुर्बल-रक्षण के कार्य में सदैव सिद्ध रहे इसलिए रण से न भागने का तथा युद्ध के लिए सदैव तत्पर रहने का आग्रह किया गया है। समाज में अथवा संसार में सदैव ऐसे व्यक्ति रहते ही हैं जो दूसरों को त्रास देते हैं तथा अधर्मपूर्ण कृत्य के द्वारा धर्मनाश करते हैं। अतः यदि क्षत्रिय को अपना कार्य ठीक से करना है तो उसे सङ्घर्ष के लिए सदैव तत्पर रहना ही पड़ेगा।[१०६]

'मित्र' अथवा परराज्य-सम्वन्ध

सेना, युद्ध के द्वारा जिससे संरक्षण का कार्य करती है वह है 'परकीय राज्य।' प्रत्येक राज्य को अपने चारों ओर के सभी परकीय राज्यों से सम्वन्ध रखना पड़ता है चाहे वह मित्रता का हो, चाहे शत्रुता का हो और चाहे उदासीनता का हो। इस अन्ताराज्य-सम्वन्ध का भी भारतीय राजनैतिक विचार में 'मित्र' के शीर्षक में पूर्ण विवेचन किया गया है।

भारतीय राजनीति ग्रन्थों में परराज्य-सम्बन्धी विषय को वहुत महत्त्व दिया गया है और न्याय-व्यवस्था के अर्थात् स्वदेश में शान्ति-स्थापना के पश्चात् सबसे अधिक महत्त्व परराज्य-सम्बन्ध का अर्थात् वाह्य आक्रमण से सुरक्षा का है। न्याय-व्यवस्था अर्थात् व्यवहार के सम्बन्ध में तो मनुस्मृति के लगभग दो अध्यायों, याज्ञवल्क्य का पूरा एक अध्याय, कौटिल्य के दो अधिकरण, अग्निपुराण के राजनीति-अंश का पाँचवाँ भाग तथा शुक्रनीति का भी लगभग आठवाँ भाग है। इसके अतिरिक्त परराज्य-सम्बन्धों के विषय में मनुस्मृति में न्याय-व्यवस्था छोड़ कर, शेष राज्य-व्यवस्था का चौथाई भाग, कौटिलीय अर्थशास्त्र का चौथाई भाग, कामन्दकीय नीतिसार का चौथाई भाग, अग्निपुराण का पाँचवाँ भाग तथा शुक्रनीति का बीसवाँ भाग है।

प्रत्येक राज्य के लिए यह आवश्यक माना गया है कि उसके अन्य मित्र-राज्य भी होने चाहिए; क्योंकि जब विभिन्न राज्य अपनी-अपनी सत्ता की वृद्धि का प्रयत्न करते हैं और राज्यों में अपनी वृद्धि के लिए प्रतियोगिता प्रारम्भ होती है उस समय जो राज्य अकेला रह जाता है उस राज्य को बहुत कष्ट, कठिनाइयाँ तथा आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। इसलिए भारतीय विचारकों ने इस बात का विशेष आग्रह किया कि प्रत्येक राज्य को यह चाहिए कि वह अपना मित्रों का मण्डल अधिक-से-अधिक बड़ा बनाये और प्रयत्न करके अधिकांश राज्यों को अपने साथ रखने का प्रयत्न करे जिससे कि उसके ऊपर अन्य कोई राज्य हावी होने में समर्थ न हो सके तथा राज्य के स्वामी जब चाहे सुविधापूर्वक अन्य किसी भी आक्रमणकारी अथवा अधार्मिक राजा को वश में करने में समर्थ रहे।

राज्य को अपने परराज्य-सम्बन्ध किस प्रकार चलाने चाहिए, इसके सिद्धान्त का वर्णन 'मण्डल' के नाम से किया गया है। 'मण्डल' का सिद्धान्त यह है कि किसी भी राजा को, जो चाहता है कि अन्य राज्यों से उसका सम्बन्ध ठीक चले (जिसको 'विजिगीषु' नाम से सम्बोधित किया है) यह प्रयत्न करना चाहिए कि यदि अन्य कोई राजा उसका विरोधी (शत्रु) हो अर्थात् यदि

जो कोई राजा इस राज्य को नष्ट अथवा विजित करना चाहता है अथवा यदि यह विजिगीषु राजा अन्य किसी राजा पर विजय प्राप्त करना चाहता है तो यह विजिगीषु राजा इस प्रकार का प्रयत्न करे कि उस शत्रु राजा के जितने सहायक हों उन सब पर नियन्त्रण कर सकने के लिए स्वयं भी उतने ही सहायकों का सम्पादन और उनकी व्यवस्था करे।[१०७] इस प्रकार विजिगीषु राजा, उसका शत्रु इस विजिगीषु राजा का मित्र तथा अन्य सहायक, इसके शत्रु के अन्य सब सहायक तथा अन्य मध्यम और उदासीन राजा, इन सबको मिला कर भारतीय वर्णन के अनुसार मण्डल बनता है। इस मण्डल के अन्दर मूल रीति से चार राजा आते हैं—विजिगीषु, शत्रु, मध्यम और उदासीन[१०८] और यदि इनमें भी मध्यम और उदासीन को एक ही समान समझा जाय तो फिर इस मण्डल की मूल प्रकृतियाँ (Elements) तीन ही हैं[१०९] और इन प्रकृतियों के सम्बन्ध में योग्य योजना करना ही मण्डल का सञ्चालन है। परन्तु, क्योंकि 'विजिगीषु' राजा और उसका शत्रु यह दोनों अपनी-अपनी विजय के लिए सहायकों के सम्पादन का प्रयत्न करते हैं इसलिए मण्डल के निर्माण, उसकी योजना और उसकी नीति का विचार करने में उपरोक्त चार के अतिरिक्त विजिगीषु के सहायकों तथा शत्रु के सहायकों का भी विचार करना आवश्यक हो जाता है। इन सब सहायकों को मिला कर साधारणतया मण्डल बारह प्रकृतियों का कहा गया है और जहाँ मण्डल का पूरा वर्णन है वहाँ इन बारह प्रकृतियों का ही उल्लेख है।[११०] इन बारह प्रकृतियों की योजना इस प्रकार है—विजिगीषु के समीप का राजा उसका शत्रु है (अर्थात् या तो जो राजा 'विजिगीषु' कहा गया है वह अपने बराबर के राजा पर विजय प्राप्त करना चाहता है अथवा बराबर का ऐसा राजा इस राजा पर विजय प्राप्त करना चाहता है), इसलिए शत्रु के रूप में साधारणतया बराबर के ही राजा का वर्णन किया गया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि बराबर का राजा ही सदैव शत्रु होगा। अन्य कोई राजा भी शत्रु हो सकता है और क्योंकि समान बलवाले निकटतम राजा से साधारण रीति से प्रतिद्वन्द्विता एवं शत्रुता रहती ही है इसलिए उसका वर्णन इसी रीति से किया है कि विजिगीषु के बाद उसका शत्रु आता है। शत्रु के पश्चात् विजिगीषु के मित्र और शत्रु के मित्र का स्थान है। इसके अनन्तर विजिगीषु के मित्र का मित्र तथा शत्रु के मित्र का मित्र ये दो आते हैं। इस प्रकार यह चार—विजिगीषु और शत्रु के दो, दो अर्थात् कुल मिला कर चार मित्रों की यह परम्परा है। यह तो मण्डल में वह राजागण हैं जो युद्ध में सामने आ कर सङ्घर्ष करते हैं। यद्यपि इसके अतिरिक्त अन्य भी इस प्रकार के राजा हो सकते हैं परन्तु वर्णन की सुविधा

की दृष्टि से केवल इतने राजाओं का ही वर्णन किया गया है। सामने आ कर सङ्घर्ष करने वाले राजाओं के अतिरिक्त अन्य ऐसे भी राजा होते हैं, जो पीछे से इस विजिगीषु को तङ्ग करें। इस प्रकार के राजा को 'पार्ष्णिग्राह' कहा गया है। इसलिए ऐसे राजा को रोक रखने के लिए विजिगीषु के लिए भी सहायक राजा का होना आवश्यक है। अतः जो इस 'पार्ष्णिग्राह' को रोकता है उसका नाम 'आक्रन्द' है तथा 'पार्ष्णिग्राह' का सहायक 'पार्ष्णिग्राह-आसार' और 'आक्रन्द' का सहायक 'आक्रन्दसार' है। पीछे से सहायता करने वाले चार राजाओं की यह परम्परा वर्णित है। इस प्रकार सङ्घर्ष में जुटनेवाले यह दस राजा हैं—विजिगीषु और शत्रु, इन दोनों के दो-दो सामने वाले सहायक तथा दो-दो पीछे-वाले सहायक हैं।[१११] इसके अतिरिक्त दो अन्य राजागण हैं—एक तो वह जो इन दोनों राजाओं अर्थात् विजिगीषु और शत्रु के समीप रहता है और इस कारण इन दोनों के सङ्घर्ष में रुचि रखता है, तथा, जो इनमें से किसी को भी सहायता देने में समर्थ होने पर भी इनके सङ्घर्ष में न पड़ कर अलग रहता है, या तो इस भावना से कि उसे सङ्घर्ष में कूदने की कोई इच्छा ही नहीं है अथवा इसलिए कि वह अनुकूल अवसर देखता है कि जब वह सङ्घर्ष में जिस ओर चाहे उस ओर कूद सके। यह राजा 'मध्यम' है। इसी प्रकार यदि कोई अन्य राजा जो स्वयं इनमें से किसी का भी साथ देने में समर्थ है परन्तु जो विजिगीषु और शत्रु राजाओं से इतनी दूर है कि उसको इनके सङ्घर्ष में कोई रुचि नहीं है, वह राजा 'उदासीन' है। इन दो राजाओं को ले कर बारह राजाओं का सम्पूर्ण मण्डल कहलाता है। जब किसी भी राजा को अपने परराज्य-सम्बन्धों का विचार करना पड़ता है तो उसे इस प्रकार के बारह राजाओं के मण्डल का ही विचार कर अपने परराज्य-सम्बन्धों का सञ्चालन करना चाहिए। इसका यह भाव नहीं कि किसी एक समय विभिन्न राजाओं के पारस्परिक सम्बन्धों में अथवा सङ्घर्ष में बारह से अधिक अथवा कम राजा होते ही नहीं, परन्तु विचार की सुविधा की दृष्टि से तथा परराज्य-सम्बन्धों का स्वरूप ठीक से समझने के लिए और उसका उचित विचार करने के लिए यह बारह राजाओं का मण्डल ही बताया गया है। इन राजाओं में से प्रत्येक राजा की पाँच-पाँच प्रकृतियाँ होती हैं—मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और बल (सात प्रकृतियों में से शेष दो प्रकृति राजा तथा मित्र बारह के मण्डल में ही आ जाते हैं), अतः बारह राजाओं की यह सब प्रकृतियाँ, कुल मिला कर बहत्तर प्रकृतियों का भी मण्डल कहलाता है और जब राजा परराज्य-सम्बन्धों में सङ्घर्ष का अथवा विजय का विचार करता है उस समय उसे इन सभी बारह राजाओं का तथा उनकी इन सब प्रकृतियों—राष्ट्र, कोष, सेना, दुर्ग अर्थात् सुरक्षा-व्यवस्था

और मन्त्री अर्थात् बुद्धिमान राजनीतिज्ञ—का भी विचार करना उचित और आवश्यक है। इसलिए इन बहत्तर प्रकृतियों का भी राज्य-वर्णन में उल्लेख है।[११२] इस बारह अथवा बहत्तर प्रकृतियों के मण्डल का विचार करते हुए प्रत्येक राजा को अपनी नीति इस प्रकार चलानी चाहिए जिससे अन्य कोई भी राजा चाहे वह मित्र हो अथवा शत्रु हो अथवा मध्यम आदि हो उससे अधिक बलशाली न हो सके[११३] अथवा उसे पीड़ित न कर सके और यह विजिगीषु इतना समर्थ हो जाये कि अन्य राजाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सके। कामन्दक ने यह बताया है कि राजा को मण्डल में अपनी नीति इस प्रकार सञ्चालित करनी चाहिए जिससे उसका प्रभाव बढ़े तथा जिससे मण्डल में उसके प्रति क्षोभ न उत्पन्न हो[११४] और सब प्रसन्न रहें।

इस मण्डल के अन्दर राजनीति का सञ्चालन चार (अथवा सात) उपाय तथा छः गुणों के माध्यम से होता है। इन उपायों और गुणों का क्रमशः अब हम विचार करेंगे। उपायों में साधारणतया चार प्रमुख उपायों (साम, दाम, दण्ड, भेद) का ही उल्लेख किया जाता है[११५] यद्यपि इनके अतिरिक्त तीन अन्य उपाय (माया, उपेक्षा और इन्द्रजाल अथवा छलपूर्ण वध) भी बताये जाते है।[११६] इन उपायों का अग्निपुराण, शुक्रनीति, कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा कामन्दकीय नीतिसार में विस्तार से वर्णन है।[११७] कामन्दक ने आलसी, विक्रम करने की आवश्यकता होने पर भी शान्तिपूर्ण चेष्टा करनेवाले, ज्ञान कम होने के कारण त्रस्त, निस्तेज, भयभीत, मूर्ख, स्त्री, बाल, धार्मिक, जो मित्रता करने में अधिक विश्वास करते हैं और कल्याणपूर्ण बुद्धि रखते हैं, उनके साथ साम उपाय के प्रयोग (समझाकर अपने पक्ष में करने) का अनुरोध किया है।[११८] जहां तक दान का प्रश्न हैं, वहाँ कौटिल्य ने[११९] भूमि, द्रव्य, कन्या और अभय के दान को दान कहा है। अग्निपुराण ने दान को श्रेष्ठ उपाय बताया है क्योंकि यह दोनों लोक देनेवाला है (दान करने से पुण्य भी होता है और 'दान' के प्रयोग से लोग प्रसन्न भी हो जाते हैं) और कहा है कि ऐसा कोई नहीं जो दान से वश में नहीं आता। दान के प्रयोग से दूसरे सङ्घटित लोगों में भी फूट डाली जा सकती हैं।[१२०] कामन्दक ने यह भी आग्रह किया है कि साम और भेद का प्रयोग दान के साथ ही करना चाहिए क्योंकि दान के साथ प्रयोग करने से ही इन दोनों उपायों की भी सिद्धि होती है।[१२१] भेद के योग्य यह लोग बताये हैं—पूर्व सेनापति, नीच, समय व्यतीत करने के लिए अपने आश्रय में आया हुआ, जिस पर झूँठा दोषरोपण किया गया हो, जो लक्ष्मी की इच्छा करता हो, जिसे बुला कर फिर उसका सम्मान न किया गया हो, राजद्रोही, जिसका व्यवसाय नष्ट किया गया हो, जिससे अधिक कर लिया गया हो, रणप्रिय, साहस के कार्य (वध आदि)

करनेवाला, स्वयं को महत्त्वपूर्ण समझनेवाला, जिसका धर्म अथवा काम नष्ट किया गया हो, क्रुद्ध, मानी, अपमानित, भयभीत, अपने दोष से त्रस्त, दूसरे का सान्त्वना दिया हुआ बैरी, अपने तुल्य व्यक्ति से निरादर किया हुआ और अपने असमान व्यक्ति के द्वारा अशक्त किया हुआ, अकारण अथवा सकारण बन्दी बनाया हुआ, अकारण त्रस्त किया गया, सम्मान के योग्य होने पर भी जिसका सम्मान न किया गया हो, जिसका द्रव्य अथवा स्त्री हरण कर ली गयी हो, महा-भोग की इच्छा रखनेवाला, क्षीण (निर्धन, दुर्बल) किया गया, बन्धु, द्रव्य से अलग किया गया, बहिष्कृत तथा परकीय राजा के यहाँ रहनेवाला बलवान से तो भेद का प्रयोग करना ही बुद्धिमानी बताया गया है।[१२२] शुक्र ने भेद को सभी उपायों में सर्वश्रेष्ठ कहा है।[१२३] चार उपायों में सबसे अन्तिम उपाय दण्ड है। यह दण्ड दो प्रकार का बताया है—प्रकाश और अप्रकाश। मारना, ग्रामों को अथवा अन्न आदि को नष्ट करना, आग लगाना प्रकट दण्ड है तथा विष, अग्नि तथा विविध प्रकार के पुरुषों द्वारा वध करना, सज्जनों को दूषित करना, जल को विषपूर्ण करना अप्रकट दण्ड है।[१२४] कामन्दक ने कहा है कि दुष्टों के साथ दण्ड का ही प्रयोग होना चाहिए तथा अपनी शक्ति देख कर दण्ड का प्रयोग करना चाहिए।[१२५] शुक ने बताया है कि इन चार उपायों में से किसका प्रयोग किस व्यक्ति के साथ करना चाहिए। उनका कहना है कि "शत्रु के लिए पहले साम का प्रयोग करना श्रेष्ठ है, फिर दाम का, भेद का सदा ही प्रयोग किया जा सकता है और दण्ड का प्रयोग तो प्राण-संशय में ही करना चाहिए। प्रबल शत्रु के साथ साम, दाम का प्रयोग करना चाहिए, उसमें भेद, दण्ड का प्रयोग स्वयं के लिये ही अनिष्टकारक है। अधिक शत्रु के साथ साम, भेद का प्रयोग करना चाहिए, समान शत्रु के साथ साम, भेद, दण्ड का प्रयोग करना चाहिए और जो हीन हैं उसको केवल दण्ड से ही ठीक करे। मित्र और अपनी प्रजा के साथ सदा साम, दाम का ही प्रयोग होना चाहिए, भेद, दण्ड का नहीं क्योंकि इससे राज्य का नाश होता है। शत्रु की सत्ता के साथ भेद और पीड़न का प्रयोग करना चाहिए।"[१२६]

इन चार उपायों का प्रयोग तो सभी व्यक्तियों के अर्थात् शत्रु, मित्र, अपने राज्य के दुष्ट तथा परराज्य की प्रजा के साथ हो सकता है, परन्तु शत्रु के साथ व्यवहार करने के लिए इन चार उपायों के अतिरिक्त छः गुणों का भी वर्णन किया गया है। यह छः गुण हैं—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधी भाव।[१२७] इन छः गुणों की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है कि कुछ शर्तों के आधार पर जब मेल हो जाता है तो वह सन्धि है, परस्पर एक-दूसरे के अपकार में राजाओं का लग जाना विग्रह है, उपेक्षा कर बैठे रहना आसन है, अभ्युदय के लिए आक्रमण करना यान है, स्वयं को दूसरे को अर्पण कर देना संश्रय

अथवा आश्रय है, और किसी एक से सन्धि तथा दूसरे से विग्रह करना द्वैधीभाव है।[१२८] सन्धि इस प्रकार की जानी चाहिए कि शत्रु भी मित्र हो जाये, विग्रह ऐसा होना चाहिए कि शत्रु अपने आधीन हो जाये, शत्रु का नाश हो जाये ऐसा यान होना चाहिए, अपनी रक्षा होती रहे तथा शत्रु का नाश होता रहे ऐसा आसन होना चाहिए, आश्रय इस प्रकार का होना चाहिए कि दुर्बल राजा वह आश्रय पा कर बलवान हो जाये तथा द्वैधीभाव ऐसा होना चाहिए कि अपनी सेना की ठीक से योजना सम्भव हो सके।[१२९] कौटिल्य ने इन छः गुणों की तुलना करते हुए बताया है कि सन्धि और विग्रह में सन्धि श्रेष्ठ है क्योंकि विग्रह में क्षय (जन पशु का नाश), व्यय (धन तथा अन्य वस्तुओं का नाश), प्रवास तथा अन्य कष्ट होते हैं। यान और आसन की तुलना में आसन श्रेष्ठ है और द्वैधीभाव तथा संश्रय की तुलना में द्वैधीभाव का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि द्वैधीभाव से व्यक्ति स्वयं का उपकार करता है और संश्रय लेने पर व्यक्ति दूसरे का उपकार करता है।[१३०]

राजा इन उपायों तथा गुणों का प्रयोग जिसके द्वारा करता है, वह दूत है। दूत वह है जो अन्य शत्रु अथवा मित्र राजाओं के यहाँ जाकर अपने राजा का हित साधन करता है। मनु ने दूत के विषय में कहा है कि सन्धि और विग्रह दूत के ही आधीन रहते हैं तथा दूत ही लोगों को मिलाता है अथवा मिले हुए लोगों को अलग करता है तथा दूत वह कार्य करता है जिससे मनुष्यों में संघर्ष हो जाता है।[१३१] कौटिल्य तथा कामन्दक ने दूत के व्यवहार के भी बहुत-से नियम बताये है अर्थात् प्रतिष्ठा के साथ यान, वाहन, पुरुष, सम्मान आदि लेकर परराज्य में रहना चाहिए। उसे परराज्य में उस राज्य की आज्ञा मिलने पर ही प्रवेश करना चाहिए। उसे सन्देश को ठीक-ठीक कहना चाहिए चाहे उसमें प्राणों की बाधा ही क्यों न हो। दूत को परकीय राजा का आन्तरिक भाव समझने का प्रयत्न करना चाहिए।[१३२] उसे अपनी बात स्पष्ट रूप से कहनी चाहिए चाहे उससे वह राजा जिसके यहाँ वह दूत हो कर गया है, अप्रसन्न ही क्यों न हो जाये। दूत को परराज्य में अपने बल का अभिमान नहीं करना चाहिए, अनुचित वाक्यों को सहन करना चाहिए। स्त्री-संसर्ग अथवा मद्यपान नहीं करना चाहिए अन्यथा मन का आन्तरिक भाव प्रकट होने का भय होता है। उसे अकेले ही सोना चाहिए। दूत को यदि परकीय राजा अपने यहाँ रोकने का प्रयत्न करे तो दूत को विचार करना चाहिए कि वह राजा क्यों रोक रहा है – कहीं वह इस काल में अपनी त्रुटि (कमी) पूरी करने का प्रयत्न तो नहीं कर रहा है। यदि उसे ऐसा लगे तो उसे ठीक से विचार करना चाहिए कि वह वहाँ ठहरे अथवा न ठहरे अथवा उसे वहाँ ठहर कर अपने राजा का हित पूर्ण करने का प्रयत्न करना चाहिए। दूत को साधारणतया परकीय राजा से पूछ कर ही वह स्थान

छोड़ना चाहिए परन्तु यदि उसे यह लगे कि वह राजा उसे मारने का अथवा बन्धन में डालने का प्रयत्न कर रहा है तो उसे वहाँ से बच निकलना चाहिए। दूत को अपने राज्य के सम्बन्ध में कोई भी ज्ञान न देना चाहिए। अपने राजा का कुल, ऐश्वर्य, त्याग, उन्नति, सरलता, अक्षुद्रता तथा भद्रता बताने का प्रयत्न करना चाहिए तथा दोनों पक्षों का गुण-कीर्तन करना चाहिए।[133] दूत के कार्य के विषय में बताया गया है कि सन्देश भेजना, सन्धि का पालन करवाना, मित्र-संग्रह करना, शत्रु के व्यक्तियों को फोड़ना, मित्रों में भेद कराना, गूढ़ रीति से किसी का वध कराना, दूसरे राजा के बन्धु और रत्नों का अपहरण करना, गुप्तचरों द्वारा ज्ञान प्राप्त करना, अपने पक्ष के बन्दी लोगों को छुड़वाना तथा योग (विभिन्न प्रयोगों) का आश्रय लेना यह दूत के कार्य हैं। इसके अतिरिक्त दूत का यह भी कार्य बताया है कि वह अपनी सेना के लाभ के लिए जल एवं स्थल मार्गों का ज्ञान प्राप्त करे, दूसरे राज्य तथा दुर्ग की सब गुप्त बातें तथा कोष, मित्र, और सेना के सब छिद्र जाने। वह यह भी जाने कि जहाँ वह गया है वहाँ की प्रजा का राजा पर कितना प्रेम है।[134] दूत के विषय में सबसे अन्तिम नियम यह है कि दूत अवध्य है।[135]

राजनीति में जहाँ तक मित्र और शत्रु का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में सबसे पहली बात यह है कि शत्रु अथवा मित्र स्वार्थ के ही आधार पर होते हैं। शुक्र ने बहुत स्पष्ट रीति से यह कहा है कि सभी मित्र भी छिपे शत्रु ही होते हैं और कोई वास्तव में मित्र अथवा शत्रु नहीं है।[136] इसलिए राजनीति में व्यवहार का यह भी एक नियम बताया गया है कि किसी का भी विश्वास नहीं करना चाहिए अथवा प्रत्येक से सभी समय सावधान रहना चाहिए।[137] राजा को इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि वह मण्डल के राजाओं को अपना मित्र बनाये क्योंकि मित्र बनकर वह मण्डल को इसके हितकारी बनाने का प्रयत्न करते हैं तथा बहुत मित्रवाला राजा शत्रुओं को शीघ्र पराजित कर सकता है। इसीलिए क्रोध से अथवा मित्रों के साथ उनकी श्रेष्ठता के अनुसार व्यवहार न करने से अथवा मिथ्या अभियोग लगाकर अथवा उनसे अनुचित वचन कह कर अथवा उनके दोषों का उल्लेख कर मित्रों को नष्ट नहीं करना चाहिए। मित्र के गुण-दोष की स्वयं परीक्षा करनी चाहिए, मित्र में दोष हों तो उसे त्याग देना चाहिए तथा अपकार करने वाले और शत्रु का पक्षपात करने वाले मित्र को नष्ट कर देना चाहिए। यदि शत्रु भी हित करे तो उसे मित्र बना लेना चाहिए।[138] शान्तिपर्व में यह भी आग्रह किया गया है कि मित्र की रक्षा में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए, इतना ही नहीं उत्तम मित्र की सब प्रकार से वृद्धि करनी चाहिए और उस पर पिता के समान विश्वास करना चाहिए।[139]

शत्रु से व्यवहार करने में दो भिन्न-भिन्न रूपों में विचार करना पड़ता है— एक तो उस शत्रु से व्यवहार जो बलवान् है अतः जो इसे जीतने की इच्छा रखता है तथा दूसरे उस शत्रु से व्यवहार जिसे स्वयं जीतना हो। कौटिल्य ने इन दोनों का पृथक्-पृथक् वर्णन 'आबलीयसम्' (बारहवाँ अधिकरण) तथा 'दुर्गलम्भोपाय (तेरहवाँ अधिकरण) नाम के दो अधिकरणों में किया है। संक्षेप में इस व्यवहार को इस ढङ्ग से कहा गया है कि जो राजा व्यसनों में फँसा है वह 'यातव्य' है और उसको नष्ट कर देना चाहिए, जो राजा निराश्रित है अथवा जिसका आश्रय दुर्वल है उसका उच्छेदन करना चाहिए, और जो राजा इस प्रकार का नहीं है उसका कर्षण और पीड़न करना चाहिए। कर्षण का अर्थ है राजा के कोष तथा सेना का नष्ट करना तथा पीड़न का अर्थ है अन्न-जल के कष्ट पहुँचाना।[१४०] बलवान के साथ व्यवहार करने में यह नियम बताया गया है कि राजा को अपने से बलवान को न तो छेड़ना चाहिए, न उससे युद्ध करना चाहिए अपितु उसके साथ सन्धि कर लेनी चाहिए। जो बलवान के सामने झुककर फिर समय पर पराक्रम करते हैं, उनकी सम्पत्ति स्थिर रहती है।[१४१] कौटिल्य ने बलवानों के तीन प्रकार बताये हैं,—धर्मविजयी, लोभविजयी तथा असुरविजयी। इनमें से धर्मविजयी तो आधीनता मानने पर ही सन्तुष्ट हो जाता है और उसकी आधीनता स्वीकार कर लेने पर दूसरे राजा भी उसके भय से आक्रमण नहीं कर पाते इसलिए उससे अवश्य सन्धि कर लेनी चाहिए। दूसरा लोभविजयी होता है जो भूमि-धन लेकर सन्तुष्ट हो जाता है अतः उसके साथ भी सन्धि कर लेना उचित है। तीसरा असुरविजयी तो पुत्र, स्त्री, प्राण तक भी हरण करने का प्रयत्न करता है। उसे भी भूमि, धन देकर शान्त करना चाहिए परन्तु फिर उसे नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए।[१४२] बलवान राजाओं के अतिरिक्त अन्य राजाओं का जहाँ तक प्रश्न है, वहाँ समान राजा के साथ भी सन्धि कर लेनी चाहिए क्योंकि (इनसे युद्ध में) विजय अनिश्चित रहती है और उसमें दोनों के नाश की सम्भावना रहती है परन्तु हीन राजा के साथ सन्धि नहीं करनी चाहिए क्योंकि वह अवसर पा कर स्वयं ही आक्रमण का प्रयत्न करेगा।[१४३]

राजनीति के ऊपरोक्त नियमों का वर्णन करने के साथ-साथ इस बात का भी राजनीति में आग्रह किया गया है कि राजा को सब उपायों का ठीक से प्रयोग कर उत्थान का प्रयत्न करना चाहिए। कामन्दक ने षड्गुणों का तथा मण्डल का वर्णन करने के पश्चात् राजा से उद्योग करने का आग्रह करते हुए कहा है कि[१४४] "उपाय से तो मत्त हाथियों के भी मस्तक पर पैर रखा जा सकता है (उनके ऊपर सवारी की जा सकती है)। बुद्धिमान को कोई भी वस्तु असाध्य नहीं है।" शुक्रनीति में भी षड्गुणों का वर्णन करने के पश्चात्

कहा है कि[145] "अच्छे उपाय से, अच्छी योजना (मन्त्र) से तथा उद्यम से साधारण व्यक्तियों के भी कार्य सिद्ध होते हैं फिर राजाओं के कार्य क्यों नहीं हो सकते ? उद्योग से ही कार्य सिद्ध होते हैं, केवल इच्छा-मात्र से नहीं। सोते हुए सिंह के मुख में हाथी नहीं गिरते हैं।" मनुस्मृति में भी सम्पूर्ण राजनीति का वर्णन करने के पश्चात् कहा है कि "उपाय करनेवाला राजा सभी उपायों का ठीक से प्रयोग कर अपनी अर्थ-सिद्धि का प्रयत्न करे" तथा यह भी कहा है कि राजा को दैव के आश्रित न हो कर फल और लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।[146] कौटिल्य का कहना है कि जो राजा एक-दूसरे का (मण्डल का) ध्यान रख कर छः गुणों का प्रयोग करता है वह बुद्धि की जञ्जीर से बँधे राजाओं से अपने इष्ट को प्राप्त करता है।[147] याज्ञवल्क्य ने भी सम्पूर्ण राजनीति, चार उपाय, तथा छः गुणों का वर्णन कर दैव की तुलना में पुरुषार्थ का महत्त्व बताया है।[148] इसके अतिरिक्त आठवें अध्याय में यह बताया ही गया है[149] कि राजा के लिए भारतीय धर्मशास्त्रों और अर्थशास्त्रों में विजय का महत्त्व बताया गया है तथा जहाँ परराज्य-सम्बन्धी कार्यों का उल्लेख है वहाँ अभावात्मक रूप में परकीय आक्रमण से सुरक्षा का ही केवल विचार न कर स्पष्ट रीति से विजय का उल्लेख किया गया है। पीछे मण्डल के वर्णन से यह भी स्पष्ट है कि 'विजिगीषु' को ही केन्द्र बना कर सम्पूर्ण मण्डल की योजना की गयी है। कामन्दक ने तो उद्योग द्वारा राजा के विजय के इस लक्ष्य को और भी स्पष्ट किया है—"उत्थान (उन्नति के प्रयत्न) के द्वारा राजा अपनी वृद्धि करे जैसे ईंधन डालने से अग्नि की वृद्धि की जाती है। दुर्बल व्यक्ति भी नित्य प्रयत्न करने से लक्ष्मी प्राप्त करता है। लक्ष्मी को दुष्ट स्त्री के समान अपने वीर्य से भोगने के लिए व्यक्ति सदैव व्यवसाय करने की इच्छा करे, नपुंसक के समान आचरण न करे। जो सदा उत्साही है तथा सिंह की वृत्ति धारण किये रहता है वह लक्ष्मी को दुर्विनीत स्त्री के समान बाल पकड़ कर वश में कर लेता है। किरीट और मणियों से सुशोभित शिरस्त्राणवाले उद्धत शत्रुओं के मस्तकों पर चरण रखे बिना व्यक्ति कल्याण प्राप्त नहीं करता। चित्तरूपी विशाल हाथी को प्रयत्न से प्रेरित कर वैरी-रूपी वृक्षों की जड़ को उखाड़े बिना सुख कहाँ मिल सकता है? जो ऊँचे-ऊँचे की इच्छा करता है वह महान् पद प्राप्त कर लेता है परन्तु जो गिरने की शङ्का करता है (प्रयत्न नहीं करता) वह नीचे-नीचे गिरता है।"[150] इन सभी बातों से स्पष्ट है कि भारतीय राजनैतिक विचार में राजा के सामने स्पष्ट रीति से विजय प्राप्त करने का आदर्श रखा गया था। विजय का यह आग्रह इसीलिए किया गया था कि जिससे समर्थ राजा सम्पूर्ण देश को एकछत्र साम्राज्य के आधीन ला कर सम्पूर्ण देश में अपनी सत्ता प्रस्थापित

कर सके और चक्रवर्तित्व तथा सार्वभौमत्व प्राप्त कर सके। भारतीय विचार में शौर्य दिखाना, विजय प्राप्त करना, सब लोगों को अपने वश में करना निन्दनीय आदर्श नहीं माने गये थे, अपितु यह क्षत्रियों के लिए आवश्यक ही नहीं, महान् अनुकरणीय आदर्श थे। यह माना गया था कि यह तो असम्भव है कि राज्यों में स्वार्थ और महत्त्वाकांक्षा के ऊपर आधारित पारस्परिक सङ्घर्ष नष्ट हो सके, तब इन सङ्घर्षों का व्यक्ति और समाज के लाभ की दृष्टि से क्यों न प्रयोग किया जाये, अतः ऐसी स्थिति में पराजित न हो कर, अथवा दब कर तथा दूसरे के वश में न हो कर विजय प्राप्त करना ही श्रेष्ठ आदर्श के रूप में उचित समझा गया था, विशेष रूप से इसलिए कि इससे व्यक्ति के पौरुष और पुरुषार्थ का जागरण होता है और देश को एकछत्र राज्य में लाने में सहायता प्राप्त होती है। इस प्रकार विजय प्राप्त कर चक्रवर्तित्व का आदर्श भारतीय राज्य-व्यवस्था में सभी राजाओं के सामने रखा गया था।

यह चक्रवर्तित्व का अथवा सार्वभौमत्व का आदर्श सभी ग्रन्थों में मिलता है। अथर्ववेद में इन्द्र के विषय में कहा है कि इन्द्र राजाओं में अधिराज के रूप में शोभायमान हो।[१५१] तैत्तिरीय संहिता में राजसूययज्ञ के वर्णन में आधिपत्य का उल्लेख है, तथा ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है कि जो राजा सभी राजाओं से श्रेष्ठ होना चाहता है तथा समुद्रपर्यन्त पृथ्वी तक सार्वभौम और एकराट् होना चाहता है वह अपना ऐन्द्र महाभिषेक कराये।[१५२] कौटिल्य ने सम्पूर्ण देश को जीतनेवाले चक्रवर्ती का उल्लेख किया है, शान्तिपर्व में भी पृथ्वी के ऊपर एकछत्र राज्य होने का उल्लेख है तथा मत्स्यपुराण में सारे भारतवर्ष को जीतनेवाले को सम्राट् कहा है।[१५३] शुक्रनीति में राजाओं की विभिन्न श्रेणियाँ बतायी गयी हैं।[१५४] जो राजा एक लाख से तीन लाख तक प्रति वर्ष आय प्राप्त करता है वह राजा 'सामन्त' है, तीन लाख से दस लाख तक आयवाला राजा 'माण्डलिक' है, दस से बीस लाख तक आयवाला राजा 'महाराजा' है, पचास लाख से एक करोड़ तक आयवाला राजा 'स्वराट्' है, और दस करोड़ तक आयवाला 'सम्राट्' है, दस करोड़ से पचास करोड़ आय का राजा 'विराट्' है और उससे आगे सप्तद्वीपा पृथ्वी जिसके वश में रहती है वह 'सार्वभौम' है। इससे यह स्पष्ट है कि भारतीय राज्य-व्यवस्था में यह आग्रह था कि प्रत्येक राजा इस बात का प्रयत्न करे कि वह अन्य सभी राजाओं को अपने वश में ला कर अपनी सत्ता सम्पूर्ण देश पर प्रस्थापित कर सके। भारतीय राज्य-व्यवस्था में पर-राज्यों के सम्बन्धों का जितना भी वर्णन है—जिसमें मण्डल की व्यवस्था, चार उपाय और षड्गुणों का प्रयोग, शत्रु, मित्र तथा उदासीन राजाओं से व्यवहार, युद्ध की सम्पूर्ण

योजना तथा राजनीति के छलछद्मपूर्ण उपायों का प्रयोग सम्मिलित है—उस सबके पीछे यही भावना है कि राजागण सम्पूर्ण राजनीति का इस प्रकार सञ्चालन करें जिससे कि वह देश में अपनी सार्वभौम सत्ता प्रस्थापित कर सकें। 'मण्डल' और 'चक्र' यह पर्यायवाची शब्द हैं और 'मण्डल' के माध्यम से विजिगीषु का अपनी सत्ता में वृद्धि करने का अर्थ है उसके द्वारा चक्रवर्तित्व प्राप्त करने का प्रयत्न। विजय प्राप्त कर चक्रवर्तित्व प्राप्त करना, यह भारतीय राजनैतिक जीवन का सबसे बड़ा आदर्श है और अश्वमेध-यज्ञ तथा राजसूय-यज्ञ इसी आदर्श की पूर्ति के चिह्न हैं।

विजय प्राप्त करने के लिए कूटनीतिक साधनों का प्रयोग भी आवश्यक है। राज्य-व्यवस्था का वर्णन करनेवाले लगभग प्रत्येक ग्रन्थ में ही इनका उल्लेख है। मनुस्मृति में ऐसे साधनों का सन्दर्भ-मात्र दे कर कहा है कि नीतिज्ञ राजा ऐसे सब उपाय करे जिससे शत्रु, मित्र और उदासीन अधिक बलवान न हो सके।" अन्त में मनु ने कहा है कि यह राजनीति का वर्णन संक्षेप में किया गया है।[१५५] ऊपर बताये गये चार उपायों तथा छः गुणों के प्रयोग के अतिरिक्त कौटिलीय अर्थशास्त्र का सम्पूर्ण तेरहवाँ अधिकरण तथा शान्तिपर्व का १४० वाँ अध्याय (और अन्य कुछ स्थान भी) ऐसे कूटनीतिक साधनों के प्रयोग से भरे हुए हैं। यद्यपि मित्रों से[१५६] तथा अन्य उदासीन, मध्यम राजाओं से भी सावधान रह कर व्यवहार करने का तथा उन्हें अपने पक्ष में बनाये रखने के लिए सब उपाय करने का[१५७] आग्रह है परन्तु इन कूटनीतिक साधनों का प्रयोग सबसे अधिक शत्रु के साथ व्यवहार करने में बताया गया है। परन्तु शत्रु राजाओं से व्यवहार के विषय में भारतीय विचारकों की यह धारणा थी कि राजाओं के परस्पर सङ्घर्ष में, चाहे वह सङ्घर्ष खुला हो चाहे प्रच्छन्न, उनके द्वारा सर्वसाधारण रीति से इस प्रकार के उपाय का प्रयोग होता ही है। उन्हें किसी प्रकार के सिद्धान्तों का उपदेश दे कर उनसे वर्जित करना कठिन ही नहीं असम्भव है। अतः राजाओं से यह आग्रह करने का, कि वह शत्रु से भी सदाचरणपूर्ण व्यवहार करें, यह अर्थ होगा कि इन नियमों के द्वारा केवल उन्हीं राजाओं को बाँधा जाये जो आग्रहपूर्वक धर्म के अनुसार चलते हैं। क्योंकि अधर्मशील राजा तो मर्यादा मानते ही नहीं, इसलिए उनको तो इससे नियन्त्रित करना सम्भव ही नहीं जबकि सबसे अधिक नियन्त्रित करने की आवश्यकता उन्हीं के सम्बन्ध में है। अतः इन नियन्त्रणों से धर्मशील राजागण ही एक हानिकारक स्थिति में आ जायेंगे। ऐसी दशा में उचित यही है कि धार्मिक राजाओं पर भी अधर्मशील राजाओं के साथ सङ्घर्ष में किसी प्रकार का नियन्त्रण न लगाया जाये। इतना ही नहीं, वह भी इन उपायों का इस प्रकार

प्रयोग करें जिससे वह अधर्मी राजाओं को नियन्त्रण में ला सकें। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से भारतीय विचारकों ने समझा कि राज्यकर्ताओं पर पारस्परिक राजनीति में मर्यादाएँ लगाने का कोई लाभ नहीं, वह हानिकारक भी हो सकता है। आज भी यह बात स्पष्ट दिखायी देती है जबकि भाँति-भाँति के अन्ताराष्ट्रिय कानून तथा अन्ताराष्ट्रिय संस्थाएँ होने के पश्चात् भी राज्यकर्तागण पारस्परिक व्यवहार में कूटनीति का प्रयोग करने से नहीं चूकते। इसके अतिरिक्त भारतीय विचारकों ने राजाओं के समक्ष चक्रवर्तित्व का आदर्श उपस्थित किया था तथा शत्रुविजय का बार-बार आग्रह किया था। इसके लिए उन्होंने राजाओं को यह भी निर्दिष्ट किया था कि यह विजय किस प्रकार की जाये और इसके लिए उन्होंने राजनीति के सभी उपायों का उल्लेख किया था। अन्त में, भारतीय विचारकों ने अधिकारभेद की जो धारणा रखी थी उसके अनुसार उन्होंने राजाओं के लिए उनकी स्थिति और आवश्यकता देख कर उनके अपने कर्तव्य और प्रतिबन्ध निर्धारित किये थे और इसी दृष्टि से उन्होंने राजाओं के लिए भी पारस्परिक राजनीति में इन सब साधनों का प्रयोग करने की छूट दी थी। परन्तु इसी अधिकारभेद के सिद्धान्त के अनुसार उन्होंने शेष समाज को इस कूटनीति के प्रयोग से दूर रखा था तथा समाज में इसका दूषण न फैले इसका पूरा ध्यान रखा था।[१५८] इसके अतिरिक्त उन्होंने इस बात का भी आग्रह किया था कि राजागण इस कूटनीति का प्रयोग प्रजा के साथ न करें, प्रजा के साथ तो धर्मपूर्ण व्यवहार ही करें[१५९] तथा इसका प्रयोग शत्रु के ही लिए सीमित रखें। इन अनैतिक प्रतीत होनेवाले साधनों के प्रयोग के विषय में शान्तिपर्व में स्पष्टीकरण किया गया है। जब भीष्म ने शत्रुओं के साथ राजाओं के कूटनीतिक व्यवहार का वर्णन किया है वहाँ उसके पश्चात् युधिष्ठिर की शङ्का के उत्तर में भीष्म कहते है[१६०] कि केवल श्रुति से ही सब धर्म नहीं जाना जाता है परन्तु सज्जन लोग बुद्धि से भी विचार कर धर्माचरण करते हैं। यही विजयाकांक्षी राजा को भी करना चाहिए। धर्म की एक ही शाखा नहीं है इसलिए मन में कभी संशय नहीं उत्पन्न होने देना चाहिए। धर्म बतानेवाले शास्त्रों का अर्थ यदि क्रोध, मोह आदि के वश में हो कर (स्वार्थ-भावना से न किया, यदि इन्हें सद्बुद्धिपूर्वक और ज्ञान के आधार पर समझा तो कोई भी आचरण ठीक है। राजा की सृष्टि ही दूसरों के हित के लिए हुई है अतः उसे भीषण कार्य करने ही पड़ते हैं क्योंकि अवध्य का वध करने में दोष है परन्तु वध्य का वध न करने में भी दोष होता है।

परन्तु विजयी राजा का यह कर्तव्य नहीं माना गया था कि जिस राज्य पर वह विजय प्राप्त करे उस राज्य के राज-परिवार को नष्ट कर उस राज्य

को अपने राज्य में सम्मिलित कर ले (annexation)। एकछत्र राज्य स्थापित करने का यह अर्थ नहीं था। उसका केवल इतना ही अर्थ था कि राजा अन्य राजाओं को केवल अपनी सत्ता स्वीकार करनेवाला तथा कर देनेवाला बना ले। इसलिए इस बात का आग्रह किया गया है कि यदि जीते हुए राज्य का राजकुल हीन न हो तो उस पर राजा पूर्व-राज्य के ही कुल के किसी व्यक्ति को नियुक्त कर दे।[१६१] रामायण में सुग्रीव को बालि की मृत्यु के पश्चात्, तथा रावण की मृत्यु के पश्चात् विभीषण को राज्य देना इसके उदाहरण हैं तथा महाभारत में भी पाण्डवों की दो वार दिग्विजय के वर्णन में यही बताया गया है कि पाण्डवों ने विजित राजाओं को अपना कर-दाता बनाया, उनके राज्य अपने राज्य में नहीं मिलाये। इसके अतिरिक्त जीते हुए राज्य में किस प्रकार व्यवहार किया जाये इसके भी नियम बताये गये हैं। सबसे प्रथम तो इस बात का आग्रह है कि विजित देश में वहीं के आचार आदि का पालन कराना चाहिए।[१६२] यह भी कहा गया है कि उस राज्य का पालन इसी प्रकार करना चाहिए जैसे अपने राज्य का, वहाँ के प्रमुख पुरुषों का सत्कार करना चाहिए, वहां के धर्म को नष्ट न करना चाहिए तथा उसे मान्यता देनी चाहिए। उस राज्य के व्यक्तियों की अवमानना नहीं करनी चाहिए और उनका हित करना चाहिए।[१६३] इन सभी नियमों का अर्थ यह है कि विजयी राजा को विजित प्रदेश में राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक अथवा आर्थिक साम्राज्यवाद की स्थापना का प्रयत्न न करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर वहाँ के लोगों के मन में विद्रोह जागृत होता है, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक सङ्घर्ष का प्रारम्भ होता है तथा मानसिक विद्वेष भी उत्पन्न होता है। यदि इस प्रकार का सङ्घर्ष तथा विद्रोह प्रजा में जागृत हो जाता है और वह राज्यकर्ताओं तक ही सीमित न रह कर सम्पूर्ण समाज को आक्रान्त कर लेता है तो विभिन्न राज्यों के लोगों के जीवनों के पारस्परिक विद्वेष, घृणा तथा अवमानना की भावना से दूषित होने के कारण उससे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जो सभी राज्यों के लिए, सम्पूर्ण समाज और देश के व्यक्तियों और वहाँ की एकता के लिए घातक होती है। भारतीय समाज-व्यवस्थापकों ने सङ्घर्ष का क्षेत्र केवल राजनीति तक सीमित रखा था और राजनीति में भी उसे इसीलिए स्थान दिया था क्योंकि वह अनिवार्य था—यद्यपि वहां भी सङ्घर्ष केवल एक थोड़े से वर्ग (राज्यकर्ताओं) तक सीमित किया था और उसमें भी यह आग्रह था कि यह सङ्घर्ष अन्तिम अवस्था में ही हो। उन्होंने जितना सङ्घर्ष स्वीकार किया था उसके अन्दर भी उपयोगिता तथा श्रेष्ठ भावना भर कर उसके उदात्तीकरण का प्रयत्न किया गया था परन्तु भारतीय विचारकों को यह बिलकुल मान्य न था

कि राजनीति का यह सङ्घर्ष सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक अथवा मानसिक क्षेत्रों में पहुँच कर सम्पूर्ण जन-जीवन को विपाक्त कर दे। इसी कारण उस राजनैतिक सङ्घर्ष को मान्यता दे कर भी सम्पूर्ण समाज के अन्दर एकात्मकता निर्माण करने के लिए उन्होंने अन्य क्षेत्रों में सङ्घर्ष रोक दिया था तथा इसी के कारण वे सम्पूर्ण देश में एकात्मकता निर्माण करने में समर्थ हो सके थे।

ऊपर के सम्पूर्ण विवेचन से एक बात और भी स्पष्ट होती है और वह यह है कि भारतीय राज्य-व्यवस्था में बहुत-से छोटे-बड़े राज्यों का अस्तित्व स्वीकार किया गया था। यह अस्तित्व स्वीकार ही नहीं किया गया था अपितु जब यह कहा गया था कि राजा विजित राज्य के राजा को ही उसके सिंहासन पर बैठा दे तो इसका अर्थ था कि इन राज्यों के अस्तित्व को नष्ट करने का कोई प्रयत्न नहीं था। इसके अतिरिक्त जब देश में राजाओं की विभिन्न श्रेणियाँ मानी थीं और जब देश में चक्रवर्तित्व की स्थापना का आग्रह किया था तब उसमें भी भारतीय विचारकों ने प्रच्छन्न रूप से यह स्वीकार किया था कि देश के अन्दर छोटे-बड़े राज्य अवश्य होंगे। ऊपर के सम्पूर्ण विवेचन से भी यही सिद्ध होता है। इन छोटे-छोटे राज्यों का अस्तित्व इसलिए माना गया था कि इतने बड़े देश के प्रशासन में छोटी-छोटी इकाइयों के रूप में राज्य रहने पर शासन में सुव्यवस्था तथा दक्षता रहना सम्भव है। इसके पीछे यह भी भाव था कि जो भी राजा सर्वश्रेष्ठ होगा वह स्वयं अपने बुद्धि, पराक्रम, योग्यता तथा योजकता से सम्पूर्ण देश अथवा देश के अधिक-से-अधिक भाग पर अपनी सत्ता प्रस्थापित कर लेगा और स्वयं ही देश में राजनैतिक एकता भी प्रस्थापित कर सकेगा। यह आवश्यक नहीं था कि एक ही राजपरिवार में सदैव सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति उत्पन्न हों, इसलिए इस व्यवस्था के आधीन सम्पूर्ण देश के अन्दर सदैव ऐसे ही राजाओं की प्रभुसत्ता होगी जो अपने समय के सबसे योग्य शासक होंगे। देश में विभिन्न राज्य रहने से यह भी सम्भव था कि देश के विभिन्न भागों की अपनी-अपनी विविधताओं और विशेषताओं का विकास और भी भावनात्मक हो सके। परन्तु यह स्थिति उस समय मान्य की गयी थी जब कि सम्पूर्ण देश सांस्कृतिक एकता की भावना के आधार पर एकात्मकता का अनुभव करता हो अन्यथा यह राजनैतिक विच्छिन्नता देश के लिए बहुत हानिकारक होगी। इसलिए सांस्कृतिक एकता स्थापित कर उसकी पृष्ठभूमि में विभिन्न राज्यों की सत्ता स्वीकार की गयी थी। सांस्कृतिक एकता रहते हुए देश के अन्दर विभिन्न राज्य रहने का एक लाभ यह भी था कि परकीय आक्रमणकारियों के आने पर अथवा उनका शासन प्रस्थापित रहने पर देश के अन्दर कोई-न-कोई शासक उनका प्रतिकार करने के

लिए अवश्य रहा अर्थात् उनका विरोध करने के लिए कोई-न-कोई राज्यसत्ता अवश्य रही। इस प्रकार यद्यपि भारतीय समाज-व्यवस्थापकों ने विविध राज्यों को मान्य किया था परन्तु इसके कारण उन्होंने देश की एकात्मता में बाधा न आने दी थी। उस एकता के लिए उन्होंने अन्य मार्ग खोज निकाले थे जिनके द्वारा उन्होंने देश को एकसूत्रता में बांधा था। इस प्रकार उन्होंने यह विच्छिन्नता राजनैतिक क्षेत्र तक ही सीमित कर रखी थी और उसमें भी एकता लाने के लिए सार्वभौम-सत्ता की स्थापना का सभी राजाओं से आग्रह किया था।

अतः भारतीय समाज-रचयिताओं ने अपनी निर्मित की हुई समाज-रचना के साथ मिली हुई, सुव्यवस्थित और सुयोजित राज्य-व्यवस्था भी तैयार की थी ताकि इस राज्य-व्यवस्था से रक्षित और वर्धित यह समाज-रचना व्यक्ति और समाज, दोनों की आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति करने में समर्थ हो सके तथा संसार के समक्ष एक सुगठित आदर्श जीवन का चित्र प्रस्तुत कर सके।

बारहवाँ अध्याय

उपसंहार

हमने यहाँ तक भारतीय समाज-जीवन तथा राज्य-व्यवस्था से सम्बन्धित भारतीय विचारो का निरूपण किया है और उनकी पृष्ठ-भूमि का भी वर्णन किया है। अब इसका उपसंहार करते समय कुछ प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक होगा। प्रश्न हैं, क्या यह समाज-व्यवस्था (जिसके अन्दर राज्य-व्यवस्था भी सम्मिलित है) परिपूर्ण थी, अर्थात् क्या उसमें कोई त्रुटि नहीं थी? क्या जिस प्रकार मनुष्य की आध्यात्मिक अथवा चारित्रिक उन्नति का चित्र इस व्यवस्था में प्रस्तुत किया गया है, वैसा अन्य किसी व्यवस्था में सम्भव नहीं था अर्थात् क्या अन्य व्यवस्थाओं में मनुष्य उस प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता और नहीं करता? क्या यह व्यवस्था व्यावहारिक थी अथवा केवल उसमें कोरे कर्कश का ही वर्णन है? और अन्त में, यदि यह व्यवस्था व्यावहारिक थी भी तो, क्या इसे कभी व्यवहार में लाया गया था? हम इन प्रश्नों पर एक-एक कर विचार करेंगे। भारतीय विचारकों ने अपने मत के अनुसार यह एक सर्वाङ्ग परिपूर्ण व्यवस्था निर्माण की थी और उन्होंने जीवन के सभी अङ्गों का समन्वयात्मक निर्माण किया था, जिसमें मनुष्य ऐहिक जीवन के सभी सुखों का उपभोग करता हुआ, उनसे सन्तुष्ट हो, परमात्मा-प्राप्ति के लक्ष्य की ओर एक जन्म में अथवा विविध जन्मों में बढ़ सके। इस दृष्टि से यह भारतीय समाज-व्यवस्था (जिसकी रक्षा के निमित्त राज्य-व्यवस्था भी उसी का एक अङ्ग थी) परिपूर्ण थी। भारतीय समाज-व्यवस्था इस दृष्टि से भी परिपूर्ण थी कि मनुष्य की विविध श्रेणियों का विचार किया गया था, प्रत्येक की सबलताओं और दुर्बलताओं पर ध्यान दिया गया था, तथा तदनुसार उनके जीवन की योजना निर्मित की गयी थी। इस प्रकार चाहे सत्ता-सम्पन्न राजा हो, चाहे शारीरिक दृष्टि से

दुर्बल स्त्री हो चाहे जीवन की सभी कामनाओं का मर्यादित उपभोग करने में असमर्थ सर्वसाधारण निम्न श्रेणी का व्यक्ति हो, सभी की दुर्बलताओं को ध्यान में रख कर उनके लिए तदनुकूल व्यवस्था कर, समाज के सभी अङ्गों की व्यवस्था का एक सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत किया था। अतः यद्यपि प्रत्येक को क्रमशः उन्नति के सर्वोच्च शिखर तक—पूर्ण आत्मज्ञान की उपलब्धि तक—पहुँचाने का विचार था परन्तु यह नहीं था भारतीय विचारकों के सामने समाज-व्यवस्था की परिपूर्णता का अर्थ था कि प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष ही, चाहे उसकी कैसी ही पात्रता और योग्यता हो, सर्वोच्च आदर्श की ही बात की जाये, उसके समक्ष केवल वही एक लक्ष्य रखा जाये और उसके लिए उसके असमर्थ होने पर भी, उसे वैसा ही आदर्शपूर्ण जीवन को मानने को बाध्य किया जाये। समाज-व्यवस्था की परिपूर्णता का यह अर्थ लगाने पर ऐसा निःसङ्कोच रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय समाज-व्यवस्था में ऐसी एकतानता अथवा परिपूर्णता न थी और न इसे भारतीय विचारकों ने सम्भव अथवा उपयुक्त ही माना था। उनके अनुसार तो समाज-व्यवस्था की परिपूर्णता का अर्थ था समाज के प्रत्येक श्रेणी के व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार व्यवस्था करना और इस प्रकार समाज का एक समन्वयात्मक चित्र प्रस्तुत करना, और, उन्होंने वैसा किया था। इसी प्रकार भारतीय मनीषियों ने समाज-व्यवस्था का एक परिपूर्ण ढाँचा तो अवश्य प्रस्तुत किया था और उस ढाँचे को यदि ठीक से चलाया जाये तो उसमें नर को नारायण बनाने की भी पात्रता थी, परन्तु उस व्यवस्था की पात्रता स्वयमेव एक सीमा तक ही थी। वह सीमा यह थी कि इस व्यवस्था की पूर्णता इसको सञ्चालन करने-वाले वर्ग पर निर्भर करती थी। यह आशा करना भूल होगी कि इस व्यवस्था को लागू कर देने-मात्र से यह मनुष्य को परिपूर्ण बना देने में समर्थ थी। इसका तो इतना ही कार्य था कि यदि इसका श्रद्धापूर्वक पालन किया जाये तो यह भारतीय विचारकों के अनुसार अन्य किसी भी व्यवस्था की तुलना में मनुष्य-जीवन में और समाज-जीवन में सबसे अधिक सुख निर्माण करनेवाली थी तथा अन्य किसी भी व्यवस्था की तुलना में मनुष्य को सबसे अल्प अवधि में उसकी परिपूर्णता तक पहुँचानेवाली थी। इस व्यवस्था की परिपूर्णता इसमें भी थी कि मनुष्य के अन्तिम श्रेष्ठ लक्ष्य का प्रतिपादन कर उसे प्राप्त करने का जो आग्रह किया गया है वह अन्यत्र क्वचित ही देखने को मिलता है और उस लक्ष्य को आधार बना कर उसके अनुसार रेखागणित के सिद्धान्तों के समान जीवन के विभिन्न अङ्गों के सिद्धान्त क्रमशः निष्पन्न किये गये थे, जो एक दुर्लभ-सी बात है। भारतीय समाज-व्यवस्था की परिपूर्णता इसी में थी, अन्यथा यह व्यवस्था भी बहुत-कुछ इसमें प्राण फूँकनेवाले तथा इस व्यवस्था के अन्तर्गत

रहनेवाले मनुष्य-समुदाय पर निर्भर थी। अतः भारतीय समाज-व्यवस्था की परिपूर्णता इसके प्रतिपादकों के अनुसार इसके अन्य सब सम्भव व्यवस्थाओं से श्रेष्ठ होने में है अन्यथा यह व्यवस्था भी अन्य सब व्यवस्थाओं के समान स्वयमेव तो निर्जीव ही है अतः इससे यह आशा नहीं की जा सकती कि यह किसी समाज में स्वयमेव पूर्ण प्राण-प्रतिष्ठा कर सकेगी। इतना अवश्य हो सकता है कि कितना ही पतित समाज इस व्यवस्था को मानने लगे तो उसमें भी यह क्रमशः परिवर्तन कर सकेगी। इस व्यवस्था में चारों ओर के जन-समुदाय के दोष कुछ-न-कुछ मात्रा में तो प्रतिबिम्बित होंगे ही और इतनी परिपूर्णता की आशा एक समाज-व्यवस्था से नहीं की जा सकती कि उसके ऊपर चारो ओर के वातावरण का तनिक भी प्रभाव न पड़े। इसलिए यदि इस व्यवस्था में उपरोक्त कमी आरोपित की जाये तो इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा।

यह व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था है इस बात के कहने का यह भी अर्थ नहीं है कि अन्य सब व्यवस्थाएँ पूर्णतया निरर्थक हैं, अथवा उनमें मनुष्य सुखी हो ही नहीं सकता अथवा उनके अन्दर किसी भी व्यक्ति की आन्तरिक उन्नति सम्भव ही नहीं है। अन्य व्यवस्थाएँ भी अन्त में व्यवस्थाएँ ही हैं, और इसलिए उनके अन्दर भी मनुष्य को सुखी बनाने का प्रयत्न है तथा उनके अन्दर भी ऐसे व्यक्ति उत्पन्न होते हैं जो आध्यात्मिक श्रेष्ठता प्राप्त करते हैं तथा जीवन में आदर्श उपस्थित करते हैं। परन्तु भारतीय व्यवस्था की श्रेष्ठता उनकी तुलना में इसी में है क्योंकि इसकी सम्पूर्ण और सर्वाङ्गीण योजना ही मनुष्य-जीवन का चरम लक्ष्य ध्यान में रख कर की गयी है और उसी ओर मनुष्य को बढ़ाने के लिए सब सीढ़ियाँ निर्माण की गयी हैं इसलिए इसमें रहते हुए मनुष्य को अपने लक्ष्य की ओर बढ़ना तुलनात्मक अधिक सरल है क्योंकि उसे प्रत्येक पग पर तदनुकूल वातावरण निर्माण प्राप्त होता है। और, क्योंकि इसमें मनुष्य की आध्यात्मिक श्रेष्ठता का वातावरण निर्माण किया गया है। (व्यक्तिगत स्वार्थ की तुलना में) इसलिए इसमें स्वार्थ और सुखोपभोगों की उपलब्धि के लिए संघर्ष कम हो कर तुलनात्मक सुख भी अधिक रहना सम्भव है।

जहाँ तक सुख-निर्माण का प्रश्न है इस दृष्टि से विभिन्न व्यवस्थाओं की तुलना करना कठिन है क्योंकि प्रत्येक समाज के, जो एक जीवन-प्रणाली का निर्माण कर उसके अनुसार जीवन व्यतीत करता है, विधि-निषेध उसी अनुसार निश्चित हो जाते हैं, उसमें उसी अनुसार वातावरण निर्माण हो जाता है तथा उसमें व्यक्तियों की विचार की पद्धति भी वैसी ही बन जाती है अतः साधारणतया उस समाज के व्यक्तियों को उसी पद्धति में सुख, आनन्द तथा रस का अनुभव होता रहता है। वैसे सभी व्यवस्थाएँ ही कुछ-न-कुछ मात्रा में समाज की

व्यवस्था निर्माण करनेवाली होने के कारण इनमें से प्रत्येक में जिस मात्रा में समाज की सुव्यवस्था रहती है उसी मात्रा में सुख रहता है। इस दृष्टि से उपरोक्त भारतीय समाज-व्यवस्था समाज की सर्वाङ्गीण, सुयोजित व्यवस्था निर्माण करनेवाली होने के कारण यह भी सुख-निर्माण का एक साधन अवश्य थी, परन्तु इसमें योग्यतानुसार कार्य-विभाजन होने के कारण, विभिन्न वर्गों में निश्चित कार्य-विभाजन कर विभिन्न स्थानों के लिए प्रतियोगिता अतः विद्वेष समाप्त किये जाने के कारण, समाज में सबसे श्रेष्ठ स्थान सबसे धर्मप्रवण, चारित्रिक दृष्टि से उन्नत तथा तुलनात्मक कम-से-कम व्यक्तिगत जीवन और व्यक्तिगत हित का विचार करनेवाले लोगों को दिया जाने के कारण (जिससे उनके द्वारा प्रमुख रीति से समाज की हित-चिन्ता ही हो तथा समाज के शेष व्यक्तियों में उनके प्रति श्रद्धा निर्माण हो कर उनके प्रति ईर्ष्या तथा विद्वेष न हो), तथा व्यक्तिगत स्वार्थ का महत्त्व कम रखने के कारण जिससे समाज में सङ्घर्ष कम हो—यह व्यवस्था पर्याप्त सुख निर्माण करनेवाली थी। इसमें एक ही वर्ग को समाज के ऊपर सम्पूर्ण सत्ता न दे कर उसका विभिन्न वर्गों में विभाजन कर प्रतिरोध और सन्तुलन (Checks and balances) निर्माण करने का प्रयत्न था[१] जिससे समाज में किसी भी वर्ग के अत्याचार की सम्भावना कम-से-कम हो कर उससे उत्पन्न होनेवाला कष्ट समाज को न रहे इसका भी प्रयत्न था। केवल भौतिक सुखोभोग ही सुख का साधन है यह भावना भी दूर कर तथा अपने कर्तव्यपालन (धर्मपालन), त्यागवृत्ति, परहित और परसेवा तथा सन्तोष[२] की वृत्ति में ही सुख ढूँढने का प्रयत्न निर्माण कर भी विभिन्न कष्टों में सुख अनुभव करने की वृत्ति निर्माण की गयी थी और इसलिए भी इस व्यवस्था में सन्तोष और सुख तुलनात्मक अधिक था।

इस व्यवस्था की व्यावहारिकता पर पहले ही बहुत कहा जा चुका है और यह भी स्थान-स्थान पर बताया जा चुका है कि इस व्यवस्था के सम्बन्ध में जो भी विचार भारतीय विचारकों ने किया है वह सैद्धान्तिक विवेचना नहीं है[३] अपितु उन्होंने जीवन के व्यवहार का ही विचार किया है। अतः संक्षेप में, यह व्यवस्था पूर्ण व्यावहारिक ही बतायी गयी थी। केवल इतना ही था कि इसमें व्यावहारिकता का विचार करते हुए मनुष्य को आदर्श की ओर बढ़ाने का प्रयत्न था और इस प्रकार आदर्श के साथ व्यावहारिकता का अथवा व्यावहारिकता के साथ आदर्श का पूर्ण समन्वय किया गया था।

परन्तु, केवल इतना ही नहीं था कि यह व्यवस्था व्यावहारिक हो। इस व्यवस्था को व्यवहार में लाया भी गया था और आज भी कुछ मात्रा में तथा आज से पूर्व इससे अधिक मात्रा में बचे हुए इस व्यवस्था के अवशेष इस ओर

इङ्गित करते हैं, (यद्यपि वर्तमान काल में इसका स्वरूप बहुत विकृत हो गया है और उसकी बहुत पतित अवस्था है)। वर्ण-व्यवस्था (जन्म पर आधारित) आज भी है ही और आज भी सवर्ण विवाह ही होते हैं। आश्रम-व्यवस्था में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा संन्यास का रूप कुछ-कुछ अच्छी अवस्था में आज के कुछ काल पूर्व तक था (स्वामी दयानन्द के काल तक) और आज भी यत्र-तत्र इन आश्रमों के अनुसार जीवन व्यतीत करनेवालों के कुछ उदाहरण मिल सकते हैं। स्त्री-धर्म का, जो आदर्श की दृष्टि से सबसे श्रेष्ठ है और जिसको सबसे अधिक अव्यवहार्य कहा जा सकता है, आज भी उत्कृष्ट रूप देखने को मिल सकता है—पातिव्रत्य का, परिवार के लिए समर्पण का, पति की मृत्यु के पश्चात् पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन का। विवाह भी अभी तक लगभग प्राचीन परिपाटी तथा प्राचीन नियमों के अनुसार ही होता है। राज्य-व्यवस्था में अवश्य, पिछली कई शताब्दियों से परकीयों से सङ्घर्ष के कारण तथा उनके आधिपत्य के कारण, उसका मूल रूप वर्तमान काल में नहीं दिखायी देता, परन्तु अशोक, हर्ष, समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनों के ऐतिहासिक वर्णनों में उस व्यवस्था का थोड़ा-सा स्वरूप अवश्य परिलक्षित होता है तथा देश में एकछत्र चक्रवर्ती राज्य स्थापित करने के प्रयत्न भी उस काल में दिखायी देते हैं। मोक्ष की कल्पना, पुनर्जन्म तथा कर्मफल की धारणा आज भी भारतीय जनसमुदाय को प्रभावित करती है। इतना ही मात्र देखने से—जो इस व्यवस्था की पतित अवस्था का चित्र है—इतना तो निश्चित कहा जा सकता है कि इस व्यवस्था पर व्यवहार किया गया था और सफलता के साथ किया गया था तथा जब इसकी व्यवस्था की श्रेष्ठ अवस्था रही होगी उस समय उसका पालन और व्यवहार बहुत उत्कृष्टता के साथ होता होगा। परन्तु इसके व्यवहार का सम्पूर्ण इतिहास प्रस्तुत करना अर्थात् इसकी चरम और पतित ऐतिहासिक अवस्थाओं का वर्णन करना इस ग्रन्थ की सीमा के बाहर है और वैसा करना यहाँ सम्भव भी नहीं है।

इस व्यवस्था का सविस्तार वर्णन पीछे किया गया है। यहाँ इतना और बता देना आवश्यक है कि यह सम्पूर्ण व्यवस्था अविच्छेद्य है। यदि इसके एक अङ्ग को भी हटा दिया गया अथवा यदि वह निष्क्रिय हो गया तो फिर सम्पूर्ण व्यवस्था ही धीरे-धीरे पतन के मार्ग पर जाती है। व्यावहारिक उदाहरण प्रथम अध्याय में बताया ही गया है[४] कि कोई उपयुक्त राज्य व्यवस्था न रहने से पिछले एक सहस्र वर्षों में जीवन के सभी अङ्गों का पतन होता आ रहा है। परन्तु जो बात राज्य-व्यवस्था के विषय में सत्य है वही वर्ण-व्यवस्था अथवा आश्रम-व्यवस्था अथवा स्त्री-धर्म आदि के विषय में तथा इन सब व्यवस्थाओं के प्रत्येक अङ्ग के

विषय में भी सत्य है। यह बात पीछे के विवेचन से स्पष्ट भी हो गयी होगी और विचार करने पर यह बात और स्पष्ट समझ में आ सकती है। इसलिए ऐसा विचार करना इस व्यवस्था के प्रतिपादकों को मान्य नहीं है कि इसके किसी भी अङ्ग को हटाया जा सकता है अथवा इसकी कुछ ही बातों को मान्य किया जा सकता है। यह सम्पूर्ण एक है, या तो इसे पूरा मान्य करना होगा अथवा इसे पूरा अमान्य करना होगा।

यही भारत की राष्ट्रीयता है, जो भारतीय विचारकों के अनुसार 'सनातन' है तथा जो प्राग्-ऐतिहासिक काल से अविच्छिन्न चली आ रही है और यही भारत की राष्ट्रीयता उस दिन तक रहेगी जिस दिन तक भारत में इस विचार और आचार को माननेवाला एक भी व्यक्ति जीवित होगा तथा वही व्यक्ति भारतीय 'राष्ट्र' का वास्तविक प्रतिनिधि होगा। जिस दिन यह सब नष्ठ हो जायेगा उस दिन यही कहा जा सकेगा और कहना ठीक होगा कि 'भारत' नष्ट हो गया जैसे अन्य प्राचीन राष्ट्र रोम, ग्रीस, असीरिया, बेबीलोनिया, मिस्र आदि नष्ट हो गये। यद्यपि उन राष्ट्रों की भूमि पर आज भी निवासी रहते हैं परन्तु वे निवासी वैसे निवासी नहीं है जैसे वे पूर्व के निवासी थे। उनके विचार का ढङ्ग, उनकी जीवन-पद्धति वह नहीं है जो उनके पूर्वजों की अथवा उनके पूर्व में वहाँ रहनेवाले लोगों की थी। अतः उनके नष्ट होने का अर्थ है कि यद्यपि उन देशों की भूमियों का और वहाँ के निवासियों का अभी भी अस्तित्व है परन्तु उनकी संस्कृति नष्ट हो गयी है। जिस दिन भारत की यह संस्कृति पूर्ण रूप से नष्ट हो जायेगी उस दिन भारत भी नष्ट हो जायेगा। परन्तु भारतीय विचारकों की यह धारणा है कि यह संस्कृति अमर है, सनातन है और इसका उत्थान, पतन तो हो सकता है परन्तु इसका पराभव नहीं हो सकता। देवताओं ने अमृत का पान किया है, दैत्यों ने नहीं किया तथा राहु और केतु के द्वारा कभी-कभी ग्रसित होने पर भी सूर्य और चन्द्रमा बार-बार अपने पूर्ण प्रकाश से प्रकाशित हो संसार को ज्योति प्रदान करते हैं और उनका मार्गदर्शन करते हैं।

सन्दर्भ-सङ्केत

पहला अध्याय

१. मैक्समूलर—सिक्स सिस्टम्स ऑफ फिलॉसोफी पृष्ठ १६३ से उद्धृत
२. काशीप्रसाद जायसवाल – मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, पृष्ठ ३२-४४
३. उदाहरण के लिए एन. एन. लॉ की एस्पेक्टस ऑफ एन्शेण्ट इण्डियन पॉलिटी में कीथ की प्रस्तावना पृष्ठ ४; विलाउवी; पोलिटिकल आइडियोलॉजी ऑफ दि एन्शेण्ट वर्ल्ड, पृष्ठ १४
४. १।१।६२-७०
५. देखिए आगे पृष्ठ २०-२३
६. देखिए कौटिलीय अर्थशास्त्र, वात्स्यायन कामसूत्र, सुश्रुत संहिता का प्रारम्भिक भाग
७. देखिए मनु ७।१४-१५, २४; महा० १२।६६।७६; गौतम ११। ३०-३२; विस्तार से देखिए आगे पृष्ठ २५८-५६
८. २।३०-३२; देखिए विस्तार मे वनपर्व १८८।३०-६० तथा अन्य पुराणों में कलियुग वर्णन
६. ३।५१।२४-२५
१०. देखिए आगे पृष्ठ २५८
११. १८०।३१-३२
१२. सेक्रेड बुक्स ऑफ दी बुद्धिस्ट्स, भाग २, पृष्ठ २६।
१३. सलायतन वग्ग १०।१० (अव्याकृत संयुक्त-आनन्द सुत्त)
१४. मज्झिम पञ्जास, परिव्राजक वग्ग, अग्गि वच्छगोत्त सुत्त।
१५. डायलॉग्स ऑफ दि बुद्ध, भाग १, पृष्ठ ३७८।
१६. इण्डियन फिलॉसोफी, भाग १, पृष्ठ ३७८
१७. ८।३
१८. राधाकृष्णन—इण्डियन फिलॉसोफी, भाग १, पृष्ठ ४०६।
१६. देखिए आर्यदेव की माध्यमिक शास्त्र की टीका भी।
२०. राधाकृष्णन—इण्डियन फिलॉसोफी, भाग १, पृष्ठ३ ६०-६१।
२१. बुद्धिज़्म, पृष्ठ ८३-८४।
२२. बुद्धाज़ फिलॉसोफी, पृष्ठ ८१.
२३. बुद्ध, पृष्ठ ५३।
२४. सुत्तनिपात २।७।
२५. देखिए आगे पृष्ठ १११।
२६. सेक्रेड बुक्स ऑफ दि बुद्धिस्ट्स, भाग २।
२७. सेक्रेड बुक्स ऑफ दि बुद्धिस्ट्स, भाग २।
२८. देखिए आगे पृष्ठ ६०-६१।

२९. देखिए ऊपर पृष्ठ १०-१३ ।
३०. डायलॉग्स ऑफ दि बुद्ध, भाग १, पृष्ठ २०६ ।
३१. पृष्ठ ७०-७१ ।
३२. बुद्ध एण्ड दि गॉस्पेल ऑफ बुद्धिज़म, पृष्ठ २१९ ।
३३. १६।२-३ ।
३४. देखिए आगे पृष्ठ ६३-६४ ।
३५. योगसूत्र २।१३ ।
३६. योगसूत्र ४।७; महा० १२।२८०। ३३-४९;
३७. स्टडीज़ इन जैनिज़्म, पृष्ठ २८ ।
३८. श्रीमती स्टीवेनसन—दि हार्ट ऑफ जैनिज़्म, पृष्ट ५-६, १८-१९ ।
३९. ४।५।१।१; देखिए अथर्ववेद ११।७।४ भी ।
४०. मनु २।६; गौतम १।२
४१. मनु २।६; याज्ञ १।७; वसिष्ठ १।३;
४२. वनपर्व २०७।८३; शान्तिपर्व ३५।४।६; अनुशासनपर्व १४१। ६५ ।
४३. चतुर्थ व्याख्यान, पृष्ठ १ ।
४४. प्रथम व्याख्यान, पृष्ठ २ ।
४५. शंख ११।२ ।
४६. १०।८५ ।
४७. ६।५।८।२; ७।१।१।६ ।
४८. ५।४।४।५ ।
४९. २।१०।७ ।
५०. कठ १।१।२६-२७; २।२।७; ईश ९-११; बृहदारण्यक ४।४।२-६ ।
५१. मुण्डक ३।१।६ ।
५२. श्वेताश्वतर ३।६ ।
५३. छान्दोग्य २।१३।२; १।२।१-८ ।
५४. तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षावली ।
५५. बृहदारण्यक० ६।४; कौषीतकि ३।१; कठ ६।४ ।
५६. छान्दोग्य ४।४; ५।१०।७; बृहदारण्यक १।४।११ ।
५७. तैत्तिरीयोपनिषद् २।२; बृहदारण्यक १।४।११; छान्दोग्य ६।१। १;२।२०।२।
५८. ३।१ ।
५९. छान्दोग्य २।२३।१; ८।१५; कौषीतकि ३।१ ।
६०. मुण्डक १।२।३ ।
६१. बृहदारण्यक १।४।१७ ।
६२. बृहदारण्यक १।५।१७ ।
६३. बृहदारण्यक ३।७ ।
६४. बृहदारण्यक १।४।२६ ।
६५. कठ १।१ ।
६६. बृहदारण्यक ५।२।१ ।
६७. तैत्तिरीयोपनिषद् ३।१० ।
६८. कठ १।१।३ ।
६९. बृहदारण्यक ३।७ ।
७०. प्रश्न १।१; छान्दोग्य ३।११ ।
७१. कठ १।२।९, छान्दोग्य ४।४।३ ।
७२. प्रश्न १।१ ।
७३. बृहदारण्यक ४।१।२ ।
७४. मुण्डक १।२।८; १।१।४-५; बृहदारण्यक १।५।१७ ।
७५. तैत्तिरीयोपनिषद् ३।१० ।
७६. ईश १, १३ ।
७७. तैत्तिरीयोपनिषद् ३।१० ।
७८. बृहदारण्यक १।३।१८ ।
७९. कौषीतकि ३।१ ।

८०. बृहदारण्यक १।४।१२-१३।
८१. छान्दोग्य ५।११।५-६।
८२. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग १, पृष्ठ ४।
८३. १।४-५।
८४. पराशर १।१२-१५; अग्नि१६१। १-२; पद्म २६३।८६-८६; लिङ्ग ३६।६२-६६; देखिए, काणे—हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग १, पृष्ठ १३२-३३।
८५. १२।१६; १६।३७।
८६. याज्ञ० १।१६५; २।१३२, १३५; ३।२२७, २४३, २६३।
८७. ३।२३१।
८८. ३४।२।
८६. विष्णुपुराण ४।२।११-४८।
६०. डाइनेस्टीज ऑफ दि कलि एज, भूमिका-पृष्ठ iv।
६१. महा० ३।६०।३३-३४।
६२. १८।५।४६-५० ;
६३. मन्मथनाथ दत्त—अग्निपुराण का अँग्रेजी अनुवाद, प्रस्तावना पृष्ठ २।
६४. ८२।२५-२६।
६५. ३।१३।३५-३६, देखिए वायु-पुराण १०।१७-१६, २२-२५, ३३-४० भी।
६६. ७।४१-४२
६७. मनु ५।२२; १०।१०५-१०८; कात्यायनस्मृति कर्मप्रदीपअंश २०।६-१०; वामन ६६।२६-३६; आदि।
६८. राधाकृष्णन—हिन्दू व्यू ऑफ़ लाइफ़, पृष्ठ ८६।
६६. महा० १।७३-७४।
१००. राधाकृष्णन—रिलीजन एण्ड सोसाइटी, पृष्ठ १६६।
१०१. देखिए पुराणों में युग-वर्णन यथा वायु ८; मत्स्य १४२
१०२. अथर्ववेद ११।७। २४; छान्दोग्य ७।१।२।
१०३. १।१।
१०४. १।१।१।६७-६६
१०५. १।८५-८६।
१०६. हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर, पृष्ठ २४।
१०७. पौराणिक इण्डेक्स की भूमिका-पृष्ठ। X।
१०८. १।१०।१६।७।
१०६. मत्स्यपुराण के अनुवाद की भूमिका, पृष्ठ ६।
११०. याज्ञ० १।३; विष्णुधर्मसूत्र ३।७०
१११. १।१३।६६
११२. मत्स्य १४४।३०-३१; वायु ५६। ३१-३२।
११३. उदाहरण के लिए निम्नलिखित ग्रन्थों ने यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि विविध कालों में लिखे गये धर्मग्रन्थों ने विविध कालों की भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओं का प्रतिपादन किया है। इसी आधार पर इन ग्रन्थों की सम्पूर्ण विवेचना है। लेखक

का इस विषय पर जो मत है उसको सकारण यहाँ (इस अध्याय में) बताया गया है।

१. डॉ० डी० एल० रॉय—हिस्ट्री ऑफ कास्ट-सिस्टम इन इण्डिया

२. डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी—एन्शेण्ट इण्डियन एजूकेशन।

३. डॉ० एन. सी. बन्द्योपाध्याय—इकोनोमिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एन्शेण्ट इण्डिया।

४. कुमारी शकुन्तलाराव शास्त्री—वीमेन इन दि वेदिक एज।

५. कुमारी शकुन्तलाराव शास्त्री—वीमेन इन दि सेक्रेड लॉज़।

६. सर शिवस्वामी ऐयर—इवॉल्यूशन ऑफ मोरल्स इन इण्डिया।

७. डॉ० बेनीप्रसाद—स्टेट इन एन्शेण्ट इण्डिया।

८. डॉ० बेनीप्रसाद—थियोरी ऑफ गवर्नमेण्ट इन एन्शेण्ट इण्डिया।

९. डॉ० आर. सी. मजूमदार—कॉरपोरेट लाइफ़ इन एन्शेण्ट इण्डिया।

११४. ३।४१।

११५. मनु ३।२७, ३०।

११६ मनु ९।५५-६३,. ६४-६७; आप० २।६।१३।१-९; वसिष्ठ १७।५६ आदि

११७. मनु ५।१३७-४०।

११८. मनु ९।६५-६६

११९. मत्स्य ३१।१६।

१२०. देखिए काणे—हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग ३, अध्याय ३२।

१२१. गौतम १।१-२; मनु १।६।

१२२. १।१।२०।६२।

१२३. पूर्वमीमांसा १।३।१।

१२४. आप० १।१२।१-१२।

१२५. छान्दोग्य ८।१५।१; देखिए पुराणों में प्रलयकाल में मनु द्वारा वेदों के रक्षण की कथा।

१२६. १२।४८।

१२७. २।२१।

१२८. व्यास १।४

१२९. देखिए आगे अध्याय ९ सम्पूर्ण-विशेष रूप से पृष्ठ २५४-५५, २५८।

१३०. रिलीजन एण्ड सोसाइटी, पृष्ठ १०७।

१३१. देखिए पृष्ठ ५-६ पीछे।

१३२. बृहदारण्यक ६।१८; मनु १।२१; भागवत २।१।३७; ३।१२।३५; वामन ९२।१९, २१, २४।

१३३. हिन्दू व्यू ऑफ़ लाइफ़ एकॉर्डिंग टु धर्मशास्त्राज़, पृष्ठ २९-३०।

दूसरा अध्याय

१. उदाहरण के लिए काणे---हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र; रंगस्वामी आयंगर—हिन्दू व्यू ऑफ़ लाइफ़ एकॉर्डिंग टु धर्मशास्त्राज़ ।

२. गोपथब्राह्मण तथा गोभिलगृह्यसूत्र—इसके लिए देखिए मैंकडोनेल-हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १८६; १८६; १६५ । देखिए ऋग्वेद १०।१२१, १२६, वाजसनेयी यजुर्वेद ३११।१-१६ आदि ।

३. इण्डियन स्कीम ऑफ़ लाइफ़, पृष्ठ ८३ ।

४. हिन्दू व्यू ऑफ़ लाइफ़, पृष्ठ ७६ ।

५. हिन्दू व्यू ऑफ़ लाइफ़ ऐकॉर्डिंग टु धर्मशास्त्राज़, पृष्ठ २५ ।

६. उदाहरण के लिए देखिए मनुस्मृति १।१०८ जहाँ सम्पूर्ण धर्म के पालन पर पूरा जोर दिया गया है । आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च । तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः । इसके अतिरिक्त प्रत्येक आचार बताते समय उसके पालन पर पृथक् रीति से बल दिया गया है। उदाहरण के लिए संस्कारों का पालन २।२६, उपनयन २।३८-४०, भोजन-सम्बन्धी नियम २।५४-५७ आदि ।

७. देखिए आगे पृष्ठ ११७ ।

८. आप० २।६।१३।१ ।

९. मनु १०।४१; गौतम ४।२० ।

१०. याज्ञ० १।६१-६६ उशनसस्मृति सम्पूर्ण; व्यास १।७-११ ।

११. देखिए पीछे पृष्ठ ३२ ।

१२. इण्डियन फ़िलॉसोफ़ी, भाग १, पृष्ठ १४७ ।

१३. देखिए कौटिलीय अर्थशास्त्र अधिकरण १३; १।५, १।१७; ५।२; शान्तिपर्व १४० अध्याय ।

१४. मनु ४।२०६; ६।२५६; याज्ञ० २।२६०; महाभारत ५।३०।३८ ।

१५. देखिए आगे पृष्ठ ८२-८५ भी ।

१६. सिक्स सिस्टम्स ऑफ़ फिलॉसोफी, पृष्ठ १६७ ।

१७. न्यायसूत्र १।१।१; ३।१।१६-२७; ४।१।१६ ।

१८. १।१।१-३; ३।१।२, १८ ।

१९. देखिए आगे पृष्ठ ४५-४७, ६४-६५ ।

२०. १।१।१-४; १।३ ।

२१. ३।१६ ।

२२. देखिए रङ्गस्वामी आयङ्गर—कृत्यकल्पतरु के मोक्षकाण्ड की प्रस्तावना, पृ० ६ ।

२३. ऋग्वेद १०।१२६।१-२ ।

२४. मुण्डक २।१।१ ।

२५. १।५-६ ।

२६. प्रश्न १।४ ।

२७. राधाकृष्णन—इण्डियन फ़िलॉसोफ़ी, भाग १, पृष्ठ ३४।
२८. ऐतरेयोपनिषद् ३।३।
२९. देखिए पुराणों के मन्वन्तर-वर्णन तथा कालगणना-वर्णन उदाहरण के लिए अग्नि १२२; भागवत २।६३;३।११
३०. १।५२-५३।
३१. १।४।१-३।
३२. ऐतरेयोपनिषद् १।४-६; मनु १।१४-२७; महा० १२।१८२-८८; अग्नि १७; ब्रह्म १ आदि।
३३. हिन्दी अनुवाद, पृ० १६२-६६।
३४. ऋग्वेद १०।९०।१-३; देखिए मनु १।३२ भी।
३५. देखिए मुण्डक २।१,१,२, १०, श्वेताश्वतर १।६-८, १०,१२; छान्दोग्य ८।३।१-३; गीता ५।१४-१९; ७।४-८, १३-१५।
३६. ३।६७-७०, १५२-५५, १५९; देखिए मनु १२।१२२-२५ भी।
३७. १२।८८-९१।
३८. ५।१०; देखिए गीता ८।२३-२८ भी।
३९. मुण्डक १।२।७।
४०. छान्दोग्य ५।१०।१-२; मुण्डक १।१।१०-११; वायु ९१।११५-११८।
४१. २।४।
४२. मुण्डक १।२।८; श्वेताश्वतर ५।१; ईश ९-११।
४३. ९।१-२; १८।४९।
४४. २।५५-७२; अध्याय ५; १२।१३-२०।
४५. देखिए आगे पृष्ठ ११०।
४६. देखिए आगे पृष्ठ ११३।
४७. देखिए आगे पृष्ठ ६०-६२।
४८. १।१।४।१-२, ६-७।
४९. देखिए आगे, पृष्ठ ५७-५९।
५०. दक्ष ७।४०-४१; मत्स्य ४१।२-४
५१. नारदपुराण १।१।३३; ब्रह्म अध्याय २३५।
५२. ५।१-५।
५३. ६।२-३।
५४. १३।२४-२५।
५५. हारीत ७।९-१२; नारदपुराण १।१।३३।२९-३२।
५६. १२।८५।
५७. ४।३३-३९।
५८. १२।२४-३८।
५९. १४।५-२०; गुणों के वर्णन के लिए देखिए अग्निपुराण का श्री मन्मथनाथ दत्त का अँग्रेजी अनुवाद, पृ० ७५-७६ पदपाठ।
६०. मनु ३।२२७; याज्ञ० २।८; गौतम १९।११; वसिष्ठ २२।८; विष्णुधर्मसूत्र २०।४७; २५।३ पराशर १०।४०; अत्रि ११२-१४; शातातप १।४; संवर्त २०६; गरुड़पुराण प्रेतखण्ड ७।४७-४८; नारदपुराण १।१।१।३५।
६१. मनु ११।२४८-६५; याज्ञ० ३०२-३०५। वसिष्ठ २६। ५-७; २८।१०-१५; विष्णुधर्मसूत्र५६। ३-२७; शंख ११ अध्याय; संवर्त २२७-२८;
६२. विष्णुधर्मसूत्र ५५।१४-१५।

६३. ५।१४।४ ।
६४. ३।३०८ ।
६५. मनु ११।२४५-४६;१२। ८३; याज्ञ० १।६६-१०१; अत्रि १३०-३१; दक्ष २।२६ ।
६६. अग्नि ६८।२३ ।
६७. १।४।१२।१,३ ।
६८. ४।२८,५५ ।
६९. मनु ६।२६
७०. मनु ११।२४६; याज्ञ० १।४०; व्यास ३।१०-११ ।
७१. प्रेतखंड १६।५६-५७ ।
७२. १।१।४।३३, ३५-३७ ।
७३. शङ्ख ८।११; वायु ७७।११७ ।
७४. काणे—हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग ४, पृष्ठ ५५३ ।
७५. देखिए आगे पृष्ठ ८६ ।
७६. ८२।२६-२७; ८३।१४५, २०२ ।
७७. १०४।१२ ।
७८. लिङ्ग १।९२।९४; वामन ३३।८, १६ भी ।
७९. स्कन्द ६।२८।२८-४५; पद्म उत्तरखण्ड २३७।११-२८ ।
८०. ४३।२५ ।
८१. ८।१५ ।
८२. ४।४।२२ ।
८३. देखिए आगे पृष्ठ १४३-४४ ।
८४. तैत्तिरीयसंहिता ६।१।६।३; अत्रि ४८;व्यास ४।२३-२४;नारदपुराण १।१।३४।७२; देखिए छान्दोग्य २।१३।१; संवर्त २०७; गरुड़पुराण प्रेतखण्ड ३।२३; वामन० अध्याय ९१ बलि और शुक्राचार्य की कथा जिसमें शुक्राचार्य द्वारा बलि को दान देने से रोकने के परिणाम-स्वरूप उनकी एक आँख फूट गयी ।
८५. ४।२३४-३५; देखिए व्यास ४। २६, २८ भी ।
८६. ९।११०५-१८ ।
८७. गीता १७।२०-२२; पराशर १। २९-३०; नारदपुराण १।१।१। २९-३०
८८. वैदिक व्याख्यानमाला, प्रथम व्याख्यान, पृष्ठ ४ ।
८९. देखिए आगे, पृष्ठ १४३-४४ ।
९०. प्रेतखण्ड १५।९०, ९४ ।
९१. २८ ।
९२. १।१२-१३; देखिए गीता भी ३।१० ।
९३. इस सम्बन्ध में विस्तार से देखिए; छान्दोग्य ३।१६-१७; बृहदारण्यक १।१-२; गीता ४।३४-३२ ।
९४. १।२।७; देखिए कौषीतकि १।२; बृहदारण्यक ३।२।९; ६।२।१६
९५. २।८४ ।
९६. देखिए पीछे पृष्ठ ४९-५० ।
९७. मनु १०।११०; देखिए ४।२०५-६ भी ।
९८. देखिए आगे पृष्ठ १२५ तथा १५१-५२ ।
९९. छान्दोग्य ८।४-५; कात्यायनस्मृति कर्मप्रदीप अंश २१।१५-१६; वामन २७।२८; नारदपुराण १। १।११। २८ ।
१००. २।१०६ ।

१०१. १।२।३।
१०२. ३।१।
१०३. याज्ञ० ३।२३४, २३६; विष्णु धर्मसूत्र ३७।२८; ५४।१२।
१०४. देखिए आगे पृष्ठ १०६-७
१०५. वायु ६१।११२-११४।
१०६. १०।१५४।२।
१०७. ११।२३४-४३; देखिए हारीत ७।६, ११-१२ भी।
१०८. इण्डियन फिलॉसोफी, भाग १, पृष्ठ २१५।
१०९. १७।१४-१६।
११०. अत्रि ४४; अग्नि २०६।३।
१११. १६।१५।
११२. देखिए पीछे पृष्ठ ५२।
११३. देखिए आगे पृष्ठ १०६-७।
११४. अत्रि ४६; नारदपुराण १।१।३३। ८७।
११५. १।१।३३।८८।
११६. १७।१७-१६।
११७. महा० १२।१८७।२३-२७।
११८. सांख्यकारिका ४०-४१।
११९. *गीतारहस्य पृ० १८८।*
१२०. १२।४०-५०।
१२१. कौषीतकि १।२।
१२२. ३।१०।७।
१२३. ४।४।२-५।
१२४. महा० १२।२२३।८-१०, १४-१६।
१२५. १२।४-६।
१२६. विष्णुधर्मसूत्र, अध्याय ४३-४५।
१२७. देखिए इतिहास-पुराण ग्रन्थों में तथा विष्णुधर्मसूत्र में विभिन्न पापों के भोग के रूप में नरक-वर्णन।
१२८. २।१३; देखिए वृहदारण्यक ४।४-५ भी।
१२९. १२।६, ८१; देखिए ऊपर सन्दर्भ १२५।
१३०. प्रेतखण्ड ३।३-१०।
१३१. मनु ११।४८-५२; याज्ञ० ३।२०६-११; वसिष्ठ २०।४४; विष्णुधर्मसूत्र; अध्याय ४५
१३२. ३।३७-३८, ४०-४३, ४५।
१३३. ईश ८; वृहदारण्यक ४।४।१०।
१३४. माण्डूक्य १; देखिए श्वेताश्वतर ३।१५; छादोग्य ६।११; मुण्डक १। १।७ भी।
१३५. राधाकृष्णन—इण्डियन फिलॉसोफी, भाग १, पृष्ठ १६० से उद्धृत।
१३६. २।२२४।
१३७. १४।१८-१६।
१३८. देखिए आगे पृष्ठ १३६-४१।
१३९. ७।११।
१४०. ३।१६ कामो यज्ञे प्रथमो हैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः। ततस्त्वमसि ज्यायान विश्वहा महास्तस्मै ते काम नम इत कृणोमि॥
१४१. ७।१४।
१४२. ३।४६।
१४३. ८।१३; १५।८७।

१४४. देखिए आगे पृष्ठ २४६-५० ।

१४५. १२।३८ ।

१४६. १६७।८-६; देखिए अनुशासन-पर्व १२४। ३५-३६

१४७. १।२।७-१५ ।

१४८. महा० १२।१६७।२६-४० ।

१४६. देखिए आगे पृष्ठ १३६-४१, १३३-३४ ।

१५०. मनु ४।१३३-४, १७४-७५; नारदपुराण १।१।१५।७०-७३; वामन ६६।३४ ।

१५१. देखिए आगे पृष्ठ १८४ ।

१५२. महा० १८।५।६२ ।

१५३. २।८।१०।२२-२३ ।

१५४. ४।१७६ ।

१५५. १।२ ।

१५६. ५६।२७-२८ ।

— —

तीसरा अध्याय

१. कठ-नचिकेता १०० और यम का संम्वाद विशेष रूप से १।१; बृहदारण्यक-याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी का सम्वाद २।४; छान्दोग्य-इन्द्र तथा विरोचन की कथा अध्याय ८; देखिए पिछला अध्याय भी।
२. ६।१२३-२६; देखिए गरुड़पुराण प्रेतखण्ड १०।५८ भी जिसमें मनुष्य के शरीर के दहन की यज्ञ-बलि से तुलना की गयी है।
३. ईश १
४. ३।१२-१३
५. देखिए आगे पृष्ठ १४३-४४
६. देखिए आगे पृष्ठ ११७
७. मनु ४।१६-२०; याज्ञ० १।१०१ आदि
८. आप० १।४।१२।३ ब्रह्मयज्ञो ह वा एष यत्स्वाध्यायः।
९. मनु २।१३६, याज्ञ० १।११६; विष्णुधर्मसूत्र ३२।१६
१०. अत्रि ४८-४९
११. ८।१८०-८३; देखिए मनु २।२९; दक्ष ५।१० भी
१२. १०।९०
१३. बृहदारण्यक १।४।११-१५; देखिए विष्णुधर्मसूत्र तथा पुराणों में भगवान की प्रशस्ति जहाँ उन्हें विविध श्रेष्ठ तत्त्वों का स्वरूप बताया गया है।
१४. २।१।६-७
१५. मुण्डक १।१।१
१६. महा० १२।५९।२९, ३३
१७. महा० १२।५९।८९; ६७।२१; कौ० १।१३।१-१२
१८. मनु ७।१४; याज्ञ० १।३५४; महा० १२।१२१।४८-४९
१९. देखिए आगे पृष्ठ ९३
२०. १।४।१२-१३, १५।
२१. महा० १। २२६ अध्याय
२२. महा० १।२२४।१-६
२३. मनु ३।७६; महा० १२। २६४।११
२४. ८।१५-१७; देखिए अत्रि १०९; वायु ५९।२२-२५
२५. १।४।१४
२६. १०।१५।१।१, ४-५
२७. ४।२२६
२८. १।१।४।१-२, ६-११; देखिए पीछे पृष्ठ ५१-५२
२९. ५।१२; देखिए बृहदारण्यक १।३, ५; ३।१।६; ३।९।८, तथा छान्दोग्य ६।९, १५ भी।
३०. देखिए विविध पुराणों में राजा पृथु की कथा यथा ब्रह्म २; भागवत १।३।
३१. २।४; १०९।२४; ११०।१; १७५।५; २०९।१।
३२. देखिए आगे पृष्ठ २८७।

३३. ७।४०-४१; दक्ष १७।६२-६३ भी देखिए।
३४. देखिए आगे पृष्ठ १३३-३४, १३६-४०।
३५. मनु १०।८१-६६।
३६. १०।१०५-८।
३७. पराशर ४।५७-६०; अत्रि १८६।
३८. देखिए आगे पृष्ठ २२८-३०।
३६. मनु ५।६१, ६३।
४०. मनु ५।६४।
४१. पराशर ६।५६-६०।
४२. पराशर ७।३६-३७।
४३. अत्रि १६३-६४।
४४. मनु ४।१; अत्रि ३७; शङ्ख १७। ६३-६६।
४५. याज्ञ० १।१३१-३८
४६. देखिए, आगे पृष्ठ १४३, २२६, ६२; अध्ययन के नियमों के लिए देखिए स्मृतियों में ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन यथा आप० १।११।१-२१, २५-३८; विष्णुधर्मसूत्र ३०। ४-२५।
४७. अत्रि १६१-६३।
४८. अग्नि २०३, ३७१ अध्याय; ब्रह्म २०, १०५।
४६. १०।४३-४४।
५०. मनु० ११।१०८-११०।
५१. १।३७-३८; देखिए वामन १४। १५-१७ तथा अन्य पुराण भी।
५२. उदाहरण के लिए देखिए वृहस्पति-स्मृति ८० अथवा पुराणों में एकादशी व्रत का माहात्म्य; संवर्तस्मृति के अन्त के श्लोक में उस स्मृति के पाठ का फल; मत्स्यपुराण १०।४। १२ में प्रयाग तीर्थ का माहात्म्य। प्रत्येक धर्मग्रन्थ में व्रतों अथवा उन धर्मग्रन्थों के पाठ का फल इसी प्रकार महानतम रूप में बताया गया है।
५३. देखिए पीछे पृष्ठ ३४-३७।
५४. देखिए पहला अध्याय पीछे पृष्ठ २-४, ३०-३७ तथा दूसरा अध्याय
५५. देखिए आगे पृष्ठ २४४-४८, २५४-५५, २५८-६०।
५६. वृहदारण्यक १।५।१४।
५७. उदाहरण के लिए कौ० १।३।
५८. काणे—हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग ३, पृष्ठ ८-६।
५६. देखिए आश्लायनगृह्यसूत्र में उपनयन-विधि
६०. गोभिल गृह्य० २।२।११।
६१. ऐतरेय ब्राह्मण २।७।१५-१७।
६२. गीता ५।१८।
६३. देखिए पीछे पृष्ठ ३२।
६४. ५।४८-४६, ५३-५५।
६५. ५।३१-३३।
६६. देखिए आगे पृष्ठ २३१-३२, १८२, १८४।
६७. देखिए आगे पृष्ठ २०३-६, १४३-४५।
६८. देखिए आगे पृष्ठ ६१८-२०, ६३५-३७ तथा १७४।
६६. देखिए पीछे पृष्ठ ५७।
७०. मनु ४।७६; ११।१८०, १८४।
७१. १।१।३३।२५, २८।
७२. १६५।

७३. अत्रि ६०-६१ ।

७४. याज्ञ० ३।१६१-६५; देखिए शङ्ख १७।३६-४२; व्यास ३।४६-५१; संवर्त १८३-६२ ।

७५. १२।५२-५४ ।

७६. वायु १६।६-११; देखिए गौतम २।३५;

७७. ५।१-८, १०-१४ ।

७८. ३५ ।

७९. यथा मनु २।६१ ।

८०. दक्ष ६।१३ ।

८१. पराशर ७।१८-१६ ।

८२. पराशर १२।१ ।

८३. देखिए आगे पृष्ठ १४२ ।

८४. १।१६६।४६; देखिए वाजसनेयी संहिता ३२।१ भी ।

८५. आप० २।६।१५।१; देखिए गौतम ११।२० भी ।

८६. मनु १।११८; ८।४१, ४६; याज्ञ० १।३६१; विष्णुधर्मसूत्र ३।४२; गौतम ११।२१-२२; वसिष्ठ १।१७; १६।७ ।

८७. मनु ७।२०२-३; विष्णुधर्मसूत्र ३।४७-४६; रामायण ७।६२। १८-१६; महा० १२।३३।४३-४६; अग्नि २३६।२२ ।

चौथा अध्याय

१. शतपथ ब्राह्मण ५।१।१।१२ न वै ब्राह्मणो राज्यायालम्; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।६।१४ न वै ब्राह्मणे श्री रमते।
२. देखिए आगे पृष्ठ ३३८-४५।
३. देखिए आगे पृष्ठ २५५-५७, २७१-७२।
४. साईंस ऑफ सोशल ऑर्गेनिज़ेशन पृष्ठ १९७ पदपाठ।
५. इण्डियन स्कीम ऑफ़ लाइफ़, पृष्ठ ४२।
६. ७५।१८-२२, २६-३०।
७. इण्डियन फिलॉसोफी, भाग १, पृष्ठ ३२०, पदपाठ।
८. शान्तिपर्व २८०।३३-३९ तथा देखिए पीछे पृष्ठ १७।
९. २१२।४-६।
१०. १२।३१-३३।
११. ७५।३६-३९; देखिए महा० १२।१८८।१-८ भी।
१२. महा० १४।३९।१०; देखिए १२।१८९।३-५ भी।
१३. २।१३।
१४. १।१०९;३।२१५।
१५. मनु १।८८-९१; याज्ञ० १।११८-२०; अत्रि ११-१३।
१६. ४।१३।
१७. १।१।१।१५।
१८. ४।१-२
१९. याज्ञ० १।५५, ५७; गौतम ४।१; वसिष्ठ १।२४;
२०. १०।५९; देखिए मनु १०।६०, ६९ तथा आप० २।६।१३।३, ४ भी।
२१. ५०।२७।
२२. १८।
२३. देखिए आगे पृष्ठ २५४-५५।
२४. १३।१४३।१०-१४, २४।
२५. मनु १०।६४-६५; याज्ञ० १।९६; गौतम ४।१८-१९।
२६. मनु २।१६८; वसिष्ठ ३।१-२; पराशर १२।२९।
पाराशर—अग्निकार्यात्परिभ्रष्टा।
सन्ध्योपासनवर्जिताः।
वेदचैवानधीयानाः सर्वे ते
वृषलाः स्मृताः॥
२७. ९१।११६-१८; देखिए मत्स्य-पुराण भी अध्याय ४८-दीर्घतमा के पुत्र कुक्षीवान और चक्षुष की कथा।
२८. २९७।१२-१४।
२९. १०।४२।
३०. मनु १०।२४।
३१. १।३९-४४।
३२. ५।६९; देखिए अग्नि १५१।१८ भी।
३३. १५५-५६, १७०-७१।
३४. ८।३६५-८५।

३५. मनु १०।८१-८३, ९५, ९८-९९।
३६. याज्ञ० ३।३५।
३७. मनु १०।९६; वसिष्ठ २।२३।
३८. याज्ञ० १।१२०; महा० ५।२९५।४।
३९. यथा गौतम १।४१।
४०. १०।६, १०, ४१।
४१. १५।१०।
४२. व्यास १।८; महा० १३।४८।८।
४३. मनु १०।३२-३९; याज्ञ० १।९१-९६; पराशर ११।२३-२५; व्यास १।७-११; महा० १३।४८।
४४. देखिए शतपथ ब्राह्मण ११।५।७।१; देखिए गीता १८।४१ भी ब्राह्मणों के गुणों के लिए।
४५. १८९।२-३।
४६. मनुस्मृति ४।२४६; अत्रि ३३; पद्म सृष्टिखण्ड ४३।१३१-४०।
४७. ३।८।१०; देखिए ३।५ भी।
४८. अत्रि २५।
४९. मनु १।९४, ९८-९९; देखिए बृहदारण्यक १।४।११ भी।
५०. ३।१५०-६८।
५१. उदाहरण के लिये देखिए नारद-पुराण की सूची १।१।१२।४-१८।
५२. ११।८४-८५।
५३. १३९-४१।
५४. याज्ञ० २।३; देखिए मनु ८।११; शुक्र ४।५३५ भी
५५. तैत्तिरीयसंहिता २।५।१।१; शत-पथब्राह्मण १३।३।१।१; छान्दोग्य ५।१०।९; गौतम २१।१; वसिष्ठ ३५।१।
५६. ८।३७९-८१; देखिए कौ० ४।११।१८।
५७. मनु ८।३५०-५१; विष्णुधर्मसूत्र १।८९-९०, महा० १२।३४।१०-१९; मत्स्य २२७।११५-१७।
५८. ३।१५-१८।
५९. २०।२०-२२।
६०. २।२७०; देखिए मनु ८।१२३, ३७८; गौतम १२।४३; कौ० ४।८।३२-३४ भी।
६१. ११।३५; देखिए संवर्त ९६-९७; वामन ४०।३५-३६; नारदपुराण १।१।१५।४८।
६२. तैतिरीयसंहिता १।७।३।१; शत-पथब्राह्मण १२।४।४।६।
६३. उदाहरण के लिए मनु १।९२, १०२; ९।३१३-१९; याज्ञ० १।१०९-१३; पराशर ६।५६-६५; पद्म सृष्टिखण्ड, अध्याय ४३
६४. १५।१२१।
६५. १।१००; ११।८४।
६६. ४।२-१७; देखिए याज्ञ० १।१२४, १२७-२९ भी।
६७. मनु १०।७६; देखिए विष्णु-धर्मसूत्र २।५ भी।
६८. याज्ञ० १।२२३; महा० १३।२३।१७।
६९. विष्णुधर्मसूत्र २७।२०।
७०. २।१; देखिए अत्रि १४२।
७१. १।२१३; देखिए मनु ४।१८६-९१ भी।

७२. मनु ४।८७; याज्ञ० ११४०,
७३. वसिष्ठ १३।५५ ।
७४. १०।६-१०; देखिए मनु ७।७६, ८२-८६, १३४; याज्ञ० ३।४४; अत्रि २४ ।
७५. १।११३।४७, ५१-५२, ८३-८४ ।
७६. आप० २।१०।२६।१०; गौतम ३।२६-२७; वसिष्ठ १४२-४३ ।
७७. ७६।५ ।
७८. मनु ८।३८-३८; याज्ञ० २।३४-३५; विष्णुधर्मसूत्र ३।५६-६४ ।
७९. विष्णु धर्मसूत्र ७।१३-१४ ।
८०. मनु ६।१८६, ११।२६; वसिष्ठ १७।८४-८५ ।
८१. ४।५०।११ ।
८२. शतपथ ब्राह्मण में "धृतव्रतो वै राजा। एप च श्रोत्रियश्च तो ह वै द्वौ मनुष्येषु धृतव्रतौ।" देखिए तैत्तिरीय संहिता २।६।२।२; ऐतरेय ब्राह्मण-अभिषेक वर्णन ।
८३. ८।१ ।
८४. ६।३२७ ।
८५. महा० १२।५६।१२५ ।
८६. १८।४२ ।
८७. पराशर ३।३२-३६; अग्नि २३३।५२-५६; देखिए विस्तार से आगे पृष्ठ २६०, ३५१-५२
८८. वृहदारण्यक १।४।११-१२ ।
८९. ४।५०।८-८ ।
९०. महा० ३।२६।११-१६ ।
९१. ६०।२१-२७ ।
९२. ६।३२६-३३३ ।
९३. तैत्तिरीय संहिता ७।१।१।५, ताण्डय महाब्राह्मण ६।१।१० ।
९४. ७७।१५-१६
९५. मनु १०।१२२-२३
९६. मनु ८।१६; महा० १२।६०।१३
९७. ६०।२९-३६
९८. १०।५०-६६; देखिए मनु १०।१२२, १२४-१२६; हारीत २।११-१५; विष्णुपुराण ३।८
९९. तैत्तिरीयसंहिता ७।१।१।६; ऐतरेय ब्राह्मण५।१२; ताण्ड्य महाब्राह्मण ६।१।११; वृहदारण्यक १।३।१०-११; पूर्वमीमांसा ६।१।२५-३८; वेदान्तसूत्र १।३।३४-३८;
१००. भागवत १।४।२५
१०१. १०।१२६
१०२. अत्रि ४६
१०३. श्री वासुदेवशरण अग्रवाल-साप्ताहिक "हिन्दुस्तान" वर्ष ७, अङ्क १६, १३ जनवरी १९५७ पृष्ठ ५-६ "वेद का सार उसकी परिभाषाएँ हैं। जिस प्रकार आज भौतिक विज्ञान एवं उच्च गणित शास्त्र का सम्यक् परिचय उनकी जटिल परिभाषा को जाने बिना कोई व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकता, ठीक वही स्थिति वैदिक तत्त्वज्ञान के विषय में है। वेद की भाषा सृष्टि-विद्या की प्रतीक भाषा है। एक ही शब्द के अर्थों की गति कितने ही क्षेत्रों में साथ-साथ विकसित होती

है।...वैदिक विज्ञान एक यह है जिसमें सहस्रों परिभाषाओं के सूत्र ताने-बाने की भाँति बुने हुए हैं। इन परिभाषाओं का भण्डार एक ओर वैदिक संहिताओं में है, तो दूसरी ओर उनका महाकोष ब्राह्मण ग्रन्थों में है। उन्हीं के आधार पर एवं उन्हीं की परम्परा में आरण्यक और उपनिषदों की रचना हुई थी। वस्तुस्थिति तो यह है कि वैदिक परिभाषाओं का स्पष्ट परिचय हुए बिना एक उपनिषद् क्या एक मन्त्र का अर्थ भी निश्चित रूप से नहीं समझा जा सकता।"

१०४. उदाहरण के लिए पराशर ३। ४६-५०; अत्रि १७०।

१०५. अंगिरा ४८-४६; देखिए मनु ४।७६ भी जहाँ शूद्र और पतित को साथ-साथ रखा है।

१०६. उदाहरण के लिए याज्ञ० १।५७

१०७. देखिए आगे पृष्ठ १७७

१०८. २।२।३।४-६

१०६. मनु ४।२२३; आप० १।५।६। २२; व्यास ३।४७; अंगिरा ४७-४८; नारदपुराण १।१। १५।४८

११०. ११।१४, २०-२२।

१११. ४।२२३

११२. पराशर ११।२२;कूर्म ७।१६

११३. अत्रि २४८-४६; अग्नि १७३। ३०-३१।

११४. ५।१७।

११५. मनु १०।१०२-३; याज्ञ० १।४१

११६. मनु ४।२५१; याज्ञ० १।२१६; वसिष्ठ १५।१२; विष्णुधर्मसूत्र ५७।१३।

११७. १।२।७।२०-२१।

११८. हिस्ट्र ऑफ़ धर्मशास्त्र, भाग २, पृष्ठ १७६-७७।

११६. स्कन्द; ब्रह्मखण्ड ४।३; ३।१५-१६; नारदपुराण १।१।३७; पद्म पातालखण्ड २०।

१२०. कथाओं के सन्दर्भों के लिए देखिए ऊपर का सन्दर्भ।

१२१. १।६०।

१२२. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग २, पृष्ठ १६४।

१२३. ६।२।१६-२४।

पाँचवाँ अध्याय

१. तैत्तिरीय संहिता ६।३।१०।५; शतपथ ब्राह्मण १।७।२।११ ।

२. ६।३५-३६ ।

३. इण्डियन फ़िलॉसोफ़ी, भाग १, पृष्ठ २१६ ।

४. देखिये आगे विविध आश्रमों का वर्णन ।

५. ६।३४, ३७, ८६ ।

६. १।६-१२ ।

७. ४।१; ६।१; ६।३३ ।

८. ३।१-३ ।

९. ३।४।१६-२० ।

१०. मनु अध्याय २, ३; व्यास अध्याय १; शङ्ख अध्याय २; नारदपुराण १।१।२५ ।

११. ६।४ ।

१२. ३२।१२ ।

१३. २।१३ ।

एवमेनः शम याति
बीजगर्भसमुद्भवम् ।

१४. २।२६-२८ ।

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यै-
र्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः
पावनः प्रेत्य चेह च ।
गार्भैर्होमैर्जातकर्म—
चौड़मौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो
द्विजानामपमृज्यते ॥

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येने-
ज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं
क्रियते तनुः ॥

१५. शङ्ख २।६; शातातप ६।२-४; मनु २।३६-४० ।

१६. पराशर ८।२७; कात्यायनस्मृति कर्मप्रदीप अंश १६।८ ।

१७. गौतम ८।१४-२४; अग्नि ३२।१-११; १६६।६-१७ ।

१८. हिन्दू संस्कारज़, पृष्ठ ५२-५३ ।

१९. आप० १।१।१।१६-१८ ।

२०. ३२।६-१४ ।

२१. वसिष्ठ २।६-११ ।

२२. आश्वलायन गृह्यसूत्र १।१६।५-७; पारस्कर गृह्यसूत्र २।५; बौधायन गृह्यसूत्र ३।१३।५-६; मनु २।३८-४०; याज्ञ० १।३७-३८; देखिए पीछे सन्दर्भ १२-१४ ।

२३. ३।७०-७२; २।१७० ।

२४. ५।४४।२, १६-२४ ।

२५. देखिये पीछे पृष्ठ ५० ।

२६. २।२३।१ ।

२७. मनु २।२४३-४४, २४७-४९ ।

२८. यथा अथर्ववेद ११।७ ।

२९. ३।१५ न विवाहो न संन्यासो नैष्ठिकस्य विधीयते ।

३०. उत्तरखण्ड ७५।१०-१३ ।

गृहाश्रमः पुण्यतमः
सर्वदा तीर्थवद्गृहम् ।
अस्मिन् गृहाश्रमे पुण्ये
दानं देयं विशेषतः ॥
देवानां भोजनं यत्र
अतिथीनां तु भोजनम्
पथिकानां च शरण-
मतो धन्यतमो मतः ।

३१. २३।१-५ ।

३२. १।४५ ।

३३. निरुक्त २।११ ।

३४. ६।२।३१ ।

३५. पूर्वमीमांसा ६।१।१७-२१; रामायण ७।६१।२५; कात्यायन स्मृति कर्मप्रदीप अंश ८।५ ।

३६. उदाहरण के लिए मनु अध्याय ४; नारदपुराण १।१।२७ ।

३७. छान्दोग्य ७।१६।२; मनु ५।४; व्यास ३।५१; अङ्गिरा ५८ ।

३८. याज्ञ० १।१६१-६५ ।

३९. देखिए आगे पृष्ठ २३१-३२ ।

४०. याज्ञ० १।१२८-६६ । इसके अतिरिक्त अन्य सब स्मृतियों और पुराणों में भी गृहस्थ के दैनिक कार्यक्रम के समान ही ऐसे व्यावहारिक नियम भी दिये हुए है ।

४१. शतपथ ब्राह्मण ११।५।६।१; तैत्तिरीय आरण्यक २।१०; वृहदारण्यक १।४।२६ ।

४२. मनु ३।६८-७१; शङ्ख ५।१-२; मत्स्य ५२।१५-१६।

४३. मनु ३।७६; महा० १२।२६४। ११ ।

४४. १।५१ ।

४५. ३।२।५।१२६-२७ ।

४६. देखिए पीछे पृष्ठ ५६-६० ।

४७. ३३।६० ।

४८. २०६।२-३ ।

४९. अत्रि ४६; लिखित ६ ।

५०. सृष्टिखण्ड अध्याय ५०-५८ ।

५१. २।३३-३६ ।

५२. मनु ३।११३, ११६-२८; याज्ञ० १।१०५-८; आप० २।५।६।१०; विष्णुधर्मसूत्र ६७।३८-४३ ।

५३. दक्ष २।५४ ।

५४. १०।११७।६ ।
मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत स सत्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादि ॥

५५. ३।१३ ।

५६. ११।६-१० ।

५७. २।१७५ ।

५८. उदाहरण के लिए आप० २।६।२१।१८-२।६।२२।२; मनु ६।१-३२ ।

५९. मनु ६।२; शङ्ख ६।१; शान्तिपर्व २४५।४ ।
गृहस्थस्तु यदा पश्यैद्वलीपलित मात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥

६०. एतरेयब्राह्मण २३।११; छान्दोग्य २।२३।१ ।

६१. २।४।१ ।

६२. १।२।११ ।

६३. ३।२।६ ।

६४. २।६।२१।६, १६ ।

६५. देखिए ६।२५-२६ तथा ६।३८-४४; वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रम के नियमों के लिए देखिए सभी प्रमुख स्मृतियाँ, महाभारत तथा पुराण ।

६६. मनु ६।५०-५१ ।

६७. मनु ६।४६; शङ्ख ७।७ ।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥

६८. १२।१० ।

६९. ७।३३ ।

६९ क. वेदान्तसूत्र ३।४।२७-३१ ।

७०. बृहदारण्यक० ४।४।२२-२३; छान्दोग्य ४।१४।३; ५।२१; कौषीतकि ३।१ ।

छठा अध्याय

१. रामायण ७।६१।५।
२. १३।४६।५-६
३. ३।५५-६०; देखिए याज्ञ० १।७८-८२; मार्कण्डेय २१।६६-७६ भी।
४. शतपथ ५।२।१।१०; व्यास २।१२-१४।
५. माण्डूक्य १, मुण्डक २।१।४; नारदपुराण १।३।२७-२८; मार्कण्डेयपुराण दुर्गासप्तशती; वामन ५६।६२।
६. ४६।८-१०।
७. १३।४०-४१; देखिए ४३ भी तथा मनु ६।६-१६
८. देखिए ऋग्वेद ८।३३।१७; १०।६५।१५, शतपथ १४।१।१।३१।
९. तैत्तिरीयसंहिता ६।५।८।२; गौतम १८।१; वसिष्ठ ५।१।
१०. १।८५-८६
११. ६।२-३; देखिए स्कन्दपुराण माहेश्वरखण्ड कौमारिकाखण्ड ६।६-१० भी।
१२. स्कन्दपुराण ब्रह्मखण्ड धर्मारण्यखण्ड ३।८१-८७।

पतनं साहसानांच नरकस्यैव कारणम्।
योनिकुण्डं इदं सृष्टं कुम्भीपाकसमं भुवि॥
नेत्ररज्वा दृढ़ं बद्ध्वा वर्षयन्ति मनस्विनः।
कुनरूपैर्महादण्डैस्ताड्यमानं चैतसम्॥
कृत्वा वै पातयन्त्याशु नरकं नृपसत्तम।
मोहनं सर्वभूतानां नारी चैवं विनिर्मिता॥

१३. जैमिनि २।४।२१।
१४. १।३।१४।
१५. ६।४।१७।
१६. ३।२।२१; ४।१।५६।
१७. ३।५।
१८. मनु २।६७; याज्ञ० १।१३।
१९. गोभिलगृह्यसूत्र २।१।१६-२०।
२०. पूर्वमीमांसा ६।१।२४ तस्या यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्यमतुल्यात्।
२१. ६।२०।१५।
२२. बृहदारण्यक ४।५।१।
२३. संवर्त १७४-७६; देखिए अन्य स्मृतियों तथा पुराणों में परस्त्री-संसर्ग के प्रायश्चित्त में संन्यासिनी स्त्रियों का उल्लेख।
२४. १२।३२१।
२५. २।६७।
२६. महा० ६।५६।
२७. ३।५।३।४,
२८. १२।४४।५-६, १२।
२९. तैत्तिरीयब्राह्मण ३।७।५।
३०. काठकसंहिता ५।४; तैत्तिरीय-ब्राह्मण ३।७।१।
३१. ६।६६।

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः संतानार्थं च मानवाः ।
तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥
देखिए आप० २।६।१३।१७-१८; कात्यायनस्मृति कर्मप्रदीप अंश ६।५ ।

३२. १३३-३५ ।

३३. ५।८ देखिए व्यास २।१८; कात्यायनस्मृति कर्मप्रदीप अंश १९।६ ।

३३ क. देखिए पीछे पृष्ठ ५२ भगवद्भक्ति के विविध रूपों का वर्णन ।

३४. पराशर ४।३१-३२
मृते भर्तरि या नारी ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता ।
सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥
तिस्रः कोट्यर्धकोटी च यानि रोमाणि मानवे ।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गं भर्तारं यानुगच्छति ॥
देखिए दक्ष ४।१७-१८ ।

३५. गरुड़पुराण प्रेतखण्ड १०।४२-५५ ।

३६. देखिए आगे पृष्ठ २३०; मनु ५।१८६; महा० १७६।२०;

३७. महा० १३।२५।६२-६४ ।

३८. देखिए आगे पृष्ठ २६० ।

३६. महा० १।१२५।२६; १६।७।२२, ७३-७४ ।

४०. देखिए आगे पृष्ठ ३०८ भी

४१. ५।१५० ।

४२. ६।११; देखिए याज्ञ० १।८३ भी ।

४३. २५।१-६ अथ स्त्रीणां धर्माः । भर्तुः समानव्रतचारित्वम् । श्वश्रूश्वशुरगुरुदेवतातिथिपूजनम् । सुसंस्कृतोपस्करता । अमुक्तहस्तता । सुगुप्तभाण्डता । मंगलाचारतत्परता ।

४४. अध्याय २३२ ।

४५. २।१९-३६ ।

४६. ६।६५ ।

४७. ६।७४ ।

४८. १।७४ अधिविन्ना तु भर्तव्या महदेनाऽन्यथा भवेत् ।

४६. ३।२६७-६८ ।

५०. ११।१८८ ।

५१. ८।३८६ ।

५२. १।७६

५३. १।७१-७२ ।

५४. ५।१०८ रजसा स्त्री मनोदुष्टा; देखिए अङ्गिरा ४२; पराशर ७।४ भी ।

५५. १०।२५-२७
यथा भूमिस्तथा नारी तस्मात्तां न तु दूषयेत् ।
बन्दिग्राहेण या भुक्ता हत्वा बध्वा बलाद्भयात् ॥
कृत्वा सांतपनं कृच्छ्रं शुध्येत् पराशरोऽब्रवीत् ।
सकृद्भुक्ता तु या नारी नेच्छन्ती पापकर्मभिः ।
प्राजापत्येन शुध्येत ऋतुप्रस्रवणेन च ॥

५६. १८६-६५, १६७-६६ ।
५७. १६५।६-७ ।
५८. मनु ११।१७६; याज्ञ० १।७०; व्यास ४८-४६ ।
५६. १।७४; देखिए पीछे सन्दर्भ ४६, ५३ ।
६०. देखिए पीछे सन्दर्भ ५२
६१. आप० १।१०।२८।६, वसिष्ठ १३।४७
६२. देखिए पीछे पृष्ठ १४५
६३. याज्ञ० २।१४३-४५
६४. २।११५
६५. ६।१६२-६७, १६६-२००
६६. ६।११८, १३०-३१ ।
६७. ८।२८-२६ ।
६८. २।१४८; देखिए २।१४६-१५१
६६. ३।२।१६-२४, ३६-४५ ।
७०. याज्ञ० २।१४७ ।
७१. इन नियमों के लिए देखिए कौटिलीय अर्थशास्त्र भी ।
७२. याज्ञ० १।११४ ।
७३. ६।१६२-६३ स्त्रीधनं दुहितृणा-मप्रदत्तानामप्रतिष्ठानां च ।
७४. २।११७, १४५ ।
७५. वसिष्ठ १७।१६-२१; देखिए मनु ८।२६ भी ।
७६. याज्ञ० २।४६,
७७. २।१०।२६।१०-११ ।
७८. गौतम ६।२१-२२ ।
७६. ५४।३३ ।
८०. ११।४।३।२ ।
८१. मनु ६।२३२, ११।१६० ।
८२. १६८ ।
८३. १।२५।१५-२२ ।
८४. अध्याय ६७।१४०-४२ ।
८५. १।१०।२८।६ ।
८६. १३।१४ माता तु पुत्रं न पतति ।
८७. मनु २।१४५; वसिष्ठ १३।४८
८८. १५१ नास्ति वेदात्परं शास्त्रं नास्ति मातुः परो गुरुः ।
८६. १।२७।४ ।
६०. महा० १।१२३ ।
६१. मनु ३।४६; याज्ञ० १।७६ आदि ।
६२. जैमिनि ६।१।१७; देखिए पीछे पृष्ठ १५७ ।
६३. आप० २।६।१३।१६-१७ ।
६४. ६।२० ।
६५. १।२।२-४ ।
६६. २।१७-१८ ।
६७. ४।२ ।
६८. आश्वलायनगृह्यसूत्र १।६ ।
६६. गौतम ४।६-१५ आदि ।
१००. व्यास २।५ ब्रह्मोद्वाहविधानेन तदभावे परो विधिः ।
१०१. ३।३६-४२ ।
१०२. अत्रि ३३६; अग्नि २११।३७; नारदपुराण १।१५।७५ ।
१०३. ३।५।२६ ।
१०४. ऐतरेय ब्राह्मण ५।१-स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः ।
१०५. देखिए पीछे पृष्ठ २६ ।
१०६. मनु ३।५१, ५३ ।
१०७. वसिष्ठ १७।७३ ।
१०८. मनु ३।२१; शङ्ख ४।२ ।

१०९. मनु ८।३६४, ३७८-७९; देखिए याज्ञ० अध्याय २ स्त्री-संग्रहण प्रकरण; कौटिलीय अधिकरण ४ कन्याप्रकर्म।

११०. मनु ३।४१-४२।

१११. मनु ३।२४

११२. मनु ३।२४।

११३. मनु ३।२५; शङ्ख ४।३ पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यो कदाचन।

११४. मनु ३।२६; देखिए विवाह-सम्बन्धी उपरोक्त नियमों के लिये महाभारत १।७३।८-१२ भी।

११५. गोभिल गृह्य ३।४।६; देखिए हिरण्यकेशी गृह्य १।१९।२; मानव गृह्य १।७।८ भी।

११६. १७।७०।

११७. देखिए आगे पृष्ठ २१२ भी।

११८. यथा कामसूत्र ३।२।१; पारस्कर गृह्यसूत्र १।८।

११९. गोभिलगृह्यसूत्र २।५।

१२०. ६।८९-९१।

१२१. याज्ञ० १।६४; गौतम १८।२० वसिष्ठ १७।६७-६८; महा० १३।४४।१६।

१२२. ३।१२-१३।

१२३. देखिए पीछे पृष्ठ १०८-९।

१२४. मनु ८।३६५-६६; याज्ञ० २।२९४।

१२५. वसिष्ठ १।२४-२७।

१२६. २६।५-६।

द्विजस्य भार्या शूद्रा तु
धर्मार्थे न भवेत् क्वचित्।
रत्यर्थमेव सा तस्य
रागान्धस्य प्रकीर्तिका॥
हीनजातिस्त्रियं मोहादु-
द्वहन्तो द्विजातयः।
कुलान्यैव नयन्त्याशु
ससन्तानानि शूद्रताम्॥

१२७. १।५७; देखिए वसिष्ठ १।२४-२७; शङ्ख ४।९-१३ भी।

१२८. तैत्तिरीय संहिता ४।६।६।३।

१२९. याज्ञ० १।५३।

१३०. मनु ३।२७; याज्ञ० १।५८।

१३१. व्यास २।१७-१८; दक्ष ४।३-४; मनु ९।१०१-२; याज्ञ० १।७४।

१३२. ९।४५-४६।

१३३. देखिए ऊपर पदपाठ ९४।

१३४. २१।१०।
चतस्रस्तु परित्याज्याः
शिष्यगा गुरुगा च या।
पतिघ्नी च विशेषेण
जुंगितोपगता च या।

१३५. याज्ञ० १।७२; देखिए व्यास २।४६ भी।

१३६. मनु ११।१८३-८५; याज्ञ० ३।२९४; गौतम ३०।२-७।

१३७. याज्ञ० १।७७; व्यास २।४८-४९।

१३८. २।४७।

१३९. मनु ११।१८८; याज्ञ० २।२८६-८७।

१४०. २।९।

१४१. ४।१५-१७; देखिए गरुड़पुराण प्रेतखण्ड ५ । २४ भी ।

१४२. ६।८०-८२ ।

१४३. १।७३-७४, ८०; देखिए आप० २।५।११।१३; व्यास ४।१० भी ।

१४४. ६।७६ ।

१४५. ६।७८ ।

१४६. ४।३० ।

१४७. १५४।५-६ ।

१४८. वसिष्ठ, १७।१६ पुनर्भूः कौमारं भर्तारमुत्सृज्यान्यैः सह चरित्वा तस्यैव कुटुम्बमाश्रयति सा पुनर्भूं भवति । या च क्लीवं पतितमुन्मत्तं वा भर्तारमुत्सृज्यान्यं पतिं विन्दते मृते वा स पुनर्भूंर्भवति । मनु ६।१७६; विष्णुधर्मसूत्र १५।८-६ भी ।

१४९. मनु ५।१६८-६६ ।

१५०. कात्यायनस्मृति कर्मप्रदीप अंश २०।५

१५१. याज्ञ १।८६ भी ।

१५२. गौतम १८।४-१४ ।

१५३. पुनर्विवाह और नियोग के लिए देखिए ऋग्वेद १०।१८।७-८; १०।४०।२; अथर्ववेद ६।५। २७-२८ भी ।

१५४. ६।५६ ।

१५५. ६।४६-४८ ।

१५६. २।१०।२७।५-७ ।

१५७. १।७५; देखिए मनु ५।१५६-६२; अग्नि २२२।२१ भी ।

१५८. ४।३१ ।

१५९. ४।१।५।६ ।

१६०. देखिए मनु ५।१५४ भी ।

१६१. पद्म सृष्टिखण्ड ४८; मार्कण्डेय ६ ।

१६२. ५।१५७-५८ ।

१६३. २।५।११।१२। धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत ।

१६४. ४।६ ।

१६५. कर्मप्रदीप अंश १६।१२।

१६६. देखिए पीछे पृष्ठ ९६ ।

१६७. हारीत १।२७; २।३ १४; शङ्ख १६।१५; नारदपुराण १।१।११।६२; गरुड़ प्रेतखण्ड । ४।२३, २६; वामन ६६।:५ ।

१६८. मनु ३।१७४; पराशर ४।२३ ।

१६९. देखिए पीछे पृष्ठ ११२-१३ ।

१७०. ४।१६ ।

१७१. १०।३०-३४ ।

१७२. ३५-३८; देखिए मनु १०।१७० -७८;पराशर अध्याय १०; संवर्त १५२-१७३; देखिए अन्य स्मृति तथा पुराण भी ।

१७३. मनु ११।१७६ ।

१७४. ८।३५२-५३ ।

१७५. २।२८३-८६

१७६. ८।३५४-७६, ३८२-८५ ।

१७७. ८।३७१-७२ ।

१७८. ४।१३।४२,५८ ।

सातवां अध्याय

१. ११।५।

२. देखिए पीछे पृष्ठ १३५।

३. मनु ४।२३२; अत्रि ३३७-३८; हारीत १।१८-१६; संवर्त ८६; नारदपुराण १।१।१३।६६-१०१; अग्नि २११।५१-६२।

४. अग्नि २११।५६।

५. प्रश्न ६।८; ऐतरेयोपनिषद् शान्ति-पाठ।

६. २।३६-३८।

७. यथा गोभिल गृह्यसूत्र २।१०।१; याज्ञ० १।१४; आप०, १।१।१।१६; शङ्ख २।६-६।

८. २।५।

६. ६।१।१-२।

१०. ३।१।

११. मनु ३।३; याज्ञ० १।५२।

१२. कौपीतकि १।७; मनु १२।१०२; गीता ६।१७; नारदपुराण १।१। ११।३५; गरुड़पुराण प्रेतखण्ड ६।३३।

१३. ३।२००।१०-१५

१४. वायुपुराण ६०।१८।

१५. ऋग्वेद १।१६४।४६; वाजसनेयी संहिता ३२।१; अथर्ववेद २।१।३।

१६. २।१६४-६८।

१७. यथा नारदपुराण १।१।२५।

१८. २।३४।

१६. १२।१०२-३।

२०. ११।५।७।४-८।

२१. १।१।५।

२२. ७।१।२।

२३. याज्ञ०, १।३; मत्स्य ५३।५-६; वायु ६१।७८।

२४. वायु, ६१।७६; गरुड़ २२३।२१।

२५. ४।२६६-३३८।

२६. १।१।१।१४।

२७. ३।१०।११।

२८. ८।८-१२।

२६. प्रेतखण्ड १६।७१-८१।

तत्त्वमात्मस्थमज्ञात्वा मूढः शास्त्रेषु मुह्यति।
गोपः कुक्षिगते छागे कूपं पश्यति दुर्मतिः॥

३०. बृहदारण्यक १।५।१७ यद्वै किंचानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मैत्येकता; देखिए केन २।४।

३१. १।४०-४८।

३२. उद्योगपर्व ११८।४८।

३३. व्यास ४।७०; नारदपुराण १।१। १५।२३।

३४. देखिए उदाहरण के लिए पीछे पृष्ठ ११२।

३५. १।१।१५।११६।

न्याये च धर्मशिक्षायां पक्षपातं करोति यः।
न तस्य निष्कृतिर्भूयःप्रायश्चित्ता-युतैरपि॥

३६. ६।१ ।
३७. ४।१० ।
३८. १।२।८।२५-२८ ।
३६. १।१।१४।२-३ ।
४०. ३।११।५ ।
४१. २।११०-१५ ।
४२. निरुक्त २।४ ।
४३. १।२-३ ।
४४. १।२८ ।
४५. आप० १।२।५।२६।-१।२।६।१२; गौतम २।२०-३२ ।
४६. २।१६१-२१८ ।
४७. २।२१५ ।
४८. ३।६।२।१५ ।
४६. ४।४।५; ४।१०।१-२ ।
५०. १।३ ।
५१. मनु २।२४६ ।
५२. १२।४; ५८।५३ ।
५३. १०८।२३,३० ।
५४. यथा मनु २।१७७-१८०; याज्ञ० १।३३; आप० १।१।२।२१-३०; १।१।३।११-२४; गौतम २। १३-२५
५५. शतपथ ब्राह्मण ११।३।३।२ ।
५६. आश्वलायन गृह्यसूत्र ३।७
५७. याज्ञ, १।२५ ।
५८. देखिए पीछे पृष्ठ १४४ ।
५६. गोपथब्राह्मण २।६; आप० १।१। ३।२६; देखिए मनु ३।६४; याज्ञ० १।१०८; पराशर १।५७ भी ।
६०. आप० १।१।३।२५ ।
६१. २।१८३-८५ ।
६२. ३।७ ।
६३. १।१।२।३१-३५; मनु २।५१ ।
समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदन्न- ममायया ।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्- मुखः शुचिः ॥
६४. मनु २।१८८-८६; याज्ञ० १।३२ ।
६५. ४।१।३६ ।
६६. देखिए पीछे पृष्ठ ११८ ।
६७. गौतम २।५४-५५; आश्वलायन गृह्यसूत्र ३।६।४
६८. १।२।७।१६-२३; देखिए याज्ञ० १।५१ भी
६६. देखिए पीछे पृष्ठ ११६-१७
७०. शतपथ ब्राह्मण ५।१।५।१७; तैत्तिरीय उपनिषद् १।११
७१. ८।१२।६
७२. ४।६
७३. ३।१३५-३८
७४. २।११६
७५. २।१३८-३६; देखिए याज्ञ० १। ११७ भी
७६. देखिए विभिन्न गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र तथा स्मृतियाँ
७७. तैत्तिरीयोपनिषद् १।११
७८. २।१७०
७६. १।१।५ द्वे वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। अथ परा यया तदक्षर- मधिगम्यते ।
८०. देखिए पीछे पृष्ठ ५०,१३६-३८
८१. महाभारत २।५।७६; रामायण २।१००।४७
८२. कौ० १।४।२-३

८३. महा० ३।१५०।३०; १२।६८। ३५; शुक्र १।१५३, १५५; काम० २।७।१४
८४. देखिए आगे पृष्ठ ८७
८५. रंगस्वामी आयंगर—हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ् एकार्डिग टु धर्मशास्त्राज, पृष्ठ २१
८६. महा० १२।१६७।११-२१
८७. पूर्व २२-२७
८८. शुक्र ३।१७०-८१; पद्मसृष्टिखण्ड अध्याय १६।२४६-४६; स्कन्द नागरखण्ड ८५।१४-१६; २०६।२४-३५; भागवत ११। २३।१६-२६; नारदपुराण १। ११ ११। १४४-५४; गरुड़ पूर्वखण्ड १७६।७-८
८९. १।१।११।१४५-४६
९०. २।३४६
९१. देखिए पीछे पृष्ठ १३३-३४
९२. देखिए आगे पृष्ठ २६७-६८
९३. देखिए पीछे पृष्ठ १४५
९४. २।१।२६ पुत्रदारमप्रतिविधाय प्रव्रजतः पूर्वः साहसदण्डः
९५. १।१९-१०देखिए महा०१२।३७। २-३ भी तथा पीछे पृष्ठ १४४
९६. मनु ११।१६-१७; याज्ञ० ३। ४३; महा० १२।१६५।११-१३
९७. मनु ८।३४१; मत्स्य २२७। ११०, ११४,
९८. ३।१७३
९९. ४।३७
१००. ३।२५३
१०१. २।६।२४-२५; विस्तार से देखिए आगे पृष्ठ २६६, २६८
१०२. देखिए पीछे पृष्ठ ७६
१०३. १।१।१२।२३
१०४. ४।१६, १६-२१
यद्ददाति विशिष्टेभ्यो यच्चाश्नाति दिने-दिने।
तच्च वित्तमहं मन्ये शेषं कस्याभिरक्षति ॥
यत्परित्यज्य गन्तव्यं तद्धनं किं न दीयते।
१०५. देखिए, मनु अध्याय २-६
१०६. सृष्टिखण्ड १६।२५६-६१, २६६-६७
१०७. श्री उमाकान्त केशव आप्टे 'हमारे राष्ट्र-जीवन की परम्परा' पृष्ठ ६६
१०८. देखिए आगे पृष्ठ ३३७-४३ और २६८
१०९. देखिए पीछे पृष्ठ १२१-२३
११०. देखिए पीछे पृष्ठ १२३-२४
१११. १०।३६-४१
११२. १६।६
११३. गरुड़पुराण प्रेतखण्ड १६।५२; देखिए आगे पृष्ठ २७२ भी
११४. देखिए आगे पृष्ठ ३४४
११५. देखिए आगे पृष्ठ २६६-७०, २७३
११६. याज्ञ २।१८८-६५; विस्तार से देखिए पृष्ठ २७५-७६
११७. २।२४
११८. २।२४।१, ३
सीताध्यक्षः कृषितन्त्रशुल्व-

वृक्षायुर्वेदज्ञः...। कर्षणयन्त्रोपकरणबलीवर्दैश्चैषामसंगं कारयेत्।

११९. देखिए, मनु ६।४४ भी।

१२०. इन सब नियमों के लिए देखिए कौ० २।१।१२-१४; ३।१०। १५-१६, २५, ५०

१२१. ४।१३२७

१२२. २।१।१५, ४५

१२३. अग्नि २३६।४४-४५; काम० ५।७८

१२४. २।३५।६

१२५. कौ० २।१।४१-४३

१२६. मनु ८।२३८-४१; याज्ञ० २। २६२-७०; कौ० ३।१०। ३८-४६,

१२७. २।१।२२-२३

१२८. ३।६।३७-३६, ४३

१२९. २।१८।

१३०. विष्णुपुराण ३।५५; अग्निपुराण २३८।४५।

१३१. मनु ८।३६।

निधीनां तु पुराणानां
धातूनामेव च क्षितौ।
अर्धभाग्रक्षणाद्राजा
भूमेरधिपतिर्हि सः॥

१३२. कौ० २।१२।२०-२२।

१३३. कौ० २।१७।

१३४. मनु ८।१८५; याज्ञ २।२२७-२६; विष्णुधर्मसूत्र ५।५५-५८; अग्नि २२७।३२; २८५।२५।

१३५. कौ० २।२८; विशेष २।२८।३, ६।

१३६. व्यास २।४५ आदि; देखिए आगे पृष्ठ २२६।

२६

१३७. देखिए पीछे पृष्ठ ५५,८७-६०, १०१-३।

१३८. कौ० २।२३।२-६, १२-१३।

१३९. देखिए पीछे पृष्ठ १५१-५३।

१४०. शुक्र ४।८४-८७; कौ० ४।१।

१४१. विस्तार से देखिए आगे पृष्ठ ३४१-४२।

१४२. मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र के 'व्यवहार' अंशों में ये नियम दिये हुए हैं।

१४३. याज्ञ० २।२६२-६३; कौ० २।१४।२२-४८।

१४४. मनु ११।६३ दीर्घयन्त्रप्रवर्तनम्; अग्नि १६६।३२।

१४५. ताण्ड्यमहाब्राह्मण ६।१।१०।

१४६. २।३४५-५०; ४।२१५-१७।

१४७. २।१६।१, ३-४, ७-८।

१४८. मनु ८।४०१-२; देखिए याज्ञ २।२५३; शुक्र ४।८३१-३२; कौ० २।१६।२२, २८; २।२२।१५।

१४९. ६।२५७।

१५०. २।२५२-५३।

१५१. देखिए शुक्र १।३०८; कौ० २।१६ विशेष रूप से २।१६।१; देखिये अधिक विस्तार से आगे पृष्ठ २६५।

१५२. विष्णुधर्मसूत्र ५।१२१-२५; शुक्र १।२६४-६५ भी।

१५३. कौ० २।२२।११-१४।

१५४. कौ० २।३५।१३; मनु ६।२६४-६५।

१५५. १।३०१ ।

१५६. शुक्र १।२५७; कौ० २।४।१३, २० ।

१५७. कौ० २।१६; २।१६।८-२१ ।

१५८. कौ० २।२१।१-४ ।

१५९. अग्नि २३९।४४-४५; काम० ५।७८ ।

१६०. कौ० २।२१।३०; २।२८।१, १०, १४, ४० ।

१६१. २।२१।२६, ३९; २।२२।८ ।

१६२. शुक्र १।२९४; २।३४५-५०; कौ० २।१२।२७-३२; २।१५। १२-१४; ४।१।५९-६२ ।

१६३. रंगस्वामी आयंगर—ऐंशेण्ट इण्डियन इकोनॉमिक थॉट पृष्ठ ९९ ।

१६४. विष्णुधर्मसूत्र ६।२७, २९; १५।४०; मनु ९।१८६; याज्ञ २।५०; गौतम १२।३७; कौ० ३।११।२३ ।

१६५. देखिए पीछे वर्ण-व्यवस्था पृष्ठ ११६-१८,२१-२११३ तथा स्त्री-धर्म का वर्णन पृष्ठ १५९-६१ ।

१६६. 'अर्थशास्त्र के मूलाधार' द्वारा प्रो० मेहता तथा अन्य पृष्ठ ३०५ ।

१६७. मनु ८।१४०-५७; कौ० ३।११।१-२६ । लाभ के सम्बन्ध में यह नियम था कि लाभ का ध्यान रख कर राज्य मूल्य निश्चित करे देखिए पीछे पृष्ठ २१७ ।

१६८. देखिए आगे पृष्ठ २७२-७३ ।

१६९. १।८५।१२-१४; देखिए वायु ९३।९५-१०१ भी ।

१७०. ३।१७।४ ।

१७१. ५।२।३ ।

१७२. ३।३१२-१३ ।

१७३. १।१।३३।७५-११० ।

१७३क. ४।२०४ ।

यमान्सेवेत सततं नित्यं नियमान्बुधः ।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ।

१७४. ४७ ।

१७५. ८।१४-२५; अग्नि ३२।९-११

१७६. ८।२४-२५ ।

१७७. ६।६१-६४; देखिए १२।६३ भी

१७८. १।८।२३ ।

१७९. याज्ञ० १।१२२, ३।६६; वसिष्ठ ४।४; विष्णुधर्मसूत्र २।१६-१७; शंख १।५; वामन १४।१-२, ११४।१६-१८।

१८०. देखिए ऊपर पदपाठ १७६, १७७ ।

१८१. ३।११६ ।

१८२. महा० ८।६९।३१-३४ ।

१८३. देखिए मनु ८।१०३-४ भी ।

१८४. देखिए पीछे पृष्ठ ११४ ।

१८५. ५।३८-४५ ।

१८६. अत्रि ४।१४-१५; व्यास २।४५

१८७. ११।१६, १७, २१ ।

१८७ क. ५।१३ ।

दिवोदितस्य शौचस्य रात्रावर्धं विधीयते ।

तदर्धमातुरस्याहुस्त्वरायामर्धम-
ध्वनि ॥

१८८. ८।६६।६६, ५३-५६ ।

१८९. शतपथ ब्राह्मण १०।२।६।७, वाजसनेयीसंहिता ४०।३ ।

१९०. विष्णुधर्मसूत्र २२।५६; वशिष्ठ २३।१४-१५,

१९१. १४३-१५१ ।

१९२. ६।२८ ।

१९३. याज्ञ० ३।३१४; पराशर ११। २८-३४; अत्रि २६६; मत्स्य २६७।५-६,

१९४. महा० १२।१८५।१-१७ ।

१९५. महा० १३।५८।२६-३१; विष्णु-धर्मसूत्र ६१।४ ।

१९६. १७३।५२-५४ ।

१९७. मनु० ११।१७०-७८; पराशर अध्याय १०; शातातप अध्याय ५, संवर्त १५२-७३ ।

१९८. मनु ११।१७३-७४; शङ्ख १७।६, ५४-५५ ।

१९९. मनु ४।१२४; याज्ञ० १।७६ ।

२००. वामन १२।३० ।

२०१. देखिए पीछे पृष्ठ १४२ ।

२०२. देखिए मनु १२। ११; ६।४७-५१; वशिष्ठ १०।३०; दक्ष ३।१२-१३ ।

२०३. २५५।१-७ देखिए महा० ५।४३।१५-१८; नारदपुराण १।१।३५।४५ ।

२०४. अध्याय १६३ ।

२०५. काम—भागवत ७।११।३३-३४; स्कन्द नागरखण्ड २३८।२१; क्रोध—मत्स्य २८।१-७; १५८। ३-४; लोभ—पद्म, पाताल-खण्ड ८७।५४; उत्तरखण्ड, २१४।६०, मोह—गरुड़पुराण, प्रेतखण्ड ११।५-६ १२; स्कन्द, नागरखण्ड २३८।२५-२६; मद—विष्णुपुराण ५।३५।२३; पद्म, सृष्टिखण्ड ४८।२६८, पाताल-खण्ड २६।२६, स्कन्द, नागरखण्ड ३७।१४; २३८।२६; २४६।१८ मत्सर—वाराह १४८।३५ ।

२०५. क. ऋग्वेद १०।५।६ सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेका-मिदभ्यंहुरोगात् । निरुक्त की व्याख्या— सप्त एव मर्यादा कवय-श्चक्रुः । तासामेकामपि अधि-गच्छन्नहंस्वान् भवति । स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां पातके अनृतोद्यमिति ।

२०६. ५।१०।६ ।

२०७. मनु ११।५५, १८०; याज्ञ० ३। २२७, २६१; विष्णुधर्मसूत्र ३५।१-५; १६८; ब्रह्म २०, १०५-६; मार्कण्डेय १२-१४; नारदपुराण १।१।१५

२०८. अग्नि १७३।१-४ ।

२०९. मनु २।१४०-४२; याज्ञ० १।३४ ।

२१०. संवर्त १६०; पराशर १०।१३ ।

२११. याज्ञ० २।१३१-३३ ।

२१२. मनु ११।६६; याज्ञ० ३।२३०, २५७; संवर्त १२२ ।

२१३. मनु ११।५७; याज्ञ० ३।२३
२१४. ७।८६।६
२१५. शतपथ ब्राह्मण ५।१।५।२८।
२१६. विष्णुधर्मसूत्र ३५।३; अग्निपुराण १००।१-२।
२१७. मनु ११।५६-६६, याज्ञ० ३।२३४-४२; विष्णुधर्मसूत्र ३७; अग्नि १६८।२६-३७
२१८. अध्याय ५४।
२१९. अध्याय ५०।
२२०. यथा ब्रह्म अध्याय २२।
२२१. ११।४४-४७।
२२२. याज्ञ० ३।२२०-२१; वशिष्ठ २०।१-४; गौतम १६।१-१०; पराशर ८।८।
२२३. मनु ११।२२७-३३।
२२४. ८।२, ६-७।
२२५. २।५।१०।१२-१६।
२२६. ६।२३५-३६।
२२७. मनु ११।१८३-८८; याज्ञ० ३।२६४-६६; गौतम २०।१२-१४।
२२८. ११।१८६-६०।
२२९. याज्ञ० ३।२०७-६।
२३०. ११।४८-५१।
२३१. वशिष्ठ २०।४४; विष्णुधर्मसूत्र ४४-४५ गरुड़पुराण, प्रेतखण्ड २।६०-८८ अग्नि ३७१।३०-३१; शातातपस्मृति सम्पूर्ण।

आठवाँ अध्याय

१. याज्ञ० १।३३८, ३५४, ३५८-५९; अग्नि ११।१०; शुक्र १।१४; ४।३७; कामन्दक ६।८; १३। ४३, ५१ ।

२. शान्ति ६७।३, ६-७ ।

३. महा० १२।६५।२४; देखिए १२। ६६।६१ भी ।

४. ७।१६ ।

५. १।१६ ।

नयस्य विनयो मूलः
विनयः शास्त्रनिश्चयः ।

६. शान्तिपर्व ५८।२३; ६५।२४; ६६।७६; कौटिलीय अर्थशास्त्र; शुक्रनीति ।

७. कौटिलीय १५।१।१-३ ।

८. शान्तिपर्व ६३।२६ ।

९. राजशास्त्र और राजधर्म तथा राजधर्म और दण्डनीति के समानार्थक प्रयोग के लिए देखिए शान्तिपर्व ६३।२६; दण्डनीति और अर्थशास्त्र के समानार्थक प्रयोग के लिए देखिए अमरकोश (शब्दादिवर्ग-आन्वीक्षिकी दण्डनीतिस्तर्कविद्यार्थशास्त्रयोः); अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के समानार्थक प्रयोग के लिए देखिए कामन्दक १।६ ।

१०. २।२१; देखिए आप० १।६।२४। २३; अग्नि २५३।५० ।

११. १२।१०० ।

१२. ४।२६६-६७ ।

१३. ४।७८५; देखिए शान्ति ६१।५२; ६२।७; शुक्र ३।२-३; काम० १।१५ ।

१४. ३।१।५६ ।

१५. १।७।६-११ ।

१६. कौ० २।१।८; २।१।३०-३१; २। २७।३८; २।२८।२४; ३।२।१-१३; ३।७; ३।११।२५-२८; ३।१४।४७; ३।१५।१६-२०; ३। १६।६-१०; ३।१६।४२; ३।१६। १३; ३।२०।१८; ३।२०।२२; ४।७।२८-३०; ४।७।३१; ४।८। ३२-३८; ४।१२।११-१३; ४। १३।४४-४५; २।११।३३-३७; २।११।३८-२६ ।

शुक्र १।३६-४६; ३।२८, ३२, ३६-४०, ५०, ५२, ५३, ५६, ६१, ६५, ६५-६६, १०७-६, १११, ११७-२१, १२४, १३१, १३४, १३६, १५०-५१, १६५-७०, १६६-२०६, २१३, २२८, २६५, २६७-७०; ४।६३.१०५; ४।२५७-५६, ८०० ।

काम० १।२७-३५, १।४०-४७, ३।६-१३ ।

१७. देखिए मनु ७।११५; कौ० २।१।४ ।

१८. राजा-मनु ७।२६; गौतम ११।२; शान्ति ११८।२२; काम० १।२१; पुरोहित-प्राप० २।५।१०।१४-१७; अग्नि २३९।१६; शुक्र १।७७; कौ० १।९।१५; काम० ४।३२ । मन्त्री-कौ० १।१५।६६; काम० ४।२५; मनु ७।५४; अग्नि २३९। ११, शान्ति ११८।७ ।

१९. रामायण २।६७।८-३१; महाभारत १२।६८; देखिए मनु ७।३; शुक्र १।६४-६६; काम० १।९-१० भी ।

२०. महा० १२।६८।९-३७ ।

२१. अध्याय ८८ ।

२२. शान्ति ५९।१२-२२ ।

२३. ४।५३ ।

२४. शान्ति अध्याय ५९, ६७ ।

१५. १।१३।१-१२ ।

२६. देखिए पीछे पृष्ठ २६-२९ ।

२७. मनु ७।१४; याज्ञ०१।३५४; शान्ति १२१।४८-४९ ।

२८. शुक्र ४।४८; कौ० १।४।९,१९; काम० २।४१; शान्ति १२१।९ ।

२९. मनु ७।१५, २०-२४; शान्ति १२१।२४-४०; १२२।१९-२१; अग्नि २२६।१४-१५; मत्स्य २२५।४-१६; शुक्र ४।४३-४५; कौ० १।४।१६-१८; काम० २।४०-४२ ।

३०. याज्ञ० १।३५४; शान्ति १२०।९ १४०।७-९; शुक्र १।२७; कौ० १।४।८ ।

३१. ७।१६ ।

३२. मनु ७।२६-२७; याज्ञ० १। ३५६-५७; शान्ति ६९।३०; १२१।१४; अग्नि २४१।२२; शुक्र ४-३९; कौ० १।४।१०-१७; काम० २।३६-४० ।

३३. मनु ७।२७; अग्नि २२६।१४; शुक्र ४।४९-५०; काम० २।३९ ।

३४. शान्ति १४२।२८-२९ ।

३५. देखिए अग्नि २४१।३६-३८;.कौ० १।४।१५; काम० ६।१५; ।

३६. मनु ७।२८; शान्ति १२१। ११, ६०; १२२।४५, शुक्र ४।४७; काम० २।४४; याज्ञ० १। ३५५, ३५८ ।

३७. याज्ञ०१।३५९; शान्ति १३५।२०; गरुड़ प्रेतखण्ड ७।१९; कौ० १।१३।१९ ।

३८. शुक्र २।२६२-६३ ।

३९. शान्ति ६५।२४; देखिए ७५।४; ९०।७; ९३।२-३; शुक्र ४।२४८; काम० ४।४२ ।

४०. १।२२ देखिए ४।५२-५९; शान्ति ७०।४; ९१।६-११; ९३।१-५; १४१।९-१०; वामनपुराण ७५। १-२, १०-२४ ।

४१. ९।३०२ ।

४२. शान्ति ६९।९९-१०१

४३. १।३०-३४ ।

४४. ७।३१-३२ ।

४५. मनु ७।१९८, २००; याज्ञ० १। ३४६; शान्ति १०२।१६; शुक्र ४।३४ ।

४६. १।३।१६; १।४।१६; देखिए ३।१।५० तथा ५।६।४५ भी।

४७. २।३३-३५।

स्वर्गानन्त्याय धर्मोऽयं
सर्वेषां वर्णलिंगिनाम्।
तस्याभावे तु लोकोऽयं
संकरान्नाशमाप्नुयात्॥
सर्वस्यास्य यथान्यायं
भूपतिः सम्प्रवर्तकः।
तस्याभावे धर्मनाशस्तदभावे
जगच्चयुतिः॥
वर्णाश्रमाचारयुक्तो
वर्णाश्रमविभागवित्।
पाता वर्णाश्रमानांच
पार्थिवः सर्वलोकभाक्॥

४८. २।४२।

४९. मनु ७।३७; गौतम ११।२७; पराशर ८।३७; अत्रि २४-२५; वामन-पुराण ७४।४४।

५०. १।६।१७।

५१. ३।२६१-६२।

५२. ७२।६-१६; ७३।८-१०; ७७।३०-३२; १२४। ३४-३८; १३०।५०; १३८। २१७; १२०।८, ५०; १२१।३६; याज्ञ १।३३२।

५३. १४।३९-४१।

५४. ४।११५६-५८।

५५. ६।३१३-२१।

५६. शान्ति ७८।१२-१८; देखिए शुक्र ४।११५६-५८ भी।

५७. महाभारत १२।५९; वामनपुराण अध्याय ४७; मत्स्यपुराण अध्याय १०; अग्निपुराण अध्याय १८।

५७क. मत्स्य ४४।

५७ख. नारदपुराण १।१।८।

५८. पराशर १।६७; हारीत २।५; शान्ति ५९।१३९; शुक्र ४।१२३८-४०, २४९ ११०; १।७३; काम० १।११; १३।४७।

५९. ३।१६।४७।

६०. ४।१२३८-३९।

६१. १।३७७।

६२. ५।८८; देखिए अग्नि २३८।३०भी

६३. ६०।३-६, १३-१६, १८-२०।

६४. शुक्र ४।३७६।

६५. मनु १।११८; ८।४१; वशिष्ठ १।१७; गौतम ११।२०-२२; आप० २।६।१५।१; याज्ञ० १।३६१; २।१९२; कौ० २।७।२; ३।७।४५; शान्ति ६६।२६; ७७। १६; शुक्र ४।२५०-५१, ३७६, ५६८-७४; काम० २।४०, ४२-४३; देखिए मनु ७।२०३; ८।३; याज्ञ० १।३४३ भी।

६६. शुक्र १।१४८-४९; ४।२४६, २५०-५१, ३७६ ७८४-८५; काम २।४४; ६।७।

६७. २।५।

६८. ७९।१०-१९।

६९. १।१४८-४९; ३।३४।

७०. मनु ८।१२-१९; याज्ञ० २।१; शान्ति ७१।११; शुक्र ४।५२८, ५५९, ५७४, ७८४-८५।

७१. शुक्र ४।५७४।

७२. वामनपुराण ७४।४२-४९; नारदपुराण १।१।७।३-६।

७३. शान्ति ७७।११-१७ ।

७४. शान्ति ५६।५; ५७।३५-३७; ६८।८-६; १३३।१३; शुक्र १। ८०; काम० २।३६ ।

७५. शान्ति ७३।१६-१७; ६१।२७-२८; १३६।१०६ ।

७६. २२।२४-२५ ।

७७. ६।६ ।

७८. ६।१।८; देखिए शान्ति ६७।१-१० भी ।

७६. मनु ६।३०८; शान्ति ६६।३१-३४; ७३।१६-१७; ८६।१७-१८; ६१।१२-१८; ६५।४५; ८२।४३; अग्नि २७८।३; कौ० १४।१७-१८; काम० ३।२-८; देखिए सन्दर्भ १ तथा १२५ भी।

८०. मनु ८।१७२-७५; याज्ञ० १ ३५५; शान्ति ७१।२१-२३; ६२।१५-१६; कौ० ३।१।५५।

८१. मनु ६।३०७; याज्ञ० १।३५८; २।१; वशिष्ठ १६।३-५; शान्ति ५७।१८; १२२।४०; १३६। १०५; शुक्र १।८०;४।५६०-६१; कौ० ३।२०।२१ ।

८२. देखिए आगे पृष्ठ ३३८-४२ ।

८३. शुक्र १।६७-६८; काम० १।१३-१५।

८४. शान्ति ७०, १२४; अग्नि २२५। ४-१६; वामन ७१।१५-५२; शुक्र १।५६, ६०-१२२, १२५-१५०; कौ० १।६-७; ८।२-३; काम० १।३, १४; मनु ७।३६-५३ ।

८५. मनु ८।३०६; शान्ति ६२।६-१३; काम० २।४४ ।

८६. १।१६, ४६ ।

८७. देखिए पीछे पृष्ठ १११-१३ ।

८८. ४।१५०-५१ ।

८६. ७६।१३-१४; ७७।३ ।

६०. ४।५२३ ।

६१. याज्ञ० २।१६५ ।

६२. मनु ७।२०२-३; याज्ञ० १। ३४३; विष्णुधर्मसूत्र ३।४२; अग्नि २३६।२२ ।

६३. मनु ७।१४२-४४; ६।३०६, २५३-५५; याज्ञ०१।३१७, ३२३-२४, ३२७, ३३४, ३३७; गौतम १०।७-८; वशिष्ठ १६।१-२; पराशर १।६७, ६६; अत्रि २८-२६; शान्ति ५७।४२-४५; ५८। १-४, ६, २३; ६०।२०; ७१। २४-३३; ७२।१८-२६; ७८।३५-४४; ८७।२२-२६; ८८।१८-२१; ८६।८-१३; ६०।३८-४०; ६३। २२; १०६।११, ११८।१६; १३६।६६-१०६; ६६।७२-७३; ७५।६-६, १३, अग्नि २१८।२५; २२३।१०; २२५।२४; २२६।१७; २३६।१२, ४७, कौ० १।१३।६; १।१६।१०, ३६; २।६।१७, १६, ३।१।५३; अधिकरण ४; शुक्र १। १४, २०, २७, ३०-३२, ७२-८०, ६६, ११७, १२०, १२५, ३१३; २।१४, २७३; ४।१३०, ५२४-२६, ६०४-६, १२५७-५८; काम० १।११, १२, २४;

३।१; ५।८३; ६।५, ६, ८, १३; १३।२६-२८;

९४. मनु ७।१७, २१, २४, ३५; ८। ४१०, ४१८; १०।९६; गौतम ११।९-१०; वशिष्ठ १६।७-८; विष्णु ३।२३; अत्रि २३; अग्नि २२५।२६; मार्कण्डेय २७। २६; मत्स्य २२५।६३; शान्ति ५७।१५; ५६।१०८; ६५।५-७; ६९।७६-७८, ६९।९२-९६; ७७। ९-१७; ८६।१८; कौ० १।३।१-१७, १।४।१६; १।७।२, १२; ३।१।५०-५३; ३।७।४३; ५।६। ४५; शुक्र १।२३-२५, ६६, १५७; ४।६३, २४६-४८, ३४२-४३, १०६०, ११३२; काम० २।१८-३५; १३।४१।

९५. मनु ७।२७; शान्ति ८५।२; मार्कण्डेय २७।३०; बार्हस्पत्यसूत्र २।४३-४४; कौ० १।७।८; शुक्र १।६७; काम० १।१३; ४।७७।

९६. हारीत २।४; शुक्र १।१७१, ४।१३४, ३९६-९७, ५२०-२३; कौ० १।१९।३३; २।११।२२; ४।२।२२, २४-२६; अग्नि २२२। ११-१२।

९७. शान्ति ७५।५; कौ० २।३५-३६; काम० १३।४६।

९८. ३।१६।११-३०; अधिकरण ४।

९९. मनु ७।११३-२२; आप० २। १०।२६।६-८; शान्ति ८७। २-१०; शुक्र १।२६८-७४; ४। ३७९-८०, ६०४; देखिए शान्ति ६९।४७-५० अग्नि से रक्षा।

१००. मनु ८।४०; याज्ञ० २।३६; गौतम १०।४६-४७; विष्णुधर्मसूत्र ३। ६६-६७; शान्ति ७५।१०; अग्नि २२३।२१-२३; २५३।६२; कौ० ३।१६।२७-२८।

१०१. कौ० २।२८।४०।

१०२. मनु ९।२५४-५७, २६३, २६७-७२, २७६-७८, २८०, २९३; शुक्र ४।१६९-७०; कौ० ३।१६।११-३०; ४।५-६; ४। ८।७-१६; ४।१०।

१०३. शान्ति ८७।३७-४०; ८८।२९-३१; ९१।३६; शुक्र ४।१३५-३६; १३२९; कौ० २।२१। ३०; २।१६।२४-२६।

१०४. ४।३७७-७८।

१०५. मनु ७।२७; शान्ति ८७।१३-२२ शुक्र २।१७१; कौ० २।१६।१५-१६, २२-२९; काम० ५।८०।

१०६. अग्नि २३८।४४; शुक्र १।३१३-१४; काम० ५।७८।

१०७. कौ० ६।१०६-१८।

१०८. अग्नि २३८।४४-४५; कौ० ३। १०।६१; काम० ५।७८।

१०९. याज्ञ० १।३३६; शुक्र ४।९३-१०५; कौ० अधिकरण ४; मनु ९।२५१-६८; काम० ६।९-१३; ५।८१-८२।

११०. मनु ८।४०३; याज्ञ० २।२४०; वशिष्ठ १९।१३; विष्णुधर्मसूत्र

५।१२२ शुक्र १।३०८; कौ० २।१६।१५१-५२; ४।२।२।

१११. शुक्र १।२६४-२५; कौ० ३।२।२३-२४।

११२. मनु ८।४०१-२; कौ० २।२२।१५; ४।२।३०-३२, ३६।

११३. मनु ८।४००; ६।२८६-८७; शुक्र ४।१३६-४०; कौ० ४।२।

११४. मनु ८।३६६-६७; शुक्र ४।३७८-७६; कौ० ४।१।

११५. चरक सूत्रस्थान २६।८।१; सुश्रुत सूत्रस्थान ३।५२; १०।३०।

११६. कौ० २।२५।२-५, ३५-३६; २।२७।३१-३७।

११७. याज्ञ० १।३३६; अग्नि २२३।१२।

११८. ७।१२३।

११९. अध्याय ८२, १११।

१२०. मनु ७।१२४; ८।२३१, २५८; याज्ञ० १।१३६; शान्ति ५६।५१; शुक्र १।२६६; २।६६; ४।६५; कौ० ४।४।११-१३।

१२१. ४।४।४-१४।

१२२. ४।६।

१२३. ४।६।३५-४४।

१२४. १।१६।३०-३१।

१२५. मनु ६।१७२; शान्ति ८६।२१-२५; ७७। १८; १३६।६७; ६।११२-२८; अग्नि २३६।३३; शुक्र १।१५८-५६; काम० ३।२-८।

१२६. मनु ८।२७-२६; गौतम १०।४८-४६; वशिष्ठ १६।८-६; विष्णु धर्मसूत्र ३।६५, अग्नि २२३।१८-२१; शुक्र ४।१३०५; कौ० २।१।३२-३३।

१२७. २।१।३०-३१।

१२८. २।२६।२६-३५; ३।५।५४-५५; ३।२०।२०; ४।११।२४-२६।

१२६. कौ० २।६।२४-२८; देखिए शुक्र ४।१३२६; इन सब नियमों के लिए देखिए मनु ६।२७१, २७८-८५; अग्नि २२७।२७, ३८-४०, ५४-५५।

१३०. २।२६६

१३१. मनु ७।३२ याज्ञ० १।३४२; पराशर १।६७-६८; शान्ति ५६।१४; ६६।४; ७५।५; ८६।६; ६१।३४; ६०।१४, १८; अग्नि २१८।२ २२२।१०; २२५।६; शुक्र १।१२३-२५; ४।५२५-२६; काम० १।११; ६।८; १२।४६; १३।६-१७।

१३२. देखिए आगे पृष्ठ ३५१-५२, ३६०-६३।

१३३. याज्ञ० १।३३४, शुक्र १।११७

१३४. मनु ८।३२५-८; गौतम १०।२८-२६; याज्ञ० १।३३७; शान्ति ६८।२३-२६; ७१।१०, ८७।२२-२६; १३६।१००, रामायण ३।६।११; अग्नि २२३।१०१; शुक्र १।७२, ७४, १८७; ४।२४१; कौ० १।१३।६।

१३५. मनु ८।३०४; वशिष्ठ १।४४-४६; गौतम ११।११; विष्णुधर्मसूत्र ३।२८; याज्ञ० १।३३५, ३३७; रामायण ३।६।१४; शुक्र १।

१२१; ४।२४५; शान्ति २४।१२; ५७।५४-५५; ६७।२७; ७२। १८-२६; ७५।६-६; ८८।१८-२२; अनुशासन ६१।३४, ३६; काम० २।१०;

१३६. मनु ८।३०३; वशिष्ठ १६।१-२; शङ्ख ५।६; अत्रि २८; शान्ति ६६।७२-७३।

१३७. शान्ति ५७।४४-४५; शुक्र १। १२१।

१३८. मनु ७।८०; याज्ञ० १।३३४; शान्ति ६६।२७; ६१।५; १३६। १०४; शुक्र १।१७८; कौ० २।१।२०; २।२८।१०; ४।३। ५४; ७।१६।३६; काम० ४।२०।

१३६. मनु ७।७६; अग्नि २३८।४५; १०।३४; शान्ति ८६।६-१०; मत्स्य २१७।६; शुक्र १।२१२, २१४; कौ० २।३।४; काम० ४।५७।

१४०. कौ० २।१।२१-२४; २।३४।६; कुएँ, बगीचे; ३।५।६१ सेतु; ३।१।२१-२२, ४७; शुक्र १। २६०-६७ मार्ग, धर्मशाला; ४। ३८०-६५ वृक्ष, जलाशय, पुल, बाँध; शान्ति ८६।१५ जलाशय, वृक्ष; ८६।१ वृक्ष; काम० ५। ७८; अग्नि २३८।४४-४५ पुल, मार्ग।

१४१. १।१।१२।

१४२. मनु ७।७५; शान्ति ६६।५६-६०; ८६।१२-१४; ११६।१६-१७; शुक्र ४।१४०-४७; कौ० २।५।१५-१६; २।१५।२३-२६; २।१७।१६-१८।

१४३. काम० १३।४८; कौ० २।१।४४; शुक्र ४।१३५; शान्ति ८८।२३; ६१।२३।

१४४. शान्ति ७५।३५-३७; ७७।२१; ६१।३३; शुक्र १।१३७।

१४५. शान्ति १३२।३-४; शुक्र ४। १३२६; कौ० २।६।२४-२८।

१४६. मनु ८।३६४-६५; वशिष्ठ १६। ३५-३६; विष्णुधर्मसूत्र ३।६५; महा० १४६।११; २।५।१२४; ४।१८।२४; शान्ति ७७।१८; ८६।२४; ६१।३८ अग्नि २२२।१६; २२५।२५; मत्स्य २१५।६२।

१४७. कौ० ३।२०।२८।

१४८. २।२३।२, ५-६, १२-१३, १६-१७।

१४६. मनु ७।८२; ११।२१-२३; गौतम १०।६-१२; शान्ति ८६। १६; कौ० २।११।८; शुक्र १। ३६७-६८; २।२७३।

१५०. शान्ति ८६।२५-३२; अग्नि २२५।२६; शुक्र २।१२२-२४।

१५१. देखिए सन्दर्भ १७४।

१५२. १।४।२-३।

१५३. शुक्र १।१५५; काम० २।१४।

१५४. ८८।२७-२८।

१५५. मनु ८।२३७; याज्ञ० २।१७०; कौ० २।२।१; ३।१०।३।

१५६. मनु ८।२३२-३६; याज्ञ० २।१६८-६६; कौ० २।२६।११-२४; ३।१०४।७-४८।

१५७. ५।७७।

१५८. अग्नि २२८।४४; शुक्र ४।१३२७; कौ० २।८।३; काम० ५।७८।

१५६. मनु ६।२६३; शुक्र ४।६०४।

१६०. मनु ८।२३८, २४०-४१; याज्ञ० २।१६४-६७; कौ० ३।१०।३८-४६।

१६१. शुक्र ४।१३२७; कौ० २।१।१५

१६२. कौ० २।१।४५।

१६३. अग्नि २२८।४४ शुक्र ४।१३२७; काम० ५।७८।

१६४. मनु ८।३६६; कौ० २।२१।२६।

१६५. १।३०१-२।

१६६. विष्णुधर्मसूत्र ३।५५; अग्नि २२८।४५; कौ० २।१।४७; ४।१।६६-६७; काम० ५।७८।

१६७. मनु ८।३६; कौ० ४।१।६३-६५।

१६८. कौ० २।१२।२०-२२।

१६६. २।१।४०; २।१७।१-३।

१७०. कौ० २।२।

१७१. मनु ८।४७-५२, १३६-१६६, १७६-६६, २०६-११, २१५; १७; याज्ञ० २।३७-६६, ६१-१०२, १६८-६६; कौ० ३।११, १२, १४।

१७२. २।१२।२७-३२; ४।१५६-६२।

१७३. २।३४५, ३४७, देखिए पीछे पृष्ठ २२० भी।

१७४. मनु ७।६६; देखिए याज्ञ० १।३१७; शान्ति १०२।५७; १४०।५; कौ० १।४।६; काम० १।१८; १३।५७।

१७५. यथा महाभारत ७।६६; १२।२६।३७-४४; १२।५६; अग्नि अध्याय १८।

१७६. १।७।२।

१७७. ऊपर देखिए पृष्ठ २५५-५७; गौतम ११।१, ७।

१७८. शान्तिपर्व १३२।३-४।

१७६. २।६।२३-२८; देखिए शुक्र ४।१३२६ भी।

१८०. मनु ८-४१; याज्ञ० २।३१; कौ० २।४।

१८१. २।१।५५; ३।३।४२, ८६; ५।२।११२; ५।३।११३।

१८२. २।१।४०।

१८३. मनु ८।१७०-७२।

१८४. देखिए याज्ञ० १।३४०; शान्ति ५८।५; ८८।२६; ११०।८, १२०।३; ६; १३०।६; अग्नि २२८।२; कौ० २।२५।४०; ६।११०; ८।४।१८-२२, ४४-४८ शुक्र १।११८, १२३, १२६, २०६; ४।१२०-२१, १२३।

१८५. शान्ति १२०।४४, ५०; कौ० ५।२।१।

१८६. ७।८-१३; देखिए आपस्तम्ब १।११।३१।५ गौतम ११।३२ भी।

१८७. शान्ति ५६।२; ६८।४०; वायु० ५७।७२; मत्स्य २२६।१।

१८८. १।१३।८-१२; देखिए शान्ति ६६।३७-६०।

१८९. मनु ८।५, २१८; याज्ञ० २। १९१-९२; अग्नि २३५।२२ :

१९०. ८।२१९।

१९१. २।१९०-९६।

१९२. गौतम ११।२०; याज्ञ० २। १८६; कौ० २।१।४०।

१९३. याज्ञ० २।३०।

१९४. ४।५४१-४२, ५४५-४६; देखिए गौतम ११।२२।

नवाँ अध्याय

१. देखिए पीछे पृष्ठ ७३, १७१ ।

२. शुक्र १।२०, ७२; ४।२४३-४५, देखिए, शतपथ ब्राह्मण ५।१।५। १४ भी ।

३. अध्याय ५६ ।

४. नारदपुराण १।१।७।१५ ।

५. महा० १२।१०७।८ ।

६. महा० १२।१०७।१०-१४ ।

७. शान्ति ६०।१-२; अग्नि २३८। १३ ।

८. १।१६।३६; देखिए काम० १४। १५ भी ।

९. ४।५२३, १२५७-८५ ।

१०. अग्नि २२३।७; काम० २।३६; ५।६; १४।१४; शुक्र १।१२६; २। २२६ ।

११. मनु ७।१११-१२; देखिए ७। १४१-४२ भी ।

१२. शान्ति ६०।३८-४०; याज्ञ० १। ३४१; काम० १४।१५; अग्नि २२५।२१ ।

१३. शान्ति ५६।४३-४६; ५८।६, ८; ११८।२२; १३९।६७-११०; काम० ३।१ ।

१४. शान्ति ५७।२८; १२०।२५; अग्नि २२०।२४; २२३।८; शुक्र १।८३, ६६, १२५-२६; काम० ५।६२ ।

१५. अग्नि २४१।३६-३८; काम० ४। ८-१४ ।

१६. शान्ति ५६।१२५; ११८।२७; अग्नि २२०।३४; २२५।१४; शुक्र १।६, २०, १३३; कौ० १।७।२ ।

१७. कौ० १।६।१७-१९; शुक्र १। ३७३-७६; २।६२; मनु ६।३२४; शान्ति ८२।३४, ३८-४६ ।

१८. देखिए आगे पृष्ठ ३३८-४२ ।

१९. १।१३२-३५; देखिए शान्ति ८६। १४-१६; शुक्र। ३।३४; काम० ५।६ ।

२०. १।१३।१३ ।

२१. ५।६ न लोकद्विष्टमाचरेत् ।

२२. १।४, ६५ ।

२३. ८३।४६ ।

२४. ८९।१५-१६ ।

२५. कौ० १।१८।२; शुक्र २।४५-२६४-६५ ।

२६. रामायण ७।४५।१२-१४ ।

२७. २।३६ ।

२८. अध्याय ५० ।

२९. अयोध्याकाण्ड, अध्याय २, ३ ।

३०. आदिपर्व ४४।६ ।

३१. उद्योगपर्व १४७ ।

३२. उद्योगपर्व १४८ ।

३३. १०।१७३।१, ६ ।

३४. ३।४।२ ।

३५. अग्नि २२५।१-४; शुक्र २।२२-२५ ।

३६. ७।२ ।

३७. मनु ७।४३; गौतम ११।३; याज्ञ० १।३११; शान्ति ५६।३३; अग्नि २२५।२१-२१; २३८।८ कौ० १।२।२-६; काम० २।२; शुक्र १।१५२ ।

३८. अग्नि २३८।८-६; शुक्र १।१५२-५३; कौ० १।२।१०-११; काम० २।७ ।

३६. अग्नि २३८।२; काम० १।१६; देखिए शुक्र १।६१; कौ० १।५।२ भी ।

४०. १।६२; देखिए काम० १।२३ भी ।

४१. शान्ति ७५।४; ६०।७; ६३।२-३ ।

४२. कौ० १।५।१८; काम० १।६३ ।

४३. ७।३६-४२; देखिए मत्स्यपुराण २१५।५३ भी ।

४४. अग्नि २३६।३; कौ० १।५।११; काम० १।६० ।

४५. कौ० १।६।३-४ ।

४६. शुक्र १।५६, ६०, १२२; काम० १।४।३, ५ ।

४७. याज्ञ० १।१३१; शुक्र १।२७८; कौ० १।१६।२४; अग्नि २३१।१६ ।

४८. मनु ७।२२३; याज्ञ० १।३३०; अग्नि २३५।४-५, १६; शुक्र १।२८२; कौ० १।१६।२० ।

४६. मनु ७।२६-३४; याज्ञ० १।३०६-१०; शान्ति ५६।१४-२१; ५७।२७-३२; ७०; ६२।१०-१६; ६३।६-११, २७-३५; ११८।१६-२३; १४०; अग्नि २२५।२७-३०; २३६।२-११; शुक्र १।३०-३३, ८४-८५, १७४-७५, ३१८-२४, ३८३; ३।७-११; कौ० ६।१।१-६; काम० १।२१-२२; ४।४, ६-८, १०, १४-२४ ।

५०. १।१८१ ।

५१. मनु ७।८७-८६; आप० २।१०।२६।२-३; विष्णुधर्मसूत्र ३।४४-४६, शान्ति ७८।२६-३३; शुक्र ४।११३३-४० ।

५२. ऋग्वेद १०।१५४।३; अथर्ववेद १८।२।१७ मनु ७।६४-६५; याज्ञ० १।३२४-२५; पराशर ३।३२-४० स्त्रीपर्व २।१६-१८; ११।८-६; कौ० १०।३।३२-३५ ।

५३. भीष्मपर्व १७।११; शल्यपर्व ५।३२ ।

५४. ६७।१०-१२; देखिए, शुक्र ४।११५२-५६ भी ।

५५. शान्ति ५८।१३-१५; अनुशासन-पर्व ६।१ तथा आगे; शुक्र १।३१६-२४; ४।१०२४-२८; कौ० १।१६।४०-४१; काम० ५।११; १३।३-११ ।

५६. सभापर्व १६।१२; उद्योगपर्व ७६।५-६; शान्ति ५६।१४-१६; १३६।८२-८४; १५३।५०-५१; मत्स्य २२१।१-१२; अग्नि २२५।

३३; मनु ७।२०५; याज्ञ० १। ३४६-५१; शुक्र १।४७-५८; कौ० ६।८।३७-३८; काम० ६।६०-६१।

५७. शुक्र १।४६।

५८. मनु ७।२०५।

५९. सौप्तिकपर्व २।२-२४।

६०. शान्ति ८४।३-११; शुक्र १।१६५-७०; काम० ३।२२-३०।

६१. शान्ति ६०।२५-२८।

६२. शुक्र १।१६०-६४; काम० ३।१६-२१।

६३. शान्ति ६१।१२-२८; १३६।६७; अग्नि २३८।१३-१४; शुक्र १।१५८-५९; काम० ३।२-८।

६४. मनु ७।१४०; शान्ति ५६।२१, ३७-४०; ५८।२१-२२; १०२। २३; १४०।६५-६७; शुक्र १।८२; २।२६२-६३, २७५; ४।६८।

६५. शान्ति १४०।६५-६७।

६६. शान्ति ७७।२१; ९१।२९; ९३। २७; १२०।३६; शुक्र १।१३७।

६७. शान्ति १२३।१५; अग्नि २३४। ३-४; शुक्र १।२८५; कौ० २।१। ४८; काम० ७।३५, देखिए पीछे भी।

६८. ७।२६-२७, ३०-३४।

६९. ८।३०९।

७०. ५६।१९; ५७।२७-३२; ९३।९-११।

७१. १।८४-८५, ३१८-१९; ३।७-११।

७२. ९०।३; देखिए ७७।२१; अग्नि २३८।१३; मार्कण्डेय १३०। ३३-३४।

७३. ४।५२२।

७४. मनु ७।४४; अग्नि २३८।६; कौ० १।६।२; शुक्र १।९७-९९, १४६।

७५. शुक्र १।१५०।

७६. कौ० १।६।१।

७७. मनु ७।४४।

७८. १।३७; देखिए शुक्र १।९९ भी।

७९. शुक्र १।१००; काम० १।६८-३९

८०. शुक्र १।१०१-७; काम० १। ४०-४७।

८१. उद्योगपर्व ७४।१३-१८; मार्कण्डेय २७।१४-१७; अग्नि २२५।८; २३८।७; शुक्र १।१४३-४५; कौ० १।६।६-१५, काम० १।५५-५८।

८२. १।११७-७९।

८३. ७।४५-५२।

८४. सभापर्व ६८।२०; उद्योगपर्व ३३।९२; शान्तिपर्व १४०।२६; शुक्र १।१०८-१६; कौ० ८।३। ४-५, २५-२६, ४१-४२।

८५. शुक्र १।१०९, ११३, १४१; काम० १।५४; १४।४९-५२, ६२-६३, देखिए कौ० ८।३।४७।

८६. काम० १४।८-२४, ४३-४६ देखिए शान्ति ८४।३-११ भी।

८७. ८।३।

८८. शुक्र १।११४; कौ० ८।३।५०, ६३; काम० १४।२५-४२।

८९. मनु ७।१४५-४६, १५१-५४, २१६-१७; २२१-२५, याज्ञ० १। ३२७-३३; अग्नि २३५; शुक्र १। २७५-८४; कौ० १।१९।१०-२९।

९०. १।४।१४।

९१. शतपथ ब्राह्मण ५।४।७।

९२. १।३०-२४।

९३. ६९।६६-१००; देखिए १११। ३-४ भी।

९४. ९०।३५-३७।

९५. शान्ति ७५।४; ९०।७; ९३। २-३; शुक्र १।९२-९३; काम० १।२३।

९६. ८।३३६।

९७. ४।४१; देखिए ४२-४६ भी तथा ११।५१-५२, ७५-७६; १४। ४-५।

९८. ४।४८।

९९. २।८०-८३; २।१४६-४८, २६३ भी; देखिए याज्ञ० १।३१२, ३५५ जहाँ बताया है कि गुणी सहायकों से युक्त होने पर ही राजा न्याय-पूर्वक राज्य चला सकता है।

१००. देखिए, राजसूय यज्ञ का वर्णन शतपथ ब्राह्मण ५।४।४।१४-१९ जिसमें प्रतीकात्मक रूप में राजा का पुरोहित से अधिकार प्राप्त होने का सङ्केत है।

१०१. ७३।११।१७; देखिए शान्ति ७४। १३-१५ भी।

१०२. १।७।१२-१४; १।९।१५-१७। देखिए शान्ति ७४।२१ भी।

१०३. १।३५८; देखिए शान्ति ८०। २२-२४।

१०४. २।७४, ७७-७९; देखिए ऐतरेय ब्राह्मण ४०।२ भी जहाँ पुरोहित को राष्ट्रगोप कहा है।

१०५. ३।५।३।

१०६. देखिए गौतम ११।१३-१४; याज्ञ० १।३१२; शान्ति ७३।८-१०, १४-१५; ७४।२१; ७७।२४; ८३।५३-५४; शुक्र ४।११९७; कौ० १।९।१७ भी।

१०७. मनु ८।३२०-२१; शान्ति ७८। १९-२८; शुक्र ४।११५६-५८।

१०८. मनु ७।२७-२८, १११-१२; याज्ञ० १।३५६; अग्नि २२५। ३१; शुक्र ४।१२२८-३०; कौ० १।४।१५; ६।१।१६-१८, काम० २।३९।

१०९. ४।१०९।

११०. ६१।३२-३३।

१११. शुक्र २।४५-४६; कौ० १।१८। २।

११२. शुक्र २।२६४-६६।

११३. ६।९७।

११४. ७।२।

११५. २।२।

११६. आप० २।९।२५; गौतम अध्याय ९, १०; वसिष्ठ अध्याय १९; विष्णुधर्मसूत्र अध्याय ३

११७. ७८।३८-४०, ४४।

११८. शान्ति ३३।४३-४५; कौ० ५।६।३८-५२।

११९. मनु ६।२६४; याज्ञ० १।२५३; विष्णुधर्मसूत्र ३।२२; शान्ति ६६।६४-६५; मत्स्य २३६; अग्नि २२५।११; २३२।१३; कौ० १।६।१; काम० १।१६; ४।१-२।

१२०. १।६१-६२; ४।१२५७-५८।

१२१. १२।४५-४७।

१२२. ७।५५; देखिए शान्ति ६३।३६; १११। २१; मत्स्य २१५।३; शुक्र २।१; कौ० १।७।१५।

१२३. ११५।१३-१४; १०६।११।

१२४. १।६।१४।

१२५. मनु ७।६१; मत्स्य २१५।२; कौ० १।७।१५;

१२६. मनु ७।१५१, ५७, शान्ति ८४।३४-४१, ५२, ५४, ८५; शुक्र १।३२८, ३५०, ३६२; ३।२; कौ० १।७।१५; १।१५। ६३-६४; काम० ४।४१; ११। ५१-५२।

१२७. मनु ७।१४६; याज्ञ० १।३२९; अग्नि २३५।८; कौ० १।१६। १५,१७।

१२८. ११।७५; १३।२५।

१२९. कौ० १।१५।६२-६४, काम० ११।५२; ११।७५, शुक्र ४। २३५।

१३०. २।३-७

१३१. कौ० १।७।१२, १५; मनु ७। ५४।६०; काम० ४।२५, २७; १३।२५, ६२; अग्नि २४१। १८, २७।

१३२. १।८।३१-३३।

१३३. १।१०।२४।

१३४. शान्ति ८३।११; कौ० १।१०। १; काम० ४।२६-२७।

१३५. शान्ति ११८।४।

१३६. शान्ति ८३।२२; कौ० १।१०; काम० ४।२६।

१३७. ४।२७।

१३८. १।१०।२-२५।

१३९. कौ० १।६।३-१३; काम० ४। ३४-४०; अग्नि २२६।१७-२३।

१४०. मनु ७।१४१, २२६; काम० १३।७।

१४१. आप० २।१०।२५।१०; शान्ति ५७।२६।

१४२. मनु ६।२३४; शान्ति ८२।५६; शुक्र १।३७५-७६।

१४३. २।६।१-२।

१४४. ७।६०-६२।

१४५. मनु ७।८१; याज्ञ० १।३२२; विष्णु ३।१६-२१; शान्ति ६६। २६; अग्नि १३६।४४; शुक्र २।११७-१६; काम० ५।७५।

१४६. २।७।१-२।

१४७. शान्ति ५८।११; ८७।११-१२; अग्नि २२०।१५; शुक्र २।५४; कौ० २।६।१-५।

१४८. अग्नि २२३।२;कौ० १।११।२८; १।१२।५-७; २।६।२६-३१; २।८।७०-७१।

१४९. २।६।६-१६।

१५०. मनु ७।१२३-२४; ६।२३१; याज्ञ० १।३३६; शान्ति ८८।२६ शुक्र १।२६६; २।२६२; ४।६५; कौ० ४।४।४-१४।

१५१. २।७।६, १६-४१; २।८।४-७५; ३।६।२६-३४; ४-६।१-१०।

१५२. मनु ६।२३४; याज्ञ० २।३-६; शान्ति ६१।२४-२६; अग्नि २२७।४६; कौ० ४।६।३५-५४।

१५३. कौ० ४।६।५५-६२।

१५४. मनु ६।२३२; अग्नि २२७।४६; शुक्र ४।६६।

१५५. मनु ६।२७२; याज्ञ० २।२६६; अग्नि २२७।६६-६७।

१५६. याज्ञ० २।२६६; अग्नि २२७। ६३-६४।

१५७. याज्ञ० २।३०६; अग्नि २३६। ४१; शुक्र १।३०४; २।१३०; ४।६५; काम० ५।३१।

१५८. मनु ६।२७५; शुक्र ४।१००।

१५९. ८।८।३६-४३।

१६०. मनु ७।१२३; याज्ञ० १।३३६; शान्ति ७१।८-६; ८६।१२; ६१।२४-२६; अग्नि २२३।१२-१३; २३६।४६, शुक्र १।३०६ ४।६६-६८; कौ० ४।६।१४-३२; १।१६।३१-३२; काम० ५।८२।

१६१. अध्याय ८२, १११ आदि।

१६२. ३।६३-६४।

कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च॥
शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः।
गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया।; ४।२१८।

१६३. ३००; ३०२-३।

१६४. ७१।

१६५. १११।२६, ३०-३३

१६६. शान्ति ५७।१६; ५८।५; ६६। १७; शुक्र ४।४०८, ३८६।

१६७. ५।५६-६३

१६८. मनु ७।१२५-२६; शुक्र ४।३६१; कौ० ५।३।३६; काम० ५।६४-६५।

१६९. शुक्र २।३८४-४०७; कौ० ५।३

१७०. कौ० ५।३।२६-३३, ३६-३७; सभापर्व ५।५४

१७१. कौ० २।१।६; शुक्र १।२१०।

१७२. मनु ७।११३-२२; विष्णुधर्मसूत्र ३।७-१४; शान्ति ८७।२-११; अग्नि २२३।१-४।

१७३. १।१६०-६१।

१७४. २।१।

१७५. २।३५।

१७६. १।१६२।

१७७. २।१।२-३।

१७८. २।२२०-२१।

१७९. २।१६६-७४।

१८०. कौ० ३।१०।२६-६०।

१८१. मनु ७।२५८; याज्ञ० २।१५४-५७; कौ० ३।६।११-२७।

१८२. गौतम ११।२०-२२; शुक्र ४। ५४१-४६; देखिए पीछे पृष्ठ २५८, २७६ भी।

१८३. कौ० २।३-४; शुक्र ४।२१२।-६२; शान्ति ८६।१-१६; ६६।४८-६०; मत्स्य अध्याय १३०; २१७।६-८७; वायु ८। १०८ तथा आगे; देखिए, मनु ७।७५-७६ भी।

१८४. ८६।६-१०।

१८५. देखिए, कौटिल्य की नगर-व्यवस्था के लिए २।३६।

दसवाँ अध्याय

१. याज्ञ० २।५, अग्नि २५३।३४-३५; शुक्र ४।५८६-८७, ५२७।
२. कौ० २।७।२।
३. कौ० ३।१।५१-५२।
४. १।२६३-३१२।
५. मनु ७।१३।
६. देखिए पीछे पृष्ठ २७५-७६ व्यक्ति तथा समूहों के सम्बन्ध के लिए।
७. ३।१।५१-५२; देखिए, अग्निपुराण २५३।३-५ भी।
८. १२।१०८-११५।
९. गौतम २६।४६-४७; वसिष्ठ ३।२०; याज्ञ १।६; पराशर ८।६-३५।
१०. याज्ञ० २।२१; अग्नि २५३।४९-५०।
११. शुक्र ४।५५२-५४।
१२. मनु ८।१७२।
१३. मनु ८।२६२-६३; याज्ञ० १।३५४; शान्ति ६८।४२; ६०।२७-२८, ३२, ३४-३५; १०६।२१-२३, २७-३०; १२३।१७; १३५।२०-२१; अग्नि २२६।१८-१९; २३६।४८; शुक्र ४।५२४-२७,
१४. मनु ८।३११, ३१८।
१५. शान्ति १२१।६-१३।
१६. याज्ञ० १।३५९, अत्रि २८,
१७. मनु ८।१-३; याज्ञ० २।१; वसिष्ठ १६।२; विष्णुधर्मसूत्र ३।७२; शुक्र ४।५२८-२९, ५६६-६७।
१८. शुक्र ४।५३१-३२
१९. अनुशासनपर्व ६।३८;
अर्थिनामुपसन्नानां यस्तु नोपैति दर्शनम्।
सुखे प्रसक्तो नृपतिः स तप्येत नृगो यथा॥
रामायण ७।२३-५४ राजा नृग की कथा।
२०. १।१६।३०-३२।
२१. २।३०।
२२. ४।५५२-५४; देखिए याज्ञ० २।३१ भी।
२३. गौतम ११।२१-२२; शुक्र ४।५४१-५४।
२४. शुक्र ४।५४६; कौ० ३।८।१-२; ३।६।११-१६, २७-२९।
२५. कौ० ३।१।१।
२६. शुक्र ४।५२९।
२७. मनु ८।१-२; याज्ञ० २।१; शुक्र ४।५२८-२९।
२८. २५३।३२।
२९. शुक्र २।४१८, ८४।
३०. मनु ८।१०-११; याज्ञ० २।३; शुक्र ४।५४८-४९।
३१. ३।१।१।
३२. मनु ८।९-१०; शुक्र ४।५३५-३६।
३३. देखिए पीछे पृष्ठ ११३।

३४. मनु ८।२०; शुक्र २।४१८; ४।५३७, ५३६।

३५. २।११।२६।५।

३६. ४।५३५-३६।

३७. याज्ञ० २।२; विष्णुधर्मसूत्र ३।७४; अग्नि २५३।३२; शुक्र ४।५३६-४०।

३८. शुक्र ४।५५०।

३६. मनु ८।३, ८; याज्ञ २।१; शान्ति ७१।११; शुक्र ४।५२८, ५३४, ५५०, ५५६, ५५६, ५७४, ७८४-८५।

४०. मनु ८।४१-४२; याज्ञ० १।३६१; शान्ति ६६।२६; ७७।१६; शुक्र ४।५६८-७४; कौ० २।७।२।

४१. देखिए पीछे पृष्ठ २५८।

४२. मनु ७।१३।

४३. शुक्र ४।५३३-३४।

४४. ३।१।१।

४५. मनु ८।१२-१५, १८-१६, १२७; याज्ञ १।३५६; शान्ति ७०।११; ८५।१३-१८; १२२।४०; १४२।२७; अग्नि २२६।१४; शुक्र ४।५३२-३३, ५५१,५६०-६१।

मनु-धर्मा विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठति।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदाः॥
सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्
अब्रुवनविब्रुवन्वापि नरो भवति-किल्विषी॥
यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदाः॥
धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मो हतोऽवधीत्॥
पादोऽधर्मस्य कर्तारः पादः साक्षिणमृच्छति।
पादः सभासदः सर्वान्पादो राजानमृच्छति॥
राजा भवन्त्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदाः।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्दते॥

४६. १६।४०-४३

४७. मनु ८, १७३-७५; याज्ञ २।१; शुक्र ४।५२७, ५८७, ७८५-८७, ७६८-६६।

४८. याज्ञ १।३५८; शान्ति ६६।२७; ६१।२३; देखिए पीछे पृष्ठ. २५२ भी।

४६. वसिष्ठ १६।३-५; शान्ति ६१।३५; १२०।२६; १२१।११; कौ० ३।२०।३१।

५०. ३।२२७

५१. ३।२२

५२. १६८।२५।

५३. याज्ञ २।६-७; शुक्र ४।५३०-३१, ६७०।

५४. शुक्र ३।३०७।

५५. शुक्र ४।७८८-६०।

५६. मनु ६।२३१; याज्ञ० २।४, २०६; विष्णुधर्मसूत्र ५।१८०; शुक्र ४। ५८१-८३, ६७०, ७६२।

५७. ४।६।३५-३६,४२-४५ ।

५८. शुक्र ४।५८१-८२; कौ० ४।६। ४०-४१ ।

५९. शुक्र ४।५७६-८० ।

६०. शुक्र ४।५७६-७७ ।

६१. मनु ८।५९, १६१; शुक्र ४।६६१, ६८६-८७; कौ० ३।१।३१-३५ ।

६१ क. आप० २।११।२६।८-६; गौतम १३।७, २३; मनु ८।११८-२४; याज्ञ० २।८१, शुक्र १।३०४; ३।४४, ६६, २५२; ४।६८७; कौ ३।११।५१, ६०-६१; अग्नि १६८।२६; २०३।१६; २२७।७-८; २५५।१३-१५, गरुड़ प्रेतखण्ड ४।२८ ।

६२. मनु ८।५९, १३६; याज्ञ० २।२६, ३३, १७१, १७८, कौ० ३।१। ३५ ।

६३. याज्ञ० २।४२; विष्णुधर्मसूत्र ६। २१ ।

६४. मनु ६।२५२-५३; शुक्र ४। ५८७ ।

६५. २।२३ ।

६६. ८।३८६-८७ ।

६७. याज्ञ २।१२; गौतम १३।२८-३० शुक्र ४।५७५ ।

६८. शुक्र ४।६८३ ।

६९. मनु ८।५८; कौ० ३।१।३९-४४।

७०. मनु ८।७२; गौतम १३।६ विष्णु-धर्मसूत्र ३।६; शुक्र ४।७०४-५ ।

७१. याज्ञ २।६-१०; कौ० ३।१।३६-३८ ।

७२. मनु ८।५८; याज्ञ १।१२; कौ० ३।१।३९-४४ ।

७३. शुक्रनीति ४।५७४-७९६ ।

७४. देखिए प्रतिनिधि-सम्बन्धी नियम के लिए शुक्र ४।६२९-३६ ।

७५. ४।४१-४२ ।

७६. मनु ८।१२६-३०, ३१० शान्ति १६६।७०-७२; ८५। २०-२३; शुक्र ४।६६-६० ।

७७. शुक्र ४।७६०-६१ ।

७८. मनु ८।१२६-३०; अग्नि २४१। ५१-५२; कौ० ५।१०।५८, याज्ञ० १।३६६-६७ ।

७९. मनु ६।२२६ ।

८०. शुक्र ४।८८ ।

८१. शान्ति ८५।२० ।

८२. मनु ८।३१०; शान्ति ८५।२०; १६६।७०; शुक्र ४।४१, ७३, ७६-७७, ८०-८२, ८७-८८, १०४-५; कौ० २।३६।५७,५६-६० ।

८३. ६।२८८ ।

८४. २।३६।५६ ।

८५. २।५।५ ।

८६. ४।८७-८८ ।

८७. शुक्र ४।८२, ८७; कौ० २।५।४; ४।८।२१ ।

८८. ४।८१, १०५ ।

८९. ४।८।१७, २२ ।

९०. शान्ति १२२।४१; १६६।७१; काम० १४।१६ ।

९१. कौ० ४।८।२८; मनु ८।१२५।
९२. शान्ति १६६।७०।
९३. मनु ८।१७१-७३; शुक्र ४।९०, १३४।
९४. गौतम १२।४८-४९; वसिष्ठ १९।९; कौ० २।२०।२६; ४। १०।२५-२६; मनु ८।१२६; ९।२६२; याज्ञ० १।३६८; अग्नि २२२-२७; शुक्र ४।६७-६९; शान्ति ८५।२१; १२२। ४०-४१।
९५. शान्तिपर्व, अध्याय २४१-४२।
९६. देखिए पीछे पृष्ठ २६८।
९७. मनु ८।३१८; वसिष्ठ १९।४५।
९८. ४।१०६।
९९. देखिए पीछे पृष्ठ २५१-५२।
१००. गौतम ११।२८ दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान् दमयेत्।
१०१. काम २।४२-४३; मनु ७।२०-२५; मत्स्य २२५।४-१७; कौ० १।४।१६-१९; शुक्र १-२३; अग्नि २२६।१४-१६।
१०२. मनु ८।२८०; याज्ञ० २।२१५; विष्णुधर्मसूत्र ५।१९।
१०३. याज्ञ० २।१६।

ग्यारहवाँ अध्याय

१. शान्ति १३३।१-७।

२. शान्ति ११६।१६-१७; अग्नि २४१।२१-२८ कौ० ८।१।३२-३५, ४७-५५; शुक्र ४।११८; काम० १३।३१-३४।

३. शान्ति ६७।२३-२६; कौ० १।१३। ६-७।

४. मनु ८।३०६-८; याज्ञ० १।३३७; गौतम १०।२८-२६; अग्नि २२३। १०, १३; शुक्र १।७२, ७४; कौ० १।१३।६-१०।

५. शुक्र १।१८७; ४।२४१।

६. शुक्र ४।११८-१६।

७. शान्ति १२०।३५।

८. शान्ति १३६।१००।

९. मनु ७।१३७।

१०. मनु ८।३०४; याज्ञ० १।३३५; वशिष्ठ १।४४-४६; गौतम ११। ११; विष्णुधर्मसूत्र २।२८; रामायण ३।६।१४; शान्ति २४। १२, ५७।४४-४५, ६८।२७, ७५।६-९, ८८।१८-२२; शुक्र १।१३१; ४।२४५; काम० ३।१०।

११. मनु ७।१३७-३८, १०।१२०। गौतम १०।३१-३४; विष्णुधर्मसूत्र ३।२२; अग्नि २२३।३३-३४; शुक्र ४।२३२।

१२. शान्ति ७१।१३-१५, १३२।८; अग्नि २२३।१३; शुक्र २।२६४; ४।१२४; कौ० ६।१।११; काम० ४।६३; १३।५४।

१३. कौ० २।६।२३-२८।

१४. शुक्र ४। १३२६।

१५. शान्ति ५७। २१; १३२। ३-४; शुक्र १।३८२, काम० ५।८५।

१६. शान्ति १३६।२,४, ७.।

१७. शान्ति ७६।२-१०।

१८. कौ० २।१।२२-२७; ३।६।३७-४३; ३।१०।५१, ५४-५७।

१९. देखिए, पीछे अध्याय ४ तथा ५ में विभिन्न वर्णों तथा आश्रमों के जीवन की व्यवस्था।

२०. कौ० २।२। ६४; शुक्र ४।१२४।

२१. ५८।५।

२२. ७१। १५-२०।

२३. ८७। १८-२२; २३-२६ भी देखिए।

२४. शान्ति ८०।३-६, १२-१३; देखिए १२०। ९, ३३-३४ भी।

२५. मनु ७। १२९; शुक्र २। १७१; ४। १३३, २२३।

२६. ५। ८२, ८४।

२७. शान्ति ८८।१२, अग्नि २३६। ४७; काम० ५।८३-८४।

२८. मनु ८।१७२; अग्नि २३८।२; २३६।३०; काम० १२।५४।

२९. याज्ञ० १।३४०; शान्ति ७०।३; शुक्र ४।१२०-२३।
३०. मनु ७।१३९; शान्ति ७०।६; ७१। १३-१५;११०।८; १३९।९-१०; अग्नि २३९।४३; शुक्र १। ११८, १२९; ४।१२०-२३; काम० ५।८२।
३१. शान्ति ५७। ३४।
३२. शान्ति ८८।२६; शुक्र १। ३०६; देखिए कौ० ८।४।४४-४८ भी
३३. देखिए पीछे पृष्ठ ३०५-६
३४. शुक्र ४।१२८; कौ० ५।२।२६
३५. शुक्र १।३१५।
३६. ४। १२८-२९।
३७. काम० ४।६२।
३८. कौ० ६। १। १०।
३९. २।१।१६-१९।
४०. मनु ७।८०; शान्ति ५८।६; ११९ १७; १३६।६-७; अग्नि २२५। २७; शुक्र ४।११७-१८, १२९-३२, १४६-४७।
४१. मनु ७।७; शान्ति ५७।१८; मार्कण्डेय २७।२६; शुक्र १।७६।
४२. मनु ८।४१९; याज्ञ० १।३२७; अग्नि २३५।५, १६; शुक्र १। २७६-७८; कौ० १। १९।१०, १४; काम० ५।७७।
४३. मनु ९। २७५; व्यास ३।४९; शान्ति ९८।५१-५३।
४४. शान्ति ७१।१०; शुक्र ४।१२४, १२८।
४५. मनु ७।३०७।
४६. विष्णुधर्मसूत्र ३।२२; पराशर ११।१७; हारीत २।३; कौ० १।१३।७।
४७. मनु ७।१३०; गौतम १०।२४; देखिए अग्नि २२३।२६ भी।
४८. १०।११८।
४९. शुक्र ४। २२९-३०।
५०. कौ० २।२४।२२-२५; शुक्र ४। २२५-२६।
५१. कौ० ३।९।२७-४९; शुक्र ४।२३२-३३।
५२. मनु ७।१३०-३२; गौतम ११। २५, २७, विष्णुधर्मसूत्र ३।२४-२५, अग्नि २२३।२७-२९।
५३. कौ० ५।२।२५, ३१-३३।
५४. मनु ७।१२७, शान्ति ८७।१३-१४; शुक्र २।१७४, ४।२२०-२१, कौ० २।१६।२२, २८।
५५. ८७।१४-१६, देखिए अग्नि २२३। २४, कौ० २।१६।२२-२८ काम० ५।८० भी।
५६. मनु ८।३९८, याज्ञ० २।२६१; गौतम १०।२६, विष्णुधर्मसूत्र ३। २९; अग्नि २२३।२३।
५७. अग्नि २२३।२४।
५८. शुक्र ४।२१९-२०।
५९. मनु. ८।४००, कौ० २।२१।१२-२१, २४, ३०-३८।
६०. कौ० २।२१।२२-२३।
६१. कौ० २।२१।२६।
६२. कौ० २।२२।३-१०, ५।२।२०-२४।
६३. कौ० २।१२।

६४. मनु ८।३६; कौ० ४।१।६३-६६ ।
६५. कौ० २।१२।४६ ।
६६. शुक्र ४।२३८-४० ।
६७. २।१२-३४ ।
६८. मनु ७।१३७-३८; १०।१२०; गौतम १०।३१-३३; विष्णु-धर्मसूत्र ३।३२; अग्नि २२३।३३; शुक्र ४।२३२ ।
६९. गौतम १०।३४; अग्नि २२३।३४ ।
७०. मनु ८।३९४; आप० २।१०।२६।१०-१६; गौतम १०।९-१२, वशिष्ठ १।४२-४६; १९।२३-२४ ।
७१. मनु ७।१३३-३६; ८।३९४; शान्ति ७१।२१-२२; ७७।२; १३२।९-१०; शुक्र ४।१३३-३४ ।
७२. शान्ति ७६।८-१० ।
७३. शान्ति १३०।२०-२१ ।
७४. कौ० ५।२।७-१० ।
७५. मनु १०।११८ ।
७६. शुक्र ४।१२५-२७ ।
७७. शान्ति ८७।२६-३४ ।
७७ क. कौ० ५।२।३७-७९ ।
७८. कौ० ५।२।८०-८१ ।
७९. ७।१०१-३ ।
८०. शुक्र ४।८६६-७१; कौ० ८।१।४१-४५, ६१; ६३, काम० १३।३५-३८; अग्नि २४१।२३ ।
८१. ४।८७०-७१, देखिए ४।१०९२ भी ।
८२. ४।८६४-७८ ।
८३. ६।१।११; देखिए काम० ४।६५-६७; शान्ति १०२।१२-१४ ।
८४. कौ० अधिकरण ८ ।
८५. ४।८८१, १००८-९,१०१७-१९, १०६४-६५ ।
८६. ४।११९७-१२०६ ।
८७. १०२।१६-२२, देखिए मनु ७।१९८-२०१, याज्ञ० १।३४६; शुक्र ४।३४, १०१३-१५; शान्ति ६९।२३-२४; कौ० ७।२।१, १०।३।७१-७५ ।
८८. शुक्र ४।३२-३४; कौटिल्य ७।२।१-६।
८९. मनु ७।१८३; शान्ति १००।१२; कौ० ९।१।१-२; ४२-४६; काम० १५।१-३, १४; १९।१५; शुक्र ४।१०१३-१५, १०२२, १०५१-५२, १०५८, ११३१ ।
९०. कौ० ९।४।१-३; काम० १५।२३-२४ ।
९१. शुक्र ४।११३२ ।
९२. मनु ८।१८४; कौ० ९।३-५; काम० १५।१४-२२ ।
९३. कौ० १०।३।१-२, २७; काम० १८।५४ ।
९४. मनु ७।९०-९२: याज्ञ० १।३२७; आप० २।५।१०।१२; गौतम १०।१७-१८; रामायण ६।१८-२७-२८, ३१; भीष्मपर्व १।२७-३२; कर्णपर्व ९०।१११-१३; शान्ति ९५।७-१४; ९६।३; ९८।४८-४९; १००।२६-२९; शुक्र ४।११७४-७९ ।

९५. शान्ति ६५।१५-१७।
९६. ४।११८०-८१।
९७. कौ० १०।३।२-२६; काम० १८।५५-६६।
९८. काम० १३।४-७।
९९. आश्रमवासिकपर्व ७।६; कौ० ६।२।५०-५२; काम० १५।३२।
१००. कौ० ६।२।४२-४५; काम० १५।३३।
१०१. २४।१।१।
१०२. ६।१।३-१६।
१०३. ६७।१-७।
१०४. देखिए याज्ञ० १।३२५; आप० २।१०।२६।२-३; कौ० १०।३।३२-३५ भी।
१०५. ७।८७-८६।
१०६. ऋग्वेद १०।१५४।३; अथर्ववेद १८।२।१७; मनु ७।६४-६५; याज्ञ० १।३२४-२५; विष्णु-धर्मसूत्र ३।४४-४६; गीता २।३१-३७; शान्ति ६७-६६, पराशर ३।३१-३६।
१०७. काम० ८।४६।
१०८. मनु ७।१५५-५६; विष्णुधर्मसूत्र ३।३८; कौ० ६।२।२४-३५; काम ८।२०।
१०९. याज्ञ० १।३४५; शुक्र ४।१७-१६; काम० ८।४६।
११०. मनु ७।१५६; अग्नि २३३।११-२६; २४०।१-५; कौ० ६।२।२१-३८; काम० ८।६-१६।
१११. काम० ८।४४-४६।
११२. मनु ७।१५७; शान्ति ५६।७०-७१; कौ० ६।२।३२-३८।
११३. मनु ७।१७७।
११४. ८।८६-८७, ६६-७०।
११५. मनु ७।१०६; याज्ञ० १।३४६; रामायण ५।४१।२-३; शुक्र ४।२३।
११६. मत्स्य २२२।२; अग्नि २२६।५-६; वार्हस्पत्यसूत्र ५।१-३; काम० १७।३।
११७. अग्नि २२६।५-१३; २३४।१-१६; शुक्र ४।२३-५५; कौ० ७।१६।५-६; ६।६।६७-७५; काम० अध्याय १७।
११८. १७।४३-४४।
११९. ७।१६।७।
१२०. २२६।१२-१३।
१२१. काम० १७।१७, २०-२१, ६१-६२।
१२२. अग्नि १४१।५४-५६; काम० १७।२५-३६।
१२३. ४।११२८।
१२४. कौ० ७।१६।६; अग्नि २३४।१-३।
१२५. १७।४१-४२, ४५।
१२६. शुक्र ४।३२-३६।
१२७. मनु ७।१६०-७६; याज्ञ० १।३४७; अग्नि अध्याय २४०; शुक्र ४।१०६५-६२, १११७-२८; कौ० अधिकरण ७; काम० अध्याय ६, १०, ११।१-४६।
१२८. कौ० ७।१।६-११।
१२९. शुक्र ४।१०६६-६६।

१३०. ७।२।१-६ ।
१३१. मनु ७।६५-६६; याज्ञ० १। ३२८, देखिए काम० १२।३४ भी ।
१३२. देखिये मनु ७।६७ भी ।
१३३. देखिए अग्नि २४१।११ भी ।
१३४. कौ० १।१६; काम० १२। ४-२४ ।
१३५. रामायण ५।५२।१४-१५; शान्ति ८५।२५-२६, कौ० १। १६।१७-१८ ।
१३६. शुक्र ४।८-१०; देखिए अग्नि २३३।३०; काम० ८।५२, ७१ भी ।
१३७. शान्ति ८०।८-१२, ८३।३६-३७; शुक्र ४।१०७६-८०; काम० ६।५३-५४ ।
१३८. मनु ७।१८६; शान्ति ८०।१६; कौ० ७।१।३६-४७, काम० ८। ५४, ६३, ७२-८४ ।
१३९. शान्ति ८०।७, १७-१८ ।
१४०. शुक्र ४।१६-२१; कौ० ६।२। १६-२१; काम० ८।५७-६० ।
१४१. शुक्र ४।१०, ७६-७६, १०८३-८४; काम० ६।४७-५०; १०। ३२-३३ ।
१४२. इन नियमों के लिये देखिए कौ० १२।१, २ ।
१४३. शान्ति ६६-१६-२२; काम० ६।५६-७२ ।
१४४. ११।४६-४६ ।
१४५. शुक्र ५।११२४-२६ ।
१४६. मनु ७।२०४-७, २१५ ।
१४७. कौ ७।१८।४८; देखिए ६।४। ३७-३८; १०।६। ५५ भी ।
१४८. १।३४२-५१ ।
१४९. देखिए पीछे पृष्ठ २६६ ।
१५०. १३।६-१६ ।
१५१. अथर्व ६।६८।१ ।
१५२. तैत्तिरीय संहिता १।८।१०।२, ऐतरेय ब्राह्मण ३६।१ ।
१५३. कौ० ६।१।१७-३१; मत्स्य ११४।१५; ब्रह्मपुराण १०।८ आदि; शान्तिपर्व के उद्धरण के लिए देखिए काने—हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग ३, पृष्ठ ६७ ।
१५४. १।१८२-८५ ।
१५५. मनु ७।१७७ ।
१५६. शान्ति ८०।८-१२; ८३।३६-३७; शुक्र ४।१०७६-८०; काम० ६।५३-५४ ।
१५७. मनु ७।१८६; शान्ति ८०।१६; कौ० ७।१।३६-४७; काम० ८।५४, ६३, ७२-८४ ।
१५८. देखिए पीछे पृष्ठ २७६-८० ।
१५९. देखिए पीछे पृष्ठ २८१-८४ ।
१६०. १४२।१-२६ ।
१६१. मनु ७।२०२; विष्णुधर्मसूत्र ३।४७-४६; रामायण ७।६२। १८-१६ ।
१६२. मनु ७।२०३; याज्ञ० १।३४३; विष्णुधर्मसूत्र ३।४२; अग्नि २३६। २२-२३ अग्नि—राजा प्राप्य विदेशं तु देशाचारं हि पालयेत् ।
१६३. याज्ञ० १।३४२; अग्नि २३६। २२-२३; कौ० १३।५।६-१६; देखिए मनु ७।२०३; शान्ति ३३।४३-४६; शुक्र ४।११६३, १२१४-१६ भी ।

बारहवाँ अध्याय

१. देखिए, पीछे, पृष्ठ ६६ ।

२. देखिए, पीछे, पृष्ठ ७६, ८०-८१ तथा ब्राह्मणों के जीवन का वर्णन ।

३. देखिए, पीछे, पृष्ठ ८४-८५, २०५, २४६-४७ ।

४. देखिए, पीछे, पृष्ठ ४-५ ।

पुस्तक-सूची

मूल-ग्रन्थ

क. संहिताएँ

१—ऋग्वेद
२—यजुर्वेद
३—सामवेद
४—अथर्ववेद
} स्वाध्याय मण्डल, औंध, जिला सतारा द्वारा प्रकाशित संस्करण

ख. ब्राह्मण

५—ऐतरेय ब्राह्मण —एशियाटिक सोसाइटी बंगाल द्वारा प्रकाशित
६—कौषीतकि ब्राह्मण —लिण्डनर द्वारा सम्पादित
७—गोपथ ब्राह्मण —डॉ० डी० गास्त्र द्वारा सम्पादित
८—जैमिनीय ब्राह्मण —डॉ० रघुवीर द्वारा सम्पादित
९—ताण्ड्य महाब्राह्मण —श्री वेदान्तवागीश द्वारा सम्पादित, कलकत्ता
१०—तैत्तिरीय ब्राह्मण —महादेव शास्त्री तथा श्रीनिवास शास्त्री द्वारा सम्पादित
११—शतपथ ब्राह्मण —श्री वेबर द्वारा सम्पादित
१२—सामविधान ब्राह्मण —महेन्द्रनाथ सरकार द्वारा सम्पादित

ग. आरण्यक और उपनिषद्

१३—ऐतरेय आरण्यक —आनन्दाश्रम प्रेस द्वारा प्रकाशित
१४—तैत्तिरीय आरण्यक — ,,
१५—ईशोपनिषद् —स्वाध्यायमण्डल, पारडी (जिला सूरत)
१६—ऐतरेयोपनिषद् —गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित
१७—कठोपनिषद् —स्वाध्याय मण्डल, पारडी (जिला सूरत) द्वारा प्रकाशित
१८—केनोपनिषद् —गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित
१९—कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् —निर्णयसागर प्रेस द्वारा प्रकाशित
२०—छान्दोग्योपनिषद् — ,, ,,

२१—तैत्तिरीयोपनिषद्	—गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित
२२—प्रश्नोपनिषद्	—स्वाध्यायमण्डल, पारडी (जिला सूरत) द्वारा प्रकाशित
२३—बृहदारण्यकोपनिषद्	—निर्णयसागर प्रेस द्वारा प्रकाशित
२४—मुण्डकोपनिषद्	—गीता प्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित
२५—माण्डूक्योपनिषद्	— ,,
२६—श्वेताश्वतरोपनिषद्	— ,,

घ. गृह्यसूत्र

२७—आपस्तम्ब गृह्यसूत्र	—विण्टरनिज़ द्वारा सम्पादित
२८—आश्वलायन ,,	—ट्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़
२९—काठक गृह्यसूत्र	—डॉ० केलाँ द्वारा सम्पादित
३०—कौषीतकि गृह्यसूत्र	—बनारस संस्कृत सीरीज़
३१—खदिर ,,	—मैसूर सरकार लाइब्रेरी सीरीज़
३२—गोभिल ,,	—चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार द्वारा सम्पादित
३३—जैमिनि गृह्यसूत्र	—पंजाब संस्कृत सीरीज
३४—पारस्कर ,,	—वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित
३५—बौधायन ,,	—मैसूर विश्वविद्यालय प्रकाशन
३६—भारद्वाज ,,	—डॉ० सॉलोमन्स द्वारा सम्पादित
३७—मानव गृह्यसूत्र	—डॉ० नोडोर द्वारा सम्पादित
३८—वाराह गृह्यसूत्र	—गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़
३९—शांखायन गृह्यसूत्र	—बनारस संस्कृत सीरीज
४०—हिरण्यकेशि ,,	—डॉ० क्रिस्टे द्वारा सम्पादित

ङ. धर्मसूत्र तथा स्मृति

४१—अत्रिस्मृति	—वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित
४२—आपस्तम्ब धर्मसूत्र	—बम्बई संस्कृत सीरीज़
४३—अंगिरा स्मृति	—वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित
४४—उशनस् स्मृति	,,
४५—कात्यायन स्मृति (कर्मप्रदीप अंश)	,,
४६—गौतमधर्मसूत्र	—आनन्दाश्रम प्रेस द्वारा प्रकाशित

४७—दक्षस्मृति —वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित
४८—पराशर स्मृति ,,
४६—मनुस्मृति —निर्णयसागर प्रेस द्वारा प्रकाशित
५०—यमस्मृति —वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित
५१—याज्ञवल्क्य स्मृति —श्री मन्मथ नाथ दत्त द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता
५२—लिखित स्मृति —वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित
५३—वसिष्ठ धर्मसूत्र —बम्बई संस्कृत सीरीज़
५४—विष्णु धर्मसूत्र —श्री मन्मथ नाथ दत्त द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता
५५—व्यास स्मृति —वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित
५६—शातातप स्मृति — ,,
५७—शंख स्मृति — ,,
५८—संवर्त स्मृति — ,,
५६—हारीत स्मृति — ,,

च. इतिहास-पुराण ग्रन्थ

६०—महाभारत —बम्बई संस्करण
६१—रामायण —स्वाध्याय मण्डल, पारडी (जिला सूरत) द्वारा प्रकाशित
६२—अग्निपुराण —आनन्दाश्रम प्रेस, पूना
६३—कूर्मपुराण —बिब्लियोथिका इन्डिका
६४—गरुड़पुराण —वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई द्वारा प्रकाशित
६५—नारदपुराण ,,
६६—पद्मपुराण —आनन्दाश्रम प्रेस द्वारा प्रकाशित
६७—ब्रह्मपुराण — ,,
६८—ब्रह्मवैवर्तपुराण —वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित
६६—ब्रह्माण्डपुराण — ,,
७०—भविष्यपुराण — ,,
७१—भागवतपुराण —गीता प्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित
७२—मत्स्यपुराण —आनन्दाश्रम प्रेस द्वारा प्रकाशित
७३—मार्कण्डेयपुराण —वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई द्वारा प्रकाशित
७४—लिङ्गपुराण — ,,
७५—वाराहपुराण —बिब्लियोथिका इन्डिका सीरीज़

७६—वामनपुराण —वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित

७७—वायुपुराण — ,,

७८—विष्णुपुराण —गीता प्रेस, गोरखपुर, द्वारा प्रकाशित

७९—शिवमहापुराण —वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित

८०—स्कन्दपुराण — ,,

छ. दर्शन

८१—न्यायसूत्र (गौतम) —सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दि हिन्दूज़ में प्रकाशित

८२—मीमांसा सूत्र (जेमिनि) — ,,

८३—योगसूत्र पतञ्जलि — ,,

८४—वेदान्तसूत्र (बादरायण) — ,,

८५—वैशेषिकसूत्र (कणाद) — ,,

८६—सांख्यसूत्र (कपिल) — ,,

ज. अर्थशास्त्र तथा अन्य ग्रन्थ

८७—अर्थशास्त्र (कौटिलीय) —महाभारत कार्यालय, देहली द्वारा प्रकाशित

८८—कामन्दकीय नीतिसार —वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

८९—शुक्रनीति —निर्णयसागर प्रेस

९०—बार्हस्पत्य सूत्र — ,,

९१—कामसूत्र-वात्स्यायन —चौखम्भा संस्कृत सीरीज़

९२—निरुक्त —श्री रोथ (Roth) द्वारा प्रकाशित

९३—पाणिनि अष्टाध्यायी —निर्णयसागर प्रेस द्वारा प्रकाशित

९४—अमरकोश —श्री गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित, त्रिवेन्द्रम

९५—चरक संहिता —श्री विद्यासागर, कलकत्ता द्वारा सम्पादित

९६—सुश्रुत संहिता — ,,

९७—शवर, जैमिनि पूर्वमीमांसा की टीका —आनन्दाश्रम द्वारा प्रकाशित

९८—कुमारिल भट्ट, तन्त्रवार्तिक — ,,

९९—कृत्यकल्पतरु —श्री रङ्गस्वामी आयङ्गर द्वारा सम्पादित

१००—मेधातिथि की टीका (मनुस्मृति) —राव साहब माण्डलिक द्वारा सम्पादित

Acharya, P. K. ... Elements of Hindu Culture and Civilisation
... Glories of India
Agrawala, V. S. ... Sparks from the Vedic Fire
Aiyangar, K. V. R. ... Ancient Indian Polity
... Aspects of Ancient Indian Economic Thought
... Aspects of Social and Political System of Manusmrti
... Consideration on Some Aspects of Ancient Indian Polity
... Indian Cameralism
... Introduction to various kandas of Krtyakalpataru
... Rajadharma
... Some Aspects of Hindu View of Life according to Dharmasastras
Aiyangar, S. K. ... Ancient India
... Evolution of Hindu Administrative Institutions in South India
... Hindu India from Original Sources
Aiyär, C. P. Ramaswamy ... Indian Political Theories
... The Philosophical Basis of Indian Legal & Social Systems
Aiyar, Narayanswami-... History of Hindu Law
Aiyar, Sir P. S. S. ... Evolution of Hindu Moral Ideas
Altekar, Dr. A. S. ... Education in Ancient India
... Position of Women in Hindu Civilisation
... Sources of Hindu Dharma in Its Social-Religious Aspects
... State and Government in Ancient India
Aprabuddha ... The Message of Rg Veda
Apte, V. M. ... Social and Religious Life in the Grhya Sutras

Aurobindo ... A Defence of Indian Culture
Ayyar, S. V. ... Contribution of Hindu Law to World Jurisprudence
... Outlines of Hindu Law
Badur, C. ... Women in Ancient India
Baij Nath ... Hinduism, Ancient and Modern.
Bahm, A. J. ... Philosophy of the Buddha
Bandopadhyaya, N. C. ... An Exposition of Social Ideas and Poiltical Theories of Kautilya
... Development of Hindu Polity and Political Theory
... Economic Life and Progress in Ancient India
... International Law and Custom in Ancient India
... The Art of Good Government
Banerji, Sir G. ... Hindu Law of Marriage and Stridhan
Banerji, N. C. ... Economic Life and Progress in Ancient India
Banerji, P. N. ... A History of Indian Taxation.
... A Study of Indian Economics
... International Law & Custom in Ancient India
... Public Administration in Ancient India
Banerji, R. D. ... Pre-historic, Ancient and Hindu India
Barnett, L. D. ... Wisdom of the East
Barth, A. ... Religions of India
Basham, A. L. ... The Wonder That was India
Basu, Major B. D. ... Sacred Books of the Hindus,
Basu, P ... Indo-Aryan Polity
Beni Prasad ... State in Ancient India
... Theory of Government in Ancient India
Bernard, Theos ... Hindu Philosophy
... Philosophical Foundations of India

Bhadwi, S. ...Studies in Nyaya-Vaisheshika Metaphysics

Bhagwan Das ... Science of Social Organisation

Bhandarkar, D. R. ... Some Aspects of Ancient Hindu Polity

... Some Aspects of Ancient Indian Culture

Bhandarkar, R. C. ... Collected Works

Bhattacharya, V. S. ... Basic Conception of Buddhism

Billington, N. F. ... Women in India

Bloomfield, M. ... Religion of the Veda

... Vedic Concordance

Bouquet ... Hinduism

Brij Narain ... Indian Economic Life, Past and Present

Buch, M. L. ... Economic Life in Ancient India

... Spirit of Ancient Hindu Culture

Buhler, J. G. ... Indian Sect of the Jainas

... Cambridge History of India

Chakladar, H. C. ... Social Life in Ancient India

Chakravarti, A. ... Cultural Fellowship in India

... Humanism and Indian Thought

... Not by Politics alone

Chakravarti, C. ... A Study in Hindu Social Polity

Chandavarkar, G. A. ... Manual of Hindu Ethics

Chandrashekharan, C.... History of Sanskrit Literature

Chatterji, H. L. ... International Law & Interstate Relations in Ancient India

Chatterji, S. C. & Datta, D. M. ... Introduction to Indian Philosophy

Chattopadhyaya, D. P. ... A Study in Ancient India Materialism

Choudhary, K. ... Studies in Ancient Indian Law & Justice

Codrington, Kde B. ... Ancient India

Colebrook. H. T. ... Digest of Hindu Law

... Miscellaneous Essays Vols. II

Coleman, C. ... Mythology of the Hindus
Conze, Edward ... Buddhism : Its Essence & Development.
Coomaraswami, A. K. ... Buddha & The Gospel of Buddhism
... Hinduism and Buddhism
... Spiritual Authority & Temporal Power in the Indian Theory of Government
Corus, Paul ... The Gospel of Buddha
Cowell, H. ... The Hindu Law
Coyajee, J. C. ... Characteristics of Ancient Indian Trade
... Cultural Heritage of India
Dange, S. A. ... From Primitive Communism to Slavery
Das, A. C. ... Rgvedic India
Das, B. ... Sanatan Vedic Dharma
Das, S. K. ... Economic History of Ancient India
... Educational System of the Ancient Hindus.
Das, Motilal ... Soul of India
Das Gupta, R. P. ... Crime & Punishment in Ancient India
... Studies in Hindu & European Political Systems
Das Gupta, Surama ... Development of Moral Philosophy in India
Das Gupta, S. N. ... Hindu Mysticism
... History of Indian Philosophy Vol. I
... History of Sanskrit Literature-Classical Period
... Indian Idealism
... Yoga as Philosophy & Religion
Datta, B. N. ... Indian Culture
... Studies in Indian Social Polity
De, S. K. ... History of Sanskrit Literature

Deshmukh, P. S. ... The Origin & Development of Religion in Vedic Literature

Deshpande, M. K. ... The Child in India.

Deussen, Paul ... The Philosophy of the Upanisads

... The System of the Vedanta

Dharma, P. C. ... Ramayana Polity

Dikshitar ... Hindu Administrative Institutions

... Mauryan Polity

Dixit, V. V. ... Relations of the Epics to the Brahmana Literature

Dey, N. L. ... Civilisation in Ancient India.

Dhalke, P. ... Buddhism and Its Place in the Mental Life of Mankind

Drekmeier, C. ... Kingship & Community in Early India

Dowson, J. ... Classical Dictionary of Hindu Myth

... System of Vedanta

Dutt, K. G. ... Hindu Culture

Dutt, Nalinaksha ... Early Monastic Buddhism

Dutt, N. K. ... Origin & Growth of Caste in India

Dutt, R. C. ... Ancient India

... Civilization in the Buddhist Age

... History of Civilisation in Ancient India

Dutt, S. ... Early Budhist Monachism

Dutta, B. N. ... Studies in Indian Social Polity

Dwarkanath, C. ... Fundamental Principles of Ayurveda

Ehrentels ... Mother Right in India

Eliot, Sir C. ... Hinduism and Buddhism

Elphinston, M. & others... Ancient India

Farquhar, J. N. ... Crown of Hinduism

... Religious Quest of India

... Religious Life of India

Frazer, R. W. ... Indian Thought, Past and Present

Gandhi, V. R. ... The Jain Philosophy
Garbe, R. ... Samkhya & Yoga
Garrat, G. T. ... Legacy of India
Gennings, J. G. ... Vedantic Buddhism of the Buddha
Gharpure, J. R. ... Hindu Law
... Rights of Women Under the Hindu Law
Ghate, V. S ... Vedanta-A Study
Ghosh, N. N. ... Early History of India
Ghosh, R. C, ... Indo-Aryan Literature and Culture
Ghosh, J. C. ... Hindu Law
Ghosh, J. ... Samkhya and Modern Thought
Ghoshal, U. N. ... Agrarian system in Ancient India
... Beginnings of Indian Historiography & other Essays
... History of Hindu Political Theories
... History of Indian Political Ideas
... Public Life in Ancient India
Ghurey, G. S. ... Caste and Class in India
Gidumal, D. ... The Status of Women in India
Giri, S.M. ... Vedic Culture
Gode ... Studies in Indian Literary History
Gokhale, B. G. ... Ancient India History and Culture
Gonda, J. ... Some Observations on the Relations Between 'Gods' and 'Powers' in the Veda
Govinda, A. B. ... The Psychological Attitude of Early Buddhist Philosophy
Gowen, H. H. ... History of Indian Literature
Grimm, G. ... The Doctrine of Buddha
Griswold, H. D. ... Religious Quest of India
Guenon, Rene ... Introduction to the Study of Hindu Doctrine
Gupta, R. K. ... Political Thought in the Smrtis
Gupta, N. C. S. ... Sources of Law and Society in Ancient India

Guru Dutt ... Hindu Culture
Haigh, Henry ... Leading Ideas of Hinduism
Hazra ... Studies in the Pauranic Records on Hindu Rites and Customs
Heesterman, J. C. ... The Ancient Indian Royal Consecration
Hiriyanna, M. ... Essentials of Indian Philosophy
... Outlines of Indian Philosophy
... Sanskrit Studies
Holmes, Edmund ... The Creed of Buddha
Hopkins, E.W. ... Ethics of India
... India, Old and New
... Religions of India
... The Great Epic
Humphrey, C. ... Buddhism
Hutton, J. H. ... Caste in India
Indra ... Status of Women in Ancient India
Iyengar, P. T. S. ... Outline of Indian Philosophy
Jacobi, H ... Studies in Jainism
Jagdish Chandra ... Hindu Realism
Jain, J. C. ... Life in Ancient India as Depicted in Jain Canons
Jaini, T. L. ... Outline of Jainism
Jayaswal, K, P, ... Hindu Polity
... History of India 150 A.D. to 250 A.D.
... Manu and Yajnavalkya
Jha, G. N. ... Hindu Law in its Sources
Jolly, J. ... Hindu Law and custom
... History of Hindu Law
Jones, Sir W. ... Institutes of Hindu Law
Kaegi, A. ... Life in ancient India
... Rg Veda
Kane, P, V. ... A Brief Sketch of the Purva Mimamsa System
... History of Dharmashastra
Kangle ... Kautiliya Arthashastra—A Study
Kapadia, K, N. ... Hindu Kinship

Kapadia, H. R. ... Jain Religion and Literature
Karamvelker, V. W. ... The Atharvedic Civilisation
Keay, F. E. ... Ancient Indian Education
Keith, A. B. ... History of Sanskrit Literature
... Religion and Philosophy of the Veda and the Upanisads
... The Samkhya System
Keith, A. B. and Macdonell, A. A. ... Vedic Index
Kern, H. ... Manual of Indian Buddhism
Ketkar, S. V. ... An Essay on Hinduism
... History of Caste in India
Kimura, Ryuken ... The Original & Developed Doctrines of Indian Buddhism
Kosambi, D. D. ... Introduction to the Study of Indian History
... The Culture & Civilisation of Ancient India
Krause, Dr. C. ... Jain Ethics
... The Kaleidoscope of Indian Wisdom
Krishnamachari, M. ... History of Classical Sanskrit Literature.
Krishna Rao, M. V. ... Studies in Kautilya
Kunte, M. M. ... Vicissitudes of Aryan Civilisation in India.
Law, B. C. ... Buddhistic studies
... Early Indian Culture
... India as Described in Early Texts of Buddhism & Jainism
Law, N. N. ... Aspects of Ancient Indian Polity
... Inter-state Relations in Ancient India.
... Studies in Ancient Indian Polity
... Studies in Indian History and Culture
Lefever, Dr. A. ... Vedic Idea of Sin
Luniya, B. N. ... Evolution of Indian Culture.

Macdonell, A. A. ... History of Sanskrit Literature
... India's Past
... Vedic Mythology
Mackenzie, B. J. ... Religious Quest of India
Mackenzie, J. S. ... Hindu Ethics
Macnaugton ... Considerations on Hindu Law
... Principles of Hindu Law
Macnicol, N. ... Hindu Scriptures
Maitra, S. K. ... The Ethics of the Hindus
Majumdar, R. C. ... Ancient India
... Corporate Life in Ancient India
... History of India
... Outline of Indian History and Civilisation
... Vedic Age, Age of Imperial Unity and Classical Age
Majumdar, R. C. and Altekar, A. S. ... A New History or the Indian People
Majumdar, R. C. and others ... An Advanced History of India
Masson, O and Stern, P. ... Ancient India and Indian Civilisation
Max-Muller ... Heritage of India
... History of Ancient Sanskrit Literature
... India-What Can It Teach Us ?
... Sacred Books of the East
... Six Systems of Philosophy
... The Vedas
Max Muller & others ... Studies in Buddhism
Mayne, J. D. ... Hindu Law and Usage
Mazumdar, N. N. ... History of Education in Ancient India
McGovern, W. M. ... A Manual of Buddhistic Philosophy
Mees, G. H. ... Dharma and Society

Meyer, J. J. ... Sexual Life in Ancient India
Mishra, Dr. Umesh ... History of Indian Philosophy
Mitra, J. ... Law Related to the Hindu Widow
Mitra, S. M. ... Position of Women in Indian Life
Mitter, D. N. ... Position of Women in Hindu Law
Mookerji, R. K. ... Ancient India
... Ancient Indian Education
... Fundamental Unity of India
... Hindu Civilisation
... Local Government in Ancient India
... Men and Thought in Ancient India.
Morgan, K. W. ... Path of the Buddha
... Religions of the Hindus
Motwani, K. ... India—A Synthesis in Cultures
... Manu—A Study in Hindu Social Theory
Muir, J. ... Original Sanskrit Text on the Origin and History of the People of India, Their Religion and Institutions.
Mukerji, R. K. ... Indian Scheme of Life.
... Social Structure of Values
Munshi, K. M. and Aiyar, N. C. ... Indian Inheritence, Literature, Philosophy, Religion
Narasu, P. L. ... Essence of Buddhism
Nilkantha Sastri K. A. ... Ancient India
... The Theory of Pre-Muslim Indian Polity
Nivedita, S. ... Aggressive Hinduism
... Civic and National Ideals
... Footfalls of Indian History
... Web of Indian Life.
Oldenburg ... Ancient India
O'Malley ... India's Social Heritage
... Oxford History of India
Pal, R. N. ... Hindu Philosophy of Law Prior to Manu

Pandey, G. C. ... Studies in the Origin of Buddhism
Pandey, Dr. R. B. ... Hindu Samskaras
Pannikar, K. M. ... The Origin & Evolution of Kingship in India
Pant, R. C. ... Amatya : Royal Edict on the Principles of State policy
Pargiter, F. E. ... Dynasties of the Kali Age
Pathak, Shridhar Shastri ... Lectures on Dharmashastra
Paul, D. N. ... Hindu Philosophy
Pavgi, N. B. ... Self-Govt. in India-Vedic and Post Vedic
Potdar, K. R. ... Sacrifice in Rig Veda
Potter, K. R. ... Presuppositions of India's Philosophy
... Indian Historical Traditions
Prabhavanand ... Vedie Religion and Philosophy
Prabhu, P. N. ... Hindu Social Organisation
Pradhan, S. N. ... Chronology of Ancient India
Pran Nath ... Economic Condition of Ancient India
Pratt, J. B. ... India and Its Faiths
Pusalkar, A. D. ... Studies in the Epics & Puranas
Radhakrishnan, S. ... East and West in Religion
... Eastern Religions and Western Thought
... Hindu View of Life
... Idealist view of Life
... Indian Philosophy
... Religion and Society
Ragozin, Z. A. ... Vedic India
Ramaswamy ... Essentials of Indian Statecraft
Ram Gopal ... India of Vedic Kalpasutras
Ranade, R. D. ... Constructive Survey of Upanisadic Philosophy
Rangacharya, M. ... Hindu Philosophy of Conduct
Rao, K. N. ... Bibliography of Indian Culture
Rao, G. R. ... Ancient Hindu Judicature

Rapson, E. J. ... Ancient India
Rawlinson, H. G. ... A Short Cultural History of India
Ray, K. K. ... Notes on the History of Sanskrit Literature
Ray Chaudhari, H. C. ... Political History of Ancient India
Rele, V. G. ... Vedic Gods
Renou, Louis ... Civilisation in Ancient India
... Introduction to the Study of Hindu Doctrine
... Vedic India
Rhys Davids, Mrs. ... A Manual of Buddhism
... Buddhism
Rhys Davids, T. W. ... Buddhism
... Early Buddhism
... Sacred Books of the Buddhists, Edited by
Riepe, Dale ... The Naturalistic Tradition in Indian Thought
Risley ... People of India
Robertson ... Disquisition concerning Ancient India
Rothfield ... Women of India
Roy, D. L. ... Spirit of Indian Civilisation
Ray, Rakhaldas ... Rational Exposition of Bharatiya Yoga Darshana
Saletore, B. A. ... Ancient Indian Political Thought and Institutions
Samaddar, J. N. ... Economic Condition of Ancient India
Sanjana, J. E. ... Caste and Outcaste
Saran, K. M. ... Labour in Ancient India
Sarda, H. B. ... Hindu Superiority
Sarkar, B. K. ... Creative India
... Political Institutions & Theories of the Hindus
... Positive Background of Hindu Sociology

Sarkar, S. C. ... Educational Ideas and Institution in Ancient India.
... Some Aspects of the Earliest Social History of India.
Sarkar, J. N. ... India Through the Ages.
Sastri, G. K, ... Democratic Hinduism
Sastri, R. G. ... Evolution of Indian Polity
Sastri, S. ... Evolution of Caste
Saunders, Kenneth ... Pageant of India
Schweitzer, A. ... Indian Thought and its Development
Selton ... Annotations on Sacred Writings of Hindus
Sen, A. K. ... Studies in Hindu Political Thought
Sen, P. N. ... Eassy on Hindu Jurisprudence
... General Principles of Hindu Jurisprudence
Senart Emile ... Caste in India
Sen Gupta, N. C. ... Sources of Law and Society in Ancient India.
Sen Gupta, Padmini ... Everyday Life in Ancient India
Shah, D. A. ... Indian Point of View in Economics
Shah, T. L. ... Ancient India
Shamshastry ... Evolution of Indian Polity
... Arthasastra of Canakya or Science of Polity
Shankaranand, Swami ... Rig Vedic Culture
Sharma, H. D. ... Contribution to the History of Brahman Asceticism
Sharma, D. S. ... What is Hinduism
Sharma, R. S. ... Aspects of Political Ideas & Institutions in Ancient India
... Indian Feudalism
... Light on Early Indian Society & Economy
... Some Economic Aspects of Caste System in Ancient India
... Sudras in Ancient India

Shastri, G. C. ... Treatise on Hindu Law
Shastri, J. L. ... Political Thought in the Puranas
Shastri, M. N. ... Hindu Metaphysics
Shastri, Miss S. R. ... Women in the Secred Law
... Women in the Vedic Age
Shende, N. J. ... Religion & Philosophy of the Atharva Veda
Sinha, H. N. ... Development of Polity in India
... Sovereignty in Ancient Indian Polity
Sinha, Jadunath ... Introduction to Indian Philosophy
Sirvya, B. D. ... Hindu Women's Estate
Smith, F. H. ... Buddhist way of Life
... Outline of Hinduism
Smith, V. ... Early History of India
Somayajulu ... Ancient History of India
Speir, Mrs. ... Life in Ancient India
Spellman, J. W. ... Political Theory of Ancient India
Stein, Otto ... Megasthenese & Kautilya
Stevenson, Mrs. R. L. ... Jainism
... Rites of the Twice- born
Strange ... Administration of Justice in Kings' Court in India
Subba Rao ... Economic and Political Condition in Ancient India
Sukhthankar, V. S. ... Ghate's Lectures on the Rgveda
Swami, Maha Devendra Giri ... Vedic Culture
Tachibana, S. ... The Ethics of Buddhism
Takakusu, V. ... Essentials of Buddhistic Philosophy
Tara Chand ... History of Education in Ancient India
Thadani, N. V. ... Mystery of Mahabharata
Tilak, B. C. ... Gita Rahasya
Thomas, E. J. ... The History of Buddhist Thought
... Transformed Hinduism
Trevelyan, E. J. ... Hindu Family Law
... Hindu Law

Tripathi, R. S. ... History of Ancient India
Upadhyaya, B. S. ... Women in the Rg Veda
Upadhyay, G. P. ... Vedic Culture
Vaidya, C. V. ... Epic India
... History of Medieval Hindu India
... History of Sanskrit Literature
Vaidya, K. K. ... Principles of Hindu Law
Vardachariar, V. ... History of Sanskrit Literature
Vardachariar, S. ... Lectures on Hindu Judicial System
Varma, V. P. ... Studies in Hindu Political Thought & Its Metaphysical Foundations
Venkateshwara, S. V. ... Indian Culture through the Ages
Venkatasubbiah ... Vedic Studies
Vidyarthi, M. L. ... Indian Culture through the Ages.
Vishwanath, S. V. ... International Law in Ancient India
Vivekanand, Swami ... Speeches and Writings (Complete) Vols. VII
Ward, C. H. S. ... Outline of Buddhism
Weber, A ... A History of Indian Literature
Weber, Max ... Religions of India
Wheeler, J. T. ... India-Vedic and Post-Vedic
Williams, M. ... Brahmanism and Hinduism
... Hinduism
... Indian Wisdom
... Religious Thought and Life in India
Wilson, H. H. ... Essays and Lectures Chiefly on Hinduism
... Essays on Subject connected with Sanskrit Literature
Winternitz, M. ... History of Sanskrit Literature
... World's Eternal
Religion ... (Bharat Dharma Mahamandala)
Zimmer, H. ... Philosophy of India

सहायक-ग्रन्थ

अग्निहोत्री, प्रभुदयाल	वैदिक धर्म
अग्रवाल, वासुदेवशरण	कल्पवृक्ष
	भारत की मौलिक एकता
	मत्स्यपुराण
	मार्कण्डेयपुराण
	वामनपुराण
	वेद-विद्या
अवस्थी, अवधबिहारीलाल	प्राचीन भारत का भौगोलिक इतिहास
आत्रेय, भीखनलाल	भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास
आत्रेय, शान्तिप्रकाश	भारतीय तर्कशास्त्र
अरण्य, हरिहरानन्द	पातञ्जल योगदर्शन
इन्द्र	कौटिलीय अर्थशास्त्र
उपाध्याय, बलदेव	आर्य संस्कृति के मूलाधार
	धर्म और दर्शन
	पुराण-विमर्श
	बौद्ध दर्शन मीमांसा
	भारतीय दर्शन
	वैदिक साहित्य और संस्कृति
उपाध्याय, भगवतशरण	सांस्कृतिक भारत
उपाध्याय, भारतसिंह	बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन
उपाध्याय, रामजी	भारत की सांस्कृतिक साधना
उपाध्याय, वासुदेव	पूर्व मध्यकालीन भारत
	भारतीय गौरव

ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द	मध्यकालीन भारतीय संस्कृति
करपात्री, स्वामी	संस्कृति-समीक्षा
कविराज, गोपीनाथ	भारतीय संस्कृति और साधना
कश्यप, अर्जुन चौबे	आदि भारत
केला, भगवानदास	कौटिल्य की शासनपद्धति
खन्ना, नन्दलाल	पुनर्जन्म-मीमांसा
गिरि, चिद्घनानन्द	न्याय-प्रकाश
गुप्त, स्कन्द कुमार	भारतीय संस्कृति का इतिहास
गुलाबराय	बौद्ध धर्म
	भारतीय संस्कृति की रूपरेखा
गैरोला, वाचस्पति	भारतीय दर्शन
	भारतीय धर्म-व्यवस्था
गोखले, बी० जी०	प्राचीन भारत
गौड़, रामदास	हिन्दुत्व
गोपाल, लल्लनजी	भारतीय संस्कृति
गोपालदास, जी,	प्राचीन भारत की सभ्यता का इतिहास
घोष, प्रफुल्लचन्द्र	भारत की प्राचीन संस्कृति का इतिहास
चटर्जी, सुनीतिकुमार	भारत में आर्य और अनार्य
चतुर्वेदी, गिरिधर शर्मा	दर्शन अनुचिन्तन
	वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति
चतुर्वेदी, ध्रुवनाथ	बौद्ध भारत
चतुर्वेदी, परशुराम	बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक
चुन्नीलाल	हिन्दू धर्म में राजभक्ति
जैन, जगदीशचन्द्र	भारतीय तत्त्व-चिन्तन
जैन, पुत्तीलाल	वेद-मीमांसा
जोशी, लक्ष्मणशास्त्री	वैदिक-संस्कृति का विकास
	हिन्दू धर्म की समीक्षा
ज्ञानानन्द द्वारा सम्पादित	कर्म-मीमांसा दर्शन
झा, गंगानाथ	न्याय प्रकाश
तमस्कर, गोपाल दामोदार	कौटिलीय अर्थशास्त्र मीमांसा
तिवारी, चुन्नीलाल	हिन्दू विवाह-पद्धति
त्रिपाठी, मायाप्रसाद	प्राचीन भारत में भूगोलशास्त्र
त्रिपाठी, रमाशंकर	प्राचीन भारत का इतिहास

त्रिपाठी, श्रीकृष्णमणि	पुराणतत्त्व मीमांसा
	योगदर्शन समीक्षा
त्रिपाठी, हरिहरनाथ	प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका
दत्त, रमेशचन्द्र	प्राचीन भारत की सभ्यता का इतिहास
दर्शनानन्द	न्यायप्रकाश
द्राविड़, नारायण शास्त्री, द्वारा सम्पादित	भारतीय मनोविज्ञान
दिनकर, रामधारीसिंह	भारतीय संस्कृति के चार अध्याय
	हमारी सांस्कृतिक एकता
दीक्षित, गोकुलचन्द्र	न्याय दर्शन
	वैशेषिक दर्शन
	सांख्यदर्शन
दीक्षित, विश्वप्रकाश	भारतीय समाज-विमर्श
	हमारे नीतिकार
दीवानचन्द्र, डॉ०	उपनिषद्-दिग्दर्शन
दुबे, सत्यमित्र	मनु की समाज-व्यवस्था
देव, सदाफल	योग तत्त्वदर्पण
देवराज, एन० के०	भारतीय संस्कृति : महाकाव्यों के आलोक में
देवराज, रमन तथा तिवारी	भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास
धर्मदत्त	प्राचीन भारत में स्वराज्य
धर्मदेव	भारतीय समाजशास्त्र
नरेन्द्रदेव	बौद्धधर्म दर्शन
नारायण सिंह	हमारा धर्म और उसकी वैज्ञानिक रूपरेखा
नाहर, रतिभानुसिंह	प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास
पाण्डेय, विमलचन्द्र	भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास
पाठक, नाथू लाल	ऐतरेय ब्राह्मण का एक अध्ययन
पाठक, रंगनाथ	षड्दर्शन रहस्य
पाठक, सर्वानन्द	चार्वाकदर्शन की शास्त्रीय समीक्षा
पाण्डे, श्यामलाल	शुक्र की राजनीति
पाण्डेय, गंगापाणि	हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक विवेचन
पाण्डेय, राजवली	प्राचीन भारत
	भारतीय नीति का विकास

लेखक	पुस्तक
पाण्डेय, श्यामलाल	कौटिल्य की राज्य-व्यवस्था
	भारतीय राजशास्त्र-प्रणेता
	भीष्म का राजधर्म
	मनु का राजधर्म
	शुक्र की राजनीति
पाण्डेय, सत्यनारायण तथा जोशी, आर० वी०	भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व
पुरी, वैजनाथ	भारतीय संस्कृति के मूल तथ्य
	भारतीय संस्कृति और इतिहास
फतेहसिंह	भारतीय समाजशास्त्र के मूलाधार
	वैदिक दर्शन
वलूनी, नारायणप्रसाद	प्राचीन भारतीय साहित्य एवं संस्कृति की एक झलक
वागची, योगेन्द्रनाथ	प्राचीन भारत की दण्डनीति
वेनीप्रसाद	हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता
वोथरा, श्रीकरणसिंह	जैन दार्शनिक संस्कृति पर एक विहंगम दृष्टि
भगवद्दत्त	ऋग्वेद पर व्याख्यान
	वेदविद्यानिदर्शन
भट्ट, गौरीशंकर	भारत में समाजशास्त्र और मानवशास्त्र
	भारतीय संस्कृति—एक समाजशास्त्रीय समीक्षा
भट्ट, जनार्दन	बौद्धकालीन भारत
भट्टाचार्य, मार्कण्डेय	इतिहास-पुराण का अनुशीलन
भण्डारी, सुखसम्पत्तिराय	जगद्गुरु भारतवर्ष
	भारतीय सभ्यता
भावे, पाण्डुरंग सदाशिव	भारतीय संस्कृति
मजूमदार, डी० एन०	भारतीय संस्कृति के उपादान
मधुकर	भारतीय विचारधारा
मधुसूदन	निरूढ़ पशुवन्ध
	यज्ञमधुसूदन
	यज्ञसरस्वती
मिश्र, इन्दुमती	भारत की सांस्कृतिक परम्परा
मिश्र, वलदेवप्रसाद	भारतीय संस्कृति
मिश्र, राधाकृष्ण, द्वारा सम्पादित	भारतीय दर्शनशास्त्र

मिश्र, श्यामविहारी तथा शुकदेव विहारी	भारतीय धर्म और दर्शन
मिश्र, हरिमंगल	प्राचीन भारत
मेहता, गंगाप्रसाद	प्राचीन भारत
मंजुल, वेनीप्रसाद वाजपेयी	प्राचीन भारतवर्ष की जनसत्ता और संस्कृति
यतीन्द्र	आचार्य चाणक्य
यादवेन्दु, रामनारायण	भारतीय नीतिविज्ञान
राघव, रांगेय	पाचीन भारतीय परम्परा और इतिहास
रामदेव, आचार्य	भारतवर्ष का इतिहास
राय, उदयनारायण	प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन
राय, विजयवहादुर	उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति
लाला, राधारमन	भारतीय संस्कृति, सभ्यता तथा देशभक्ति
लोहनी, भास्करानन्द	पौराणिक साहित्य और संस्कृति
वर्मा, विश्वनाथप्रसाद	राजनीति और दर्शन
वाचस्पति, सिद्धान्त	मीमांसा दर्शन
वाजपेयी, अम्बिकाप्रसाद	हिन्दुओं की राजकल्पना
	हिन्दू राज्यशास्त्र
वाजपेयी, वेणीप्रसाद	प्राचीन भारतवर्ष की जनसत्ता और संस्कृति
वाजपेयी, राघवेन्द्र	वार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था
वात्स्यायन	भारतीय दर्शन की रूपरेखा
	भारतीय संस्कृति
विदेह, विद्यानन्द	वेद-व्याख्या ग्रन्थ
विद्यालंकार, जयचन्द्र	भारतीय इतिहास का उन्मीलन
	भारतीय इतिहास की रूपरेखा
विद्यालंकार, वुद्धदेव	देवयज्ञ
विद्यालंकार, विश्वनाथ	वैदिक पशुयज्ञ मीमांसा
विद्यालंकार, सत्यकेतु	प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था और राज्यशास्त्र
वेदवाचस्पति, प्रियव्रत	वरुण की नौका
वैज्ञानिक अनुसन्धान, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित	संस्कृति
वैद्य, चिन्तामणि विनायक	महाभारत मीमांसा

वैश्य, चिम्मनलाल	वैदिक निर्वाचन-पद्धति
वेद व्यास	प्राचीन भारत
व्यास, शान्तिकुमार नानूराम	रामायणकालीन समाज
	रामायणकालीन संस्कृति
शर्मा, गंगासहाय	न्यायप्रदीप
शर्मा, चन्द्रधर	बौद्ध दर्शन और वेदान्त
शर्मा, मोतीलाल	उपनिषद् विज्ञान भाष्य भूमिका
	वेद का स्वरूप विचार
	वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्वम्
शर्मा, रघुनन्दन	वैदिक सम्पत्ति
शर्मा, रामनाथ	भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व
शर्मा, रामावतार	भारतीय ईश्वरवाद
शर्मा, हरवंशलाल	भागवत दर्शन
शर्मा, वेणीराम	यज्ञ-मीमाँसा
शास्त्री, उदयवीर	सांख्यदर्शन का इतिहास
शास्त्री, केदारनाथ	भारत की सांस्कृतिक परम्परा
शास्त्री, गोपाल	भारतीय संस्कृति
शास्त्री, चतुरसेन	बुद्ध और बौद्ध धर्म
	भारतीय संस्कृति का इतिहास
शास्त्री, चित्रस्वामी	यज्ञतत्त्व प्रकाश
शास्त्री, देवदत्त	कौटिलीय अर्थशास्त्र की भूमिका
	वैदिक चिन्तन
शास्त्री, धर्मेन्द्रनाथ	भारतीय दर्शनशास्त्र-न्याय, वैशेषिक
शास्त्री, मंगलदेव	भारतीय संस्कृति का विकास
	वैदिक संस्कृति के तत्त्व
शास्त्री, रामानन्द तिवारी	भारतीय दर्शन की भूमिका
श्रीनिवासाचारी और आयङ्गर, रामस्वामी	प्राचीन भारत
शुक्ल, द्रोणकुमार	भारतीय इतिहास और संस्कृति
श्यामलाल, डॉ०	भारतीय राजशास्त्र प्रणेता
सम्पूर्णानन्द	आर्यों का आदि देश
सप्रे, माधवराव	महाभारत मीमांसा
सातवलेकर, श्रीपाद दामोदर	छूत और अछूत

	देवता-विचार
	महाभारत की समालोचना
	भरद्वाज ऋषि का दर्शन
	वसिष्ठ ऋषि का दर्शन
	वेद-परिचय
	वैदिक धर्म की विशेषता
	वैदिक यज्ञ-संस्था
	वैदिक राज्य-पद्धति
	वैदिक व्याख्यानमाला
	वैदिक सभ्यता
	शतपथ बोधामृत
सांकृत्यायन, राहुल	ऋग्वेदिक आर्य
	बौद्ध दर्शन
	बौद्ध संस्कृति
सिद्धान्तालंकार, धर्मदेव	वैदिक कर्तव्यशास्त्र
सिद्धान्तालंकार, सत्यव्रत	आर्य संस्कृति के मूल तत्त्व
सिंह, त्रिवेणीप्रसाद	हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ
सूरजनारायण	योगदर्शन
सूरि, विजयधर्म	जैन तत्त्व दिग्दर्शन
सूर्यकान्त, डॉ०	वैदिक देवशास्त्र
स्वामी, भूमानन्द सरस्वती	वैदिकी लोक व्यवस्था
हरिदत्त	हिन्दू परिवार मीमांसा

पुस्तकों के संक्षिप्त नाम

संक्षिप्त नाम	पूर्ण नाम
अग्नि	अग्निपुराण
अथर्व	अथर्ववेद
अत्रि	अत्रिस्मृति
आप.	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आप. गृह्य	आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आश्व. गृह्य	आश्वलायन गृह्यसूत्र
अंगिरा	अंगिरास्मृति
ईष	ईषोपनिषद्
उशनस	उशनसस्मृति
ऐतरेय	ऐतरेय उपनिषद्
कठ	कठोपनिषद्
कात्यायन	कात्यायनस्मृति
काम	कामन्दकीय नीतिसार
कूर्म	कूर्मपुराण
केन	केनोपनिषद्
कौ.	कौटिलीय अर्थशास्त्र
कौषीतकि	कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्
गरुड़	गरुड़पुराण
गौतम	गौतमधर्मसूत्र
चरक	चरकसंहिता
छान्दोग्य	छान्दोग्य उपनिषद

तैत्तिरीय	तैत्तिरीय उपनिषद्
तै. ब्रा.	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै. सं०	तैत्तिरीय संहिता
दक्ष	दक्षस्मृति
नारद	नारदपुराण
पद्म	पद्मपुराण
पराशर	पराशरस्मृति
प्रश्न	प्रश्नोपनिषद
बृह.	बृहदारण्यक उपनिषद्
ब्रह्म	ब्रह्मपुराण
ब्रह्माण्ड	ब्रह्माण्डपुराण
ब्रह्मवैवर्त	ब्रह्मवैवर्तपुराण
भविष्य	भविष्यपुराण
भागवत	श्रीमद्भागवतपुराण
मत्स्य	मत्स्यपुराण
मण्डूक	मण्डूकोपनिषद्
मनु	मनुस्मृति
महा.	महाभारत
मार्कण्डेय	मार्कण्डेय पुराण
माण्डूक्य	माण्डूक्योपनिषद्
यम	यमस्मृति
याज्ञ.	याज्ञवल्क्य स्मृति
रामा.	वाल्मीकीय रामायण
लिङ्ग	लिङ्गपुराण
लिखित	लिखितस्मृति
वसिष्ठ	वसिष्ठधर्मसूत्र
वामन	वामनपुराण
वायु	वायुपुराण
वाराह	वाराहपुराण
विष्णु	विष्णुधर्मसूत्र
वेदान्त	वेदान्तसूत्र
वैशेषिक	वैशेषिकसूत्र
व्यास	व्याससमृति

शतपथ	शतपथ ब्राह्मण
शबर	पूर्वमीमांसा की टीका
शातातप	शातातपस्मृति
शिव	शिवमहापुराण
शुक्र	शुक्रनीति
श्वेताश्वतर	श्वेताश्वतर उपनिषद्
संवर्त	संवर्तस्मृति

●●

परिशिष्ट

राजनीति और नैतिकता

भारतीय राजनैतिक व्यवस्था और राजनैतिक जीवन में कई ऐसे साधनों का अवलम्ब बताया गया है जो अनैतिक प्रतीत होते हैं और जिनके प्रयुक्त किये जाने से मन में उन साधनों के प्रति स्वाभाविक रूप से एक प्रकार का विद्रोह भाव उत्पन्न होता है। शुक्रनीति में राजकुमारों के सम्बन्ध में कूटनीति का प्रयोग बताते हुए कहा है, "दुष्प्रवृत्त जो दायाद (राजकुमार) हैं, उन्हें यत्नपूर्वक राज्य की वृद्धि के लिए व्याघ्र आदि से, शत्रुओं से अथवा छल से मरवा दें" (४।२८)। कोप के सम्बन्ध में कहा है (४।२२), "(राजा को) अधर्मशील राजा का सब धन हर लेना चाहिए तथा वह परराष्ट्र में भी छल, बल और दस्युवृत्ति से धन हर ले।" शत्रु की सेना को फोड़ने के विषय में कहा है कि "शत्रु की सेना को झूठा सोना दे कर (राजा) उसमें भेद डाले, तथा नित्य विश्वास से सोती हुई, जागने के श्रम से थकी हुई मत्त परकीय सेना को (वह) नष्ट कर दे" (४।११८७-८८)। ऐसे उपायों का कुछ वर्णन शुक्रनीति में और सबसे अधिक वर्णन कौटिलीय अर्थशास्त्र में है तथा शान्तिपर्व में भी थोड़ा उल्लेख है। कौटिलीय में (१।१७) राजकुमार को केंकड़े के समान अपने पिता का भक्षक बता कर (१।१७।१६) फिर उनके विरोध को शान्त करने के विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रतिपादित ढङ्ग वर्णित हैं जिसमें राजकुमार को मारने, बन्धन में डालने, विभिन्न दुर्व्यसनों में फँसाने अथवा विविध लोगों की निगरानी में रखने का उल्लेख है। इसके अगले अध्याय में राजपुत्र अपने अप्रसन्न पिता के प्रति कैसा व्यवहार करे, यह बताया गया है। इसमें कहा है कि यदि राजपुत्र को प्राणों का अथवा बन्धन का भय हो तो वह किसी सामन्त का आश्रय ले और वहां रह कर कोप और सेना से सम्पन्न हो, विवाह, सन्धि आदि के द्वारा

अपने पक्ष को बलवान् बनाने का प्रयत्न करे। वह दुश्चरित्रों का धन भी हर कर इकट्ठा करने का प्रयत्न करे तथा अन्त में कोई भिन्न रूप बना कर राजा का छिद्र देख कर शस्त्र अथवा विष से उसे मार डाले (१।१८।७-१३)। फिर आगे कहा है कि यदि कोई दुष्ट राजकुमार हो और यदि राजा उसे निकाल दे तो उसे गुप्तचरों द्वारा शस्त्र अथवा विष से मरवा दिया जाये, परन्तु यदि उसे राजा ने न निकाला हो (अर्थात् वह स्वयं छोड़ कर चला गया हो) तो उसे उसके साथियों द्वारा अथवा स्त्री, पान, मृगया में फँसा कर रात्रि में उसे पकड़ कर ले जाये (१।१८।१८-१६)। राजा की रक्षा के लिए पाँचवें अधिकरण में बताया गया है कि यदि राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र की सम्भावना हो तो किसी दूसरे पुरुष को राजा के समान बना कर लोगों के सम्मुख उपस्थित करे, षड्यन्त्र में यदि कोई राजकुमार हो तो उसे बाधावाले देश में चढ़ाई करने भेज दे, यदि कोई सामन्त वश में न आये तो उसका वन्य जातियों के किसी सरदार से विरोध करा दे अथवा किसी को भूमि दे कर उसे पकड़वा दे। द्वेषी सामन्तों को धोखे से बुला कर मारना भी बताया गया है (५।६।१-२७)। दूषित अधिकारियों को मारने के ढङ्ग अथवा दुष्ट नगर, ग्राम, कुलों को नष्ट करने के ढङ्ग, विस्तार से इसी अधिकरण में बताये गये हैं जिसमें परस्पर कलह के द्वारा, दोष आरोपित कर, धोखे से शस्त्र द्वारा, विष द्वारा अथवा कोई बहाना बना कर मारने और नष्ट करने की विधियाँ बतायी गयी हैं (५।१)। कौटिल्य ने गणिकाओं का भी उपयोग राज्य-कार्य के लिए अर्थात् शत्रु राजा के चरों अथवा दुष्ट पुरुषों को मारने अथवा उन्हें प्रमादित करने के निमित्त बताया है (१।२७।४३) तथा सुरागृहों के भी उपयोग का उल्लेख है (१।२५।६-७,१३,१६)। अपराधियों को खोजने और पकड़ने के लिए (४।४-५) तथा कोष-संग्रह के लिए (५।२) भी छलपूर्ण उपाय बताये गये हैं। सम्पूर्ण तेरहवाँ अधिकरण ही शत्रु के साथ व्यवहार करने में जिन छल-छद्मपूर्ण उपायों का प्रयोग करना चाहिए उनसे भरा हुआ है जिसमें शत्रुपक्ष में निराशा उत्पन्न करने, शत्रु की प्रजा में अपनी विजय का विश्वास उत्पन्न करा कर तथा शत्रु-पक्ष के लोगों में भेद डाल कर उनको अपने पक्ष में करने, शत्रु राजा को धोखे से मारने तथा शत्रु राजा के ऊपर विजय प्राप्त करने के बहुत-से छलपूर्ण उपाय दिये हुए हैं जिनका यहाँ विस्तारभय से वर्णन करना सम्भव नहीं। आपत्तिकाल में धन-संग्रह के सम्बन्ध में शान्तिपर्व में भी कहा है कि उसके लिए प्रजा को दुःख देना तथा उसमें बाधा डालनेवाले प्रतिपक्षियों को मार डालना कोई अनुचित बात नहीं है; इसलिए दूसरों से धन लूट कर, धन-धान्य छीन कर और अधिक कर ले कर भी कोष-संग्रह करना चाहिए अर्थात् इस प्रकार से भी धन निकालना

चाहिए जैसे निर्जल-स्थान में से भी व्यक्ति जल निकाल लेता है (१३०।२५-४४, १३२।५)। शान्तिपर्व, अध्याय १४० में अन्य राजाओं के साथ व्यवहार करने में जिस कूटनीति का वर्णन किया गया है वह अत्यन्त धूर्ततापूर्ण है और धर्म के ग्रन्थ में वैसी नीति पाने की अपेक्षा करना ही कठिन है तथा उस नीति को प्रतिपादित करनेवाले व्यक्ति अथवा समाज के सम्वन्ध में वुरा विचार ही उत्पन्न होता है। शत्रु के साथ कूटनीतिक साधनों के प्रयोग के विषय में पीछे वारहवें अध्याय में वताया ही गया है।

संक्षेप में कहा जाये तो भारतीय ग्रन्थों में इन कूटनीतिक उपायों का वर्णन पांच विषयों में किया गया है – आपत्तिकाल में कोष-संग्रह करने में, राज्य के अपराधियों की खोज करने और उन्हें पकड़ने में, राज्यद्रोहियों को नष्ट करने में, चाहे वह राजकुमार हो, सामन्त हों, कर्मचारी हों अथवा प्रजा हो, अधर्मी राजा के साथ व्यवहार में तथा शत्रु के साथ व्यवहार में आनेवाली राजनीति में। ऐसी स्थितियों में भी इन उपायों का प्रयोग अन्तिम अवस्था में ही वताया गया है और वह भी जव कि यह वहुत आवश्यक हो जाये। यह, हम इनमें से एक-एक विषय के विचार करने पर देख सकते हैं। कोष के छल-छद्मपूर्ण उपायों से संग्रह करने के सम्वन्ध में यह वहुत स्पष्ट किया गया है कि आपत्ति की अवस्था में ही ऐसा किया जाये। शान्तिपर्व में भीष्म ने कहा है (१३०।८) कि "आपत्तिकाल के लिए मैं तुझे धर्मपूर्ण उपाय वताता हूँ, वह सुन। परन्तु धर्म के कारण (उचित न होने से) मैं इसे धर्म (स्थायी व्यवस्था) नहीं कहता।" शान्तिपर्व में यह भी कहा है कि आपत्तिकाल का यही धर्म मानना चाहिए (१३०।१६)। कौटिल्य ने भी कोषवृद्धि के उपाय वताते समय प्रारम्भ में इस वात को स्पष्ट किया है कि कोष रिक्त होने की अवस्था में आपत्ति आने पर यह सव किया जाये (५।२।१)। इन उपायों का प्रयोग भी इसलिए वताना आवश्यक समझा गया है कि नीतिग्रन्थों का यह आग्रह है कि कोई कर दुवारा न लिया जाये (कौ० ५।२।३; शुक्र ४।२१८-१६) तथा इतना अधिक कर न लिया जाये जिससे प्रजा को कष्ट हो (मनु ७।१२६, १४०; पराशर १।६२; शान्ति० ८८।४-६)। अतः यदि आपत्ति आये और अधिक धन की आवश्यकता हो तो ऐसे साधनों का अवलम्वन आवश्यक है जिनसे यथासम्भव प्रजा वोझ भी न अनुभव करे और कोष-संग्रह भी हो जाये। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि इन उपायों का प्रयोग केवल दूषित और अधार्मिक व्यक्तियों के लिए होना चाहिए अन्य लोगों के लिए नहीं (कौ० ५।२।८०-८१)। इसलिए भागे हुए राजपुत्र से भी यही आग्रह है कि वह भी धन-हरण करे तो दूषित व्यक्तियों का ही जैसे—चरित्रहीन विधवा, पाषण्डी समुदाय, अथवा अश्रोत्रिय (वेदहीन ब्राह्मण) के काम में आने-

वाला देवद्रव्य (२।१८।१० कौ०)। साथ ही यह भी नियम है कि यदि आपत्ति के समय राजा धनिकों से अधिक धन हरण करे तो वह, आपत्ति समाप्त होने के पश्चात्, उसे ब्याज सहित लौटा देना चाहिए (शुक्र ४।१२५-२६; शान्ति ८७।३०)। राज्य के अपराधियों की खोज करने और पकड़ने में छद्मपूर्ण उपायों का प्रयोग बिलकुल ही अनुचित नहीं कहा जा सकता और राजद्रोहियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि पहले उन्हें ठीक करने का प्रयत्न करना चाहिए और यदि वह ठीक न हों तब उन्हें हर सम्भव उपाय से वश में करने अथवा दण्ड देने का प्रयत्न करना चाहिए। राजपुत्र के सम्बन्ध में कहा है कि राजा पहले उसे योग्य शिक्षा दे (कौ० १।५; ५।६।६०), फिर उसके दुर्गुणों को दूर करने का पूरा प्रयत्न करे (स्त्री-व्यभिचार से, मद्यपान से, द्यूत से, मृगया से, विद्रोह से) और यदि इस पर भी वह ठीक न हो तो फिर उसे दण्ड दे (कौ. १।१७।३६-४५; १।१८।१६-२०; शुक्र २।२७-२६; काम० ७।५-६,८)। राजपुत्र से इस बात का आग्रह किया गया है कि वह राजा के ही कहने के अनुसार चले (कौ० १।१८।१, ३-५; शुक्र २।३७-३६, ४१-४५) परन्तु यदि राजा अर्थात् उसका पिता अथवा चाचा आदि दूषित हो जाये अथवा उससे प्रजा असन्तुष्ट हो जाये तो ऐसी स्थिति में उस राजकुमार द्वारा पहले राजा को समझाने का तथा फिर शासन में लाने का प्रयत्न होना चाहिए (कौ० १।१८।२, ६-१३; शुक्र २। ४५-४६)। केवल राजपुत्र ही नहीं, राज्य के अन्य लोगों के सम्बन्ध में भी कहा गया है कि उन्हें यथासम्भव धन, मान आदि से सन्तुष्ट करना चाहिए, तत्पश्चात् फिर भेद और दण्ड के द्वारा उन्हें ठीक करना चाहिए (कौ. १।१३।१५-२२, २४-२५)। इन सब बातों का विचार करते हुए ऐसा निश्चित कहा जा सकता है कि भारतीय विचारकों ने यदि कहीं ऐसे उपायों का प्रयोग बताया भी है, जो ऊपरी दृष्टि से अनैतिक दिखते हैं, तो भी वह अत्यन्त बाध्य हो कर बताया है—जब उसके बिना और कोई गत न रहे—तथा, अन्त में, इन अनैतिक उपायों का प्रयोग भी इसी दृष्टि से बताया है कि वह समाज में समुचित व्यवस्था अर्थात् धर्म निर्माण करने में सहायक होंगे।

पाठ-शुद्धि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०	२८	'ब्राह्मणधीम्मक सुत्त'	'ब्राह्मणधम्मिक सुत्त'
१२	२८	ब्राह्मण है "अथवा" जो	ब्राह्मण है" अथवा "जो
१८	१६	अथर्ववेद माना	अथर्ववेद का उपवेद माना
१८	२६	जाननेवाली	जाननेवालों
२०	२४	"शूद	"शूद्र
२१	१५	बृहदारण्यकोपनिपद[५८]	बृहदारण्यकोपनिषद्[५८]
२१	३०	प्रतिकृतज्ञता	प्रति कृतज्ञता
२२	४	नियम तथा	नियम यथा
२२	१६	अङ्कों के	अङ्गों के
२५	१६	बृहदश्व कुवलयाश्व	बृहदश्व के कुवलयाश्व
२७	२	ज्योतिप, छन्द,	ज्योतिप, छन्द)
२६	१	"इन ग्रन्थों	इन ग्रन्थों
३०	६	समाज की	समाज-व्यवस्था की
३१	२१	भेद है।[११४]	भेद है।[११३]
३४	२३	धर्म (Subjective) नहीं	धर्म Subjective नहीं
३५	४	करता हुआ मोक्ष	करता हुआ (ब्राह्मण) मोक्ष
३६	१४	ब्राह्मण निर्धारित	ब्राह्मण के लिए निर्धारित
४१	२	जाता है।[१७]	जाता है।
४१	८	किया गया है।	किया गया है।[१७]
४१	२४	योग में	योगसूत्र में
६०	७	पराशरस्मृति में भी,[८७]	पराशरस्मृति में भी।[८७]
६४	२२	(व्रुद्धि,	(वुद्धि),

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६५	१८	देववर्ग दृष्टि के	देववर्ग वृष्टि के
६८	२६	यहाँ रखते हुए	यहाँ रहते हुए
७६	६	दिये हुए हृष्ट भोगों	दिये हुए भोगों
७७	१३	मधुर,	मधुर
८०	२१	है'' और	है और
८१	३	पालन करना चाहिए	पालन करना चाहिए)
९१	२६	अन्तयात्रसायी	अन्त्यावसायी
९३	२२	वर्गों को	वर्गों की
१०४	२६	कल्याणकारी होगा।[२४]	कल्याणकारी होगा।
१०५	१२	जन्म लेता है।''	जन्म लेता है।''[२४]
१०६	४	उससे अहङ्कार-भावना	उसमें अहङ्कार-भावना
१२०	६	का भी आशय	का भी यही आशय
१२६	२६	शूद्रों में	शूद्रा में
१३०	७	प्रतिलोग विधिपूर्वक विवाह	प्रतिलोम विवाह
१३२	२६	पूर्ण-व्यवस्था	वर्ण-व्यवस्था
१४१	३३	कृत्य	कृत्य
१४३	५	(मल,	(मल),
१४३	२७	आग्रह दान पर	दान पर
१४३	२६	(आरण्यक) तैत्तिरीयारण्यक	तैत्तिरीयारण्यक
१४६	१	संन्यास)	(संन्यास)
१४७	८	''जीवन में	''जो वन में
१४८	१०	चाहिये।[६६]	चाहिये।''[६६]
१५१	३	वर्मकृत्यपूर्ण	धर्मकृत्य पूर्ण
१५३	६	देताओं	देवताओं
१५५	४	नहीं है जो निन्दित है।	नहीं है। जो निन्दित है
१५६	२	श्रेष्ठ है।[३९]	श्रेष्ठ है।[३८]
१६१	२०	मृत्त	मृतक
१६४	४	(अनन्तर) पति	अनन्तर पति
१७०	२७	दृष्टि से है वैसी	दृष्टि से हैं, वैसी
१७२	६	आर्य	आर्ष
१७९	१२	दत्तस्मति	दक्षस्मृति
१८५	३१	५०००	५००

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६१	१८	६ वेदाङ्ग, कम स्थान	६ वेदाङ्ग
१६३	२४	अमृत	अनृत
१६४	८	पूछनेवाले को वताये"	पूछनेवाले को वताये
२०४	२४	सौभ्यता	सौम्यता
२०५	१२	धन की (आवश्यकता	धन की आवश्यकता
२१०	३१	(नहर, तालाव, कुआँ	(नहर, तालाव, कुआँ)
२१५	३३	उपपादक	उपपातक
२१६	४-५	अपनी समाज को	समाज को अपनी
२२०	११	साथ-माथ	साथ-साथ
२२६	२५	करनेवाला व्यक्ति भी	करनेवाले व्यक्ति से भी
२३४	३०	न हो	न हो यह आवश्यक है
२३६	२३	(ऋण भी)	(त्रिऋण भी)
२७५	२२	'जिन्हें समय'	जिन्हें 'समय'
२६२	६	उपकार	अपकार
,,	२१	कीर्ति-स्पर्शी	कीर्ति नभस्पर्शी
२६६	१५	कि राजधर्म का	कि राजधर्म का वर्णन क्षत्रियों के धर्म के रूप में और उनके लिए ही है। मनु ने राजधर्म का
३१०	३	तापस, गुप्तचर	तापस गुप्तचर
,,	४	चोर, गुप्तचर	चोर गुप्तचर
,,	३३	शास्त्र	शस्त्रास्त्र
३१७	२२	वादवाले	वादवाले
३२५	२८	मूल	भूल
३२६	२३	आवश्यक	अनावश्यक
३४३	३३	(वलि,	(वलि),
३५२	२७	क्षत्रिय-धर्मरक्षण	क्षत्रिय धर्मरक्षण
३५६	१३	दाम	दान (आगे भी यही शुद्धि)
३५७	२५	सत्ता	प्रजा
३६६	२५-२६	विकास और भी भावनात्मक हो	विकास हो
३६८	१०	कर्कश	आदर्श
३६४-३६७		सन्दर्भ-संकेत संख्या ४६-१७८	४७-१७६

●●

अनुक्रमणिका